श्रीभरतमुनिप्रणीतं सचित्रम्

नाट्यशास्त्रम्

(सप्तमाध्यायान्तः प्रथमो भागः)

(परिष्कृत द्वितीय संस्करण)

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२१५

श्रीभरतमुनिप्रणीतं सचित्रम्

नाट्यशास्त्रम्

'प्रदीप'-हिन्दीव्याख्या-टिप्पणी-परिशिष्ट-प्रस्तावनादिभिर्विभूषितम्

(सप्तमाध्यायान्तः प्रथमो भागः)

(परिष्कृत द्वितीय संस्करण)

सम्पादक एवं व्याख्याकार

श्रीबाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

एम० ए०, साहित्याचार्य प्रभृति

[मध्यप्रदेश शासन (साहित्य अकादमी) सम्मानित]

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष स्नातकोत्तर संस्कृत अध्यापन एवं संशोध विभाग

शासकीय स्नातकोत्तर,महाविद्यालय, शाजापुर (म० प्र०)



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० न० ११३९

जडाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०४०
मूल्य रु०

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पो० बाक्स नं० ८४
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
215
*****

NĀṬYA ŚĀSTRA

OF

BHARAT MUNI

Critically edited with 'Pradipa' Hindi Commentary, Various readings, Introduction, Preface, Index and Critical notes

(PART FIRST)

(Chapters 1 to 7)

(Second revised Edition)

By

Prof BĀBŪ LĀLA ŚUKLA, ŚĀSTRI

M A , Sahityācarya

Honoured by the Madhya Pradesh Government (Sahitya Acedemy)
Professor and Head of Sanskrit Department in Postgraduate Teaching and Research, Government Postgraduate Coollege, Shajapur (M P)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

P. O Chaukhambha, Post Box No 139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

Phone : 65889

Edition : 1984

Price Rs. [illegible]

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 84

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI–221001

Phone : 65444

प्रस्तावना

द्वितीय संस्करण

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र के प्रदीप हिन्दी व्याख्यादि से मण्डित शोधपूर्ण संस्करण के प्रथमभाग के द्वितीय संस्करण को सहृदय पाठकों एवं विवेचक विद्वानों, प्राध्यापकों एवं अधीतिजन के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। इस व्याख्या के प्रकृत संस्करण के शीघ्र ही द्वितीय संस्करण होने की बात से यह भी स्पष्टतः दृष्टिगत होना आवश्यक है कि अब हमारे देश तथा प्रदेश में 'नाट्यविद्या' का अनुशील प्रभूतमात्रा में विकसित है तथा विद्वानों के ऊहापोह का लक्ष्य भी बन रहा है। इसी बीच नाट्यशास्त्र के अनेक प्रकरण ग्रन्थों की भी हिन्दी व्याख्याएँ प्रकाश में आयी तथा कुछ संस्कृत मूल के साथ भी इसी क्रम में सम्पादित हुए तथा हो रहे हैं। यह सभी बातें अधिक उत्साहवर्धक हैं तथा नाट्यविद्या का अनुशीलन करने वालों को आशादायी भी।

प्रथम से सप्तम अध्याय तक के प्रथम भाग के इस संस्करण में सभी प्रथम-भाग स्थलों को दोहराया जाकर उनमें अपेक्षित सुधार करते हुए प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त टिप्पणियों में भी पञ्चम अध्याय से सप्तम अध्याय पर टिप्पणियाँ लगाई गयी हैं तथा इन्हीं अध्यायों पर पूर्व में मूल के साथ लगी टिप्पणियों को भी व्यवस्थित करते हुए रखा गया है।

इसी संस्करण को अनेक विश्वविद्यालयों के द्वारा 'एम. ए' के लिये अनुमोदित तथा स्वीकृत ग्रन्थ के रूप में अनुशंसित करने के भी प्रयास अधिकाधिक होते जा रहे हैं तथा अनेक विश्वविद्यालयों में यह लगभग

४ या ५ वर्षों पूर्व से ही स दर्भ ग्र थ अनुशासित हो चुका है। मैं उन सभी मनीषी प्राध्यापकों एव नाट्यविद्या के अन्वेषक एव अधीतिजन का भी आभारी हू जिनने इसी सस्करण को प्रेमपूर्वक अपनाया और मुझे प्रोत्साहित किया। आशा है इस सस्करण का पूर्ववत् अब भी सभी कोनों से इसी भावना से अनुशीलनादि होता रहगा।

प्रकृत सस्करण पर अनेक पत्र पत्रिकाओं एव भारत क मान्य मनीषी जन के आशीर्वाद प्राप्त हुए हैं जिनके प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता प्रकट करता हू तथा इनकी कृपा की सदैव अपेक्षा को अनुभव कर रहा हू।

प्रकृत ग्रंथ को अपनी विश्रुत ग्रन्थ-परम्परा में प्रकाशित करने की भावना वाले चौखम्भा सस्कृत सस्थान के सचालक भाई श्री मोहनदास जी गुप्त तथा उनके समग्र परिवार जन का भी आभारी हू जिनने प्रथम सस्करण क समाप्त होने के कुछ समय बाद ही इस भाग का पुनर्मुद्रण आरम्भ कर इस ग्र थ को शीघ्र उपलब्ध करवाया। इस क्रम म प्रस के सभी कार्यकर्तागण तथा व्यव स्थापक का भी स्मरण करना आवश्यक है। मित्र श्री कपिलदव गिरि ने यथासभव प्रूफ की त्रुटियों का निराकरण किया है। अत एव मैं इन सभी के प्रति अपना विनम्र हार्दिक आभार मानता हू।

अन्त में सभी मित्रों एव स्नेहीजन को इस सस्करण को पूर्ववत् कृपा क साथ अपनाते हुए मुझे प्रोत्साहित करने की प्रार्थना है।

श्रावणी पर्व
दिनाक २३-८- ३

विद्वज्जन कृपाकाक्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

पुरोवाक्

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का 'प्रदीप'-व्याख्यादि के साथ प्रस्तुत संस्करण का प्रकाशन आज से कई वर्ष पूर्व ही हो जाना चाहिए था, परन्तु समय की प्रतिकूलता ने ऐसा नहीं होने दिया। इसका एक कारण तो इस ग्रन्थ का दूरस्थ वाराणसी में मुद्रण तथा मेरा शासकीय सेवा के कारण अनेक स्थानों पर परिवर्तन भी है; जिसने इस कार्य को थोडा शीघ्रता से प्रस्तुत नहीं होने दिया। दूसरा प्रमुख कारण था नाट्यशास्त्र खण्ड एक के अन्तिम भाग के मुद्रण काल में (जब अतिरिक्त टिप्पणियों का मुद्रण चल रहा था) मेरे स्वास्थ्य का सहसा अतिशय बिगड जाना। मुझे अपनी वातजन्यव्याधि तथा वृक्क में होने वाले विकार के निरन्तर रहने के कारण भी इस ओर से ध्यान हटाना पडा, यह व्याधिक्रम भी लगभग एक स डेढ वर्ष तक चला (जिसमें गृध्रसीवात तथा वृक्क के सभी उपचार एव चिकित्सा के दौर में मुझे आना पडा) इस प्रकार एक तो वाराणसी दूरस्थ होने तथा मेरे कुछ वर्षों तक अस्वस्थ हो जाने के कारण नाट्यशास्त्र के प्रकाशन में अप्रत्याशित विलम्ब हो गया।

इसकी हिन्दी व्याख्या अनुवादात्मक रूप में की गयी है तथा आवश्यक होने पर कुछ व्याख्यात्मक रूप मे भी, इसका कारण विषय की गम्भीरता है। क्योंकि नाट्यशास्त्र के विभिन्न स्थलों की व्याख्या करते समय कला, शिल्प, वास्तु तथा सगीत आदि शास्त्रों की प्राचीनपरम्परा को ध्यान में रखना पडता है, जो आज के व्याख्याकार के लिये कठिन स्थिति निर्मित कर देती है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि एक ही व्यक्तिद्वारा विस्तीर्ण क्षेत्र पर अधिकार रखते हुए मूल सम्पादन एव व्याख्या लेखन के कार्य को सम्पन्न करना और नाट्यशास्त्र में चर्चित सगीत आदि शास्त्रों के प्राचीनतर रूप को प्रतिपादित करते हुए परम्परानुसारी दृष्टि से भी व्याख्या का

आलेखन करना। इस प्रकार की स्थिति प्रत्येक नाट्यशास्त्र के सम्पादक या—संस्कर्ता व्याख्याकार के समक्ष अवश्य उपस्थित होती है। इस प्रसंग में भरत-मुनि के आशय को काश्मीरिक परम्परा के पाठों से स्पष्ट करने वाली एकमात्र आचार्य अभिनवगुप्त प्रणीत नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव-भारती ही सहायक है। जिसमें नाट्यशास्त्र में अभिहित विषयों (जैसे रस, भाव, रूपकस्वरूप, नाट्याङ्ग, सन्ध्यङ्ग आदि) का अपनी परम्परा के अनुसार व्याख्यान किया गया है। यह व्याख्या नाट्यशास्त्र के व्याख्यान लेखक को अतिशय सहायता तो करती है पर फिर भी जिन अध्यायों पर यह व्याख्या प्राप्त नहीं है या किन्हीं स्थानों पर इसके द्वारा अल्परूप में (विषयों का) व्याख्यान किया गया है या फिर किसी अंश का खण्डित या संदिग्ध पाठ है तो ऐसे स्थलों पर अनुवादक या व्याख्याकार को अर्थ स्पष्ट करते समय असहाय स्थिति में आकर अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता हो जाती है। कुछ विद्वान् नाट्यशास्त्र की अभिनवगुप्त प्रणीत व्याख्या को भरत के दृष्टिकोण को सुस्पष्टतया प्रस्तुत करने में अधिक सहायक नहीं मानते हैं। इनके मत में नाट्यशास्त्र के अनेक स्थानों की अभिनवभारती के आधार पर अधिक स्पष्ट व्याख्या करना सम्भव ही नहीं है। इतना होने पर भी अभिनवभारती के आधार को लेकर व्याख्यान करना अधिक प्रामाणिक है, ऐसा मेरा अपना मत है। हाँ, यह अवश्य है कि नाट्यशास्त्रीय प्रमेयों को प्राचीन परम्परागत नाट्य या संगीत के ग्रन्थों में या विवरणों के शास्त्रीय विवेचनों को देखकर ही स्पष्ट करना चाहिए। इसी भावना को सर्वदा बनाये रखकर इस ग्रन्थ की हमने यह व्याख्या लिखी है तथा साहित्यशास्त्र के एक सुप्रसिद्ध व्याख्यान के अनुकरण पर इस व्याख्यान का नाम भी 'प्रदीप' दिया है। प्रयत्न किया गया है कि यह व्याख्यान अपने पूर्व परम्परागत गौरव का अनुसरण करते हुए ठीक से शास्त्रीय तत्त्वों को उपस्थापित करे तथा उनमें स्थित गम्भीर आशयों को स्पष्ट करे। अपने इस प्रयास की सफलता भी कालिदास के शब्दों को ध्यान में रखकर विद्वानों के परितोष पर ही हम निर्भर मानते हैं।

आरम्भ में हिन्दी व्याख्यान के साथ संक्षिप्त हिन्दी टिप्पणियाँ जोड़ी गयी थीं तथा यह निश्चय हुआ था कि विस्तीर्ण व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ परिशिष्ट में दे दी जाएँ जिनमें अभिनवगुप्तपाद की अभिनवभारती व्याख्या के आवश्यक सभी विवरण को रखा जाए। परन्तु बाद में यह निश्चय हुआ कि इस प्रकार की विस्तीर्ण टिप्पणियाँ जिनमें अभिनवगुप्त का आधार तो लिया ही गया है तथा जो अनेक अन्य ग्रन्थों के आधार पर भी निर्मित की गयी हैं उन्हें मूल ग्रन्थ के व्याख्यान के नीचे ही यथास्थान लगा देना अधिक उपयुक्त रहेगा। इसी कारण प्रथम अध्याय से चतुर्थ अध्याय तक के अंश की विस्तीर्ण टिप्पणियाँ परिशिष्ट-१ में लगायी गयीं तथा शेष भाग अर्थात् अध्याय ५ से ७ तक की टिप्पणियाँ मूल भाग की व्याख्या के यथास्थान नीचे लगायी गयी हैं तथा परिशिष्ट में भी हैं। इस प्रकार करने से यद्यपि पाठकों को थोड़ी असुविधा अवश्य ही होगी परन्तु नाट्यशास्त्र के अगले संस्करण में ही इन टिप्पणियों को मूल व्याख्यान के नीचे व्यवस्थित कर लगाना संभव हो सकेगा। सम्प्रति इस असुविधा के लिये पाठकों से क्षमा प्रार्थना ही एक मात्र अवलम्बन है।

प्रस्तुत संस्करण में षष्ठाध्याय के रससूत्र व्याख्यान के प्रसंग में अभिनवभारती व्याख्या का मूल सहित सम्पूर्ण भाग भी हिन्दी व्याख्यान के साथ लगाया गया है। इससे रसविषयक नाट्यशास्त्रीय अध्ययन-क्रम को (आवश्यक सामग्री एवं विवरण के साथ एक साथ उपलब्ध करने के कारण) पाठक व्यवस्थित रूप से प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रसंग में हमने शान्त रस की निरूपक नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ तथा उनकी समग्र अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या मात्र लगायी है। शान्तरस का भाग यद्यपि भरताचार्य के आठ नाट्यरसों की विवेचना से पृथक् पड़ता है, किन्तु अभिनवभारती के पाठ के आधार पर उसे यहाँ संगृहीत कर लेना उपयोगी होने के कारण किया गया है। यहाँ क्रम के अनुसार इन कारिकाओं की संख्या भी लगा दी गयी है, परन्तु आवश्यकतानुसार इन्हें अलग भी रखा जा सकता है तथा यदि इनको उद्धृत करना कहीं इष्ट हो तो उन्हें संख्या देकर प्रस्तुत भी किया जा सकता है।

नाट्यशास्त्र के इस समग्र 'प्रदीप' व्याख्यान को सुसम्पादित एवं पाठान्तर आदि के अतिरिक्त पद्यार्थानुक्रमणिका आदि के परिशिष्टों के साथ चार भागों में प्रकाशित करने की योजना है। इसमें प्रत्येक खण्ड में उसी भाग से सम्बद्ध विषय की प्रस्तावना में विवेचना रखी गयी है, जिससे नाट्यविषय व्यापक और सूक्ष्म अध्ययन को बढ़ावा मिलने की आशा है।

मैं इस कार्य में अपने प्रकाशक श्री भाई मोहनदास जी गुप्त एवं श्री भाई विट्ठलदास जी गुप्त का अतिशय कृतज्ञ हूं जिन्होंने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य को लिया तथा उसे बड़े ही धैर्य के साथ पूर्ण करवाने में रुचि रखी। इस अवसर पर चौखम्बा से सम्बद्ध श्री देवनारायण झा तथा सुहृद्वर श्री प० रामचन्द्र जी झा व्याकरणाचार्य के सहयोग को भी भुलाया नहीं जा सकता, जिनके प्रयत्नों से ही यह ग्रन्थ ठीक से मुद्रित हो सका और आज प्रस्तुत रूप में प्रकाशित हो रहा है।

मेषसङ्क्रान्ति
वि० सं० २०२६

सुधीजन कृपाकाङ्क्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

प्रस्तावना

कला का उत्कृष्ट रूप काव्य है और उत्कृष्टतम रूप है नाटक, जिसका प्रतिपादक सर्वप्राचीन भारतीय ग्रन्थ है भरतमुनि का नाट्यशास्त्र—जो अपनी विचारो की व्यापकता के साथ साथ विषयगत समग्रता से परिपूर्ण है। भारतीय नाट्य-कला पर विचार करते समय नाट्यशास्त्र सदा सम्मुख आ जाता है, क्योंकि यह महान् ग्रन्थ नाट्य-कला के अतिरिक्त उसके आनुषगिक विषयो, जैसे–काव्य, सङ्गीत, नृत्य, शिल्प तथा अन्य ललित-कलाओ का भी कोष है। इस ग्रन्थ ने भारत की रङ्गमञ्चीय-कला को शताब्दियो से प्रभावित कर रखा है—क्योंकि इस अकेले ग्रथ मे नाट्य-विषयक विवरण जितनी समग्रता के साथ प्रस्तुत हुआ है वह किसी अन्य उत्तरकालीन भारतीय ग्रन्थ मे तो दुर्लभ है ही, तत्कालीन ससार के किसी अन्य ग्रन्थ मे भी प्राप्त नही होता। इसका कारण यह भी है कि भारतीय नाट्यकला की नाट्यशास्त्र को छोडकर कल्पना करना सम्भव ही नही है और प्राचीनभारत मे व्यवहृत नाट्यकला के स्वरूप, तत्व तथा प्रकृति को पूर्णत हृदयङ्गम करने के लिए एकमात्र नाट्यशास्त्र ही आलम्बन है। इस ग्रन्थ मे नाट्य तथा रङ्ग से सम्बद्ध काव्य, शिल्प, सङ्गीत, नृत्य आदि ललित-कलाओ का विस्तृत विवरण दिया गया है तथा विविध शास्त्रो, शिल्पो, कलाओ तथा प्रयोगो की चर्चा की गयी है। ग्रन्थ की इसी विविधता ने इसे काव्य, नाट्य, शिल्प तथा ललित विद्याओ का विश्वकोष बना दिया। इसमे भरत-मुनि ने नाट्यकला को (व्यवस्थित कर) जो स्वरूप प्रदान किया, वह इतना व्यापक, सूक्ष्म तथा तात्त्विक हुआ कि परवर्ती आचार्यों को इसी के प्रभाव तथा छाया मे आकर ही अपना विश्लेषण प्रस्तुत करना पडा। भरत के नाट्य-सिद्धान्तो मे मौलिकता तथा व्यापकता के ऐसे बीज हैं, जिनकी शाश्वती स्थिति आज भी नाट्य-रचना मे (सफलतापूर्वक) देखी जा सकती है। भरत का चतुर्विध अभिनय-सिद्धान्त, गीत एवं वाद्यविधि, पात्रो की विविध प्रकृति तथा भूमिका आदि का विवेचन विश्व की किसी भी उन्नत नाट्यकला के प्रतिपादक ग्रन्थ से न्यून नही ठहरता तथा आज भी इसमे उन नाट्य-तत्वो की ग्राह्यता बराबर बनी हुई है। भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र ने शाश्वत भारत का ऐसा स्वरूप उपस्थित किया जिसमे काव्य, नाट्य, सङ्गीत तथा नृत्य जैसी सुकुमार ललित कलाओ के द्वारा मानव के शाश्वत जीवन की कल्पना की गई थी। नाट्य के सांगोपांग तथा सर्वाङ्गीण वर्णन ने नाट्य-शास्त्र

को जो अप्रतिम स्वरूप, सौभाग्य तथा स्थान प्रदान किया वह आज तक अक्षुण्ण है। नाट्यशास्त्र मे वर्णित शिल्पो तथा विद्याओ की प्राचीन परम्परा यद्यपि पूर्णत स्थिर नही रही, मध्यकाल मे इनमे थोड़े बहुत परिवर्तन भी हुए पर फिर भी नाट्यशास्त्रीय प्रमेय अपनी स्पष्टता तथा ग्राह्यता की स्थिति को अपरिवर्तित रखने मे समर्थ रहा यह आश्चर्य ही है। आचार्य भरतमुनि ने भारत की समस्त कला चेतना को अपनी प्रतिभा से अनुप्राणित किया था जिसका कीर्तिस्तम्भ है उनका आकर ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र'।

नाट्यशास्त्र का स्वरूप

ललित कलाओ के विश्वकोष इस ग्रन्थ ने भारत की उदात्त कला चेतना को अनुप्राणित किया है। इसी कारण शास्त्रकारो ने नाट्यशास्त्र को नाट्य-वेद तथा इसके प्रणेता भरताचार्य को मुनि के रूप मे आदर से स्मरण किया। वर्तमान उपलब्ध नाट्यशास्त्र के छत्तीस (या कुछ सस्करणो मे सैतीस) अध्याय है तथा इसका आयाम छ सहस्र श्लोको का है। इसी तथ्य का सकेत आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी प्रसिद्ध नाट्यशास्त्र व्याख्या अभिनवभारती मे किया है। शारदातनय तथा इसके उत्तरवर्ती अनेक शास्त्रकारो ने नाट्य-शास्त्र के दो सस्करणो या पाठो का उल्लेख किया है। इनके अनुसार नाट्य-वेद के वृहत् तथा लघु दो पाठ थे, जिनमे क्रमश छ तथा बारह हजार श्लोक या ग्रन्थ (एक श्लोक की अक्षर सख्या ३२ मानकर तदनुसार ग्रन्थ सख्या की गणना की जाती है) का प्रमाण था। म० म० रामकृष्ण कवि ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए बतलाया कि द्वादश-साहस्री सहिता वृद्धभरत की रचना थी जिसे सक्षेप करते हुए भरतमुनि ने छ सहस्र श्लोको मे नाट्य-शास्त्र का सकलन किया। प्राचीन ग्रन्थ का नाम नाट्यवेद था तथा दीर्घ या द्वादशसाहस्री का पाठ ही प्राचीन पाठ था, जिसके कुछ अश प्राप्त भी (हो गए) हैं। अन्य विद्वान् श्री रामकृष्ण कवि के इन तर्कों से सहमत नही हैं। उनका मत है कि लघु या षट्साहस्रीसहिता का पाठ ही प्राचीन है जिनमे अन्य प्रक्षेपो तथा विषय विस्तरो को जोडकर विस्तृत बनाना ही उत्तरवर्ती पाठ की स्थिति तथा आयाम को तार्किक सहारा देने योग्य बनाता है। धनञ्जय,, भोज एव आचार्य अभिनवगुप्त के समय तक दोनो पाठो की परम्पराएँ चल रही थी। धनञ्जय ने नाट्यशास्त्र के षट्साहस्री रूप को तो भोजराज ने द्वादशसाहस्री या वृहद् पाठ को अपनी रचना का आधार माना था। परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी सुप्रसिद्ध अभिनव भारती टीका नाट्यशास्त्र के षट्साहस्री पाठ पर ही लिखी थी। इन दोनो पाठो (के बनने) का

कारण भी शारदातनय ने अपने भाव-प्रकाशन मे सविवरण दिया है। तदनुसार मूल नाट्यवेद को मनु के आग्रह पर दो रूप मे विभाजित किया गया था जिनमे एक षट्साहस्री तथा दूसरी द्वादशसाहस्री थी। द्वादशसाहस्री का पाठ सदाशिव भरत की परम्परा मे प्रचलित था। यमलाष्टकतन्त्र के अनुसार नाट्यवेद का विस्तार छत्तीस हजार श्लोको का था। जिसे संक्षिप्तरूप मे द्वादशसाहस्री मे प्रतिपादित किया गया, परन्तु यह विवरण उत्तरकालीन किसी भी नाट्यशास्त्रीय विवरण से मेल नही खाता और न ही शारदातनय के वर्णन से कही समानता प्राप्त करता है, अत एव इसे निराधार कल्पना मात्र कर प्रसन्न हुआ जा सकता है। यदि 'गान्धर्ववेद' अपने सैद्धान्तिक विवरणों मे संगीत-रत्नाकर जैसे उत्तरवर्ती ग्रन्थो से जहाँ विषयगत समानता रखता हो तो फिर नाट्यवेद के विवरण भी इसी परम्परा मे होने आवश्यक थे। इस विषय मे दूसरा तर्क यह भी है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र को कही भी षट्साहस्री संहिता से यद्यपि अभिन्न नही निर्दिशित किया गया है तथापि धनिक जैसे प्रथितयशस्क आचार्य तथा उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों के द्वारा नाट्यशास्त्र के जिस विवरण को उपस्थापित किया जा रहा है वह निस्सन्दिग्धरूप से षट्साहस्री संहिता ही है जो वर्तमान नाट्यशास्त्र का लघुपाठ (बाला संस्करण) हैं, पर इसे द्वादशसाहस्री का प्रतिषेधक नही मानना चाहिए। इसका कारण है दशरूपक-टीका मे बहुरूपमिश्र द्वारा तथा अन्यत्र द्वादशसाहस्री-संहिता के कुछ उद्धरण मिलना। यह शारदातनय के उस विवरण को ही पुष्टि देता है कि द्वादशसाहस्री संहिता का दीर्घपाठ नाट्यशास्त्र का एक बृहत् रूप (अवश्य) था जो प्राचीनकाल मे विद्यमान था। इन विवरणो पर ध्यान देने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इनमे चर्चित ब्रह्मा, शिव तथा भरत का व्यक्तित्व नाट्यशास्त्र के मुख्य उपदेष्टाओ मे है जिनमे बाद मे विष्णु तथा तण्डु को भी समाविष्ट किया गया है। यह इन उपदेष्टा व्यक्तियो की महत्वपूर्ण स्थिति की तो पुष्टि करता ही है साथ ही एतद्विषयक प्रवृत्तियो का भी क्रमिक संकलन निर्दिष्ट करता है। पर इनसे प्राप्त ऐतिहासिक संकेतो को बडी कठिनाई से मान्यता की सोपानपंक्ति पर अग्रसर किया जा सकता है। हम तो यही कहेंगे कि वर्तमान नाट्यशास्त्र ही षट्साहस्री के रूप मे स्थापित है क्या ? या इसके अतिरिक्त अन्य सामग्री भी है ? यदि अन्य सामग्री नहीं है तो फिर कितने विस्तार की आवश्यकता हो सकती थी जिसके कारण द्वादशसाहस्री की स्थिति आई। यदि षट्साहस्री से विषय के सम्भव तत्वो का प्रतिपादन सम्भव था तो फिर द्वादशसाहस्री मे एतद्विषयक सामग्री के विशिष्ट आयाम को मान लेने

के अतिरिक्त अन्य बातों को विचारणीय विषय बनाना आधारहीन होगा। क्योंकि हमारे पास नाट्यशास्त्र विषयक पुरामध्यकालीन रचनायें उपलब्ध नहीं हैं। केवल कुछ उद्धरणों के आधार पर ही आज हमारी ये कल्पनायें अग्रसर हो रही हैं जो केवल भावी आशावाद की मद्धिम ज्योति प्रदान करने मात्र में सक्षम हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भरतमुनि का नाट्यशास्त्र अपने व्यापक विषय-विस्तार के कारण पुराकाल से आजतक विवेचक विद्वानों को आकृष्ट करता चला आ रहा है, जो इस बात का सूचक है कि पुरा भारतीय प्रज्ञा ने लोकप्रिय कलाओं को कितने गम्भीर रूप में ग्रहण किया होगा तथा उसे उन्नत-स्थान पर आसीन करवाने में कितना श्रम तथा समय लगाया होगा। आज भी नाट्यशास्त्र का अध्ययन इसके स्थायी महत्व को देखकर ही जारी है।

नाट्यशास्त्र का विषय संक्षेप

हम यहाँ नाट्यशास्त्र की संक्षिप्त रूपरेखा दे रहे हैं, जिसमें अध्यायक्रम काशी संस्करण के आधार पर ही रखा गया है (तथा यही क्रम प्रस्तुत संस्करण में भी है) परन्तु विशेषता यह है कि प्रस्तुत संस्करण में बड़ोदा से प्रकाशित अभिनवभारती संस्करण के सभी महत्वपूर्ण विवरण विवेचन तथा पाठों को व्यवस्थित रूप में आगृहीत किया गया है जिसका वर्णन प्रसंगानुसार आगे किया जाएगा।

नाट्यशास्त्र के प्रथम-अध्याय में भरतमुनि के आत्रेय आदि ऋषियों द्वारा नाट्यवेद के विषयों में जिज्ञासापूर्वक प्रश्न किये गये कि नाट्यवेद की उत्पत्ति कैसे हुई? किसके लिए हुई? इसके कौन-कौन अंग हैं? उसकी प्राप्ति के उपाय कौन से हैं तथा उसका प्रयोग कैसे हो सकता है? भरतमुनि ने इसके उत्तर में कहा कि नाट्यवेद का ऋग्वेद से पाठ्य अंश, साम से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रसों को लेकर प्रणयन किया गया है। इसे इस स्वरूप में निर्मित कर मुनि ने इसे अपने पुत्रों को सिखाया।

द्वितीयाध्याय में मुनि ने नाट्यप्रदर्शन के लिये आवश्यक होने के कारण प्रेक्षागृह का वर्णन करते हुए उसके तीन प्रकारों को बतलाया तथा उनके शिल्प, आकार तथा साधनों का विस्तार से विवेचन किया है।

तृतीयाध्याय में नाट्यमण्डप में सम्पादित की जाने वाली आवश्यक धार्मिक क्रियाओं का निरूपण करते हुए विभिन्न देवताओं की पूजा तथा उनसे प्राप्त होने वाले फलों का निरूपण किया है।

चतुर्थाध्याय मे भरतमुनि द्वारा अमृतमन्थन नाट्यप्रयोग के देवताओ के सम्मुख प्रस्तुत करने तथा त्रिपुरदाह को महेश्वर के सम्मुख करने तथा महेश्वर के आदेश से तण्डु द्वारा भरत को अंगहार, करण तथा रेचकों का ज्ञान करवाने का वर्णन है। इसी अध्याय मे विस्तार से ताण्डवनृत्य की उत्पत्ति तथा उसके शिल्प का (अगहारो, करणो, रेचको आदि को) सागोपाग विवेचन है। जिसके अभिनय मे नृत्तहस्तो तथा गीतो से सौन्दर्य वृद्धि होती है।

पञ्चमाध्याय मे नाट्यप्रयोग के आरम्भ मे प्रस्तुत किये जाने वाले पूर्वरगविधान, नान्दी, प्रस्तावना तथा ध्रुवाओ का सागोपाग विवेचन है।

षष्ठ-अध्याय—रसाध्याय है। इसमे ऋषिगण रसविषयक पाँच प्रश्न उपस्थापित करते हैं। उत्तर मे भरतमुनि रसो के नामकरण का आधार तथा सग्रह, कारिका तथा निरुक्त का आधार लेकर नाट्यसग्रह, के विवरण के साथ रस का वर्णन करते है। इसी क्रम मे रस-निष्पत्ति, रसो का भावो आदि से पारस्परिक सम्बन्ध, रसों के अधिदेवता तथा रस एव उनके स्थायीभावो का विस्तृत विवरण दिया गया है।

सप्तमाध्याय—भावाध्याय है। इसमे भाव, विभाव, स्थायी तथा सचारी या व्यभिचारीभावो का विस्तृत विवेचन तथा आठ प्रकार के सात्विक भावों का (रसों की अपेक्षा से) विवरण दिया गया है।

अष्टमाध्याय से अभिनय वर्णन आरम्भ हो जाता है। इसमे अभिनय के आगिक, वाचिक आहार्य तथा सात्विक भेद बतलाकर आगिक अभिनय के अन्तर्गत उपाङ्गाभिनय आदि का सागोपाग वर्णन किया गया है।

नवमाध्याय मे आगिक अभिनय के क्रम को और आगे बढाते हुए हस्त, कुक्षी, कटि, जानु तथा पाद जैसे शारीर अगो का अभिनय विस्तार से निरूपित करते हुए २४ असयुत हस्तमुद्राओ, १३ सयुत हस्तमुद्राओ, २७ प्रकार के नृत्त हस्तो का वर्णन करते हुए ६४ हस्त प्रकारो को बतलाया गया है। अग सचलन तथा हस्त-मुद्राओ का प्रयोग रस, भाव तथा अभिनय के अनुरूप होना है और नृत्य मे हस्तमुद्राओ की परमोपयोगिता होती है अत इसका भी विवेचन किया गया है।

दशम-अध्याय मे वक्ष, कटि तथा शरीर के अन्य भागो के परिचालनजन्य पाँच प्रकारो का विवरण देकर उनके विभिन्न अवसरो पर किये जाने वाले अभिनय प्रयोग बतलाये गये है।

एकादशाध्याय मे चारो का निरूपण करते हुए १६ प्रकारो की भौमी तथा १६ प्रकार की आकाशिकी चारियो के लक्षण तथा प्रयोगो को बतलाया गया है तथा खण्ड-करण तथा मण्डलो की नाट्योपयोगिता का वर्णन किया गया है।

द्वादशाध्याय में मण्डलो का लक्षण, सख्या तथा प्रयोग आदि का विशद निरूपण किया गया है।

त्रयोदशाध्याय मे गति प्रचार का निरूपण है। इसमे रसादि के अवसरो एव अवस्थाओ के अनुकूल पात्रो की गति के विवरण बतलाये गये हैं। इसमे नाट्यप्रयोग के आरभ मे प्रस्तुत होने वाली ध्रुवाओ के गान के (आरम्भ मे) समय होने वाली पात्रो (को प्रवेश करते समय) की गति से लेकर देव, राजा, मध्यवर्ग के स्त्रीपुरुष, निम्न वर्ग के लोगो की गति मे लगने वाले समय, रौद्र, बीभत्स, वीर आदि रसो को प्रस्तुत करते समय की भङ्गिमाएँ तथा श्रीमार्त्त, सन्यासी, मदमत्त तथा उन्मत्त पात्रो के परिचालन के प्रकार तथा गतियो के अभिनय करने का विवरण दिया गया है।

चतुर्दशाध्याय मे रगमच पर विद्यमान गृह, उपवन, वन, जल, स्थल आदि प्रदेश को सकेतित करने के निश्चय, समय के अगानुसारी विभाजन तथा एक वर्ष या एक मास मे घटित घटनाओं के लिए नये अक की योजना, देश, वेषभूषा, आधार आदि पर निर्भर चार प्रकार की प्रवृत्तियो का निरूपण, सुकुमार तथा आविद्ध नामक दो प्रकार के नाट्य प्रयोगो का वर्णन तथा अन्त में लोकधर्मी तथा नाट्य-धर्मी नामक दो नाट्य-विधाओं का निरूपण है।

पचदशाऽध्याय से वाचिकाभिनय आरम्भ होता है। इसमे आरम्भ मे अक्षरो पर आधारित वाणी का नाट्य के वाचिक अभिनय मे उपयोग बतलाते हुए अक्षरो के स्वर-व्यञ्जनात्मा विभेद बतलाकर उनके स्थान, प्रयत्न आदि का विवरण दिया गया है। फिर शब्दों की सज्ञा, क्रिया, उपसर्ग, सन्धियो आदि विभेद बतलाकर नाटक मे की जानेवाली भाषाओ का शब्द-भेद द्वारा विवेचन किया गया है। इसके उपरान्त नाट्य के सर्वात्मम वाचिक-अभिनय मे प्रयुक्त किये जाने वाले एक से लेकर छब्बीस अक्षरो तक के छन्दो का (प्रत्येक के भेदोपभेद एव) उदाहरण देते हुए निरूपण किया गया है। अन्त मे गुरु, लघु तथा यति मात्रा आदि छन्द-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या दी गयी है।

षोडषाध्याय मे भी इसी क्रम मे आगे बढकर वाचिकाभिनय मे उपयोगी वृत्तों का सोदाहरण निरूपण है। अन्त मे सम तथा विषम वृत्त बतलाकर आर्या के प्रभेदो का विवरण दिया गया है।

सत्रहवें अध्याय मे अभिनय के अन्तर्गत काव्य के छत्तीस लक्षणो का विवरण है। इसके उपरान्त उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक नामक काव्य के अलकार का निरूपण करते हुए गुण तथा दोषो का भी निरूपण दिया गया है।

अठारहवें अध्याय मे नाटकोपयोगी भाषाओ का विवरण देते हुए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश या देशी शब्द रूपो के उच्चारण भेद द्वारा होने वाले परिवर्तनो का विवरण देकर भाषा एव विभाषाओ का वर्णन दिया गया है। इनके बोलने के नियम, विराम तथा काकु का प्रयोग तथा देशभेद से प्राकृतादि भाषाओ के ओकारबहुला आदि भेद होना दिखलाया गया है।

उन्नीसवें अध्याय मे उच्च, मध्य तथा निम्न वर्ग के पात्रो के सम्बोधन करने की विविध प्रणालियो का निरूपण है। इसके अतिरिक्त इन वर्गों के पात्रो के नामकरण के उपाय बतलाते हुए गद्य पाठ्य के गुण, स्वर, व्यञ्जनो के उच्चारण-स्थान, स्वरो के उदात्त आदि प्रकार, काकु के विभेद तथा स्वरो के उच्च, मन्द, दीप्त, मद्र एव नीच, द्रुत तथा विलम्बित जैसे अलकारो का विवरण दिया गया है।

बीसवें अध्याय मे रूपका के विभेद बतलाते हुए नाट्यशास्त्र के मुख्य विषय का आरम्भ किया गया है। इसमे दस-रूपको के लक्षण बतलाते हुए उनके वैशिष्ट्य को प्रतिपादित किया गया है। इनके अगभूत अक, प्रवेशक, विष्कम्भक, चूलिका आदि का निरूपण करते हुए रूपको के अन्य सघटक अगो की चर्चा की गयी है।

इक्कीसवें अध्याय मे नाटक की कथावस्तु के आधिकारिक तथा प्रासगिक भेदो का निरूपण, पच सन्धियाँ, पाँच अवस्थाएँ, पाँच अर्थप्रकृतियाँ तथा सन्ध्यन्तर का विवरण देकर सन्धियो के सभी अगो के लक्षण बतलाये गये हैं। अर्थोपक्षेपकों के द्वारा कथावस्तु के सूच्य रूप को निरूपित करते हुए उनके पाँच प्रकारो का लक्षण सहित निरूपण किया गया है तथा अन्त मे सभी विद्या, शिल्प तथा कला आदि के नाटकोपयोगी होने की बात को दोहराया गया है।

बाइसवें अध्याय मे नाटकोपयोगी वृत्तियो का निरूपण किया गया है। ये वृत्तियाँ हैं–भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी। वृत्तियो की उत्पत्ति के प्रसग मे विष्णु भगवान के द्वारा मधुकैटभ दैत्यो से युद्ध करने तथा उसमे चारो वृत्तियो के प्रयोग की पौराणिक कथा को लेकर चारो वेदो से चारो वृत्तियो के उत्पन्न होने का विवरण देकर इन वृत्तियो के भेद-प्रभेद तथा लक्षण बतलाकर विभिन्न रसो मे योजना का विवरण दिया गया है।

तेईसवें अध्याय में आहार्याभिनय का वर्णन है। आहार्याभिनय नेपथ्य या वेषभूषा पर अवलम्बित होता है, अत एव इसमे आभूषण के स्वरूप के साथ वेषभूषा के प्रदर्शन के विविध उपायो का विववरण दिया गया है। नेपथ्य के चार प्रकार बतलाकर अलकारो के विवरण देते हुए विभिन्न देशो के निवासी स्त्री-पुरुषो के द्वारा व्यवहार मे लिये जाने वाले आपादमस्तक धारण करने

योग्य अलकारों—एव उपकरणो यथा—तिलक, अजन, दन्त एव ओष्ठराग आदि उपकरणो की सजावट के विवरण दिये गये है। अगरचना के प्रकरण मे विविध पात्रो के जातीय रूप (जैसे राजा, श्रेष्ठि, शक, यवन, शूद्र आदि) को प्रकट करने के लिए उनके शरीर के अनुरूप रग मे रगना तथा तदनुसार मूंछ, दाढी आदि की निर्माण-विधि बतलायी गयी है। सजीव-नेपथ्य का वर्णन तथा उसके अन्तर्गत नाट्यमच पर प्रस्तुत होने वाले विविध पशु पक्षी, सर्प आदि को प्रस्तुत करने की विधियो का वर्णन किया गया है।

चौबीसवें अध्याय मे सामान्य-अभिनय का निरूपण है। इसमे पात्रो की उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति का वर्णन है। इसी प्रकार स्त्रियो के अयत्नज अलकारों के अन्तर्गत भाव, हाव तथा हेला का स्वरूप बतलाकर इनके स्वभावज अलकारो को बतलाया गया है। इसके बाद वाक्याभिनय का निरूपण करते हुए वाचिक अभिनय के आलाप, प्रलाप आदि विभेदों को बतलाया गया है। इसी प्रकार वर्णन, स्पर्शन आदि क्रियाओ के अभिनय की विधि का वर्णन कर उचित तथा अनुचित घटनाओ के मंच पर प्रदर्शित करने के नियम बतलाये गये हैं। विभिन्न स्त्री जातियो के स्वभावादि के आश्रय से विभेद बतलाकर अभिलाषा, स्मृति आदि दस दशाओ का वर्णन किया गया है तथा कामावस्था मे दूतीप्रेषण आदि का विधान बतलाने के बाद नायिकाओ के अवस्थागत आठ प्रकारो का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रणय, क्रोध तथा ईर्ष्या की दशा मे होने वाले उचित सम्बोधन आदि का यहाँ रोचक विवरण दिया गया है।

पच्चीसवें अध्याय म वैशिकपुरुष का लक्षण बतलाकर उसके सहजगुणो तथा सम्पादित गुणो का विस्तार से निरूपण किया गया है। इसके मित्र तथा दूती आदि का भी सागोपाग विवरण देकर स्त्रियों के यौवन की चार अवस्थाओ, प्रेमियो के प्रकारो तथा स्त्री को वश मे करने के उपायो का विधिवत् निरूपण किया गया है।

छब्बीसवाँ अध्याय चित्राभिनय का है। इसमें सामान्य अभिनय के अन्तर्गत जिन आगिक आदि अभिनयो का वर्णन छूट गया था ऐसे विशिष्ट अभिनयो का विवरण दिया गया है। इसके अन्तर्गत आकाश, रात्रि, सायकाल, अधकार आदि का प्रदर्शन करने के लिये अभिनयविधि के विवरण देते हुए हर्ष, शोक आदि भाव प्रकट करने की विधियाँ विशिष्टरूप से निर्दिष्ट की गई हैं। आकाशभाषित जैसे सूक्ष्म कथावस्तु के प्रकारो का तात्पर्य प्रकट करते हुए वृद्ध तथा बालकों के सम्भाषण की विधि, आसन्नमृत्यु पात्र के मच पर प्रस्तुत करने तथा अन्य अनुक्त अभिनयो के सम्पन्न करने की विधि निरूपित की गई है।

सत्ताइसवाँ अध्याय सिद्धिव्यञ्जकाध्याय है। इसमे नाट्य प्रदर्शन मे होने वाली देवी तथा मानुषी सिद्धि का सागोपाग निरूपण करते हुए उनमे होने वाले विघ्नो का विवरण दिया गया है। इसी प्रसग म नाटक प्रदर्शन के निर्णायक या परीक्षको की विभिन्न श्रेणियो तथा उनकी योग्यता का विस्तार से निरूपण है।

अट्ठाइसवें अध्याय से लेकर चौतीसवें अध्याय तक सगीतशास्त्र का विषय प्रतिपादित किया गया है। इस क्रम मे अट्ठाइसवें अध्याय मे चार प्रकार के वाद्यो का विस्तार से विवरण दिया गया है। स्वरो के सात प्रकार बतलाते हुए उनके वादी आदि चार विभेद निर्दिशित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त स्वर ग्राम मूर्च्छना, श्रुतियो तथा जातियो का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है।

उन्तीसवे अध्याय मे जातियो के रसाश्रित प्रयोग का विवरण है। वर्ण तथा अलकारो का स्थायी आदि वर्णों पर आश्रित स्वरूप बतलाया गया है तथा वीणाओं के स्वरूप आदि पर चर्चा की गयी है।

तीसवें अध्याय मे बासुरी के स्वरूप का विवेचन तथा उसकी वादनविधि बतलाई गयी है।

इकतीसवें अध्याय मे ताल और लय का सागोपाग वर्णन करते हुए अव नद्धवाद्यो का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त गीत के समय नियमन हेतु ताल विधान को विस्तार से निरूपित करते हुए कुछ गौण नाट्य प्रयोगो का सलक्षण विवरण दिया गया है।

बत्तीसवाँ अध्याय 'ध्रुवाध्याय' है। इसमे पात्रो के प्रवेश आदि अवस्थाओ मे गायी जाने वाली ध्रुवाओ का विवरण है। ध्रुवाओ के अधिकाश प्राकृत-भाषा मे तथा कुछ सस्कृत भाषा मे होने से मुख्यत ध्रुवाओ की भाषा प्राकृत (शौरसेनी) रखने का विवरण दिया गया है। इन ध्रुवाओ के सोदाहरण लक्षणो का प्रतिपादन तथा गायक, वादक तथा बाँसुरीवादक के गुण तथा उनकी योग्यता का निरूपण भी दिया गया है। इसके उपरान्त सगीत के आचार्य तथा शिष्य की योग्यता के विवरण एव स्वभावत स्त्री के द्वारा गायन और पुरुषो के द्वारा वादन करने का निर्देश दिया गया है।

तैंतीसवा अध्याय वाद्याध्याय' है, जिसमे मृदङ्ग आदि अवनद्धवाद्यो का विवेचन है। इसी मे स्वाति तथा नारद के द्वारा अवनद्धवाद्य के प्रवर्तन का आख्यानात्मक विवरण दिया गया है तथा किस अवसर पर किस प्रकार के वाद्यो का वादन किया जाए इसका शिक्षण भी है। वाद्यो के अन्तगत मृदङ्ग, पणव, दर्दर आदि वाद्यो के निर्माण तथा वादन आदि का विवरण है तथा वाद्यो के अधिदेवताओ का भी वर्णन दिया गया है।

चौतीसवें अध्याय मे पुरुष एव स्त्रियो की त्रिविध प्रकृति का निरूपण करने के साथ ही चार प्रकार के नायको का सलक्षण वर्णन दिया गया है। नायक परिवार के अन्तर्गत स्त्रियो की विभिन्न श्रेणियो मे महादेवी, देवी, नर्तकी, परिचारिका आदि पात्रो का भी स्वरूप बतलाया गया है। नृप, सेनापति पुरोहित मन्त्रीगण, सचिव, प्राड्विवाक तथा कुमार का सलक्षण निरूपण है।

पैंतीसवाँ अध्याय 'भूमिका-पात्र-विकल्पाध्याय' है। इसमे नाट्यमण्डली के सदस्यो का विभाजन करते समय उनकी व्यक्तिगत विशेषताओ को दर्शाया गया है। सुकुमार तथा आविद्ध नामक दो नाट्य प्रयोगो का विवरण देकर सूत्रधार, पारिपार्श्विक, अभिनेता, विट, शकार, विदूषक, चेट जैसे पुरुष-पात्रो तथा नायिका, गणिका आदि स्त्रीपात्रो के स्वरूप का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

छत्तीसवाँ अध्याय अन्तिम है। इस अध्याय मे मुनियो ने भरतमुनि से पृथ्वी पर नाट्य के अवतरित होने के विषय मे पुन जिज्ञासा की? मुनि ने इसके उत्तर मे दो आख्यान प्रस्तुत किये। प्रथम म भरतपुत्रो के द्वारा मुनि-जनो के उपहासकारी नाट्य से रुष्ट होकर ऋषियो से शप्त हो जाने की तथा दूसरे मे इसी कारण राजा नहुष की प्रार्थना पर स्वर्गस्थ नाट्य को भूतल पर अवतरण होने की कथा है।

नाट्यशास्त्र के जिन सस्करणो मे ३७ अध्याय है उनमे नहुष की कथा अर्थात् द्वितीय आख्यान ३७ वें अध्याय मे रखा गया है।

नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र अपने विस्तीर्ण क्षेत्र के कारण अपने उत्तरकाल मे निर्मित सभी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थो से विशिष्ट बना रहा। इसका कारण है नाट्य से सम्बन्धित सभी विद्याओ का सलक्षण निरूपण करते हुए इसका विश्वकोष के रूप मे ग्रथित होना। इसमे रूपको मे प्रयुक्त होने वाले अभिनय के (वाचिक) छन्दो से लेकर सात्त्विक, आगिक तथा आहार्य अभिनय, रूपको के सघटक तत्त्वो आदि का सागोपाग विवरण तथा उनमे प्रयुक्त होने वाले गीत तथा सङ्गीत के उप-करण, वाद्य आदि के विषय मे सूक्ष्मतम विवरण दिया गया है। इस प्रकार कला के सूक्ष्म एव व्यापक विवेचन वाला विश्व मे एकमात्र ग्रन्थ होन का भी नाट्यशास्त्र को ही गौरव प्राप्त है।

विदेशी एवं भारतीय विद्वानों द्वारा नाट्यशास्त्र पर कार्य

जब से श्री विलियम जोन्स के द्वारा सन् १७८९ म कालिदास के सुप्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल का अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ तभी से पश्चिमी

विद्वानो ने भारतीय रङ्गमञ्च की प्रकृति और उसके उद्गम के विषय मे रुचि लेना आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम भी थोड़ा आशाजनक बना और इसके बाद सन् १८२६ मे श्री एच० ए० विल्सन् ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सैलेक्ट स्पेसीमेन आफ दी हिन्दू थिएटर' (Select Specimen of the Hindu Theatre) मे भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की चर्चा करते हुए लिखा है कि अनेक सस्कृतनाटको तथा नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे जिस भरतमुनिप्रोक्त नाट्यविद्या के सूत्रग्रन्थ के उद्धरण प्राप्त होते हैं, वह ग्रन्थ सम्प्रति न तो प्राप्त है और न ही उसके देखने का अवसर प्राप्त है। इस प्रकार योरोपीय विद्वानो म श्री विल्सन के इस विचार से नाट्यशास्त्र के विषय मे निराशा व्याप्त हो चली थी। इसके बाद लगभग चालीस वर्ष तक इस ग्रन्थ के विषय मे (अर्थात् सन १८६५ ई० तक) कोई बात नही हुई जब तक श्री एल० हाल के द्वारा सम्पादित दशरूपक का प्रकाशन (१८६५ मे) नही हुआ। धनञ्जयप्रणीत दशरूपक यद्यपि नाट्यशास्त्र का मध्यकालीन ग्रन्थ था फिर भी नाट्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थो मे सर्वप्रथम उसी का प्रकाशक सम्भव था। इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे पर्याप्त समय लगा, परन्तु जब यह ग्रन्थ प्रकाशित होने ही वाला था कि श्री हाल को नाट्यशास्त्र की एक त्रुटिपूर्ण पाण्डुलिपि प्राप्त हो गयी। यह आशा की प्रथम किरण थी। हाल ने उसी पाण्डुलिपि के आधार पर दशरूपक के साथ 'परिशिष्ट के रूप मे नाट्यशास्त्र के अध्याय १८ से २० तथा ३४ अध्यायो को प्रकाशित कर दिया। इस दशरूपक के प्रकाशन के बाद हाल महोदय ने नाट्यशास्त्र के प्रकाशन का भी विचार किया किन्तु आगे जाकर किसी प्रामाणिक तथा समग्र पाण्डुलिपि के न मिलने के कारण उन्हे निराश होकर इस विचार को छोड देना पडा। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के प्रकाशन का प्रथम प्रयास विफल ही रहा।

नाट्यशास्त्र के कुछ अध्यायो के प्रकाशन तथा पाण्डुलिपि की प्राप्ति की श्री हाल की खोज ने उस निराशावादी भावना का नष्ट कर दिया था जो श्री विल्सन के समय से व्याप्त थी। अत एव अनेक विद्वान् उत्साहपूर्वक नाट्यशास्त्र की पाण्डुलिपियाँ खोजने में लग गये। कुछ ही वर्षों बाद जर्मन विद्वान हेमान ने नाट्यशास्त्र की एक और पाण्डुलिपि प्राप्त की तथा नाट्यशास्त्र पर एक परिचयात्मक लेख भी (सन् १८७४ ई० मे) प्रकाशित करवाया। इस निबन्ध के प्रकाशन से विद्वानो में और भी अधिक नाट्यशास्त्रविषयक अभिरुचि उत्पन्न हुई तथा नाट्यशास्त्र के अध्ययन एव अनुसन्धान को बल मिला।

हेमान के इस लेख के प्रकाशन के बाद फासीसी विद्वान् श्री पी० रेग्नो और उन्ही के शिष्य श्री जे० ग्रासेट ने नाट्यशास्त्र के अनुसन्धान को ओर

आगे बढ़ाया। श्री पी० रेग्नो ने सन् १८८० में नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय को तथा सन् १८८४ में पन्द्रहवें (आंशिक), सोलहवें तथा छठे और सातवें अध्याय को सम्पादित कर प्रकाशित करवाया। (इस प्रकार नाट्यशास्त्र के अभी तक कुल आठ अध्याय ही प्रकाशित हो पाये थे) इसके पश्चात् श्री रेग्नो के ही एक शिष्य श्री जे० ग्रासेट ने अट्ठाइसवें अध्याय को सम्पादित कर प्रकाशित करवाया जिसमें भारतीय सङ्गीत के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन था। फिर सन् १८९० में श्री ग्रासेट ने नाट्यशास्त्र की विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर नाट्यशास्त्र का अध्याय एक से चौदह तक तुलनात्मक संस्करण तैयार कर प्रकाशित करवाया जो पाश्चात्य गवेषणापूर्ण सम्पादन पद्धति का एक आदर्शग्रन्थ होकर अपना महत्व आज भी तथैव आस्थापित कर रहा है।

जब विदेश में श्री पी० रेग्नो तथा जे० ग्रासे अपने नाट्यशास्त्र के सम्पादन की योजना बना रहे थे तभी भारत में भी इस महान् ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ प्राप्त करने तथा उनके आधार पर एक संस्करण बनाने की योजना (भारत के) दो संस्कृत विद्वान् बना रहे थे। ये थे श्री शिवदत्त दाधीच तथा पाण्डुरङ्ग परब जिसने समग्र नाट्यशास्त्र की दो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त कर उनके आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया और निर्णय-सागर प्रेस बम्बई से सन् १८९४ में सर्वप्रथम प्रकाशन हुआ। यह कार्य श्री ग्रासेट के अपूर्ण नाट्यशास्त्र के तुलनात्मक संस्करण के प्रकाशन के भी चार वर्ष पूर्व ही भारत में हो गया था तथा यह समग्र नाट्यशास्त्र का प्रकाशन भी था।

इसी समय फ्रान्स के प्रथितयशस्क विद्वान् प्रो० सिल्वाँलेनी ने इस मूल ग्रन्थ के १८ से २२ अध्याय तथा ३४ वें अध्याय (जिसका प्रकाशन श्री हाल ने अपने 'दशरूपक' के परिशिष्ट में किया था, उन्हीं अंशों) का आधार लेकर भारतीय रङ्गमंच के स्वरूप एवं प्रकृति पर एक विवेचनात्मक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का नाम था 'थिएटर इण्डियन्' जिसका प्रकाशन १८९० में हुआ और जो श्री रेग्नो के प्रकाशित नाट्यशास्त्र से भी पूर्ववर्ती ग्रंथ लेखन का प्रयास था। इस ग्रंथ में नाटक के साहित्यिक रूप के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया गया था और प्रथम बार यहाँ धनञ्जय के दशरूपक तथा विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण जैसे परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के वचनों की नाट्यशास्त्र के आधार पर प्रामाणिकता की समीक्षा की गयी थी। यह किसी नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थ के सम्पादन या अनुवाद से भिन्न कार्य अवश्य था किन्तु इस कार्य ने नाट्यशास्त्र के महत्व की ओर विद्वानों के ध्यान आकृष्ट करने में पर्याप्त सफलता अर्जित की तथा प्राचीन-भारतीय-नाट्यविद्या

के इतिहास को प्रथम लक्ष्यबिन्दु तक पहुँचाने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। प्रो० लेवी के उपरान्त जिसने भी नाट्यशास्त्र पर अपने विवेचन या समीक्षायें लिखी उसने किसी न किसी अश मे लेवी के ग्रन्थ का आधार अवश्य लिया।

इस समय तक नाट्यशास्त्र के अधिक आकर्षक न रहने मे बाधा थी तो इस ग्रन्थ के मूलपाठ की दुरूहता, क्योंकि इसके आशय को हृदयगम करने के लिए किसी एक समग्र व्याख्यान का अभाव था। यह अभाव अधिक वर्षों तक नही रहा और नाट्यशास्त्र के बम्बई सस्करण के लगभग बीस वर्ष के अन्दर ही मद्रास शासन द्वारा हस्तलिखित ग्रन्थों आदि की खोज के लिए सस्कृत के कुछ प्रतिष्ठित विद्वानो का एक अन्वेषक दल नियुक्त किया गया। इसमे तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वानो के अतिरिक्त म म रामकृष्ण कवि भी थे जो इस दल के मुख्य व्यवस्थापक भी थे। यह व्यवस्था तब की गयी कि जब शासन को यह विदित हुआ कि अनेक महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित सस्कृत ग्रन्थ मलाबार के पुस्तकालयो तथा स्वतन्त्र व्यक्तियों के सग्रह मे विद्यमान हैं। सन् १९१५ ई० मे इस विद्वत्समुदाय ने मलाबार के पुस्तकालयों मे विद्यमान ग्रन्थो मे नाट्यशास्त्र की अभिनवगुप्तविरचित अभिनवभारती व्याख्या प्राप्त कर ली। इनमे तीन ताडपत्र पर लिखित ग्रन्थो मे अभिनवभारती टीका के अध्याय १ से ३१ तक प्राप्त हुए। इन ग्रन्थो का अनुशीलनार्थ मद्रास शासन के हस्तलिखित-पुस्तकालय द्वारा मँगवाया गया। इसी व्याख्या की दूसरी प्रति भी त्रावणकोर के राजकीय हस्तलिखित ग्रन्थागार मे मिल गयी। इस समाचार से अनेक विद्वान् इन ग्रन्थो की ओर आकृष्ट हुए तो इन ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ करवाकर उन सभी विद्वानो को भेजा गया जो इन्हें अवलोकन करने के इच्छुक थे। इन सभी प्रतियो मे नाट्यशास्त्र के सप्तम और अष्टम अध्याय की टीका नही थी। इसके अतिरिक्त पचमाध्याय के अन्तिम भाग भी दोनो प्रतियों मे एक ही स्थान पर अपूर्ण थे। किन्तु षष्ठाध्याय का अन्तिम भाग शान्त स-विवेचन दोनो प्रतियों मे समान रूप से विद्यमान था। दोनो प्रतियाँ किसी एक ही मूल प्रति के आधार पर तैयार की गई थी यह दोनो के मिलान से निश्चित हुआ। अभिनव-भारती की प्राप्ति से नाट्यशास्त्र के अध्येताओं को नवीन प्रोत्साहन प्राप्त हुआ तथा श्री म म रामकृष्ण कवि ने सन् १९२६ मे बडौदा से इसी व्याख्या के साथ मूल नाट्यशास्त्र का परिश्रम से सम्पादन कर सप्तमाध्याय तक का प्रथम खण्ड फिर क्रमश सन् १९३६ मे अध्याय ८ से १८ तक का दूसरा खण्ड सन् १९५४ मे अध्याय १९ से २७ तक का तृतीय खण्ड तथा सन् १९६४ मे अध्याय २८ से ३७ तक का चतुर्थ खण्ड प्रकाशित हुआ। नाट्यशास्त्र के चतुर्थखण्ड के प्रकाशन के कुछ समय पूर्व ही दुर्भाग्यवश म म रामकृष्ण कवि की मृत्यु हो गयी जिससे नाट्यशास्त्र के विषय मे कवि जी द्वारा इष्ट विस्तीर्णभूमिका तथा अव्याख्यात अध्यायो पर

उनके द्वारा निर्मित व्याख्या से अध्येताओं को वंचित हो जाना पड़ा। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा संगृहीत नाट्यशास्त्र पर प्राप्त वार्त्तिक आदि का एक विशिष्ट संग्रह भी अन्तिम खण्ड मे परिशिष्ट के रूप मे दिये जाने की योजना थी। हन्त ! यह सभी रह गया। अब नाट्यविद्या को इन कार्यों के लिए किसी अन्य प्रतिभा की प्रतीक्षा है, जिससे कदाचित् भविष्य मे यह अभाव पूर्ण हो सकेगा।

बड़ौदा से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के इस संस्करण मे परिश्रमपूर्वक सभी पाठभेदो को लेकर भूमिका आदि के साथ पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सामग्री दी गयी थी। जब पुन नाट्यशास्त्र के प्रथम भाग का नवीन संस्करण श्री रामास्वामी शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ तो इसमे इन्होने कवि द्वारा निश्चित दो पाठो के परम्परागत अन्तर को अधिकांश रूप मे स्वीकार नही किया। इन्होने नाट्यशास्त्र के मूलपाठो के निश्चय मे अभिनवभारती के आधार को भी प्रमाणरूप मे कम ही स्वीकृत किया। इनका तर्क था कि आचार्य अभिनवगुप्त के समय तक नाट्यशास्त्र मे पर्याप्त प्रक्षिप्तांश मिल चुका था। जिसे स्वयं अभिनवगुप्त ने ही साम्प्रदायिक पाठो की चर्चा के द्वारा स्वीकार किया है।

बड़ौदा से प्रकाशित अभिनवभारती व्याख्या सहित नाट्यशास्त्र के प्रथम खण्ड के तीन वर्ष पश्चात् ही सन् १९२९ मे काशी संस्कृत ग्रंथमाला से श्री प्रो० बटुकनाथ शर्मा तथा प्रो० बलदेव उपाध्याय के द्वारा सम्पादित नाट्यशास्त्र का एक संस्करण प्रकाशित हुआ। इस संस्करण को सरस्वती-भवन पुस्तकालय, काशी मे विद्यमान दो पूर्ण हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर सम्पादित किया गया था। यह मूल पाठ बम्बई तथा बड़ौदा संस्करणो से न केवल भिन्न ही था किन्तु यह नाट्यशास्त्र की दीर्घपाठ परम्परा का अनुसारी होने से महत्त्वपूर्ण भी था। काशी संस्करण के पाठो की भारतीय तथा विदेशी विद्वानो ने यद्यपि पर्याप्त आलोचना की, तथापि इसे इन (सभी) कारणो से पर्याप्त महत्त्व भी प्राप्त हुआ। सम्प्रति काशी संस्करण के विषय मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसका अध्यायक्रम तथा पाठ कदाचित् मूल नाट्यशास्त्र के पाठो से अधिक सामीप्य लिये हुए माना जाए तो कुछ अनुचित न होगा। इसके पश्चात् बम्बई के निर्णयसागर प्रेस से नाट्यशास्त्र का भी द्वितीय संस्करण सन् १९४३ मे प्रकाशित हुआ जिसमे बड़ौदा के अभिनवभारती संस्करण के दो खण्डो के तथा जे० ग्रासे के संस्करण के पाठान्तरो का संग्रह भी जोड़ा गया था।

इसी बीच नाट्यशास्त्र के विभिन्न भाषाओ मे अनुवाद तथा व्याख्यान लिखने के भी प्रयत्न आरंभ हुए। सर्वप्रथम प्रो० भानु ने नाट्यशास्त्र के आरम्भिक कुछ अध्यायों का मराठी मे भाषान्तर किया। सन् १९४० के

लगभग 'वसुमती' बंगाली मासिक पत्रिका में नाट्यशास्त्र के अध्यायों का बंगला भाषा में धारावाहिक रूप से अनुवाद प्रकाशित होता रहा जो तीन अध्यायों से आगे अपना विकास नहीं कर पाया। इधर डॉ० मनोमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र के अध्याय १ से २७ तक के अंश का स्वयं विनिश्चित पाठों, अनेक नवीन प्राप्त पाण्डुलिपियों तथा पूर्वसंस्करणों के आधार पर अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करवाया। कलकत्ता की रायल एशियाटिक सोसाइटी द्वारा सन् १९५१ में इसका यह प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ और इसी क्रम में सन् १९६१ में इसके आगे के समग्र अंश को प्रकाशित कर नाट्यशास्त्र का समग्र अनुवाद करने का यश प्राप्त किया। इसमें श्री घोष ने नाट्यशास्त्र की अर्थसंगति पर पर्याप्त मनोयोग लगाया तथा अनेक पाठों पर स्वतंत्र विचार भी प्रस्तुत किये। डॉ० घोष ने अपने अंग्रेजी अनुवाद के लिए जो मूल पाठ तैयार किया था उसका द्वितीय खण्ड (अध्याय १८ से ३६) तथा अंग्रेजी अनुवाद भी वहीं से प्रकाशित करवाया।

इसी बीच हिन्दी भाषा में भी नाट्यशास्त्र के व्याख्यान (तथा अनुवाद करने) की प्रवृत्ति के फलस्वरूप कुछ प्रयास प्रारम्भ हो गये थे। काशी से चौखम्भासंस्कृत पुस्तकालय द्वारा नाट्यशास्त्र के दो अध्यायों का श्रीरामगोविन्द शुक्ल द्वारा हिन्दी में शाब्दिक अनुवाद का सन् १९५३-५४ में प्रकाशन हुआ जिसमें बिना नाट्यशास्त्र की विषय गरिमा पर विचार किये हुए एक त्वरित अनुवाद प्रस्तुत किया गया था। परीक्षा छात्रों की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर श्री भोलानाथ तिवारी ने भी नाट्यशास्त्र के प्रथम तीन अध्यायों का एक सटिप्पण संस्करण प्रकाशित करवाया। श्री प्रॉ० कृष्णदत्त वाजपेयी (सागर विश्वविद्यालय) द्वारा नाट्यशास्त्र के प्रथम सात अध्यायों का संक्षिप्त भूमिका के साथ एक सामान्य शाब्दिक अनुवाद लखनऊ से सन् १९६० में प्रकाशित किया गया। मोतीलाल बनारसी दास के यहाँ से सन् १९६४ में डॉ० रघुवंश द्वारा अनूदित तथा एक उपयोगी भूमिका तथा टिप्पणी (बड़ौदा संस्करण के पाठों पर आधृत मूल पाठ) आदि के साथ एक संस्करण प्रकाशित हुआ। नाट्यशास्त्र के प्रथम दो तथा षष्ठ अध्याय का अभिनवगुप्त विरचित अभिनवभारती टीका के व्याख्यान के साथ हिन्दी अनुवाद आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि द्वारा किया गया जिसका प्रकाशन सन् १९६० में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा हुआ। नाट्यशास्त्र के शोधपूर्ण संस्करणों में अभिनवभारती के हिन्दी व्याख्यान के साथ-साथ प्रकाशित यह संस्करण सर्वोत्तम उपलब्धि माना जाएगा। इसके अतिरिक्त श्री डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी का नाट्यशास्त्र के प्रथम-द्वितीय अध्याय की हिन्दी व्याख्या तथा विशिष्ट भूमिका के साथ सन् १९६७ में दिल्ली से और एक संस्करण निकल गया है।

नाट्यशास्त्र का प्रस्तुत संस्करण

नाटयशास्त्र के आलोचनात्मक सस्करण के अभाव ने इसके अनुवाद, व्याख्यान आदि कार्यों को अनेक वर्षों तक सम्भव नही होने दिया था, परन्तु जब इसके विभिन्न सस्करण प्रकाश म आये तो अध्ययनकर्त्ताओं को भी प्रोत्साहन मिला और इसी के परिणामस्वरूप नाटयशास्त्र मे वर्णित तत्वों की विवेचना भी साहित्य के विविध क्षेत्रो में दिखाई दी। नाटयशास्त्र क प्रस्तुत व्याख्यात्मक अनुवाद को भी आलोचनात्मक सस्करण के अभाव न कई बार विघ्न उत्पन्न किया। जब इस प्रदीप व्याख्या का सन १६४८ के लगभग उज्जैन मे लेखन आरम्भ हुआ था उस समय केवल बम्बई के निर्णयम गर प्रेस तथा काशी के चौखम्भा सस्करण के साथ बडौदा के अभिनवभारती व्याख्या वाले सस्करण के केवल दो खण्ड (अध्याय १ स १८ तक) मात्र उपलब्ध थे। इतनी सामग्री को लेकर जब काय आरम्भ हुआ तो सवप्रथम पाठों की समस्या उपस्थित थी। कुछ विवादग्रस्त स्थलो को छो कर जैसे जैसे काय आग बढता चला तो एक व्यवस्थित पाठ के सस्करण की आवश्यकता का भी अधिकाधिक अनुभव होने लगा। तब फिर मूलपाठो को व्यवस्थित कर एक आधारभत मल पाठ का सस्करण तैयार करत हुए अनुवाद तथ टिप्पणिया आदि लिखन का कार्य आरम्भ किया गया जिसमे नाटयशास्त्र क प्राप्य सभी सस्करण, अन्य नाटयशास्त्रीय ग्रन्थो तथा नाटयशास्त्र की अन्य पाण्डुलिपियो आ दि का उपयोग किया गया है। नाटयशास्त्र के पाठो के विषय म योजना इस प्रकार रखी कि जो पाठ नाटयशास्त्र के प्रामाणिक तथ्य प्रकट करत हो उन्हे सावधानी के साथ मूलपाठ बनात हुए विद्यमान प्रचलित पाठो को भी अपेक्षित होने पर वही अथ के साथ दे दिया जाए जिससे दोना उचित पाठो का एक साथ वाचन सभव हो सके। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट पाठों को पाठान्तर टिप्पणी मे भी दर्शाया जाए जिससे नाटयशास्त्र के सभी उपलब्ध पाठान्तरो का समायोजन हो जाए। विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति एव प्रगतिशील शोधन के इसी उपक्रम ने आगे बढकर इस काय को व्यवस्थित एव प्रामाणिक बनाया। इस पद्धति मे न तो किसी सस्करण विशिष्ट पाठो का स्थापित किया गया है और न ही किसी महत्वपूर्ण पाठ या पाठान्तर को छोडा ही गया है। इस पद्धति की प्रेरणा श्री ए० ए० मेकडालन द्वारा सम्पादित 'बृहद्देवता' के कार्य एव श्री जे० ग्रोसे के सम्पादित नाटयशास्त्र के सस्करण से प्राप्त हुई, जिसके विरुद्ध किसी गम्भीर आपत्ति का उठाया जाना हास्यास्पद कहा जाएगा। इसका अन्य कारण अर्थ-सगति भी है जिसका नाटयशास्त्र की प्रकृति को ध्यान से देखने पर स्वय विवेकशील जन अनुभव कर सकते हैं।

जब इस प्रकार अनुवादात्मक व्याख्यान का कार्य चल रहा था इसी बीच श्री मनोमोहन घोष का अंग्रेजी अनुवाद भी सन् १९५१ मे प्रकाशित हो गया तो पुन इसके पाठो को भी ध्यान से विचार कर यथोचित रूप मे अपने संस्करण के लिए परिगृहीत करना आवश्यक हो गया। उस समय तक किसी हिन्दी व्याख्या की न तो उपलब्धि हो रही और न कही से इस काय के सम्पन्न करने का इतिवृत्त ही मिला था। निदान कुछ भागो को छोडकर सन १९५५-५६ मे नाटयशास्त्र के लगभग २८ अध्यायो का अनुवाद कार्य पूर्ण हो गया। सीमित समय के कारण यह कार्य बहुत ही धीरे-धीरे चल रहा था।

इसी बीच प्रकृत लेखक का स्थानान्तर जबलपुर के भाषा शोध संस्थान मे हो गया जिससे कुछ दिन के लिए नाटयशास्त्र का काय बन्द करना पडा किन्तु वहां के समृद्ध पुस्तकालय एव शैक्षणिक वातावरण ने नाटयशास्त्र के दुहराने और विस्तीर्ण टिप्पणी लेखन के कार्य को पुन बल प्रदान किया तथा इसके साथ अन्य नाटयशास्त्रीय संस्कृत ग्रन्थो के व्याख्यान लिखन की प्रवृत्ति को भी बढावा मिला। अन्य नाटयशास्त्रीय ग्रन्थो तथा नाटयशास्त्र के इस संस्करण को जब चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय के समक्ष व्यवस्थापक श्रीकृष्णदास जी गुप्त ने देखा तो वे इन सभी ग्रन्थो क प्रकाशन के लिये उद्यत हो गये। नाटयशास्त्र को चार खण्डो म प्रकाशित करने की योजना के साथ प्रथमखण्ड का मुद्रण आरम्भ हुआ जो अनेक विघ्नो और अनेक बार स्थान परिवर्तन की बाधा के आ जाने के कारण अधिक समय तक चलता रहा और अब एक लम्बे समय के बाद वर्तमान रूप म विज्ञ समीक्षको क समक्ष प्रस्तुत हो रहा है।

नाट्यशास्त्र का रचयिता

परम्परागत प्रसिद्धि के अनुसार नाटयशास्त्र के रचयिता भरत मुनि है और सभी इनके नाटयशास्त्र-कर्तृत्व को असन्दिग्धरूप से स्वीकारते चले आ रहे हैं। मुनि भरत स्वय एक पौराणिक व्यक्ति हैं जिनकी पहुँच देवलोक से भूतल तक वर्णित की गयी है। पुराण आदि म अनेक भरतो का उल्लेख मिलता है—यथा दशरथपुत्र भरत, दुष्यन्तपुत्र भरत, मन्धाता के प्रपौत्र भरत तथा जड भरत। इनमे सभी किसी राजवश से सम्बद्ध होने या अन्य कारणो से उल्लिखित होने से नाटयशास्त्र के लेखक भरत नही हो सकते। पुराणो मे उल्लेख होने के कारण भरत मुनि को ऐतिहासिक व्यक्ति की अपेक्षा कल्पित व्यक्ति मानने की स्थिति अधिक बलवती नही है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि नाटयशास्त्र के रचयिता मुनि भरत पृथक् अस्तित्वशाली होने के साथ साथ कल्पित मुनि की अपेक्षा ऐतिहासिक व्यक्ति अधिक माने जाने

इस गद्यशैली मे (१) गद्य मय सूत्ररूप मे सिद्धान्त-निरूपण, (२) गद्यमय भाष्य करते हुए सूत्रोक्त सिद्धान्त का व्याख्यान तथा (३) प्रतिपाद्य विषय के निरूपण में आने वाले तथ्यों का निरुक्त या व्याकरण-शैली मे निर्वचन । शास्त्रीय तत्व का निरूपण के लिए प्राचीनकाल मे इसी शैली के अन्यत्र भी प्रयोग प्राप्त होते हैं तथा इस शैली की तुलना हम यास्क या पाणिनि के वृत्ति तथा भाष्य ग्रन्थों से कर सकते है । इससे यह भी समर्थित होता है कि नाट्यशास्त्र की विवेचना पद्धति भी इसी प्रवृत्ति के कारण प्राचीन परम्परानुकूल है ।

नाट्यशास्त्र मे (इसी प्रकार) प्रधानरूप मे पद्यात्मक शैली प्रयुक्त है तथा इसका अधिकांश भाग अनुष्टुप् वृत्त मे है । ये सभी पद्य सूत्र या कारिकाएँ मानी जाती हैं जिनमे भरतमुनि ने अपना ग्रन्थ ग्रथित किया है । परन्तु इन कारिकाओ के अतिरिक्त अपने विचारो के समर्थन में मुनि ने यथाप्रसङ्ग अनुवश्य आर्या, श्लोक तथा सूत्रानुविद्ध आर्याओं का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त विषय-विवेचन-क्रम मे कारिकाओ को उपजाति, आर्या आदि छन्दो मे भी रखा गया है । इस प्रकार सूत्र, भाष्य, सग्रह, कारिका एव निरुक्त जैसी सभी प्राचीन शास्त्रीय पद्धतियों का नाट्यशास्त्र मे भी दर्शन होता है । अब हम क्रमश इन तथ्यो पर विचार करते है ।

आनुवंश्य-श्लोक—आनुवश्य श्लोक कहने से यही तत्काल प्रतीत होता कि ये श्लोक परम्परा-प्राप्त श्लोक हैं। महाभारत मे 'यत्रानुवश्य भगवान् जामदग्यस्तथा जगौ। विश्वामित्रस्य तादृष्ट्वा विभूतिमतिमानवीम् ।' (महा० वनपर्व ८७–१६) तथा मत्स्यपुराण आदि मे भी अनुवश्य श्लोको की परम्परा मिलती है । जिनके सम्बन्ध मे महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने 'परम्परागतमाख्यानमानुवश्यश्लोकम्' (महा० वन० ८६।१६ पर टीका) कहकर इन श्लोको को परम्पराप्राप्त श्लोक निरूपित किया है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भी 'अत्रेतिभाष्ये अनुवशभवौ = शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तविशेषौ सूत्रार्थसक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ, भवन्तौ पठति ।' (अभि० खण्ड १ पृष्ठ २९१) कहकर अनुवशीय श्लोकों को परम्परागत आख्यान श्लोक (ही) माना है । ये श्लोक पूर्वाचार्यो की परम्परा से उद्धृत किये गये हैं इस विषय मे कोई सन्देह नही रहता । इसी प्रकार सूत्रानुविद्ध श्लोकों को भी समझना चाहिए जिनमे सूत्रकारिकाओ मे अनुस्यूत सिद्धान्तो का विस्तार ग्रन्थकार द्वारा इष्ट होता है । स्पष्ट है कि ये श्लोक नाट्यशास्त्रकर्ता द्वारा निर्मित नही होगे ।

आनुवंशीय आर्याएँ—आनुवश्य श्लोक के अतिरिक्त भरतमुनि ने आर्याओं को भी उद्धृत करते हुए उन्हे 'सूत्रानुविद्धे (नुबद्धे) आर्ये' कहा है। स्पष्ट है कि ये आर्याएँ भी पूर्वाचार्यों की परम्परा से गृहीत ही होगी, भरत-निर्मित नही। इनका प्रयोजन सूत्ररूप न अभिहित विषय को सरलता से हृदयङ्गम करवाना है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इन आर्याओं को 'लक्षणार्य पूर्वाचार्यों के द्वारा निर्मित आर्याएँ' माना है, जिनका आचार्य भरत द्वारा केवल उचित स्थान पर समावेश मात्र किया गया है। इससे विदित होता है कि ये आर्याएँ भी भरत मुनि प्रणीत नही हैं। इस तथ्य से आचार्य अभिनव-गुप्त पूर्णत परिचित थे।

नाट्यशास्त्र का स्वरूप प्रथम गद्य मे सूत्रशैली मे हुआ था जिसका उत्तरोत्तर विकास कारिका के रूप मे हुआ। श्री डॉ० सुशीलकुमार डे महोदय की यह धारणा अधिकमान्य नही की जा सकती। सम्भवत डॉ० डे की इसके मूल मे यही भावना प्रतीत होती है कि सूत्र गद्यात्मक होता है, पद्यात्मक नही, परन्तु ध्यान देने की बात है कि नाट्यशास्त्र से प्राचीनतर ग्रन्थ शतपथब्राह्मण, गृह्य तथा धर्मसूत्र जैसे ग्रन्थो मे भी गद्य पद्य मिश्रित शैली के प्रयोग प्राप्त हैं। इसलिए नाट्यशास्त्र के गद्य-पद्य विमिश्रित रूप को गद्य से पद्य तक का विकसित रूप नही माना जा सकता। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भी नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ सूत्रबद्ध मानकर इसकी गद्य पद्य विमिश्रित शैली को प्रतिपादित करते हुए इसकी व्याख्या भी की है। अभिनवगुप्त के इसी सिद्धान्त का श्री पी० वी० काणे जैसे आधुनिक समीक्षक विद्वान् ने भी अनुसरण किया है। इस सन्दर्भ मे यह भी ध्यान देने की बात है कि भवभूति ने उत्तररामचरित मे भरतमुनि को **तौर्यत्रिक सूत्रकार** कहा है। इसलिये यह असम्भव नही जान पड़ता कि नाट्यशास्त्र गद्य पद्य मे निर्मित होने पर सूत्रग्रन्थ न कहा जा सके। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने तो नाट्यशास्त्र को ही **भरत सूत्र** कहा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र अपनी शैली आदि की दृष्टि से एक सुनियोजित रचना है। जैसे व्यासो की परम्परा पुराण रचना की, इसी प्रकार की भरतो की परम्परा ने नाट्यशास्त्र की रचना की, यह तर्क अधिक सङ्गत नही माना जायगा। इसका कारण यह है कि वाल्मीकि का व्यक्तित्व जैसे रामायण के कारण विलुप्त नहीं होता इसी तरह नाट्यशास्त्र रचयिता के रूप मे भरत का व्यक्तित्व स्पष्ट रहेगा।

नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्य

आनुवश्य श्लोक, आर्याएँ आदि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निर्मित होने की

२ प्रस्ता० ना० शा० प्र०

स्थिति वैसे ही है जैसी आचार्य पाणिनि के प्रथम आचार्य होकर अष्टध्यायी के निर्माण करने के पूर्व भी व्याकरण के अनेक आचार्यों की स्थिति का विद्यमान होना। यही दशा नाट्यविद्या की भी समझनी चाहिए। भरतमुनि के नाट्यशास्त्रीय उल्लेखों के अतिरिक्त भी ऐसे उल्लेख प्राप्य हैं जिनसे नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती नाट्यविषयक ग्रन्थ तथा उनके प्रणेताओं का आभास मिलता है। इनमे सबसे प्राचीन उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी मे है। जिससे शिलालिन तथा कृशाश्व के द्वारा प्रणीत नटसूत्रों का पता चलता है। ये नटसूत्र नाट्यशास्त्रविषयक लौकिक सूत्र ग्रन्थ रहे होंगे। परन्तु इन ग्रथों के विषय मे आज हम अन्धकार मे हैं, अतः यह कहना कठिन है कि इनका मूल या प्रतिपाद्य क्या था तथा इनकी शैली कैसी थी। प्रो० सिल्वा लेवी तथा हिलेब्राण्ट ने इन ग्रथों को अभिनेताओं के लिये लिखे ग्रन्थ माना है पर वेबर तथा स्टेनकोनो जैसे विद्वान इन्हें नर्तक या नटों के लिए लिखित शिक्षासूत्र ग्रन्थ मानते हैं। प्रो० श्री ए० बी० कीथ ने इन दोनों के मतों को मान्य किया। श्री कोनो आदि विद्वानों का यह भी अनुमान है कि भरत ने नाट्यशास्त्र के निर्माण होने पर इन ग्रन्थों का अन्तर्भाव नाट्यशास्त्र म हो जाने के कारण लोप हो गया, जैसे पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों के ग्रन्थों का अष्टाध्यायी मे अन्तर्भाव होकर लोप हो गया था। नटसूत्र के स्वरूप-विवेचन के प्रसङ्ग मे इन पाश्चात्य विद्वानों ने नट शब्द से बाजीगरी का जो आशय लिया वह बहुत सही है, क्योंकि नट शब्द की निष्पत्ति नट् धातु से हुई है जिसका अर्थ अभिनय होता है। इसी नट के कर्मों को बतलाने वाला शब्द 'नाट्य' है। अतः यह मानना कि ये किन्हीं नटविद्या के या बाजीगरी के शिक्षा ग्रन्थ होंगे, अनुभव से परे की कल्पना है। नटसूत्रकार शैलालक ऋग्वेद का चरण ग्रन्थ था। कात्यायन ने इस चरण के अध्येता को शैलाली शब्द से सम्बोधित किया है। पाणिनि सूत्र की प्रसिद्ध वृत्ति काशिका मे इन सूत्रों की वृत्ति मे लिखा है कि शिलालिन् तथा कृशाश्व द्वारा जो चरणों का विकास हुआ उसे आम्नायवत् पवित्रता प्राप्त थी। नाट्यशास्त्र को भी आम्नायवत् माना गया है। इससे यह भी प्रतीत होगा कि भरत को ये ग्रन्थ अवश्य उत्तराधिकार मे शास्त्रपरम्परा से प्राप्त हुए होंगे।

नाट्यशास्त्र मे भी प्रसङ्गवश अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जो इन आचार्यों की भरत-पूर्वस्थिति का निदर्शक है। इस सन्दर्भ मे शब्द लक्षण के प्रसङ्ग मे पूर्वाचार्य, गान्धर्व के प्रसङ्ग मे स्वाति, छन्द निरूपण के प्रसङ्ग मे गुह, ध्रुवाओं के निरूपण के प्रसङ्ग मे नारद, अङ्गहार तथा करण के प्रसङ्ग मे तण्डु तथा नन्दी और मानवीय गुणों के प्रसङ्ग मे बृहस्पति का आचार्य

के रूप म उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त नाट्योत्पत्ति के प्रसङ्ग मे भरत ने अपने एक सौ पुत्रों का उल्लेख किया है जिनमे नाट्यप्रयोक्ता तथा शास्त्र-प्रणेता पुत्रों का भी उल्लेख है। इन पुत्रों मे कोहल, दत्तिल, अश्मकुट्ट, बादरायण और शातकर्णी आचार्य के रूप मे विदित होते हैं। इनमे कोहल के विषय मे यह भविष्यवाणी भी की गई है कि वह नाट्यशास्त्र के अवशिष्ट तत्वो पर अपना शास्त्रग्रन्थ रचेगा तथा यह भी कि शाण्डिल्य, धूर्तिल तथा वात्स्य द्वारा मनुष्यो की बुद्धि के विकास के लिये नाट्यशास्त्र पर और भी ग्रन्थ लिखे जायँगे। अब क्रमश इन आचार्यों के विषय मे ज्ञात सामग्री के आधार पर नीचे थोड़ा परिचय दिया जा रहा है।

भरतमुनि के समकालीन नाट्यशास्त्रकार आचार्य

कोहल—नाट्यशास्त्र मे उल्लिखित भरतपुत्रों मे सर्वप्रथम कोहल[1] आते हैं, जो सर्वाधिक सम्मानप्राप्त आचार्य हैं तथा अग्रगण्य भी। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय मे भरतपुत्रों मे कोहल का साधारण उल्लेख मिलता है किन्तु

---

१ आचार्य अभिनव की तर्कना तथा नाट्यशास्त्र मे कोहल के उत्तराधिकारी होने के उल्लेख मे जो निष्कर्ष निकलता है उससे यह प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र की रचना के समय भरत अतिवृद्ध हो चुके थे तथा इसी कारण उन्हे मुनि सज्ञा भी मिली थी। किन्तु उस समय उनके पुत्र कोहल युवा थे तथा अपने पिता द्वारा अध्यापित नाट्यवेद मे प्रगाढरुचि एव दक्षता के कारण इस शास्त्र पर अपने निश्चित दृष्टिकोण को स्वतन्त्र भी रखते होंगे जो भरत मुनि से मत-विभेद लिये हुए था तथा जिनका अभिनव ने यत्र-तत्र उल्लेख भी किया है। यदि इन तथ्यों को ध्यान मे रखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि जब भरत मुनि का वर्तमान ग्रथ भरतसूत्र समाप्ति पर था तभी भरत अतिवृद्ध हो चुके थे। निरन्तर लेखन में अशक्ति के कारण नाट्यशास्त्र के अवशिष्ट विषयो पर-जो कि अभी तक प्रतिपादित विषय से कम महत्त्व के नही थे—लिखने मे असमर्थ से हो गये थे। किन्तु इस समय तक कोहल ने नाट्यविद्या के आचार्य के रूप मे पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी तथा इसकी नाट्यशास्त्र के अवशिष्ट विषयो पर लिखने की क्षमता का भी मुनि को विश्वास था। इस समय कोहल स्वय भी शेष विषयो पर लिखने की योग्यता रखता था। इस कारण भरत ने अपने ग्रन्थ को अपने पुत्र द्वारा शेषाश पूर्ति की भविष्यवाणी के साथ ही पूर्ण कर दिया होगा। इसके बाद आचार्य कोहल ने नाट्यशास्त्र के शेषाश का प्रणयन किया, जो आज उनके नाम से पृथक् ग्रथो के रूप मे प्राप्त है।

नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में कोहल आचार्य के रूप में भरत के उत्तराधिकारी निरूपित किये गये हैं। आचार्य कोहल ने सङ्गीत, नृत्य तथा अभिनय से सम्बद्ध स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना की थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने अनेक स्थानों पर कोहल के मत का उल्लेख किया है तथा कोहल को आचार्य भरत का समसामयिक भी माना है। इसी कारण अनेक प्रसङ्गों में आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने कोहल का मत उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त भावप्रकाशन में शारदातनय ने, हेमचन्द्राचार्य ने काव्यानुशासन में, नाट्यदर्पण सूत्र में रामचन्द्र गुणचन्द्र ने रूपकों के सवर्धन का कर्त्ता कोहल को माना है, जिसने नाटिका, सट्टक जैसे नाटयभेद को प्रवर्तित किया। रसार्णवसुधाकर में भरतमुनि के साथ कोहल, दत्तिल आदि का स्वतन्त्र नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया गया है। राजशेखर ने बालरामायण नाटक में कोहलाचार्य को नाटयप्रयोक्ता के रूप में प्रस्तुत किया है। इन सब विवरणों से स्पष्ट है कि कोहल भरत मुनि की परम्परा के सर्वाधिक प्रशंसित आचार्य एवं नाट्यप्रयोक्ता रहे होंगे। यद्यपि भरत मुनि के पुत्र होने से भरत के समकालीन कोहलाचार्य को भी माना जाना चाहिये तथापि नाट्यशास्त्र के सम्पादक म० म० रामकृष्ण कवि इनका समय ईस्वी पूर्व तीसरी शती मानते हैं। कोहल ने नाट्य के विविध अङ्गों तथा नृत्य एवं सङ्गीत पर अधिकृतरूप से अनेक रचनाएँ की थीं जिनके सम्प्रति उद्धरण प्राप्य हैं। सङ्गीत ग्रन्थों में कोहलविषयक विवरण तथा उनके विस्तृत उद्धरण, शार्ङ्गदेव के सङ्गीत-रत्नाकर एवं उसकी सिंहभूपाल तथा कल्लिनाथ की टीकाओं में प्राप्त होते हैं। पार्श्वदेव के सगीतसमयसार में कोहल के साथ दत्तिल आचार्य का सङ्गीतशास्त्र के आचार्य के रूप में भी उल्लेख प्राप्त होता है। मद्रास के शासकीय हस्तलिखित ग्रन्थागार में कोहलप्रोक्त ग्रन्थ का तेरहवाँ अध्याय विद्यमान है। इसका नाम है 'कोहलरहस्य'। यह ग्रन्थ खण्डित है किन्तु इसमें कोहल का भरतपुत्र के रूप में उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त कोहलाचार्य प्रणीत 'कोहलमतम्' नामक अन्य ग्रन्थ भी मिलता है, जो बहुत अल्प मात्रा में है। इसमें पुष्पाञ्जलि का केवल स्वरूप मात्र बतलाया गया है। एक अन्य ग्रंथ है—'कोहलीयम्,' यह ग्रन्थ लन्दन के इण्डिया आफिस सग्रहालय में विद्यमान है। यह ग्रंथ तालपत्र पर लिखित है। आचार्य कोहल के ये सभी ग्रन्थ अपूर्ण तथा अप्रकाशित हैं।

नन्दी या नन्दिन्—नन्दी या तण्डु जिनका अन्य अभिधान नन्दिकेश्वर भी है, भरतमुनि के ताण्डव शिक्षक के रूप में नाट्यशास्त्र में उल्लिखित किये गये हैं। अतएव किञ्चित् भरत पूर्ववर्ती माने जा सकते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने तण्डु शब्द नन्दी या नन्दिकेश्वर का ही नाम या पर्याय माना है।

इससे स्पष्ट है कि नन्दी ही तण्डु थे, जिनने भरत को उस ताण्डवनृत्य का शिक्षण दिया था जो उन्हें शिव से साक्षात् प्राप्त हुआ था। नन्दी के सुप्रसिद्ध ग्रंथ अभिनयदर्पण से इन्हें नाट्यशास्त्र के आचार्य मानने म कोई कठिनाई नहीं रह गई। नन्दिकेश्वर के अन्य ग्रथो मे 'नन्दिभरतोक्त सकरहस्ताध्याय' नामक ग्रन्थ हस्तलिखित रूप मे अपूर्ण प्राप्त होता है। भरत के नाटयशास्त्र की पुष्पिका मे नन्दिभरतप्रणीत सङ्गीतपुस्तकम् लिखा मिलता है जो भरत के शिष्य होने या नन्दिमत प्रतिपादित करने वाले ग्रंथ मे नाट्यशास्त्र को सकेतित करता प्रतीत होता है। इस प्रकार नन्दिकेश्वर का भी नाट्य शास्त्र के निर्माण मे महत्वपूर्ण योगदान इससे स्पष्ट है।

तुम्बुरु—रेचक, करण, अङ्गहार तथा सङ्गीत के प्रसङ्ग में तुम्बुरु का नाटयशास्त्र मे उल्लेख मिलता है, जो तुम्बुरु को भी नन्दी की तरह भरतमुनि का समकालीन आचार्य सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। तुम्बुरु नृत्य सगीत के प्रसिद्ध आचार्य थे तथा प्रत्येक सङ्गीत के अवसर पर इनका सहयोग प्राप्त रहने का उल्लेख पुराणो म प्राप्त होता है। इस प्रकार इनका व्यक्तित्व पौराणिक है यह स्पष्ट है, परन्तु इनके किसी ग्रन्थ या उद्धरणो की प्राप्ति आज तक नही हुई।

काश्यप—कोहल के समान काश्यप मुनि भी भरताचार्य के समकालीन सगीत तथा नाट्यशास्त्रकार थे। आचार्य अभिनवगुप्त इन्हें भरत के समान प्रतिष्ठित आचार्य मानते थे। इनने काश्यप का लम्बा उद्धरण अभिनवभारती में दिया है जिसमे जातियो तथा रागो के विषय में शास्त्रकारो के मतो का निदर्शन करवाया गया है। इससे हमे ज्ञात होता कि भिन्न कैशिक, टक्क, सौवीर तथा मालव कैशिक जैसे रागो का क्या स्वरूप है। इस प्रकार भरतमुनि के समकालीन शास्त्रकारो को रागो का ज्ञान था, यह इससे स्पष्ट हो जाता है।

दत्तिल—दत्तिल या दन्तिल भी भरतमुनि के समकालीन शास्त्रकार थे। दत्तिल नाट्यविद्या तथा सङ्गीत के प्रामाणिक ग्रंथकार थे। आचार्य अभिनवगुप्त ने इनका उल्लेख सङ्गीतकलाप्रतिपादक नाट्यशास्त्र अध्याय २८ की व्याख्या मे किया है। भरतमुनि के शतपुत्रो मे कोहल के बाद दत्तिल का ही क्रम आता है। नृत्तकला के विषय मे 'दत्तिल-कोहलीयम्' नामक एक अप्रकाशित पाण्डुलिपि तञ्जोर ग्रन्थागार मे विद्यमान है जिसमे नृत्यकला का विशद निरूपण है। रसार्णवसुधाकर आदि ग्रन्थो में दत्तिल का नामोल्लेख मिलता है। म० म० रामकृष्ण कवि ने इसके एक अन्य ग्रन्थ **गान्धर्व-वेदसार** का भी उल्लेख किया है। दत्तिलम् इनका सुप्रसिद्ध एव सर्वविदित प्राप्य ग्रन्थ है ही।

अश्मकुट्ट तथा नखकुट्ट—इन दोनो आचार्यों का भरतपुत्र के रूप मे नाट्यशास्त्र मे उल्लेख मिलता है। सागरनन्दी ने अपने नाटकलक्षणरत्नकोष मे अश्मकुट्ट तथा नखकुट्ट के विभिन्न नाट्य प्रसगो मे क्रमश चार तथा दो बार मत उद्धृत किये हैं जिनसे इनकी स्वतन्त्र नाट्यशास्त्रीय कृतियो का पता चलता है। आमुख मे वीथ्यग तथा अन्य नाट्यतत्वो की योजना के विधान मे विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्य-दर्पण में अश्मकुट्ट के श्लोक उद्धृत किये है। इससे स्पष्ट है कि सागरनन्दी तथा विश्वनाथ-कविराज के साथ अश्मकुट्ट तथा नखकुट्ट के नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ विद्यमान थे।

बादरायण तथा शातकर्णी—नाट्यशास्त्र म बादरायण का उल्लेख भरतपुत्र के रूप मे किया गया है। नाटकलक्षणरत्नकोष में बादरायण के मत का तीन स्थलों पर उल्लेख होने से ये निश्चित रूप मे नाट्यशास्त्र के आचार्य थे। शातकर्णी का भरतपुत्रो की सूची मे शातकर्णी अभिधान भी प्राप्त है। हरिपति उपाध्याय की अनर्घराघव व्याख्या म भी शातकर्णी का उद्धरण मिलता है। नाटकलक्षणरत्नकोष में भी शातकर्णी का मत उद्धृत होने से इनका भी नाट्यविद्या के आचार्य होने का प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र मे वात्स्य तथा शाण्डिल का नाम भरतपुत्र होने के अतिरिक्त नाट्यावतरणाध्याय मे कोहल के साथ शेषतन्त्र के व्याख्याता आचार्य के रूप म भी किया गया है किन्तु इनके किसी ग्रन्थ या उद्धरण क प्राप्त न होने से सम्प्रति इनके ग्रन्थकार होने का प्रमाण नही मिलता।

इस प्रकार जिन भरतपुत्रो का आचार्यत्व यहाँ बतलाया गया है, उनकी भरत मुनि से समकालता भी यह स्पष्ट है।

मध्यकालीन नाट्यशास्त्रकार आचार्य

विशाखिल तथा चारायण—आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र व्याख्या मे विशाखिल का एक उद्धरण दिया है जिससे नाट्यशास्त्र पर इनकी किसी कृति का अनुमान लगता है। इससे अधिक इनके विषय मे ज्ञात नही। इसी प्रकार सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोष मे चारायण का उल्लेख किया है जिनसे इनके भी नाट्यशास्त्रीय आचार्य होन की प्रतीति होती है।

कात्यायन, राहुल तथा गर्ग—आचार्य अभिनवगुप्त ने कात्यायन का एक उद्धरण दिया है जिससे इनके नाट्यशास्त्र तथा छन्द शास्त्र पर ग्रन्थो की प्रतीति होती है। सागरनन्दी ने भी कात्यायन का एक उद्धरण दिया है जिससे इनका आचार्यत्व समर्थित होता है। इसी प्रकार अभिनवगुप्त तथा सागरनन्दी ने आचार्य राहुल के भी कुछ उद्धरण दिये हैं जिनसे नाट्यशास्त्र के आचार्य के रूप मे इनकी भी प्रतीति निर्बाध है। सागरनन्दी ने गर्ग का भी नाट्या-

चार्य के रूप मे उल्लेख तो किया है किन्तु कोई उद्धरण नही दिया। सम्भवतः सागरनन्दी इनके ग्रन्थ से परिचित अवश्य थे किन्तु आवश्यक न रहने के कारण उद्धरण देकर उल्लेख न कर पाये हो।

शकलीगर्भ तथा घण्टक—आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र व्याख्या मे शकलीगर्भ तथा घण्टक के मतो का उल्लेख किया है। आचार्य शकलीगर्भ को रामकृष्ण कवि आचार्य उद्भट से अभिन्न मानते हैं, किन्तु ऐसा मानने के लिये कोई उचित कारण नही है, क्योकि यदि ऐसा ही होता तो वे फिर उद्भट का मत अनेक बार उद्धृत करते समय अन्य नाम क्यो देते। अतः शकलीगर्भ कोई पृथक् नाट्याचार्य अवश्य थे। इनका समय उद्भट तथा भट्ट लोल्लट के मध्य नवी शताब्दी हो सकता है। आचार्य शकलीगर्भ तथा घण्टक की किसी नाट्यरचना का स्पष्ट ज्ञान नहीं है।

नाट्यवार्तिककार हर्ष—आचार्य अभिनवगुप्त से पूर्व नाट्यशास्त्र पर हर्षविरचित वार्तिक का अध्ययन भी अधिक प्रचलित था। यह वार्तिक नाट्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप मे था जिसके अनेक उद्धरण अभिनव-भारती मे मिलते हैं। रामकृष्ण कवि ने नाट्यशास्त्र खण्ड २ की भूमिका म अगहारो पर खण्डित वार्तिक के अश के प्राप्त हो जाने की सूचना भी दी है। डॉ० राघवन का मत है कि हर्ष ने नाट्शास्त्र के छठे अध्याय के बाद भाष्यभूत वार्तिक का निर्माण ही नही किया था। यह मत इसलिये मान्य नही है क्योंकि एक तो समग्र वार्तिक ग्रन्थ उपलब्ध नही है, दूसरे भाव-प्रकाशन मे त्रोटक के प्रसग मे तथा सागरनन्दी के नाटकलक्षणरत्नकोष मे श्रीहर्ष का नाट्यशास्त्र के आचार्य रूप मे विवरण मिलता है। डॉ० शकरन के मत मे वार्तिक-कार हर्ष तथा कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन एक ही व्यक्ति थे जो रत्नावली, नागानन्द तथा प्रियदर्शिका के रचयिता भी थे। राजतरंगिणी मे काश्मीर के राजा हर्ष विक्रमादित्य के द्वारा मातृगुप्त को सिंहासनासीन करने का विवरण मिलता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् ये हर्षविक्रम ही नाट्यवार्तिककार हो। मातृगुप्त के समकालीन होने पर इनका समय भी चतुर्थ शती का अन्त तथा पाँचवी शती का आरम्भ माना जा सकता है।

मातृगुप्ताचार्य—राजतरंगिणी मे प्राप्त विवरण के अनुसार मातृगुप्त कवि भी थे तथा भर्तृमेण्ठ जैसे कवि के समकालीन एव आश्रयदाता भी थे, जिनने श्रीहर्षविक्रम के द्वारा प्राप्त काश्मीर का पाँच वर्ष तक शासन किया तथा अन्त मे विरक्त होकर राज्य छोड दिया। अभिनवभारती ने मातृगुप्त का मत वीणावादन के पुष्प नामक प्रभेद के व्याख्यान प्रसङ्ग मे उद्धृत किया है। शारदातनय ने भावप्रकाशन तथा सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोष मे

नाट्यस्वरूप तथा नाट्याग आदि के प्रसङ्गों पर अनेक बार मातृगुप्ताचार्य का मत उद्धृत किया है। इनके सर्वाधिक उद्धरण अभिज्ञानशाकुन्तल की राघवभट्ट प्रणीत व्याख्या म प्राप्त होते हैं जिनसे नाट्यशास्त्र पर इनके स्वतन्त्र ग्रंथ की महत्ता प्रतिपादित होती है। यद्यपि सुन्दरमिश्र ने (स्थितिकाल १६ वी शती) अपने 'नाट्यप्रदीप' मे मातृगुप्त का नाट्यशास्त्र के एक व्याख्याकार के रूप म उल्लेख किया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के स्वतन्त्र लेखक के रूप में इनने भरतमत की समीक्षा की हो जिससे श्री मिश्र ने इन्हें नाटयशास्त्र का व्याख्या समझ लिया होगा। मातृगुप्त उच्चकोटि के कवि भी थे और इसी कारण कुछ आलोचक इन्हें कालिदास से अभिन्न मानते हैं जो अब अधिक विश्वसनीय कल्पना नहीं मानी जाती। वक्रोक्तिजीवित म कुन्तक ने मातृगुप्त के काव्य के सुकुमारता तथा विचित्रता नामक गुणो का उल्लेख किया है। श्रीहर्ष विक्रमादित्य के समकालीन होने के आधार पर मातृगुप्त का स्थितकाल ईसवी पांचवी शती माना जाता है।

सुबन्धु—शारदातनय ने भावप्रकाशन मे सुबन्धु के नाटकों के स्वरूप पर एक विशिष्ट मत का उल्लेख किया है। नामसाम्य के कारण कुछ समीक्षक इन्हें वासवदत्ता नामक गद्यकाव्य के रचयिता स अभिन्न मानते हैं। यदि ये ही सुबन्धु नाट्यशास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थ के रचयिता भी हो तो इनका भी पांचवीं से छठी शती के मध्य स्थित काल माना जा सकता है। सुबन्धु के विषय मे अन्य ग्रन्थो म किसी प्रकार इसके अतिरिक्त और विवरण नही मिलत हैं।

भरतनाट्यशास्त्र के व्याख्याकार—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर अनेक आचार्यों द्वारा व्याख्याएँ लिखी गयी थीं। इस समय केवल अभिनवभारती ही उपलब्ध है, जिससे नाट्यशास्त्र पर लिखित व्याख्यानो, वार्तिकों तथा स्वतन्त्र नाटयरचनाओं के विषय में हम ज्ञान होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उद्भट को नाटयशास्त्र का एक व्याख्याकार माना जिसका समर्थन शाङ्गदेव के संगीत रत्नाकर से भी होता है। संगीतरत्नाकर मे कीर्तिधर आचार्य को भी नाट्यशास्त्र का एक व्याख्याकार बतलाया। इसके अतिरिक्त इसने ही नाटयशास्त्र के व्याख्याकारो के रूप में भट्ट लोल्लट, श्रीशङ्कुक भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टयन्त्र भी नाट्यशास्त्र के एक व्याख्याकार थे। परवर्ती रचनाओ से कुछ अन्य आचार्यो द्वारा भी नाट्यशास्त्र पर व्याख्यान लिखने के विवरण मिलते हैं। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि नाट्यशास्त्र की सर्वाधिक व्याख्याएँ केवल काश्मीर के विद्वानो द्वारा ही लिखी गई थी। अब हम क्रमश नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों के विषय म लिखेंगे।

भट्ट उद्भट—आचार्य अभिनवगुप्त ने छ, नौ, तथा उन्नीसवें अध्याय मे

आचार्य उद्भट के मतों का उल्लेख किया है। मम्मट भट्ट ने भी अपने काव्य-प्रकाश में उद्भट को रस-सूत्र का व्याख्याता तथा संगीतरत्नाकरकार शार्ङ्गदेव ने भी इन्हें नाट्यशास्त्र का व्याख्याकार माना है। भट्टोद्भट के विचारों की भट्ट लोल्लट द्वारा आलोचना किये जाने के कारण ये भट्टलोल्लट के पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार हैं। राजतरंगिणी के अनुसार भट्टोद्भट काश्मीरी सम्राट् जयापीड की विद्वत्सभा के सभापति थे तथा इनकी विद्वत्ता का सम्मान करते हुए प्रतिदिन एक लाख दीनार इन्हें वेतन दिया जाता था। भामह विरचित काव्यालंकार के सुप्रसिद्ध व्याख्याता के रूप में आचार्य भट्टोद्भट विदित हैं। इनका स्थितिकाल जयापीड के समकालीन रहने से सप्तम शती का मध्यकाल माना जाता है। अन्य विद्वान् इनका स्थितिकाल सातवीं शती का उत्तरार्ध मानते हैं।

भट्ट लोल्लट—आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्ट लोल्लट के मत को प्रस्तुत करते हुए उस पर आलोचना की है जिससे यह स्पष्ट है कि भट्ट लोल्लट ने समग्र नाट्यशास्त्र पर अपनी व्याख्या या भाष्य लिखा था। पूर्व-मीमांसाशास्त्र के अनुगामी होने से इनकी रससूत्र पर इसी दर्शन के सिद्धान्तानुरूप व्याख्या की है। यद्यपि भट्ट लोल्लट के रसव्याख्यान की सभी व्याख्याकारों ने चर्चा की है परन्तु इनकी व्याख्या शास्त्रगाम्भीर्य में उन्नत स्थान रखती थी इसे सभी मुक्तकण्ठ से स्वीकार भी करते थे। काव्यप्रकाश के प्राचीन व्याख्याकार माणिक्यचन्द्र ने लोल्लट तथा शंकुक की तुलना में लोल्लट भट्ट को रसशास्त्र का मार्मिक पण्डित माना है। भरतसूत्र के रसविषयक व्याख्याक्रम में इन्हें उत्पत्तिवादी आचार्य माना जाता है। ये मीमांसक होने के कारण व्यञ्जनाविरोधी थे। काव्यप्रकाश आदि अनेक अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में भट्ट लोल्लट के मत का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भट्ट लोल्लट के दो स्थानों पर मत उद्धृत किये हैं। भट्ट लोल्लट अपराजित के पुत्र होने से अपराजिति नाम से भी जाने जाते थे। अपराजिति के नाम से राजशेखर की काव्यमीमांसा में जो उद्धरण दिये गये हैं उन्हीं को हेमचन्द्र ने भट्ट लोल्लट के नाम से उद्धृत किया है। भट्टलोल्लट ने न केवल भरत नाट्यशास्त्र पर ही व्याख्या की किन्तु स्पन्दकारिका की भी व्याख्या की थी जिसका नाम वृत्ति था। इस टीका का उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त के परमशिष्य क्षेमराज ने किया है। अत एव स्पन्दकारिका के लेखक भट्ट कल्लट भी भट्ट लोल्लट से ज्येष्ठतर एवं उन्हीं के समकालीन विद्वान् ठहरते हैं। भट्ट कल्लट की अपेक्षा श्रीशंकुक अवस्था में कम रहने पर भी लोल्लट के समकालीन विद्वान् थे। जिनका स्थितिकाल आठवीं शती का उत्तरार्ध एवं नवीं शती का प्रारम्भ है। ये सभी काश्मीर के निवासी थे। यह भी सम्भावना है कि भट्ट कल्लट की तरह भट्ट लोल्लट भी वसुगुप्त के शिष्य रहे हों।

श्रीशंकुक—भरत नाट्य-शास्त्र के अन्य व्याख्याकार श्रीशंकुक थे, जो भट्ट लोल्लट के कनिष्ठ समकालीन एवं काश्मीर निवासी विद्वान् थे। शार्ङ्गधरपद्धति वल्लभदेव की सुभाषितावली तथा जल्हण के सूक्तिसंग्रहों में श्रीशंकुक की अनेक सूक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। श्री शंकुक मयूर के पुत्र थे। बाण के समकालीन मयूर से ये श्रीशंकुक के पिता मयूर निश्चित ही भिन्न व्यक्ति होंगे। कल्हण ने राजतरङ्गिणी में श्रीशंकुक के भुवनाभ्युदय काव्य का उल्लेख करते हुए इन्हें अपने समकालीन काश्मीर के शासक अजितापीड के आश्रित विद्वान् बतलाया है। अभिनवभारती में अध्याय ३ से २९ अध्याय तक श्रीशंकुक की टीका के निरंतर उद्धरण देकर उनकी आलोचना की गई है। अत एव श्रीशंकुक ने समग्र नाट्यशास्त्र पर व्याख्या लिखी थी यह स्पष्ट है। ये रसशास्त्र के व्याख्यान में अनुमितिवादी आचार्य माने जाते हैं।

भट्ट नायक—ध्वन्यालोक तथा अभिनवभारती के रचनाकाल के मध्यवर्ती आचार्य के रूप में भट्टनायक का स्थान है। नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में तो अति प्रसिद्ध हैं। कुछ विद्वानों ने इनके समग्र नाट्यशास्त्र के व्याख्यान लिखने पर आशङ्का प्रकट की है किन्तु इनके मत का अभिनवभारती ने अनेक स्थानों पर उल्लेख न होने से निश्चित नहीं कहा जा सकता कि नाट्यशास्त्र पर इनका अधूरा व्याख्यान हुआ था। रसशास्त्र के व्याख्यान क्रम में ये साधारणीकरण के उद्भावक एवं भुक्तिवाद के प्रवर्तक आचार्य के रूप में विख्यात हैं। आचार्य अभिनवगुप्त के अतिरिक्त रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शिनी टीका में हेमचन्द्र ने काव्यानुशासनविवेक में तथा महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में भट्टनायक के ही दो पद्य उद्धृत किये हैं। इनने हृदय दर्पण नामक एकस्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण भी किया था जिसका संकेत महिमभट्ट ने 'अदृष्टदर्पणा मानधी' लिखकर अति चातुर्यपूर्ण पद्धति से किया है। महिमभट्ट के टीकाकार राजानक रुय्यक ने भट्टनायक का उल्लेख करते हुए उनकी रचना हृदयदर्पण बतलाई है। साधारणीकरण के मौलिक सिद्धान्त के उद्भावक भट्टनायक ही हैं। ये आनन्दवर्धन के समकालीन तथा उनके आश्रयदाता अवन्तिवर्मा के आश्रित राजकवि भी थे। कल्हण की राजतरङ्गिणी में इन्हें शङ्करवर्मा के समसामयिक निर्दिशित किया गया है। अत एव भट्टनायक का स्थितिकाल अभिनवगुप्त से कुछ ही वर्ष पूर्वमाना जाता है। ये काश्मीर के शासक अवन्तिवर्मा तथा शंकरवर्मा के समकालीन थे। इसी कारण इनका समय ८८०—९०० ई० के मध्य माना जाता है।

भट्टयन्त्र—अभिनवभारती में आचार्य भट्टयन्त्र के मत का उल्लेख मिलता है। ये भट्टयन्त्र भी कदाचित् नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार थे। इसके अतिरिक्त इनका अन्यत्र कहीं भी और अधिक परिचय नहीं मिलता।

आचार्य कीर्तिधर—अभिनवभारती मे अभिनवगुप्त ने केवल एक बार आचार्य कीर्तिधर के मत को उद्धृत किया है तथा इन्हें नाट्यशास्त्र का प्राचीन टीकाकार माना है। इससे कीर्तिधर नाट्यशास्त्र के प्राचीन तथा प्रतिष्ठित व्याख्याकार सिद्ध होते है। सम्भवत ये उद्भट के समसामयिक था उनसे भी प्राचीन रहे हों। भट्टोद्भट से प्राचीन मानने पर इनका स्थितिकाल सातवी शती माना जाना उचित है।

नान्यदेव—अभिनवगुप्त ने नान्यदेव के भरतभाष्य से भी कुछ उद्धरण दिये है। सम्प्रति नान्यदेव का भरतभाष्य उपलब्ध है। नान्यदेव ने भवभूति के मालतीमाधव प्रकरण पर एक पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखी थी जिसमे अपने भरतभाष्य को भी उद्धृत किया है। ये नान्यदेव अभिनवगुप्त से पूर्वकालीन तथा भवभूति के उत्तरकालीन होने पर नवी शती में विद्यमान थे ऐसा मान लेने की स्थिति अधिक उपयुक्त है। आचार्य कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार भी नान्यदेव अभिनवगुप्त से दो पीढ़ी पुराने हैं। अत इनका स्थितिकाल नवी शती का उत्तरार्द्ध है।

भट्टतौत—अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोक की लोचन व्याख्या मे भट्टतौत का उल्लेख अपने गुरु के रूप मे किया है तथा नाट्यशास्त्र पर उनकी गम्भीर मान्यताओं का निदर्शन किया है। नाट्यशास्त्र के तत्कालीन महान् विद्वान् तथा व्याख्याता थे तथा नाट्यशास्त्र की पाठभेद परम्पराओं की एक महत्वपूर्ण शाखा के समर्थक थे। यह शाखा थी शान्तरस की विवरण को मूलपाठ की मान्यता देना, रस की अनुकरणशीलता का विरोध तथा काव्य एवं नाट्य मे रस प्रतिपादन जिसका अभिनवभारती मे अनुसरण किया गया है। इनने 'काव्य-कौतुक' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी की थी जिस पर अभिनवगुप्तपाद ने विवरण लिखा था। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के काव्यकौतुक की कुछ पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं। सम्प्रति काव्यकौतुक तथा उस पर अभिनवगुप्त विरचित विवरण प्राप्त नही है। काव्यानुशासन मे हेमचन्द्र ने भी भट्टतौत के नाम से तीन पद्य काव्यकौतुक से उद्धृत किये हैं। इससे प्रतीत होता है कि काव्यकौतुक विद्वानो मे प्रमाण ग्रन्थ का आदर प्राप्त कर चुका था। भट्टतौत का स्थितिकाल दसवी शती का पूर्वार्द्ध था क्योंकि अभिनवगुप्त का स्थितिकाल दसवी शती के उत्तरार्द्ध से ग्यारहवी शती का आरम्भक-काल माना जाता है।

इसके अतिरिक्त अभिनवने भट्टगोपाल, भागुरि, प्रियातिथि, भट्टवृद्धि, रुद्रक, भट्टसुमनस्, भट्टशंकर जैसे आचार्यों का भी यत्र तत्र व्याख्यान-प्रसग मे नामोल्लेख किया है किन्तु इनमे कितने नाट्यशास्त्र के विवेचक टीकाकार

थे यह ज्ञात नही। ये अभिनवगुप्त से प्राचीन या समकालीन थे इस विषय मे भी कोई बातें जानकारी में नही आई।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद—आचार्य अभिनवगुप्तपाद काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन तथा तन्त्रादि शास्त्रो के पारङ्गत विद्वान्, महान् ज्ञानी तथा मध्यकालीन भारत की प्रतिभामण्डित विद्वत्शृङ्खला मे मध्यमणि की तरह विलक्षण व्यक्तित्व के धनी थे। अभिनवगुप्त ने विस्तार से अपना परिचय दिया है। यद्यपि अभिनवगुप्त कश्मीर के निवासी थे किन्तु इनके पूर्वज कन्नौज नगर के आस-पास अन्तर्वेदी के निवासी थे। अभिनवगुप्त के स्थितिकाल से लगभग २०० वर्ष पूर्व इनके पूर्वज अत्रिगुप्त कन्नौज से आकर कश्मीर मे बस गये थे क्योकि इन्हें कन्नौज से काश्मीर के तत्कालीन शासक यशोवर्मा ने ससम्मान आमन्त्रित किया था। उन्होने अत्रिगुप्त को वितस्ता के किनारे एक सुन्दर भवन तथा एक जागीर देकर बसाया था। इनके वश मे आगे चलकर वराहगुप्त हुए जो अभिनव के पितामह थे। वराहगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त हुए जिसका दूसरा नाम चुखुलक था। इनके चाचा का नाम वामनगुप्त था। वामनगुप्त कवि थे जिनका एक पद्य अभिनव ने एक प्रसङ्ग मे उद्धृत भी किया है। नरसिंहगुप्त के पुत्र अभिनवगुप्त थे। इनकी माता का नाम था विमल कला। इनका वश शिवभक्ति के लिए प्रसिद्ध था। अभिनवगुप्त एक योगिनी भू सन्तति होने से उन्हें आगम तथा त्रिक-शास्त्र के सग्रह एव रचना का पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त होता था। उनकी माता के बाल्यकाल मे ही वियुक्त हो जाने पर इनके पिता को बडा दुःख हुआ तथा इसी कारण उनने ससार की अनित्यता और वैराग्य से अभिभूत होकर गृहत्याग कर डाला। अभिनवगुप्त जब तक माता-पिता की छत्रच्छाया मे रहे उनका जीवन सुखद रहा पर जब पिता भी उन्हें छोडकर चले गये तो उन्हे अपनी जीवनधारा म परिवर्तन करना आवश्यक हो गया।

अभिनवगुप्त पाद की विद्याध्ययन मे प्रबल रुचि थी तथा वे प्रत्येक विषय का पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करने के लिये प्रत्येक विषय के प्रमुख विद्वान् से उस विषय का अध्ययन करते थे। अभिनव ने अपने पिता नरसिंहगुप्त से व्याकरण-शास्त्र वामनाथ से द्वैताद्वैत तन्त्रशास्त्र, भूतिराजतनय से शैवसम्प्रदाय की दीक्षा, लक्ष्मणगुप्त से प्रत्यभिज्ञा, त्रिक तथा क्रम, भट्टेन्दुराज से ध्वनिसिद्धान्त भूतिराज से ब्रह्म विद्या तथा भट्टतोत से नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया। इनके अतिरिक्त उन्होने लगभग १३ गुरुओ से किसी विषय का अध्ययन किया था।

ससार से विरक्त होने के कारण केवल अध्ययन, ग्रन्थ निर्माण तथा शिवभक्ति ही इनके व्यापार रह गये थे। इनका शिवभक्ति या उपासना से जो समय बचता था वह इन्हीं दो कार्यो म लगता था। ये किसी विषय के उद्भट

विद्वान् का पता लगते ही उससे विद्याग्रहण करने में लग जाते थे। इस प्रकार काश्मीर तथा उसके बाहर जाकर जो विशिष्ट विद्याएँ उनने ग्रहण की, उनके द्वारा विशाल ग्रन्थराशि का निर्माण भी किया। इनकी सब मिलकर ४१ कृतियाँ ज्ञात हैं।

इन कृतियों के नाम हैं —(१) बोधपचदशिका, (२) परात्रिंशिका-विवरण, (३) मालिनी-विजय-वार्तिक, (४) तन्त्रालोक, (५) तन्त्रसार, (६) तन्त्रवटधानिका। ये सभी ग्रंथ काश्मीरक शैव-दर्शन तथा शैव तन्त्र के हैं।

(७) अभिनव भारती—(नाट्यशास्त्र—व्याख्या), (८) ध्वन्यालोक-लोचन (ध्वन्यालोक-व्याख्या)। ये दोनों ग्रन्थ अलङ्कार-शास्त्र तथा नाट्य-शास्त्र पर व्याख्याने हैं।

(९) भगवद्गीतार्थसंग्रह, (१०) परमार्थसार, (११) ईश्वरप्रत्य-भिज्ञा विमर्शिणी, (१२) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्ति-विमर्शिणी (१३) क्रम-स्तोत्र, (१४) भैरवस्तोत्र, (१५) देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, (१६) अनुभव-विवेचन, (१७) अनुत्तराष्टिका, (१८) परार्थद्वादशिका, (१९) परमार्थ-चर्चा तथा (२०) महोपदेशविंशतिकम्। संख्या (१३) से (२०) तक की रच-नाएँ स्तोत्रात्मक तथा छोटी-छोटी हैं। (२१) तन्त्रोच्चय, (२२) घटकर्पर-कुलक विवृति, (२३) क्रमकेलि, (२४) शिवदृष्ट्यालोचन, (२५) पूर्व-पञ्चिका (२६) पदार्थप्रवेशनिर्णय-टीका, (२७) प्रकीर्णकविवरण, (२८) प्रकरण(स्तोत्र)—विवरण, (२९) काव्यकौतुक-विवरण (भट्टतोत कृत काव्यकौतुक नामक अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ की व्याख्या), (३०) कथामुख-तिलक, (३१) लघ्वीप्रक्रिया, (३२) भेदवाद-विवरण, (३३) देवीस्तोत्र-विवरण, (३४) तत्त्वाध्व-प्रकाशिका, (३५) शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र। (इनमें २३ से ३५ तक के ग्रन्थ भी सम्प्रति उपलब्ध नहीं होते हैं इनके अभि-नवगुप्त के ग्रन्थों में उल्लेख मात्र प्राप्त होते हैं।) इसके अतिरिक्त इनके नाम से कुछ सूचीपत्रों में अन्य कुछ ग्रंथ-विवरण भी मिलते हैं। (१) बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद, (२) अनुत्तरतत्व-विमर्शिणी-वृत्ति, (३) नाट्यालोचन, (४) परमार्थसंग्रह तथा (५) अनुत्तरशतक।

इन ग्रन्थों को विषय विभाजन की दृष्टि से (१) साहित्यशास्त्रीय (या काव्यशास्त्रीय) ग्रन्थ, (२) दार्शनिक, (३) तान्त्रिक तथा प्रकीर्ण विभागों में बाँटा जा सकता है। इनकी रचनाओं का सबसे बड़ा भाग तान्त्रिक ग्रंथों का है। दार्शनिक ग्रंथों में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पर तथा गीता पर लिखित व्याख्यान आदि ग्रन्थ आते हैं। साहित्यिक ग्रन्थों में अभिनव-भारती, ध्वन्यालोक-लोचन नामक दो शास्त्रीय विवेचन के टीका ग्रन्थ, घटकर्पर-विवरण-काव्य व्याख्या तथा एक अप्राप्य ग्रन्थ काव्य-कौतुक (भट्टतोत के ग्रन्थ) का विवरण है। प्रकीर्ण ग्रन्थों में इनके शेष स्तोत्र आदि सभी ग्रन्थों को लिया जा सकता है।

इनके साहित्य शास्त्र के प्राप्य दो ग्रंथ हैं एक ध्वन्यालोक लोचन तथा दूसरा अभिनवभारती। यद्यपि ये क्रमश आनन्दवर्द्धनाचार्य के ध्वन्यालोक तथा भरत मुनि के नाट्यशास्त्र की टीकाएँ हैं किन्तु इन्हें विद्वन्मण्डली म असाधारण मान्यता तथा आदर प्राप्त है। अपने विषयगत मौलिकता पूर्ण विवेचन के आधार पर अभिनवगुप्त द्वारा निश्चित सिद्धान्तों को उन विषयो पर अन्तिम माना जाता था इसी कारण अलकारशास्त्र के उत्तर कालीन समग्र प्रतिभाशाली ग्रन्थकार एव विवेचक किसी न किसी रूप म अभिनवगुप्त की अधमर्णता स्वीकारते ही हैं। इस प्रकार सस्कृत साहित्य की जो सेवा इनके द्वारा की गयी उसके लिये समस्त भारत इनके प्रति आनत है तथा भारत मे इनका पूत-व्यक्तित्व आद्यशकराचार्य से किसी प्रकार कम स्थायी मूल्य नही रखता।

नाट्यशास्त्र के कुछ अन्य ज्ञात व्याख्याकार—इनके अतिरिक्त सगीतग्रन्थो के विवरण से कुछ और नाट्यशास्त्रीय व्याख्यानो का पता लगता है जिनमे सगीत शिरोमणि ग्रथ के अनुसार नाट्यशास्त्र पर 'भरत बाल बोध' व्याख्या लिखी गयी थी। सगीत रत्नाकर की आत्मव्याख्या म सिंगाचार्य कृत 'भरत मिति' व्याख्या का उल्लेख उन्ही के पौत्र ने किया है। सिंगाचार्य का स्थितिकाल १४ वी शती था। इसके अतिरिक्त काची के शासक शम्भुराज (समय १३४० ई०) ने भी नाट्यशास्त्र पर एक व्याख्या लिखी थी जिसका उल्लेख पण्डितमण्डली ने किया है। म० म० रामकृष्ण कवि के अनुसार 'भरतोत्तर' नामक व्याख्या आचार्य कीर्तिधर के द्वारा नाट्यशास्त्र पर लिखी गयी थी। इसका अधिक विवरण प्राप्त नही होता। सोलहवी शती के आसपास श्री रगराज ने भी नाट्य शास्त्र पर एक व्याख्या लिखी थी जिसका उल्लेख अच्युतराय ने अपने तालाब्धि ग्रथ में किया है। (अच्युतराय का स्थितिकाल सन् १५४० ई० या सोलहवी शती है)। इस व्याख्या का नाम था 'नाट्यभाष्यम्'।

नाट्य साहित्य के उत्तरकालीन ग्रन्थकार

धनञ्जय—धनञ्जय ने दशरूपक की रचना दशवी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश मे की जिसमे नाट्यशास्त्र म विद्यमान सामग्री के आधार पर संक्षिप्त विषय सामग्री के साथ केवल रूपको के विवेचन मात्र से सम्बद्ध तत्त्वो का विवरण दिया गया है। इस समय अलकार शास्त्र को स्वतंत्र रूप मे प्रस्तुत करने की धारा प्रचलित हो गयी थी तथा नाट्यशास्त्र के अगरूप म काव्य शास्त्र का विवेचन अब मन्द-सा था। इस बीच नाट्य पर भी जो अनेक प्रकरणग्रंथ लिखे जा रहे थे धनञ्जय उन्ही की परम्परा मे प्रमुख थे। ये विष्णु के पुत्र तथा मालवा के परमारवंशीय शासक मुज वाक्पतिराज द्वितीय (उपनाम पृथ्वी वल्लभ) की राजसभा के पण्डित थे। इन्ही के भाई धनञ्जय ने दशरूपक पर अवलोकवृत्ति लिखी, जिसमें धनिक ने लक्षणो की सोदाहरण

विवेचना की गयी है। धनञ्जय भी अपने अग्रज की भांति मुज का सभा-पण्डित था। इस समय तक नाट्य का विवेचन रूपक लक्षणो के विवेचन तक केन्द्रित होकर सकुचित रूप ले चुका था।

दशरूपक पर बहुरूप मिश्र, भट्टनृसिंह, देवपाणि तथा क्षोणीधर मिश्र की प्राचीन टीकाएँ हैं। लोकप्रियग्रन्थ होने से इसके अनेक सस्करण हो चुके हैं।

सागरनन्दी—इनकी रचना है नाटक लक्षण-रत्नकोष। सागरनन्दी का स्थितिकाल धनञ्जय के तथा भोज के उत्तरकालीन होने से ग्यारहवी शती का अन्तिम भाग ठहरता है। सागरनन्दी ने धनञ्जय की तरह नाटक लक्षण का विस्तार से विवेचन किया है तथा इससे सम्बन्ध सभी विषयो तथा रूपको के प्रकारों का विस्तार से विवरण दिया है। यद्यपि तुलनात्मक रूप से अन्य नाट्याचार्यों को भी प्रस्तुत करना ग्रथकार को इष्ट रहा, किन्तु यह ग्रन्थ सर्वाधिक रूप मे भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर ही निर्भर है, जिससे उसने सर्वाधिक उद्धरण प्रमाण के लिये प्रस्तुत भी किये हैं। सागरनन्दी ने नाट्य के अभिनय अग की सक्षेप मे चर्चा मात्र की। सागरनन्दी के इस ग्रन्थ से ही हम अनेक नाट्यशास्त्र के अनेक अज्ञात आचार्यों के नाम तथा उनके नाट्यविषयो पर स्वतन्त्र मन्तव्यो का परिज्ञान होता है। इस ग्रन्थ की सन् १९२२ई० मे प्रो० सिल्वा लेवी को नेपाल से एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी जिसे प्रो० एम० डिलन ने सम्पादित कर इसका सन् १९३७ मे एक सस्करण लन्दन से प्रकाशित करवाया था। सम्प्रति चौखम्बा से इसका हिन्दी व्याख्यान के साथ सशोधित सस्करण भी मैंने तैयार करके प्रकाशित करवाया है।

भोज—सस्कृत साहित्य के इतिहास मे महाराजाधिराज भोज की प्रसिद्धि चतुर्दिक व्याप्त है। ये हर्ष, हाल आदि की परपरा मे विद्वानो के पारखी तथा आश्रयदाता, गम्भीरतत्त्वविचारक एव विविध शास्त्रतत्त्वो के विज्ञाता एव अनेक ग्रन्थो के लेखक भी थे। यद्यपि इनके द्वारा गद्यकाव्य, अलकारशास्त्र, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, योगशास्त्र, व्याकरण, शिल्प एव वास्तु-विद्या आदि पर भी ग्रन्थ लिखे गये, परन्तु अलकार-शास्त्र के ये मार्मिक एव मौलिकग्रन्थकार भी हैं। इनके अलकार शास्त्र पर दो प्रसिद्ध ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं—(१) सरस्वतीकण्ठाभरण तथा (२) शृगारप्रकाश। यद्यपि ये दोनो मूलत अलकारशास्त्र के ग्रन्थ हैं तथापि शृङ्गार प्रकाश के बारहवें प्रकाश मे नाट्य तथा उसके अगो का विस्तार से विवेचन है जो दशरूपक से भिन्न है। इनके मत मे दृश्यकाव्य की अपेक्षा श्रव्यकाव्य का क्षेत्र व्यापक है, अत नाट्यशास्त्र अलङ्कारशास्त्र का अङ्गीभूत है। सम्प्रति अलङ्कारशास्त्र पर इनके सबसे विस्तीर्ण ग्रन्थ शृङ्गारप्रकाश का प्रकाशन आरम्भ होकर इसके लगभग २४ अध्याय प्रकाशित हो चुके हैं। पूरे ग्रथ का प्रकाशन निस्सन्देह न केवल महत्त्वपूर्ण ही है, वाञ्छित भी (जो अब पूर्ण हो गया है)।

इनका स्थितिकाल एकादश शताब्दी का पूर्वार्ध है, अत. काव्यप्रकाशकार मम्मट के ये किंचित् पूर्व मे विद्यमान थे यह स्पष्ट है।

आचार्य हेमचन्द्र—आचार्य हेमचन्द्र की काव्य नाट्यविषयक प्रसिद्ध रचना है 'काव्यानुशासन' जिस पर स्वय आचार्य हेमचन्द्र ने विवेक नामक व्याख्यान किया है। इस ग्रन्थ मे अलङ्कार-शास्त्र का पूर्ण विवेचन है पर आनुषंगिक रूप मे नाट्य पर भी थोड़ा विचार मिलता है जिनमे रूपको के भेदो तथा रस-सूत्र पर विवरण भरत के आधार पर है। ये जैन आचार्य तथा अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् तथा जयसिंह सिद्धराज और उनके उत्तराधिकारी शासक कुमारपाल के गुरु थे। अत इनका स्थितिकाल बारहवीं शती माना जाता है। इन्होने व्याकरणादि अनेक शास्त्रो पर भी अनेक मौलिक ग्रथ लिखे थे।

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। इनकी सम्मिलित रचना है 'नाट्यदर्पणसूत्र'। मूलग्रथ कारिका रूप मे है जिसकी वृत्ति भी दोनो आचार्यों ने लिखी थी और जिसम अभिनवगुप्त विरचित नाट्यशास्त्र व्याख्या अभिनवभारती का पर्याप्त उपयोग किया गया है। कारिका तथा वृत्ति दोनो मे इन्होने नाट्यशास्त्र के कुछेक व्याख्याकारों तथा प्रकरण-ग्रथो की आलोचना भी की है, जिनमे धनजय का दशरूपक भी एक है। इसमे भी सामयिक प्रवृत्ति के अनुसार नाट्य रचना के विषय में ही अधिक विवेचन है, नाट्य के अन्य अङ्ग अभिनयादि का विशद विवेचन नही। रामचन्द्र इसक अतिरिक्त अनेक ग्रथो के रचयिता भी थे जब कि गुणचन्द्र के विषय मे इससे अधिक ज्ञात नही है। इनके ग्रन्थ म भरत, कोहल तथा वृद्धभरत आदि के उद्धरण या मत मिलते है। एक दन्तकथा के आधार पर ज्ञात होता है कि राजा अजयपाल के आदेश पर जलते हुए ताम्रपट्ट पर खड़े होने का दण्ड मिलने से रामचन्द्र का देहावसान हुआ। हेमचन्द्र आचार्य के समकालीन होने से इनका स्थितिकाल भी बारहवीं शती माना जाता है।

रुय्यक—रुय्यक या रुचक काश्मीर के निवासी थे, जिनका स्थितिकाल लगभग १२ वीं शती था। अलङ्कारसर्वस्व तथा सहृदयलीला के सुप्रसिद्ध रचयिता होने के अतिरिक्त इन्होंने महिमभट्ट के व्यक्ति विवेक पर टीका भी लिखी थी। इसके अतिरिक्त नाटक-मीमासा का भी स्वरचित ग्रन्थ क रूप मे रुय्यक ने उल्लेख किया परन्तु यह ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नही है।

शारदातनय—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के पश्चात् नाट्यशास्त्र पर दूसरा विस्तीर्ण ग्रन्थ शारदातनय का 'भावप्रकाशन' है। शारदातनय के स्वय लिखित विवरण के अनुसार इसका गोत्र काश्यप था तथा पितामह का नाम लक्ष्मणभट्ट था, जो वेद के परम विद्वान् थे। लक्ष्मणभट्ट ने काशी में शिव की भक्ति की तथा उन्ही की कृपा से एक पुत्र प्राप्त किया, जिसका नाम भट्ट

गोपाल रखा, जो अष्टादश विद्याओं के पारगत विद्वान् थे। गोपालभटट ने शारदादेवी की उपासना की तथा उनसे प्राप्त वरदान के परिणाम-स्वरूप एक पुत्र प्राप्त किया तथा जिसका नाम शारदातनय रखा। शारदातनय ने अपने वेदशास्त्रादि अध्ययन के अतिरिक्त नाटयशाला के निर्देशक तथा नाटयविद्या के आचार्य दिवाकर से नाटयविद्या भी ग्रहण की थी। आचार्य दिवाकर ने नाटयशास्त्र पर एक स्वतन्त्र ग्रंथ लिखा था, जिसका पूर्णसरस्वती की मेघदूत की व्याख्या में एक उद्धरण भी मिलता है। इनका निवास आर्यावर्त या उत्तर भारत में मेरुत्तर जनपद का माठर-पूजा गाँव था, जिसे वर्तमान में मेरठ माना जा सकता है। इनके पिता भट्टगोपाल ने काव्य-प्रकाश पर व्याख्या भी लिखी थी। शारदातनय ने भोज तथा मम्मट का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है, अत इनका स्थितिकाल तेरहवी शती का आरम्भ माना जाता है।

ग्रन्थकार ने यद्यपि अपने ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों का आधार सामान्यत स्वीकार किया है, तथापि उनके विषय प्रतिपादन की शैली तथा विषय के उपस्थापन का दृष्टिकोण मौलिक है। इनम नाटय के विषय को भाव के आधार पर ग्रहण करते हुए यह दिखलाने की सप्रमाण चेष्टा की गयी है कि नाटय मे भावो का प्रकाशन मुख्यत प्रतिपाद्य है। इसी को केन्द्र बिन्दु मानने के कारण अपने ग्रन्थ का नाम भी इन्होने भाव प्रकाशन रखा, जिसमे भरतमुनि से लेकर तत्कालीन समस्त नाटयशास्त्रीय विषय-विवेचन को प्रस्तुत किया गया है। इसमे विद्यमान विषयो म भाव, रस, नायकादिस्वरूप, नाट-कादि रूपको के प्रकार तथा कथावस्तु के विशद विवेचन के अतिरिक्त अभि-नयादि के प्रसगो को भी उठाया गया है। इसमे भरत, कोहल, मातृगुप्त, हर्ष, सुबन्धु जैसे पूर्ववर्ती नाटयशास्त्रकारो का आधार लेते हुए रुद्रट, भोज, धनिक तथा आचार्य अभिनवगुप्त, मम्मट आदि का भी यथास्थान (मत दिखलाते हुए) उल्लेख किया गया है। अपनी युगीन-प्रवृत्ति का अप-वाद नही होने से नाटय के समग्र अगो की अपेक्षा रूपको से सम्बद्ध विषयो न ही आस पास दशरूपक की तरह घूमते हुए ये ग्रथकार भी दिखाई देते हैं। तेरहवी शती के आसपास उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति के परिवर्तन के कारण एक तो नाटयशालाओ तथा नाटयप्रदर्शन की उत्कृष्ट परम्परा समाप्तप्राय हो चली थी, दूसरे नाटक के स्वरूपादि का सक्षिप्त विवरण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अगभूत बनाते हुए रखे जाने की प्रवृत्ति ने अधिक प्रचलन प्राप्त कर लिया था। फलत अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में से नाटय-विषयक नायिकाभेद का ही पल्लवन होने लगा तथा अन्य ग्रथो मे रस तथा रूपकादि पर एक औपचारिक विवरण दिया जाने लगा, फिर भी इस काल मे रचनाएँ इस लोक मे रहकर भी उल्लेख्य स्थान रखती है। इस क्रम में सिह-भूपाल का रसार्णवसुधाकर तथा नाटक-परिभाषा, विश्वनाथ कविराज कृत

साहित्य दर्पण, रूपगोस्वामी की नाटकचन्द्रिका, विद्यानाथ का प्रताप-रुद्र-यशोभूषण आदि ग्रंथ आते हैं।

सिंहभूपाल—सिंहभूपाल की सुप्रसिद्ध नाट्यशास्त्रीय कृति है 'रसार्णव-सुधाकर'। इस ग्रन्थ में ग्रंथकार द्वारा स्वयं प्रदत्त परिचय के अनुसार सिंहभूपाल रेचल्लवंशीय अनपोत या (अपर नाम) अनन्त के पुत्र थे, इनकी माता का नाम अनम्मा था। ये अपनी वंशपरम्परा से चलने वाली राजाचल राजधानी में रहकर शासन करते थे तथा इनके राज्य की सीमा विन्ध्याचल तथा श्रीशैल पर्वत का मध्यवर्ती भूमण्डल था। इनकी वंशावली के आधार पर इनका स्थितिकाल ईसवी १३१० या चतुर्दश शताब्दी का प्रथम चरण था। सिंहभूपाल विद्वान् तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। सिंहभूपाल ने नाट्य तथा संगीत आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। सम्प्रति इनके रसार्णवसुधाकर तथा नाटकपरिभाषा नामक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ, कुवलयावली नाटिका तथा संगीत रत्नाकर व्याख्या उपलब्ध है। रसार्णवसुधाकर भी दशरूपक के समान ही नाट्यशास्त्रीय प्रकरण ग्रंथ है जिसमें पर्याप्त विस्तार एवं सुबोध पद्धति से दशरूपकों के लक्षण प्रतिपादित किये गये हैं। यह ग्रंथ रूपकों से सम्बद्ध संपूर्ण विषयों का साधिकार प्रतिपादन करने में सक्षम होने के कारण नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में अप्रतिम स्थान रखता है इसमें सन्देह नहीं। इनकी नाटकपरिभाषा भी सम्प्रति प्राप्य हो गयी है।

विश्वनाथ कविराज—विश्वनाथ कविराज का परमलोकप्रिय तथा प्रसिद्ध ग्रंथ है 'साहित्य दर्पण' जो मूलतः अलङ्कारशास्त्रीय ग्रंथ है। इसी के षष्ठ परिच्छेद में नाटकीय तत्वों का विवेचन करते हुए ग्रंथकार ने पूर्ववर्ती नाट्याचार्यों के वर्णित विषयों एवं सिद्धान्तों का संक्षिप्त एवं समग्र विवरण दिया है। इसमें नाट्यलक्षण, रूपकों के विभेद तथा उपभेद एवं अर्थ प्रकृति, संधि आदि सभी अंगों का सोदाहरण लक्षण निरूपित किया गया है।

विश्वनाथ कविराज उत्तम ब्राह्मण वंश में उत्कल देश में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता चन्द्रशेखर महापात्र स्वयं भी उत्कृष्ट कोटि के कवि तथा महामन्त्री थे जिनकी रचनाओं में पुष्पमाला नाटिका तथा भाषार्णव ग्रन्थ मुख्य हैं। विश्वनाथ कविराज की प्रतिष्ठा साहित्यदर्पण से परमोच्च है किन्तु इसके अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाओं का भी साहित्यदर्पण में उल्लेख मिलता है जिनमें सम्प्रति चन्द्रकलानाटिका प्रकाशित है तथा काव्यप्रकाशटीका दर्पण की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।

विश्वनाथ कविराज कलिंगराज निश्शंक भानुदेव चतुर्थ के सभा पण्डित थे, अतः इनका स्थितिकाल (१४३० ई०) पन्द्रहवीं शती का प्रथम चरण माना जाता है।

नाटयशास्त्रीय प्रकरण ग्रथो के इस क्रम मे आगे चलकर विद्यानाथ के प्रताप–रुद्रयशोभूषण रूपगोस्वामी कृत नाटक चद्रिका (१६ वी शती) सुन्दर मिश्र कृत नाट्य प्रदीप तथा कामराज दीक्षित के काव्येंदु प्रकाश जैसे ग्रन्थ आते हैं जिनमे नाटयशास्त्रीय विवरण एक ही क्रम पर नाटकादि लक्षण तक सीमित क्षत्र मे चलता रहता है। इन सभी प्रकरण ग्रथो मे नाटयशास्त्र मे वर्णित सगीत नृत्यवाद्य आदि अश को सगीत शास्त्रीय ग्रथो के लिये छोड दिया गया किन्तु इसके अतिरिक्त प्रेक्षागृह नाटय लक्षण प्रवृत्ति आदि के स्वरूप तक की चर्चा नही की गयी जो नाटय के लिये परमोपयोगी थ। इन ग्रन्थो मे यदि कुछ नयापन है तो यह केवल सन्ध्यगो आदि के कुछ नवीन उदाहरणो को देन की विशिष्टता मात्र ही है। आचाय अभिनवगुप्त न वैसे नाटक के सभी सन्ध्यग नाट्यागो आदि के उदाहरण अपनी प्रसिद्ध व्याख्या अभिनव भारती मे दे ही दिये थे नये सिद्धा तो को भी उद्भावित किया था और अलङ्कार शास्त्र के सदश नाट्यशास्त्रीय तत्वो को दाशनिक आधार देकर *विवेचित भी किया था किन्तु किसी अन्य आचाय ने आगे चलकर नाटय* के तत्वो का विशद विवेचन तथा नवीन सिद्धा तो का उद्भावन नही किया केवल उनको सक्षिप्त करने के प्रयास मे ही लगे रहे।

यद्यपि शारदातनय ने अभिनवगुप्त के माग के अनुसरण करने की बात अवश्य कही किन्तु विषय की उपस्थापना मे अभिनवगुप्त के आगे वह भी नही बढ पाया जैसा कि एक उत्तरभावी आचाय से अपेक्षित था। इस प्रकार आरम्भ मे जहाँ नाट्यशास्त्र का अग होकर अलङ्कारशास्त्र चलता था अब इसी ■ ठीक विपरीत नाट्यशास्त्रीय तत्वो को का यशास्त्र के अग के रूप मे विवेचित किया जाने लगा।

नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

पिछले एक शतक से नाटयशास्त्र के रचयिता भरतमुनि के व्यक्ति व के विषय की तरह नाटयशास्त्र की रचनाकाल के विषय मे भी विद्वानो ने श्रम पूवक अन्वेषण किया और उनका यह प्रयास अनेक निष्कर्षों के निकालने पर भी फलप्रद ही रहा। इस क्रम मे प्रथम उद्योग नाटयशास्त्र के १–१४ अध्याय के सम्पादक पी० रेग्नो तथा ज० ग्रोसे (P Regnand and J Grosset) ने किया तथा नाटयशास्त्र का रचनाकाल इसके काव्यशास्त्रीय तथा छन्द शास्त्रीय स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए इनने ईसवीसन से कम से कम एक शती पूव निर्धारित किया। इसके पश्चात् म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने नाटय शास्त्र के विभिन्न त वो के विश्लेषणो के उपरा ■ इसका निर्माण काल पी० रेग्नो की तरह ईसा पूव दो शती निर्धारित किया। कनल ज्रीजेकबी ने नाटय शास्त्र की प्राकृतभाषा के अशो का विश्लेषण करते हुए नाटयशास्त्र का रचना काल ईसा की *तीसरी शती निर्धारित कर डाला। श्री प्रो०* सिल्वा लेवी ने

नाटयशास्त्र मे प्रयुक्त कुछ शब्दो के आधार पर नाटयशास्त्र का समय निश्चित करने का उद्योग किया। इनके मत मे स्वामी, सुगृहीतनामा, भद्रमुख आदि शब्दो के प्रयोग के आधार पर नाटयशास्त्र का समय निश्चित होता है, क्योंकि स्वामी, भद्रमुख आदि शब्दो का प्रयोग नहपाण तथा चष्टन क्षत्रपो के शिलालेखो मे आया है। इसके अतिरिक्त शक, यवन, पह्लव आदि आक्रमणकारी जातियो का भी नाटयशास्त्र में विवरण मिलता है। अतएव शिलालेखो मे प्रयुक्त उपर्युक्त शब्दो के साम्य तथा शक आदि जातियो के उल्लेख के कारण नाटयशास्त्र का रचनाकाल ईसवी दूसरी शती अर्थात् इन क्षत्रपो के स्थितिकाल के आसपास का समय है। इसी प्रकार श्री डॉ० डी० सी० सरकार ने भी प्राचीन शिलालेखो के आधार पर तथा नाटयशास्त्र मे प्रयुक्त नेपाल तथा महाराष्ट्र शब्द के आधार पर नाटयशास्त्र का रचनाकाल दूसरी शती ईसवी के बाद का बतलाया, क्योकि नेपाल शब्द का प्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त प्रशस्ति मे तथा महाराष्ट्र शब्द का महावश (ईसा पूर्व ५वी शती) तथा ऐहोल अभिलेख (ई० ६३४) मे मिलता है। म० म० पी० वी० काणे ने इस आधार का निषेध करते हुए यह प्रतिपादित किया कि ऐसा क्यो न माना जाए कि इन देशो का प्रथम उल्लेख नाटयशास्त्र मे ही हुआ है क्योंकि प्रथम उल्लेख होने से यह निश्चय नही हो सकता कि इन देशो के इसके पूर्व ये नाम ही नही थे तथा इन शिलालेखो मे इन देशो के पश्चाद्भावी काल म उल्लेख होने से नाटयशास्त्र का रचना काल आगे नही बढाया जा सकता है। सेतुबन्ध काव्य (प्रवरसेनप्रणीत) मे महाराष्ट्री प्राकृत का जिस परिष्कृत रूप मे प्रयोग हुआ है उससे महाराष्ट्री प्रयोग करने वाले जनपद का इन शिलालेखो के रचनाकाल के सदियो पूर्व अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। म० म० काणे के अनुसार नाटयशास्त्र मे उल्लिखित विश्वकर्मा, पूर्वाचार्य, कामसूत्र, कामतन्त्र, बृहस्पति, नारद, तण्डु, पाशुपत आदि के उल्लेख से नाटयशास्त्र का काल ईसवी सन् के प्रारम्भ से पूर्वभावीकाल की ओर अधिक नही बढाया जा सकता है किन्तु इसके बाद की तिथि को ही अधिक निश्चय के साथ स्वीकार किया जा सकता है। कालिदास ने स्पष्ट रूप से विक्रमोर्वशीय मे भरतमुनि को नाटयशास्त्र का आचार्य स्वीकृत कर उनके द्वारा स्वीकृत आठ रसो की भी चर्चा की है। दामोदरगुप्त के कुट्टनीमत ने नाटयशास्त्र के विभिन्न तथ्यों की सूचना दी है। बाण ने भरत प्रवर्तित सगीत का उल्लेख किया है। नाटयशास्त्र मे केवल चार अलकारो का ही उल्लेख मिलता है जब कि दण्डी, भामह आदि द्वारा इनकी संख्या को तीस तक पहुँचाया गया था। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि छठी सदी तक नाटयशास्त्र का पाठ (जो वर्तमान मे भी है) स्थिर हो चुका था। याज्ञवल्क्यस्मृति मे गीत-विभेदो के प्रसङ्ग मे

स्पष्ट ही नाट्यशास्त्र की चर्चा है तथा गाथा-सप्तशती में नाट्यशास्त्र के वर्णित पूर्व-रङ्ग का उल्लेख विद्यमान है। इसलिये दूसरी शताब्दी तक तो इसकी पूर्वतिथि ही पहुँचाती है। अतः इन सभी बातों के आधार पर इन तिथियों के पूर्वभावी काल में नाट्यशास्त्र का रचना काल मानना चाहिए जो ईसवी सदी के आरम्भ से बहुत पहले नहीं था तथा जिसे ईसवी सन् से कुछ बाद का मानना अधिक निश्चय के साथ हो सकता है, अत ईसवी पूर्व पहली शती से दूसरी शती का मध्यवर्ती काल नाट्यशास्त्र का रचना-काल है।

श्री ए० बी० कीथ तथा श्री रेप्सन ने नाट्यशास्त्र का रचना काल तीसरी शती मानते हुए इससे अधिक उत्तरभाविता का प्रतिषेध किया। डॉ० श्री मनोमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र के अंग्रेजी भाषान्तर की भूमिका में भाषा वैज्ञानिक, छन्द शास्त्रीय भौगोलिक, जाति आदि सामग्री के आधार तथा काव्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, कामशास्त्र एवं बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के ऐतिहासिक साक्ष्य तथा अभिलेखों की सामग्री के प्रकाश में नाट्यशास्त्र के रचनाकाल पर विस्तार से विचार किया है। इनका मत है कि प्रवृत्तियों के साथ भौगोलिक अभिधानों की संयोजना महाभारत तथा अन्य पुराणों के अनुकरण पर नाट्यशास्त्र में भी संयोजित की गयी है। प्रॉ० सिलवा लेवी के मत से किंचित् सहमति बतलाते हुए श्री म० म० घोष ने क्षत्रपादि के अभिलेखों में विद्यमान नाट्यशास्त्रीय समताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए बतलाया कि इनमें प्रयुक्त गान्धर्व, सौष्ठव तथा नियुद्ध शब्द नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अधिक अनुकूल हैं। अत नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल दूसरी शती से तो पूर्वभावी है ही। कालिदास ने अङ्गहार, वृत्ति, सन्धि, प्रयोग, नृत्त, पात्र, सौष्ठव, उपवहन, वस्तु, माधुरी, मार्जना जैसे नाट्यशास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया है, अत कालिदास नाट्यशास्त्र से पूर्ण परिचित थे, यह स्पष्ट है।

भास भी नाट्यशास्त्र से परिचित अवश्य थे, यह स्पष्ट है। इसका कारण है भास की नाट्यरचनाओं में विदूषक, प्रस्तावना, सूत्रधार, मारिष, हाव, भाव, प्रेक्षक, चारी, गति, भद्रमुख जैसे नाट्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होना। इसके अतिरिक्त भास ने नाटक की काल सवादिता, काकु के नियम नृत्तोपदेश आदि को नाट्यशास्त्र के नियमों के आधार पर ही निर्दिष्ट किया है। इसलिये नाट्यशास्त्र का समय भास से निश्चित ही पूर्ववर्ती है। श्री म० म० गणपति शास्त्री ने भास का समय (ईसा से पूर्वभावी) कौटिल्य से भी प्राचीन माना है। श्री ए० डी० पुसलकर ने भास की संक्षिप्त, सरल तथा ललित भाषा के प्रयोग के आधार पर (ऐसी संस्कृत को तत्कालीन व्यवहार भाषा मानते हुए) भास का समय पाणिनि के पश्चात् तथा कात्यायन के पूर्ववर्ती स्वीकार किया है (अर्थात् ईसा से ३५० वर्ष पूर्व)। इसके अतिरिक्त भास द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा के अनुशीलन से न केवल डॉ० पुसलकर

के मत का समर्थन ही होता है किन्तु प्राकृत भाषा के आधार पर भास का स्थितिकाल कौटिल्य से पूर्ववर्ती स्थापित भी हो जाता है जो म० म० गणपति शास्त्री को भी मान्य है। इस प्रकार सरलता से भास का स्थितिकाल ईसा पूर्व ३५० से ४०० ई० के मध्य निर्धारित हो जाता है। भास के द्वारा नाट्यशास्त्र का ज्ञान रहने की बात पूर्व मे कही जा चुकी है, अत नाट्यशास्त्र भास के पूर्ववर्ती है। इस स्थिति मे नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल ईसवी पूर्व ५०० हो जाता है। म० म० रामकृष्ण कवि भी नाट्यशास्त्र के परिशीलन के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। इस प्रकार श्री डॉ० मनोमोहन घोष के द्वारा जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये वे स्वीकार्य प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त श्री घोष ने भारत के सांस्कृतिक इतिहास तथा भौगोलिक तथ्यो का भी नाट्यशास्त्र के स्थितिकाल के निश्चय हेतु पुष्ट आधार दिया है जिन पर हम प्रस्तुत नाट्यशास्त्र के द्वितीय खण्ड की भूमिका से सम्बद्ध अध्यायादि के प्रसग मे पुन विचार करेंगे।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने नाट्यशास्त्र के स्थितिकाल का विवेचन करते हुए लिखा है कि यद्यपि इसके काल की अन्तिम सीमा भास तक पहुँचती है किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि वह इससे पहिले नहीं पहुँचायी जा सकती है चूँकि भास के पूर्व विद्यमान किसी लेखक की सम्प्रति ऐसी नाट्यरचनाएँ नही मिलीं जिनमे नाट्यशास्त्र का उल्लेख मिलता हो। यदि ऐसी रचनाएँ आज हमारे सम्मुख विद्यमान रहती तथा उनमे नाट्यशास्त्र का प्रभाव दृष्टिगत न हो पाता तो निश्चय किया जाता कि नाट्यशास्त्र भास से अधिक पूर्वकालीन नही है। परन्तु यदि ऐसा कोई प्रमाण न हो तो फिर नाट्यशास्त्र की भास के स्थिति काल तक ही सीमा रखना अनुचित होगा। श्री पोद्दार के मत के अनुसार नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल वैदिककाल के पश्चात् तथा पुराणकाल के पूर्व है जिसकी पूर्वसीमा भास तक सम्प्रति मानी जा सकती है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के स्थिति काल के विनिश्चय मे प्रत्येक विवेचक विद्वान् ने पर्याप्त ऊहापोह किया है परन्तु इसे निश्चित काल विशेष मे निर्भ्रान्त स्थिर करना कठिन है। यह निश्चित है कि नाट्यशास्त्र कालिदास तथा भास के पूर्ववर्ती है। अब यदि कालिदास तथा भास के स्थितिकाल मे एक दो शताब्दियो का पूर्व पश्चात् भाव होता रहेगा तो नाट्यशास्त्र पर भी उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा ही। इस सदर्भ मे हमारी दृष्टि नाट्यशास्त्र की उपरली सीमा ही पर पहुँचाती है जिसके प्रभाव की परिधि मे भास तथा अश्वघोष जैसे प्राचीन नाट्यकार आते हैं।

यदि हम नाट्यशास्त्र के सूत्रभाष्य शैली के स्वरूप पर विचार करें तो इसकी अतिप्राचीनता स्पष्ट होगी। सूत्रकाल के आसपास रचित होने के कारण कदाचित् सूत्ररूप नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद कहकर वेद सदृश सम्मान

भी दिया गया है। यदि नाट्यशास्त्र के इस सूत्रमय स्वरूप मे उत्तरकाल मे कुछ आर्याएँ या अन्य पद्यात्मक विवरण तथा यवनादि शब्द जुड़ते गये होगे तो केवल इतने आधार को लेकर समग्र नाट्यशास्त्र को अर्वाचीन नही माना जा सकता। क्योकि इसके प्रतिज्ञात स्वरूप के महत्वपूर्ण तथा अधिक विस्तृत भाग की रचना ईसवी पूर्व पाँचवी शती मे हो गयी थी। यदि इसमे कुछ प्रक्षिप्तांश का समायोजन हुआ भी हो तो वह एक दो शती मे यत्र तत्र हुआ होगा जैसा कि अनेक पुराणो महाभारत आदि मे भी हुआ है। ऐसी स्थिति डॉ श्री मनोमोहन घोष के तथा म० म० रामकृष्ण कवि के निष्कर्षों पर एक बार पुन ध्यान जाता है क्योकि ये दोनो नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् तथा समग्र नाट्यशास्त्र के सम्पादक तथा अनुवादक भी थे। दोनो के विस्तीर्ण मनन का एक ही परिणाम है—नाट्यशास्त्र का ईसा पूर्व पाचवी शती मे स्थिति काल निर्धारण जो स्वीकार्य ही प्रतीत होता है।

इन सभी निष्कर्षों को दृष्टि मे रखने पर यह अनुमान सहज ही लगता है कि ईसा से पाँच शती पूर्व नाट्यशास्त्र का ऐसा रूप लोक-प्रसिद्धि अर्जित कर चुका था जिसमे भाव, रस, प्रेक्षागृह, नाट्याभिनय, रूपक विभेद आदि का विवरण था तथा जिसका ज्ञान, भास, अश्वघोष तथा कालिदास जैसे नाट्य-कारो को था। इसके बाद तो ऐसा कोई भी काव्य अथवा नाट्यशास्त्रीय आचार्य तथा कृतिकार नही था जो इसके प्रभाव क्षेत्र मे अपनी रचना का निर्माता न हुआ हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व पाँचवी शती से पूर्व ही जब नटसूत्रादि के रूप मे नाट्य विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी (समय ८०० ईसा पूर्व की रचना) के समय बन चुके थे तो इससे भी पूर्ववर्ती नाट्य प्रयोग किसी सशक्त परम्परा से अनुप्राणित थे। अत-एव पाणिनि के तीन सौ वर्ष पश्चात् नाट्यशास्त्र का रचनाकाल माना जाए तो यह प्रमाणिकता के अधिक समीप होगा जो निश्चित रूप मे ईसा से पाँच शती पूर्ववर्ती है।

नाट्यशास्त्र में विवेचित विषय

नाट्यावतरण :—नाट्यशास्त्र के प्रथमाध्याय मे आरम्भ मे भरतमुनि ने ब्रह्मा तथा महेश्वर शिव की स्तुति करते हुए इन्हे क्रमश नाट्य तथा नृत्य का जनक या प्रथम उपदेष्टा या प्रतिष्ठापक माना। ब्रह्मा ने ही वेदो तथा इसकी विविधशाखाओ से नाट्य विधायक तत्वो को ग्रहण किया था। ब्रह्माजी ने तत्वों को ग्रहण कर नाट्यशास्त्र को चारो वेदो की गरिमा से मण्डित करत हुए ऐसा नाट्यवेद या पचमवेद निर्माण किया जो सभी वर्णो क द्वारा समान रूप से अध्येय था (यह नाट्यवेद ही नाट्यशास्त्र है।) यहाँ प्रयुक्त नाट्यशास्त्र शब्द की व्याख्या अभिनवगुप्तपाद ने अभिनवभारती व्याख्या मे की है तथा नाट्यवेद और नाट्यशास्त्र को समानार्थक बतलाया है। इसके साथ ही अभि-

नवगुप्त ने ब्रह्मा प्रदत्त ज्ञान से भरतमुनि को नाट्यविद्या की प्राप्ति का उल्लेख करते हुये वेदादि को ज्ञान का प्रतिपादक स्रोत मात्र मानकर नाट्यशास्त्र का कर्तृत्व भी भरत को ही प्रदान किया है। इसके साथ ही यह भी कि यह नाट्यशास्त्र सदाशिव, ब्रह्मा तथा भरत के मतों का विवेचक शास्त्र मात्र नहीं है, इस तथ्य को भी उनने दिखलाया है।

नाट्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय तथा उसके प्रयोगादि को ध्यान में रखकर आरम्भ में ही ऋषिगण (एवं शिष्यगण ने) उनसे पाँच प्रश्न किये **प्रथम प्रश्न था**—नाट्यशास्त्र की रचना क्यों की गयी या यह क्यों उत्पन्न हुआ है? इसका आशय यह है कि जब मानव जीवन के लिये निर्धारित पुरुषार्थों एवं इतिकर्तव्यता का वेद से ही ज्ञान हो जाता है तो फिर इस नवीन श्रम को क्यों किया जाए। इसी प्रश्न का अगला भाग है कि यह किसके लिये बनाया गया है। यह उपप्रश्न है—जिसका आशय है कि इस नाटयवेद के अधिकारी कौन हैं जो वेद द्वारा उपदिष्ट होने से बच गये हैं? इसी सन्दर्भ में उनका **दूसरा प्रश्न है**—इस नाटयवेद के कितने विभाग हैं? क्या इसके इतने विभाग हैं कि इसे सर्वाङ्गीणरूप से पृथक् से समझना आवश्यक होगा। **तीसरा प्रश्न है**—इस नाटयवेद के कितने अंग हैं? अर्थात् क्या नाटक विविध अंगों का संकलित रूप या दूसरे शब्दों में विविध कलाओं का समन्वित रूप है? और यह भी कि क्या इन अंगों का सजीव शरीर के अंगों जैसा कोई पारस्परिक सम्बन्ध भी है? **चौथा प्रश्न है**—नाट्य के अङ्गों को समझने के लिए आवश्यक प्रयोग कौन हैं। यदि ये अंग परस्पर सम्बद्ध हों तो इन अङ्गों को किसी विशेष प्रमाण से जानना आवश्यक है। यदि ऐसा हो तो वह विशेष प्रमाण कौन सा होगा। **पाँचवाँ प्रश्न है**—नाटक के (उपदिष्ट) अंगों का प्रदर्शन करते हुए इस नाट्य का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए। उपर्युक्त प्रश्नों तथा इनसे सम्बद्ध प्रश्नों के उत्तर ही भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है।

इस प्रसङ्ग में इन प्रश्नों के उत्तर-क्रम में प्रथम प्रश्न के उत्तर में भरत मुनि ने देवों की प्रार्थना पर ब्रह्मा द्वारा सृष्ट सार्ववर्णिक पंचम वेद के रूप में सम्मानित नाटयवेद की रचना की समग्र कथा बतलाते हुए उन परिस्थितियों का निदर्शन किया जिससे यह न केवल देवगणों के दृश्य-श्रव्य प्रयोजन को साधने वाला एक क्रीडनीयक बने अपितु उन लोगों के लिये भी वह एक आदर्श एवं अनुकरणीय पथ का प्रदाता हो जाए जिनके लिये वेद का पढना निषिद्ध बतलाया गया है।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में मुनि ने नाटयवेद के विभागों को निर्दिष्ट करते हुए इसके वाचिकाभिनय, संगीत, अभिनय तथा रस के विभाग को बतलाया।

तीसरे प्रश्न के उत्तर में मुनि ने बतलाया कि नाटयवेद में निरूपित सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए नाटक मुख्यरूप से रस को प्रकट करता है, और अन्य कलाएँ इस रस को प्रभावशाली रूप में प्रकट करने में सहकारी

परस्पर वैसा ही सम्बन्ध होगा जैसा शरीर का अगो के साथ रहता है। ये अग परस्पर सम्बद्ध होकर जैसे एक पूर्ण शरीर बन जाते हैं वैसे ही ये कलाएँ परस्पर सम्बद्ध होकर नाट्य को पूर्णता प्रदान करती हैं।

चौथे प्रश्न का उत्तर है कि नाटक के विभिन्न भागो का ज्ञान आँख, कान जैसी दोनो इन्द्रियो की सहायता से होने के कारण इसका प्रमाण प्रत्यक्ष स्वीकृत है।

पाँचवे प्रश्न का उत्तर सम्पूर्ण नाट्यवेद है। मुनि ने अपने द्वारा उत्तरित इन पाँच प्रश्नो के परिवेश म नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति के विषय मे पुराण शैली मे प्राचीन कथानक भी प्रस्तुत किया। नाट्यशास्त्र मे उपलब्ध यह इतिहास विश्व मे प्राप्य नाटकसाहित्य के उद्भव का सर्वाधिक महत्त्वशाली प्राचीन विवरण है। यह इस प्रकार है —

त्रेतायुग क आरम्भ मे इन्द्रादि देवगण के अनुरोध को स्वीकार कर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस ग्रहण कर नाट्यवेद की सृष्टि की यह सभी वर्णों के लिये श्रेय था। इसकी रचना कर ब्रह्मा ने देवगण के अनुरोध पर इस वेद की शिक्षा ऋषियो को देने का निश्चय कर भरतमुनि को इस नाट्यवेद की शिक्षा दी तथा उनको अपने शतपुत्रो का सहयोग लेकर इसके प्रयोग प्रस्तुत करन का आदेश दिया। जब भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रो को शिक्षा देकर ब्रह्मा के समक्ष अभिनय करवाया तो ब्रह्माजी ने इसमे कैशिकी वृत्ति की योजना का परामर्श दिया और इस प्रयोग के लिय मुनि द्वारा इष्ट स्त्री पात्रो की ब्रह्मा ने अप्सराओं को उत्पन्न कर पूर्ति भी की। तब मुनि ने इन्द्रध्वजमहोत्सव के शुभ अवसर पर अपना यह प्रमाण प्रस्तुत किया जिसम देवासुर सग्राम म देवताओ की विजय का अभिनय किया गया था। इसे देखकर दैत्यगण रुष्ट हो गये और अभिनय मे विघ्न उत्पन्न करने लगे। जब वे किसी प्रकार शान्त नही हुए तो नाट्यप्रयोग के रक्षणार्थ नाट्यगृह की आवश्यकता का अनुभव किया गया और तब विश्वकर्मा द्वारा एतदर्थ नाट्यगृह का निर्माण किया गया और विधिवत् रगपूजा के साथ रग के रक्षक देवगणो की भी प्रेक्षागृह मे नियुक्ति की गयी।

इस प्रेक्षागृह मे भरत ने पितामह ब्रह्मा द्वारा निर्मित 'अमृतमन्थन' समवकार को प्रस्तुत किया। इस प्रयोग मे सभी देव एव दैत्य गणो ने दर्शक के रूप मे उपस्थित होकर अपने अपने कर्म तथा भावो को प्रस्तुत होते देखकर प्रसन्नता व्यक्त की। तब फिर पितामह ब्रह्मा ने महेश्वर को इसी प्रयोग को बतलाने के लिये भरतमुनि को निर्देश दिया। उनके आदेशानुसार भरत ने हिमालय पर्वत के एक रमणीय शृग पर पूर्वरग विधान पूर्वक अमृतमन्थन समवकार तथा त्रिपुरदाह नामक डिम (रूपको) को प्रस्तुत किया जिन्हे देखकर प्रसन्न शिव ने भरतमुनि को पूर्वरग विधि मे ताण्डव के सयुक्त करने

तथा उसे तण्डु द्वारा प्राप्त करने का आदेश दिया। मुनि ने इस आदेश को सहर्ष स्वीकार किया और तण्डु से ताण्डव की शिक्षा प्राप्त कर उस ताण्डव का पूर्वरंग मे समावेश किया, जिसमे माता पार्वती के द्वारा सुकुमार शृंगारिक लास्य का भी योगदान था। इस नाट्यवेद के प्रभाव हेतु चार नाट्यवृत्तियो को आविष्कृत कर उन्हे भी नाट्यवेद मे श्री विष्णु ने प्रविष्ट करवाया। इस प्रकार निर्मित इस दिव्य नाट्यवेद को अवर रूप में भूतल पर स्थानान्तरित करने का कार्य भी भरतमुनि को ही करना पड़ा जिसकी कथा नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में दी गयी है।

नाट्य का भूतल पर अवतरण—इस प्रसग में नाट्यशास्त्र मे दो कथाएँ हैं। प्रथम कथा के अनुसार भरत पुत्रो को अपनी कला के ज्ञान पर अभिमान हो गया था जिससे एक बार उन्होने एक नाटय प्रदर्शन मे मुनियो के चरित्र पर आक्षेप पूर्ण व्यङ्ग प्रस्तुतकर डाला। इसे देखकर क्रुद्ध हो मुनियो न भरत पुत्रों को शाप दे डाला कि ऐसे नाट्य का नाश हो जाए तथा भरत पुत्र भी शूद्र हो जाएँ। यह सुनकर देवताओ को नाट्य के नाश की चिन्ता हुई और उन्होने मुनियो से जाकर शाप को क्षमा करने का अनुरोध किया। मुनियों ने अपने दत्त शाप को पूर्णरूप से अन्यथा न होने की बात कहते हुए उसमे यह सशोधन किया कि नाट्यविद्या तो नष्ट नही होगी किन्तु भरत पुत्रो को शूद्र अवश्य होना पडेगा।

इस शाप के चरितार्थ होने के प्रसग म नाट्यशास्त्र मे ही दूसरी कथा और भी दी गयी है। इसके अनुसार जब इन्द्र का पद सम्राट् नहुष को मिला तो स्वर्ग मे उन्होने अप्सराओ से अभिनीत नाट्यप्रयोग को देखकर भूलोक म अपने घर भी वही नाट्यप्रयोग प्रस्तुत करने का देवताओ से अनुरोध किया। देवताओ ने नहुष को समझाया कि यद्यपि अप्सराओ के द्वारा भूतल पर नाट्य सभव नही है किन्तु यह कार्य आप भरतपुत्रो को पृथ्वी पर ले जाकर अवश्य सम्पन्न करवा सकते है। नहुष ने भरतमुनि से भूतल पर नाट्य प्रस्तुत करने की प्रार्थना की जिसे स्वीकार कर भरत मुनि ने अपने पुत्रो को पृथ्वी पर जाकर नाट्यप्रयोग करने का आदेश देकर समझाया कि इस प्रकार वहाँ जाने से ऋषिप्रदत्त शाप का भी अन्त हो जायगा। तब भरत पुत्रो ने स्वर्ग से जाकर नहुष के अन्त पुर मे नाट्यप्रयोग प्रस्तुत किये तथा कुछ दिन भूतल पर गृहस्थ भाव मे समय व्यतीत कर शाप के अन्त हो जाने पर पुन स्वर्ग लौट आये। किन्तु वे अपनी सन्तति को इस नाट्य के प्रयोग आदि की शिक्षा दे गये जिससे पृथ्वी पर नाटय स्थित हो गया।

अन्य मत—भारतीय नाट्य के उद्‌भव और विकास के सम्बद्ध मे भारतीय तथा अन्य विदेशी विद्वानो ने अनेक मान्यतायें प्रस्तुत की हैं। भारतीय विद्वानो के मत मे भरत प्रतिपादित नाट्य के अवतरण या आधार दैव मूलकता

या धर्ममूलकता है। इसी को लेकर प्रस्तुत प्रयोगो को आदर्श नाट्य माना जाता है। अन्य विद्वान् नाट्य के उद्भव या आधार मे वेद या धर्म को स्रोत के रूप मे अस्वीकार कर मुख्य रूप से लोकवृत्ति या लोक के संस्कारो का आधार ही स्वीकारते हैं। योरोप के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीकीथ का मत है कि वैदिक साहित्य मे नाटक का अभाव था इसलिए देवताओ को ऐसे सर्वथा नवीन साहित्य के रूप की ब्रह्मा से प्रार्थना करनी पडी जो वैदिक युग के परवर्ती काल के उपयुक्त हो जाए।

वर्तमान शती मे आलोचक विद्वानो ने भरत प्रोक्त उपर्युक्त दिव्य उत्पत्तिवाद को एक पौराणिक गाथा से अधिक महत्व न देते हुए नाट्यशास्त्र के नाट्य उपादानों के वेद से ग्रहण करने के कथन से प्रेरित हो वेदो का गम्भीर अनुशीलन करते हुए निष्कर्ष निकाला कि नाट्य के मूल तत्वो का वेद के संवाद सूक्तों से उद्गम हुआ है। सूक्तो के स्वरूप तथा इनसे नाट्योद्भव की पद्धति मे विद्वानों की विभिन्न धारणायें हैं। जर्मन विद्वान् श्री मेक्समूलर ने इन्द्र-मरुत् सूक्त के आधार पर इस तथ्य का उद्घाटन किया कि ऋत्विक्गण इन सूक्तो का अभिनयात्मक पाठ करते थे। वेद मे यही नाट्य का बीज है। प्रोफेसर सिल्वा लेवी ने मेक्समूलर के इसी मत की पुष्टि करते हुए ऋग्वेद काल मे अभिनय की स्थिति स्वीकार की। उनका मत है कि ऋत्विकादि के द्वारा देवताओ के रूप ग्रहण कर यज्ञादि के समय नाट्याभिनय अवश्य प्रस्तुत किया जाता होगा।

डा० हर्टेल ने इन सूक्तो को गेय मानकर यह निरूपित किया कि इन गेय सूक्तों को एक से अधिक व्यक्ति मिलकर गाते थे। इस प्रकार वक्ताओ की विभिन्नता हो जाती थी जिसने नाट्याभिनय को प्रेरित किया। प्रो० वान श्रोडर ने इस क्रम को और आगे बढाते हुए बतलाया कि इन सम्वाद सूक्तो के गान के साथ नृत्य भी होता होगा। क्योंकि मानव-विज्ञान (एन्थ्रापालाजी) के अनुसार संगीत और नृत्य का अभिन्न सम्बन्ध होता है गेय तथा अभिनेय दोनो तत्व यहाँ मिल जाते है जो नाट्य के बीज हैं। डॉ० विंडिश, ओल्डेन वर्ग तथा पिशेल का अनुमान है कि ये सूक्त पहिले गद्यपद्यात्मक थे। अधिक रोचक एवं कण्ठस्थ करने में सरल होने से इनका पद्य भाग बच गया तथा गद्यभाग नष्ट हो गया। इसके अतिरिक्त ये आख्यानात्मक भी थे। तथा इन्हीं के अनुसरण पर गद्यपद्य के संवादात्मक तत्व का नाट्य मे मिश्रण हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण का शुन शेप आख्यान तथा शतपथ ब्राह्मण का पुरुरवा उर्वशी-आख्यान इस प्रकार के अंश के प्रमाण भूत अवशिष्ट रूप है। अत इन्ही से नाट्य का उदभव हुआ है।

डॉ० ए० बी० कीथ ने उपर्युक्त इन सभी मतो को अस्वीकार करते हुए बतलाया कि न तो इनका गायन होता था और न अभिनय ही, क्योंकि गायन और अभिनयक्रमश साम तथा यजुर्वेद के तत्व हैं जिनमे संवाद सूक्तो का

सर्वथा अभाव है। श्री कीथ का मत है कि इन सूक्तों की गद्यपद्यात्मकता का जो अनुमान किया गया है वह कल्पना से अधिक महत्वशाली नहीं है। इनका मत है कि नाटक की तात्विक स्थिति वेद में अवश्य विद्यमान है किन्तु यह बीज रूप में है। यह सम्वाद सूक्तों तक सीमित भी नहीं की जा सकती क्योंकि यह स्थिति यज्ञादि की विहित विधियों एवं सामगान में भी देखी जा सकती है।

डा० कीथ ने नाट्य की धार्मिक उत्पत्ति की बात करते हुए उसके मूल में मानवीय अन्तःकरण में प्रसुप्त धार्मिक भावना का होना निरूपित किया। इन्होंने आगे बतलाया कि प्राचीनतम नाटकों के नाम तथा कथावस्तु इसके साक्षी हैं जिससे नाट्योद्गम के धार्मिक सिद्धान्त का असाधारण महत्व स्वतः बन जाता है—जैसे कंसवध त्रिपुरदाह बलिबन्धन आदि।

डा० रिजवे ने नाट्य की विधाओं को देखकर उससे यह निष्कर्ष निकाला कि नाट्य की उत्पत्ति का मूल प्रेरक तत्व वीर पूजा है जिसके बीज से नाट्य रूपी वृक्ष का विस्तार हुआ। इनके मत में मूर्ति या प्रशस्तिस्तम्भ के समान किसी वीर पुरुष के साहस या पराक्रम का निदर्शन करते हुए नाटक प्रस्तुत करना भी उसके प्रति आदर भाव प्रदर्शित करना होने से यह भी इसी प्रकार का एक साधन मानना चाहिए। इनके अनुसार यह मत सार्वभौम महत्व का है क्योंकि इसी के अनुसार यूनान में त्रासदी नाटकों का भी आलेखन हुआ था। इन्होंने भारतीय नाट्यसाहित्य एवं काव्य का विवेचन करते हुए यह भी बतलाया कि राम तथा कृष्ण को आधार मानकर बनायी गयी नाट्य रचनाओं यात्राओं एवं उत्सवों को करने की प्रवृत्ति के पीछे भी मूल वीर पुरुषों के प्रति आदर भाव प्रकट करने की भावना ही मूल रूप में निहित है।

श्री ए० बी० कीथ तथा अन्य विद्वानों ने उपर्युक्त मत के प्रति अनिच्छा प्रकट करते हुए इनका खण्डन किया। इनका तर्क है कि जब संस्कृत के अनेक नाटक नाटकों में वीर रस ही नहीं पाया जाता है तब उन्हें वीर पूजात्मक नाटक कैसे माना जा सकता है और संस्कृत नाटक की किसी प्रस्तावना में भी इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि नाटक की रचना किसी वीर पुरुष के प्रति आदर या स्मृति में की गयी है। किन्तु इसके विपरीत राजाओं तथा राजसभासदों एवं प्रजाजन के मनोरंजनार्थ ही नाटक के प्रयन करने की बातें मिलती हैं। अतएव मत वीर पुरुषों के प्रति आदर भाव प्रकट करने या धार्मिक उत्सवों के अवसर के कारण नाट्य के उद्गम की कल्पना उचित नहीं है।

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० पिशेल ने भारतीय नाट्य की उत्पत्ति पुत्तलिकानृत्य से मानी। उन्होंने अपने मत को विस्तार से प्रतिपादित करते हुए बतलाया कि भारत ही वह मूल स्थान है जहाँ से पुत्तलिका नृत्य प्रचलित

होकर यूनान आदि देशो मे पहुँचत हुए सर्वत्र व्याप्त हो गया था। सस्कृत साहित्य म पुत्तलिका के प्राचीनतम विवरण भी मिलते है। जैसे —महाभारत मे राजकुमारी उत्तरा तथा उसकी सखियो ने अर्जुन से पुतलिका लाने की प्रार्थना की थी। कथा–सरित्–सागर मे यन्त्रचालित पुत्तकालिकाओ का वर्णन मिलता है। मय दानव की पुत्री सोमप्रभा ने अपनी सखी राजकुमारी कलिगसेना को पुत्तलिका की एक पिटारी भेंट की थी। पुत्तलिकानृत्य म एक सूत्रधार होना है जो सूत्र की डोरी के सहारे पुत्तलिकाओ को नचाकर प्रदर्शन करना है। प्रो० पिशेल ने भारतीय नाटक म सूत्रधार के अभिधान को इस क्रम मे जोडते हुए कहा कि इन पुत्तलिकाओ को नचाते हुए उनके डोरो को पीछे से पकडे रहने के कारण ही सर्वप्रथम इसका नाम सूत्रधार हो गया होगा। जो बाद मे नाटक के प्रयोक्ता के लिये मान लिया गया। इसके अतिरिक्त नाटय का स्थापक शब्द भी इस बात का सकेत करता है कि पुत्तलियो को लाकर मच पर व्यवस्थित रखने का कार्य स्थापक का होता है तथा उसके इसी भाव को ध्यान मे रखकर इस शब्द का प्रयोग स्थापक के लिये प्राचीनकाल मे किया गया होगा। अत नाटको का आरम्भ पुत्तलिका नृत्य से मानना उचित है।

डॉ० रिजेवे ने पुत्तलिका-नृत्य से नाटयोद्गम के डॉ० पिशेल के उपर्युक्त मत का खण्डन कर उसे भ्रमात्मक बतलाया। इनने यह विस्तार से बतलाया कि सूत्रधार तथा स्थापक शब्द का सम्बन्ध पुतलिका नृत्य से नही जोडा जा सकता है क्योकि सूत्रधार नाटक की कथावस्तु आदि का सक्षेप मे वर्णन करता है तथा इसी कारण इसकी सज्ञा भी सूत्रधार है, यह किसी डोरी को धारण करने के कारण नही है। पुत्तलिका नचाने वाले के लिए सूत्रधार शब्द का प्रयोग बहुत बाद की कल्पना है (सम्भवत ईसवी नवी शती की) जब कि नाटको म सूत्रधार शब्द का प्रयोग निश्चित रूप से ईसवी पूर्व का है। इससे सिद्ध है कि जब पुत्तलिका नृत्य ही नाटको की नकल है तो इससे नाटयोद्गम की कल्पना कैसे की जा सकती है।

इस सन्दर्भ मे डॉ पिशेल न एक दूसरा मत भी रखा है—वह है—छायानाटक से नाटय की उत्पत्ति। डॉ० स्टेनकोनो ने इनके इस मत का बडे जोरो से समर्थन भी किया। सस्कृत मे कुछ छायानाटक प्राप्त होने हैं। जिनमे दीपक की सहायता से छाया द्वारा नाटक दिखलाया जाता है। यह छायामात्र सामाजिक या दर्शक देखना है जो अभिनेताओ की या पुत्तलिकाओं की होती है। सुभट कवि के दूतागद आदि कुछ नाटक छायानाटक के रूप मे अद्यावधि प्राप्य हैं तथा जिनके विवरण मिलते हैं वे सख्या म इतने कम और परवर्ती नाटक हैं कि इनके आधार पर भारतीय नाटको का उद्गम छायानाटकों से मानना उचित नहीं प्रतीत होता। दूसर यह भी इस सन्दर्भ मे विचारणीय है कि सस्कृत

के किसी प्राचीन ग्रंथ से लेकर मध्य या उत्तरकालीन किसी भी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ मे छायानाटक के स्वरूप की प्राप्ति तक नही है। अतएव इस आधार पर नाटको का उद्गम छायानाटक से मानना नितान्त अनुचित ही होगा।

नाट्यशास्त्र मे वर्णित इन्द्रध्वजमहोत्सव के अवसर पर सर्वप्रथम नाट्याभिनय का आधार लेकर तथा नेपाल मे इन्द्रध्वज-महोत्सव के आज भी प्रवर्तित रहने को देखकर कुछ विदेशी विद्वानो ने इन्द्रध्वज महोत्सव से संस्कृत-नाट्य के उद्गम की कल्पना की। उनने इसके अनुरूप एक समान प्रसग ढूँढ निकाला जो मेपोल डान्स है। यूरोप मे मई मास मे एक सामूहिक महोत्सव मनाया जाता है, जिसमे किसी एक युवती को पुष्पो से सजाकर मई की रानी बनाया जाता है। इस मई मास का प्रतिरूप प्रतीक एक बाँस होता है, जिसे अलकृत कर सभी इसके चारो ओर परिक्रमा करते हुए नाचते हैं। इसमे बाँस नाट्यशास्त्रोक्त जर्जर का प्रतीक है। अत एव इन्द्रध्वज-महोत्सव से नाट्य का उद्गम हुआ है। किन्तु यह मत भी अधिक नही टिकता। क्योंकि यूनान के मेपोल डान्स से एक तो समता का टिकना भी कल्पित आधारो के कारण अशक्य है, दूसरे शुभकार्य या उत्सवो पर नाटक खेलने या नृत्य करवाने का आशय यह नही होता कि इनसे ही नाट्य की उत्पत्ति भी मान ली जाए।

डॉ० ए० बी० कीथ ने पातञ्जल-महाभाष्य में कसवध तथा बलिबन्धन के उल्लेख को लेकर बतलाया कि ये इस बात का सकेत करते हैं कि ऋतुओ (आदि) के प्राकृतिक परिवर्तनों को मूर्तरूप मे दिखलाने की प्रतीक भावना से कदाचित् नाट्य का उद्गम हुआ होगा। कसवध मे कस के सहचरो का कालेमुख का नेपथ्य बनाने और कृष्ण के अनुयायियो को रक्तमुखो मे रखने का आशय है वसन्त की हेमन्त पर विजय, जिसके प्रतीक ये दोनो वर्ण हैं। इसके अतिरिक्त कृष्ण की कसपर विजय भी उद्भिज्ज जगत् के अन्दर अपनी स्वतन्त्र चेष्टा प्रदर्शित करने वाली जीवनी शक्ति की विजय का प्रतीक है। कीथ की यह कल्पना बडी दूरारूढ है, जिसे मुश्किल से स्वीकारा जा सकता है। यह केवल एक कल्पना मात्र होने पर उत्कृष्ट मानी जा सकती है, किन्तु ऐसी कल्पना नाट्य के उद्गम मे अधिक सहायक नही हो सकती।

डॉ० मेकडानल ने नाट्य के उद्गम को इसकी प्रारम्भिक अवस्था नृत्त से माना। इसी तथ्य का श्री डी० आर० मांकड ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक The Types of Sanskrit Drama (दि टाइप्स ऑफ संस्कृत ड्रामा) मे भी समर्थन किया तथा इसके लिये प्रमाण और विकास क्रम की प्रक्रिया भी बतलाई। इन्होंने यह बतलाने का प्रयत्न किया कि नृत्त से नृत्य होकर किस प्रकार नाट्यरूप मे इसका परिणमन हुआ, जो असख्य दिनो के विकास की कहानी है। इनके मत मे ताल लयाश्रित नृत्त की दूसरी अवस्था है भावाश्रित

नृत्य। इसी कारण दोनो के कार्यकलाप मे अधिक साम्य भी दृष्टिगत होता है, जो इनके एक से दूसरे के उद्भूत होने का कारण है। नृत्त और नृत्य के मिश्रित रूप से नाट्य का उद्भव हुआ जो क्रमश एक पात्र के एक भाव की रसात्मक प्रस्तुति को एक अंक मे रखने से लेकर फिर अनेक पात्रो द्वारा अनेक भावो की अनेक रसात्मक प्रस्तुतियो तक को अनेक अंको द्वारा रखकर किया गया है। इस प्रणाली के द्वारा नृत्त से नाट्य का विकास हुआ ' नाट्य के भेदो मे क्रमश इस विकास का क्रम रूपको के भाण, प्रहसन, ईहामृग जैसे प्रभेदो से होकर नाटक और सबके बाद प्रकरण मे जाकर पूर्ण हो जाता है।

इस प्रकार नाट्योत्पत्ति के ये विभिन्न मत हैं। हमने पूर्व मे ही निर्दशित किया है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी के समकालीन नाट्य ही नही नाट्यशास्त्र के विधायक-ग्रन्थ भी विद्यमान थे। यदि ईसा पूर्व पाँचवी शती मे रसप्रधान नाट्य तथा सगीत कला न होती तो कौटिल्य अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र म नाट्यप्रयोग के लिये उपयोगी रगोपजीवी पुरुष तथा रगोपजीवी गणिकाओं का गीतवाद्य नाट्य, नृत्त और नृत्य जैसे शब्दो के पारिभाषिक अर्थों के साथ उल्लेख न करता। फिर भी नाट्योद्भव के ठीक समय और इसकी उत्पत्ति के कारणों की कल्पना दुरूह है किन्तु इसका अनुमानित काल ईसा की ही छठी शती के पूर्व ही समीप कही रखना पडेगा। इसका कारण यह है कि उस काल मे विभिन्न नाटकों का नाट्याचार्यों द्वारा अपनी नाट्य मडली द्वारा अवश्य प्रयोग होना होगा जिसके आधार पर ही लक्षण ग्रन्थो का ग्रथन सभव होता है। यह बात दूसरी है कि कालप्रवाह के कारण उनकी रक्षा सम्भव न हुई और वे आज हम तक नही पहुँच पा रहे हैं। फिर भी इस विशाल नाट्य-साहित्य के उद्गम का श्रेय भारत के नाटयशास्त्रीय सिद्धान्त-ग्रंथो को ही है यह निश्चित है। और तब ऐसे पथप्रदर्शक ग्रन्थ को हम नाटयशास्त्र ही पाते हैं जिसमे नाटयोद्गम का एक व्यवस्थित परम्परागत प्रतिपादन है जिसे किसी भी प्रतीक से हृदयगम उचित ही है।

इस नाटय का स्वरूप क्या है उसका उत्तर भी भरत के—'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्व नाटय भावानुकीर्तनम्' वचन से हो जाता है (पाठक इस पर अभिनवगुप्त के विवेचन की अतिरिक्त टिप्पणियो मे देखें, विस्तार भय से यहाँ हम उसे नही दोहराना चाहते हैं) जिसका सक्षेप मे यही आशय है कि नाट्य भावानुकरण नही है। अब जब यह अनुकरण नही है तो इसमे समीक्षको के इस कथन के लिये भी स्थान नही रहेगा कि 'नाटच' सभी अवस्थाओ मे गीत-वाद्य-युक्त होने से एक विशेष प्रकार का अनुकरण ही है।' [इसका स्वरूप अतिविशद तथा विवेचन सापेक्ष है, जिसका विवरण हमने टिप्पणियो मे स्थान स्थान पर दे दिया है। एतदर्थ नाटयशास्त्र के श्लोक १।१०७, १।११६ तथा १।११६ पर अभिनव टिप्पणियाँ देखना चाहिए। यहाँ तक नाटयशास्त्र के प्रथम-अध्याय की चर्चा है]

नाट्यमण्डप—नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्य की प्राथमिक आवश्यकता के कारण नाट्यगृह की निर्माण विधि विस्तार से दिखलाई गयी है। विश्वकर्मा ने नाट्यमण्डप के तीन प्रकार के सन्निवेश तथा उनका विधान बतलाया। इनमें विकृष्ट नाट्यगृह आयताकार, चतुरस्र नाट्यगृह वर्गाकार तथा त्र्यस्र नाट्यगृह त्रिभुजाकार होता है। विकृष्ट को कुछ लोग मण्डलाकार भी मानते हैं किन्तु यह विवरण नाट्यशास्त्र के अनुसार न रहने से मान्य नहीं है। इनमें प्रमाण की दृष्टि से फिर नाट्यमण्डप के और भी भेद किये गये हैं जो ज्येष्ठ, मध्यम और कनीयस रूप में बनते हैं। ज्येष्ठ या विकृष्ट मण्डप देवों के लिये, मध्यम या चतुरस्र मनुष्यों के लिये उपयोगी होता है। ज्येष्ठ नाट्यमण्डप के विशाल रहने से पात्रों के द्वारा उच्चारित पाठ्यांश दर्शकों को श्राव्य नहीं होता है और न ही उनकी भावपूर्ण शरीराभिनय की मुद्राएँ दृश्य हो पाती हैं अतएव मध्यम नाट्यगृह ही अधिक उपयोगी होता है। इसी प्रकार अवर या त्र्यस्र नाट्यगृह सामान्य जनता के लिए उपयोगी होता है। विकृष्ट नाट्यगृह का प्रमाण १०८ हाथ या दण्ड का, चतुरस्र का प्रमाण ६४ हाथ या दण्ड का तथा त्र्यस्र का प्रमाण ३२ दण्ड या हाथ का होता है। (इनके इस प्रकार १८ भेद बनते हैं जिनके विवरण तथा मान्यताओं को यथास्थान पाद टिप्पणियों तथा अतिरिक्त टिप्पणियों में विस्तार से निदर्शित किया गया है।)

विकृष्ट नाट्यगृह—सभी प्रकार के नाट्यगृहों के निर्माण के पूर्व उचित भूमि का चयन करना चाहिए। इसके उपरान्त भूमि का शोधन स्वस्थ बैलों द्वारा हल चलाकर करते हुए अस्थि, कील आदि अशुद्ध पदार्थों को भूमि से निकाल देना चाहिए। इसके बाद उजले दृढ सूत्र से भूमि का माप करना चाहिए तथा इस समय पर्याप्त सतर्कता बरतनी चाहिए, जिससे न तो सूत्र हाथ से छूटने पावे और न ही टूटने पावे अन्यथा किसी अमंगल के होने की आशंका रहती है। मध्यम विकृष्ट मण्डप की विधि यह है कि चौसठ हाथ लम्बी तथा बत्तीस हाथ चौड़ी लम्बाई का क्षेत्र लेकर फिर डोरी से उसके दो भाग कर लें। इन दो भागों को फिर और दो भागों में बाँटें जिसमें से एक भाग पर रङ्गपीठ तथा रंगशीर्ष की तथा दूसरे (बाद वाले) भाग पर नेपथ्य गृह की रचना करे। (रंगशीर्ष तथा रंगपीठ के विशेष विवरण परिशिष्ट—१ सम्बन्धित अंश की टिप्पणियाँ २।३७–३८ पर इसके विस्तार हेतु देखना चाहिए)।

निवेशन—इस प्रकार हो चुकने पर इसके निवेशन या नींव रखने की विधि सम्पन्न करना चाहिए तथा इस समय उत्सव मनाते हुए मंगलवाद्यों (शंख, दुन्दुभि, पणव आदि) का निर्घोष करना चाहिए। क्योंकि पवित्र ध्वनियों से आकाश परिष्कृत एवं विशुद्ध हो जाता है और अनिष्ट की आशंका

निर्मूल हो जाती है। इस समय यहाँ पाखंडी, सन्यासी तथा विकलांग व्यक्तियो को नही आने देना चाहिए तथा रात्रि मे दिशाओ मे वलि दी जाए जो उनके अनेक देवता के मन्त्र तथा वलि पदार्थ के अनुरूप विधिवत सम्पन्न की जाती हो। इस प्रकार बडे मनोयोग से नीव रखने या शिलान्यास का समारोह सम्पन्न करना चाहिए।

भित्तिकर्म एवं स्तम्भारोपण—नीव की स्थापना के बाद मण्डपनिर्माण कार्य का आरम्भ करते हुए दीवारो को उठवाना आरम्भ किया जाय तथा दीवारो को उठाने के साथ-साथ स्तम्भारोपण करना चाहिए। यह कार्य भी उत्सव मनाते हुए शुभ वेला में रखना उत्तम होता है। विविध पूजाद्रव्यो से स्तम्भो की पूजा कर पुष्पमालाओ से स्तम्भो को सजाना चाहिए तथा इनके मूल या जड़ मे स्वर्ण आदि धातुओ को निर्देशानुसार छोडना चाहिए। ये स्तम्भ प्रेक्षको के विवेशन के अतिरिक्त अन्य स्थान जैसे रगपीठ नेपथ्य तथा मत्तवारणी में लगाये जाते है। (इनका विवरण २।६३–६६ की अतिरिक्त टिप्पणियो मे विस्तार से दिया गया है)।

मत्तवारणी—स्तम्भारोपण के उपरान्त मत्तवारणी का निर्माण किया जाता है। रगपीठ की दोनो बाजू मे इसका निर्माण किया जाता है। इसकी ऊँचाई रगपीठ से ऊंची और डेढ हाथ प्रमाण की रखना चाहिए। मत्तवारणी बरामदे की आकार की होती थी तथा रगपीठ या मञ्च के दोनो बाजू म रहती थी। (मत्तवारणी के विषय मे विस्तार से सभी विवेचक विद्वानो के आशय ना० शा० अ० २।६७ की अतिरिक्त टिप्पणियो (पृष्ठ ४६५) पर दे दिया गया है)। मत्तवारणी की रचना समाप्ति पर भी पूर्ववत उत्सव मनाना चाहिए।

रंगपीठ—इसके उपरान्त रगपीठ की रचना की जाए तथा रगपीठ के पिछले भाग मे नेपथ्यगृह का निर्माण करना चाहिए जो रगपीठ से अपेक्षाकृत ऊँचा रहे। इससे होकर नेपथ्य गृह मे आने के लिये दो द्वार रखे जाएँ जिनसे पात्र प्रवेश और निष्क्रमण करें। इसे ऊँचा करके वेदिका निमाणार्थ काली मिट्टी का प्रयोग किया जाए। श्वेत वर्ण के बैलो से जुताई कर मिट्टी के कंकड़-पत्थर साफ करने के बाद उस वेदिका का भराव करना चाहिए। मिट्टी ढोने वाले श्रमिक भी विकलांग न हो इसका ध्यान रखा जाए।

रगपीठ बीच मे ऊँचा तथा चारो ओर नीचा रहे, जो कछुए की पीठ के आकार का नही हो और नही वह मछली की पीठ जैसा एक ओर ऊँचा और दूसरी ओर से नीचा रहना चाहिए। इस विशुद्ध दर्पण की सतह के जैसा समतल ही बनाया जाए। रङ्गपीठ के एक भाग मे रङ्गशीर्ष रखना चाहिए। (रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष का विवेचन अतिरिक्त टिप्पणियां पृष्ठ ४६४ पर द्रष्टव्य)

दारुकर्म—नाट्यगृह की रचना मे लकड़ी की कारीगरी भी सुन्दर ढग से रहनी चाहिए। इसे दारुकर्म कहते हैं। तदनुसार इसके सभी स्तम्भ, द्वार और वातायन (खिड़कियाँ) विविध शिल्पकला से पूर्ण होना चाहिए। इसमे स्थान स्थान पर चौके बने हुए रहने चाहिए। हाथियो या सर्पों की आकृतियाँ उकेरी हुई रखना चाहिए तथा काष्ठ की पुतलिकाओ से चतुर्दिक सुशोभित करते हुए नाट्यगृह को अलकृत करना चाहिए। आशय यह कि दारुकर्म विविध प्रकार की कारीगरी से युक्त होना चाहिए।

नाट्यगृह की रचना करते समय एक बात का ध्यान अवश्य रहे कि कोई स्तम्भ, खिड़की द्वार या नागदन्त (खूटी) किसी के सामने न आने पावे क्योंकि ऐसा रहने पर इसकी सजावट(या अलकरण) मे शोभाहीनता आ जाएगी।

(दारुकर्म के प्रसङ्ग मे अनेक शास्त्रीय शब्दो का प्रयोग हुआ है जिनका विवरण अध्याय २।७३–७७ पर तथा अतिरिक्त टिप्पणियो मे देखना चाहिए)।

मण्डप—यह नाट्यमण्डप द्विभूमि बनाया जाता है। इस मण्डप मे छोटे-छोटे वातायन या खिड़कियो की रचना चाहिए। जिससे वायु का प्रवेश कम हो और शब्द गम्भीर रूप मे सुनाई दे सके तथा वाद्य समोत के सूक्ष्मतम वादनादि क्रिया-कलापो को आसानी से सुना जा सके। (द्वि-भूमि नाट्यमण्डप पर टिप्पणी ना० शा० अ० २।८४, ८६ पर (दोनो स्थानो पर द्रष्टव्य) नाट्यमण्डप की दीवारो की अच्छी तरह लिपाई पुताई करने के बाद उन्हे चमकदार बनाया जाए और उन पर सुन्दर अकित करवाये जाँए। इनमे अधिकतर पुरुष और स्त्रियो के शृङ्गार प्रसाधन एव ललितभाव से युक्त चित्र हो या फिर लता वृक्ष, गुल्म, पर्वत, नदी आदि के सुन्दर चित्र अकित किये जाँए। इन चित्रो मे विलास एव क्रीडाओ का भी अकन किया जा सकता है। नाट्यमण्डप मे कितने द्वार रहते हैं इस विषय मे भी मतैक्य नहीं है। कुछ आचार्य नाटयमण्डप मे चार द्वार रखने तथा अन्य आचार्य ■ द्वार रखने का विधान मानते हैं। मध्यम विकृष्ट नाट्यमण्डप का यही स्वरूप है।

चतुरस्रनाट्यमण्डप—चतुरस्र नाट्यमण्डप की लम्बाई और चौड़ाई (३२ = ३२) ३२–३२ हाथ की रहने से यह वर्गाकार नाट्यमण्डप कहलाता है। इसके निर्माण मे वही सब कार्य होते हैं जो विकृष्ट के स्वरूपवर्णन के प्रसग मे पूर्व मे बतलाये गये हैं। इसकी दीवारेँ ईंटो से निर्माण की जाँय। इसमे दस स्तम्भ रखना चाहिए। विकृष्ट की अपेक्षा छोटा मण्डप होने से इसमे प्रेक्षको को बैठने के लिये सीढ़ीनुमा बैठक का निर्माण किया जाए जिसे लकड़ी और ईंट से बनाया जाए। ये सीढ़ियाँ धरातल से एक हाथ ऊपर उठते हुए इतनी ऊँचाई तक चली जाँए जहाँ से रगपीठ (सीधा) दिखलाई दे सकता हो।

विकृष्ट के समान ही यहाँ रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष की भी रचना की जाए तथा इसमे नेपथ्यगृह की ओर जाने के लिये एक ही द्वार रखा जाए तथा एक द्वार सामने के मण्डप मे हो जिससे सामान्य दर्शक प्रवेश करे। इसका रङ्गपीठ आठ हाथ के प्रमाण का होता है तथा दोनों बाजू मे मत्तवारणी चार-चार स्तम्भो की रहती है। इसका धरातल आदर्श-तल के समान समतल होता है तथा वेदिका भी समतल ही। जबकि विकृष्ट मे वेदिका से इस धरातल को ऊँचा रखा जाता है। चतुरस्र नाट्यमण्डप का यही स्वरूप है।

त्र्यस्र नाट्यमण्डप—त्र्यस्र सज्ञक नाट्यमण्डप का आकार त्रिभुज जैसा रखा जाता है तथा इसके मध्यभाग मे जिस रङ्गपीठ की रचना होती है वह भी त्रिभुज ही रहता है। इसका एक द्वार कोने मे निकला हुआ रखा जाता है तथा दूसरा द्वार रगपीठ के पिछली ओर रखते हैं। इनमे पहला द्वार सामान्य जन के प्रवेश के लिये और दूसरा द्वार अभिनेताओ के प्रवेश के लिये होता है। चतुरस्र मे अभिहित विधि के अनुसार ही इसमे भी दीवारो का निर्माण किया जाता है और इसी प्रकार स्तम्भ भी लगाये जाते हैं। शेष कार्य विकृष्ट नाट्यगृह के समान त्र्यस्र नाट्यगृह मे भी होता है। त्र्यस्र नाट्यमण्डप का यही स्वरूप है।

नाट्यमण्डपो का नाट्यशास्त्र मे इस प्रकार विवरण है। इस विषय मे कुछ विवेचकगण प्रश्न करते है कि ये सभी नाट्यमण्डप खुले रखे जाते थे या इन पर छत का निर्माण होता था? इस आशका का नाट्यमण्डप के विवरणो को ध्यान से पढने पर स्थान ही नही रहता, क्योकि जब नाट्यमण्डप के अन्दर स्तम्भो के स्थापन की विधि बतलाई है तो बिना छत के इन स्तम्भो का स्थापन व्यर्थ हो जाता है। दूसरे जब मण्डप को धारण करने वाले स्तम्भो को स्थापित करने की बात मुनि ने कही तो इसका आशय भी नाट्यमण्डप मे छत के रखने से ही है। तीसरे यदि नाट्यमण्डप खुला हो तो वह निवात या गूँजने की स्थिति वाला हो ही नही सकेगा। यह भी नाट्यमण्डप मे छत के निर्माण का ही समर्थन करती है तथा अन्तिम बात यह कि बिना छत के कोई स्थापत्य निर्माण ही नही होता। अतएव सिद्ध है कि नाट्यमण्डप की छत बनायी जाती थी। [नाट्यमण्डपो से सम्बन्धित अन्य विषयो का तथा कक्ष्याविभाग आदि का विवरण द्वितीय भाग मे अध्याय क्रम मे प्रस्तुत किया जाएगा जिसे पाठक नाट्यशास्त्र के द्वितीय खण्ड म अवलोकन करें]।

यद्यपि नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय म नाट्यमण्डपो के इन विवरणो को भरतमुनि ने बडी स्पष्टता से प्रतिपादित किया है फिर भी समय की दूरी तथा अपेक्षाओ के विपरिवर्तित होने से इसकी व्याख्या मे कालान्तर मे विचार-भिन्नता आ गयी थी (इस सन्दर्भ के सभी व्याख्येय अशो की मीमासा हमने यथास्थान टिप्पणियो मे कर दी है। अतएव भूमिका मे इन विषयो पर फिर

से विचार पुनरुक्त मानकर संक्षेप में यहाँ अध्यायगत विवरण प्रस्तुत किया गया है)।

नाट्यशास्त्र के तृतीय अध्याय में नाट्यमण्डप के निर्माण के पश्चात् देवगणों के अर्चन की विधि का विस्तार से निरूपण किया गया है, क्योंकि देवपूजन के बिना नाट्यप्रयोग को प्रस्तुत करना अभीष्ट नहीं है तथा मुनि ने भी इसी कारण इस अर्चन विधि का अवश्य सम्पादन बतलाया है। कुछ आचार्य नव-नाट्यमण्डप के निर्माण के अवसर पर इन देवगणों के पूजन को अनिवार्य बतलाने के साथ साथ यह भी निर्देश करते हैं कि इनका अर्चन प्रत्येक नाट्य-प्रयोग या प्रेक्षा के आरम्भ के समय भी अभीष्ट होने से अवश्य सम्पादित किया जाना है।

नाट्यशास्त्र के चतुर्थाध्याय में ताण्डव नृत्य के उद्भव के साथ नृत्य के लास्यादि प्रभेद का विवरण देकर उसके करण, अंगहार आदि का विवेचन दिया गया है। सर्वप्रथम इस क्रम में भरत मुनि ने नृत्य के उद्भव का भी विवरण दिया है। तदनुसार नाट्य में इसका प्रयोग भगवान् शिवजी की प्रेरणा से आरम्भ हुआ। जब त्रिपुरदाह नामक डिम का प्रयोग भरतमुनि ने ब्रह्माजी की प्रेरणा से शिवजी के सम्मुख हिमाचल पर्वत के एक ऊँचे टीले पर जाकर प्रस्तुत किया। उसे देखकर शिवजी परम प्रसन्न हुए और ब्रह्मा द्वारा सृष्ट नाट्य की प्रशंसा करने लगे और उन्हें कहा कि मैंने भी सन्ध्याकालिक नृत्य करने के समय नाना प्रकार के करणों एवं अंगहारों से विभूषित नृत्त का का स्मरण किया है। ऐसे नृत्त का प्रयोग आप भी अपने पूर्वरंग में संयुक्त कीजिए। अभी आपने जिस पूर्वरंग का प्रयोग किया है वह शुद्ध है जो इस नृत्य के प्रयोग से चित्र नाम धारण करेगा।

तब श्रीब्रह्माजी ने शिवजी से उस नृत्त विधि के उपदेश की प्रार्थना की। शिवजी ने अपने अनुचर तण्डु मुनि को बुलाकर भरत को नृत्त विधि की शिक्षा देने की आज्ञा दी। तण्डु के द्वारा शिक्षा दिये जाने के कारण भगवान् शिव द्वारा प्रवर्तित नृत्त की 'ताण्डव'[1] नाम से प्रसिद्धि हुई।

इस नृत्त में हस्त, कटि, पार्श्व, पाद, जंघा, उदर, वक्षस्थल तथा पृष्ठ

---

१ ताण्डव नृत्य से सम्बद्ध नृत्त, नृत्य तथा नाट्य शब्द व्याख्या सापेक्ष है तथा इनके अभिनय में अंगों तथा उपांगों आदि का सहयोग रहता है, जिसे शास्त्रीय विधि के अनुसार साङ्ग एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना इष्ट है। अभिनय निरूपण के साथ इन सभी अंगों का भरत ने विधिवत् विवरण दिया है। हमने भी नाट्यशास्त्र के तृतीय भाग में इस विषय पर प्रस्तावना में तथा सम्बद्ध स्थानों पर टिप्पणी आदि में पर्याप्त विवेचन किया है। अभिनय से सम्बद्ध होने से पाठक गण इसका विवरण तृतीय भाग में देखने का कष्ट करें।

आदि स्थानो तथा गति, चेष्टा आदि क्रियाओ का महत्व होता है और इसी कारण इसमे कभी स्थित तथा कभी द्रुतगति की चेष्टाएँ रखी जाती हैं। इन चेष्टाओ से नृत्य म मातृकाएँ निर्मित होती हैं तथा तीन या चार मातृकाओ से करण का सगठन या निर्माण किया जाता है।

भरतमुनि ने इस अध्याय म एक सौ आठ करणो का उनकी विभिन्न मुद्राओ के साथ विस्तार से विवरण दिया है तथा यह विवरण अनेक परवर्ती सगीत नाट्य ग्रन्थो मे पर्याप्त विवेचन के साथ मिलता है जिसका आधार भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही है। इन करणो से अगहार बनते हैं जिनकी सख्या बत्तीस है। नृत्य मे प्रभावशालिता और शालीनता लाने के लिये पाद रेचक कटिरेचक, कररेचक तथा कण्ठरेचको की कल्पना की गयी है। ताण्डव के उपकरणभूत इन करणो, अगहारो एव रेचको की रूपरचना भगवान् शिव ने की थी, जिनसे तण्डु ने इन्हे प्राप्त किया और तण्डु से निर्दिष्ट होने से इस नृत्य को ताण्डव नाम से कहा जाने लगा।

इस अध्याय के करणो को समझने म चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर म उत्कीर्ण मूर्तियो से पर्याप्त सहायता मिलती है। ये मूर्तिया मन्दिर की नृत्तसभा के चौदह स्तम्भो पर उत्कीर्ण की गयी है। पूर्व तथा पश्चिम के दोनो पार्श्वों म स्थित सात सात स्तम्भो पर आठ आठ मूर्तियाँ नाट्यशास्त्र म लिखित लक्षणो के साथ उसी क्रम मे रखी गयी हैं। एक पार्श्व के सात स्तम्भो पर सख्या १ से ५४ तक की करण मूर्तियाँ और उनकी मुद्राओ के लक्षण उत्कीर्ण किये गये हैं। दूसरे पार्श्व के सात स्तम्भो पर सख्या ५५ से १०८ तक के शेष चौवन करण अकित किये गये हैं। इन्ही के साथ शेष चार मूर्तियाँ सभवत उस काल के मन्दिर निर्माता राजा रानी तथा मूर्ति निर्माता शिल्पी की है। दोनो स्तम्भो पर ये युगल मूर्तियो के रूप मे अकित की गयी हैं। इसका निर्माण ईसवी सन् १२४३ तथा १२७३ के मध्य विद्यमान महान शासक राजसिंह देव (कोप्परेजिग देव) के शासनकाल मे हुआ था, जो चोलराजाओ के विरोधी के रूप मे पर्याप्त प्रसिद्ध थे।

बडौदा से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के प्रथम सस्करण मे म० म० रामकृष्ण कवि ने मद्रास एपिग्राफिकल रिपोर्ट के आधार पर इन करणो के जो चित्र प्रस्तुत किये थे उनमे पन्द्रह करणो के रेखाचित्र नही दिये गये थे, बाद मे श्रीरामास्वामी शास्त्री ने नाट्यशास्त्र के प्रथम भाग की अभिनवभारती टीका के द्वितीय सस्करण के प्रकाशन के अवसर पर इस सम्बन्ध मे अधिक खोजबीन करने के लिये चिदबरम के नटराज मन्दिर की स्वय जाकर परीक्षा की कि इसके करण लक्षणानुसारी हैं या नही। वहाँ उत्कीर्ण मूर्तियो की जब बारीकी से परीक्षा की गयी तो मूर्तियो और करणो का लक्षणो से सम्बद्ध ठीक पाया गया। हमने भी दक्षिण भारत के ओटकमड मे विद्यमान पुरातत्व-

विभाग से बड़ौदा से प्रकाशित प्रथम सस्करण मे मुद्रित सभी ९२ श्लोक प्राप्त कर उन्हें प्रस्तुत सस्करण मे दे दिया है। उन्ही के नीचे नाट्यशास्त्र मे करण-मुद्रा के वर्णन की पृष्ठ सख्या और श्लोक सख्या को देते हुए उस करण का नाम भी चित्र के ऊपर लिख दिया है। (श्रीरामास्वामी शास्त्री के इस सम्बन्ध मे दिये गये समग्र प्रतिवेदन को हम यहाँ विस्तार भय से नही दे रहे है। अध्ययनार्थी उसे नाट्यशास्त्र के प्रथमभाग की बड़ौदा से प्रकाशित भूमिका मे देख सकते हैं।) इन करणो को आधार बनाकर श्री वी० वी० नारायण स्वामी नायडू ने 'ताण्डवलक्षण' नामक अपने ग्रंथ का सन् १९३६ मे प्रकाशन किया तथा नृत्यो पर लिखे गये कपिला-वात्स्यायन के शोध प्रबन्ध[1] मे भी इन करणो के विवरण दिये गये हैं। हमने इन करणो से सम्बन्ध अभिनवभारती व्याख्या मे दिया गया विवेचन परिशिष्ट मे अतिरिक्त टिप्पणियो मे दे दिया है, जिसका आधार लेकर शारगदेव ने सगीतरत्नाकर ग्रन्थ मे करणो का विवरण दिया था। इन करणो तथा अगहारो का विवरण सगीत के अन्य ग्रन्थो—यथा—पुण्डरीक विट्ठल के नर्तननिर्णय, राणाकुम्भकर्ण के सगीतराज, हरिपालदेव के सगीतसुधाकर, सोमेश्वर के मानसोल्लास मे (कुछ नये या भिन्न स्वरूपो को जोड़ते या दिखलाते हुए) दिया गया है। इसमे नाट्यशास्त्र के आधार को केवल शारगदेव ने नही छोड़ा इसी कारण प्रमाणकोटि मे सगीत रत्नाकर का ही विवरण अधिक आता है। इस अध्याय के करणो को समझने मे इन सब से सहायता मिल सकती है।

नृत्त के दो प्रकार नाट्यशास्त्र मे निदर्शित हैं, जिनमे उद्धत नृत्य का नाम है ताण्डव तथा मधुर या सुकुमार नृत्य का नाम हैं लास्य। ताण्डव का शिव की शक्ति तथा स्फूर्तिमयी भावभगिमाओ से एव लास्य का सम्बन्ध पार्वती की सुकुमार भावभगिमाओ से होने के कारण ताण्डव तथा लास्य नृत्य के भगवान शिव एव पार्वती ही उद्भावक देवता भी माने गये हैं।

ताण्डव नृत्य का सयोजन देवताओ की स्तुति क प्रसग मे होता है। अतएव जो रेचक एव अगहारो से निर्मित नृत्य हैं तथा शिवजी के द्वारा जिसका पर्याप्त विकास एव रूपविस्तार हुआ, वही ताण्डव है यह स्पष्ट है। जहाँ शृगार रस से सम्बद्ध स्त्री पुरुषाश्रित गान हो तो वहाँ ललित अङ्गहारो से सम्पन्न भगवती पार्वती के द्वारा विकसित लास्य नृत्य का सयोजन किया जाता है।

नृत्य के साथ गीत एव वाद्य का प्रयोग रखा जाता है। जब नर्तकी मच पर प्रथम बार प्रवेश करती है तो वाद्य तथा लय से अनुगत चारी को भी

---

१. क्लासिकल इण्डियन डान्स इन लिटरेचर एण्ड दी आर्टस्-कपिला वात्स्यायन—दिल्ली।

वह प्रस्तुत करती है। इस प्रकार के नृत्य के साथ जब अगुलियों से पुष्प बिखेरती हुई रगमण्डप पर आती है तो एक अपूर्व शोभा का सचार हो उठता है।

भरतमुनि के इस नृत्यादि विवरण का प्रभाव नृत्यकला के शास्त्रीय प्रयोगो तथा प्रयोगो पर अतिशय घना दृष्टिगत होता है। नृत्य के क्षेत्र मे भरत की मौलिक चिन्तना से अभिभूत प्राचीन नृत्त नाट्य के ग्रन्थ तो इसके प्रभावक्षेत्र मे आ ही गये उस काल के मन्दिरो, प्रस्तर-भित्तियो आदि पर भी इसी प्रभाव के अन्तर्गत मुद्राएँ अकित हो गयी, जिसने भरत के ऐतिहासिक एव शाश्वत दोनो महत्व को एक साथ प्रख्यापित कर डाला।

नाट्यशास्त्र के पञ्चम अध्याय मे पूर्वरग विधान का सागोपाग वर्णन है। पूर्वरङ्ग के स्वरूपादि को ध्यान से देखने पर विदित होता है कि पूर्वरङ्ग नाट्यप्रयोग के पूर्व समय की चरमपरीक्षास्थली है। भरत ने नाट्यप्रयोग के आरम्भ के पूर्व अनेक अनुष्ठानो का विधान बतलाते हुए बतलाया कि इसमे मुख्यरूप मे गीत, वाद्य, नृत्य और पाठ्य आदि का प्रयोग यवनिका के भीतर तथा बाहर किया जाता है। जिसका उद्देश्य है—उपस्थित सामाजिको का अनुरञ्जन, प्रयोगपरीक्षण तथा कवि, काव्य एव कथावस्तु का उपक्षपण। इनका पूर्वरङ्ग नाम भी इसी कारण है कि ये विधियाँ प्रस्तुत होने वाले नाट्य-प्रयोग के पूर्व ही सम्पन्न की जाती है।

आचार्य **अभिनवगुप्त** ने पूर्वरङ्ग के व्याख्यान प्रसग मे वार्तिककार हर्ष के मन्तव्य को उपस्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि रङ्गमञ्च पर पूर्व प्रयोग के कारण इसका नाम पूर्वरङ्ग है। दशरूपक के वृत्तिकार आचार्य धनिक ने सामाजिको की परिपुष्टि के कारण इसे पूर्वरङ्ग बतलाया। **भाव-प्रकाशनकारशारदातनय** के मत मे पूर्वरग की क्रिया के द्वारा नट एव नटी आदि का पारस्परिक अनुरजन भी होता है। इसका प्रयोग सामाजिको के लिए आंशिक महत्वशाली है, क्योकि इसकी अनेक क्रियाएँ यवनिका के भीतर होती है। साहित्यदर्पण के रचयिता **विश्वनाथ कविराज** के अनुसार पूर्वरग का प्रयोग विघ्नोपशमन के लिये है, क्योकि जब दैत्यो ने नाटक के समय उपद्रव किया था तो उपद्रव से रक्षा के लिए ही रगपूजा की विधि रखी गयी थी जिसकी नाट्यशास्त्र मे विस्तार से चर्चा भी है। नाट्यदर्पणकार **रामचन्द्र** तथा **गुणचन्द्र** के मत मे पूर्वरग के प्रयोग मे रजना ही को मुख्य हेतु समझना चाहिए। विघ्नोपशान्ति, पाठ तथा मगलाशसा का श्रद्धा के कारण महत्व है परन्तु रगपूर्व के धार्मिकपक्ष पर यदि बल न दिया जाए तो भी पूर्वरग का प्रयोग विशुद्ध नाट्यप्रयोग से सम्बद्ध (रहता) ही है, जिसमे अन्तर्यवनिका या परदे के अन्दर की जाने वाली प्रत्याहार, अवतरण आदि क्रियाएँ होती हैं जिनकी उपेक्षा सम्भव नही हैं।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने पूर्वरंग की विधियों की तन्तुपट से तुलना करते हुए यह निर्देशित किया कि जैसे तुरी तन्तु वेमा आदि के संयोग के बिना पट का निर्माण नहीं होता उसी प्रकार गीत वाद्य पाठ्य न यत्यी एक एक सूत्र को मिलाकर ही प्रयोक्ता नाट्य को सफल रूप दे सकता है। इस सफलता की अंतिम परीक्षा का स्थान है पूर्वरंग जिसमें प्रेक्षक विद्वान् आदि परितुष्ट होते थे।

पूर्वरङ्ग के अङ्ग—पूर्वरंग के नाट्यशास्त्र में उन्नीस अङ्ग वतलाकर उनको दो भागों में विभाजित किया गया है तदनुसार प्रत्याहार से आसारित तक की नौ विधियों का प्रयोग ■ तयवनिका या पर्दे के अन्दर होता था तथा शेष दस विधियों का यवनिका के उद्घाटन के बाद रंगपीठ पर प्रस्तुत किया जाता था।

इनमें (१) **प्रत्याहार** में वाद्य यन्त्रों का विन्यास (२) **अवतरण** में गायक गायिकाओं का उचित स्थान पर निवेशन (३) **आरम्भ** में सामूहिक परिगीत क्रिया का समारम्भ (४) **आश्रावणा** में वाद्य यन्त्रों की आलापादि के साथ एकरूपता लाना (५) **वक्त्रपाणि** में वाद्य यन्त्रों का स्वरसन्धान (६) **परिघट्टना** में तन्त्रीवाद्यों की धारणा या स्वर साधन (७) **संघोटना** में कालनिर्धारण के परीक्षणार्थ तालवाद्यों को प्रहारादि से ठीक करते हुए श्रवण करना (८) **मार्गासारित** में विभिन्न वाद्य यन्त्रों का स्वर समन्वय तथा (९) **आसारित** में नर्तकियों के पाद विन्यासगत क्रम और लय का विनिश्चय रखा जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन नौ विधियों का सम्बन्ध यद्यपि मुख्यरूप से प्रयोक्तागण से रहता है फिर भी वाद्य यन्त्रों के विधिवत् परीक्षण और सन्तुलन को अंतिम रूप से करने पर प्रयोग के व्यवस्थित होने के कारण सामाजिकों का भी परितोष होने से इनका उद्देश्य दोनों (प्रयोक्ता एवं सामाजिक) की रञ्जना मानना चाहिए।

यवनिका को हटाकर पूर्वरंग की जिन विधियों को रंगपीठ पर प्रस्तुत किया जाता था उनमें—(१) **गीतक** या **गीतविधि** में देवताओं का कीर्तन (२) **उत्थापन** में नान्दीपाठकों द्वारा मंगली मय का आरम्भ ( ) **परिवर्तन** में सूत्रधार द्वारा परिक्रमा कर इन्द्र की वन्दना तथा जर्जर स्तुति (४ **नान्दी** में सूत्रधार द्वारा आशीर्वचनसमन्वित स्तुति पाठ (५) **शुष्कावकृष्ट** में सूत्रधार द्वारा जर्जर श्लोक के पाठ के अवसर पर अवकृष्टा ध्रुवा का शुष्काक्षर में पाठ (६) **रङ्गद्वार** में आंगिक और वाचिक अभिनय की अवतारणा (७) **चारी** में शृंगार रस के भावों का गति द्वारा प्रसार (८) **महाचारी** में रौद्ररस के भावों की गतियों के द्वारा अभिव्यञ्जना (९) त्रिगत में सूत्रधार पारिपार्श्विक एवं विदूषक के द्वारा कथावस्तु के सम्बन्ध में कौतूहलपूर्ण वार्तालाप तथा (१०) प्ररोचना में नाट्योक्षेप काव्यवस्तु का

निरूपण तथा कवि के अभिधान को बतलाकर सामाजिकों मे प्रस्तुत होने वाले प्रयोग के प्रति अभिरुचि जागृत करना रहता है। इन दसों विषयों के द्वारा मुख्यरूप से मंगलाशंसा तथा नाट्यप्रयोग (काव्य) के प्रयोजन या अर्थ की सूचना दी जाती है।

पूर्वरंग के इन विभेदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी विधियाँ *धार्मिक होने के साथ-साथ नाट्यप्रयोगपरक भी है, जिनमे नाट्यप्रयोग की* यथावस्तु, कविनाम एवं प्रयोग के गुणकीर्तन आदि की भी प्रमुखता रहती है। पूर्वरंग के अंगों की संख्या के विषय में आचार्यों की विविध विचारणाएँ हैं। आचार्य अभिनवगुप्तपाद, शारदातनय तथा सागरनन्दी ने अतिरिक्त अंगों की चर्चा करते हुए नान्दी की प्रमुखता तथा अनिवार्यता का उल्लेख किया है। अनेक आचार्यों के मत मे नान्दी के अतिरिक्त शेष अंग अधिक प्रमुखता के भागी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा ने भी नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में नान्दी का ही उल्लेख किया है तथा उसके नित्यप्रयोग का सुस्पष्ट निर्देश भी दिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्वरङ्ग की विधियों का नाट्यप्रयोग की दृष्टि से कम महत्त्व नहीं है।

नान्दी—भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग के प्रसंग मे नान्दी का पाठ भी प्रस्तुत किया है जिसमे मांगलिक भावभूमि का सुन्दर संकेत है। इसमें देव, द्विज आदि पूज्यजन की वन्दना के साथ प्रशासक के सुशासन, राष्ट्र के प्रवर्धन, रंग की आशावृत्ति, नाट्यकार कवि की धर्म एवं यश की प्राप्ति तथा देवताओं के प्रतिवर्धन की कल्पना की गयी है। इस प्रकार भरतमुनि ने देव॰ ताओं से लेकर प्रेक्षक तक की अपनी मांगलिक भावना को माला में अनुस्यूत कर लिया है। नान्दी के अधिष्ठाता चन्द्रदेव हैं जो इसके अनुष्ठान से प्रसन्न होते हैं। चन्द्र रसेश्वर हैं और नाट्य का प्रतिपाद्य रस है, इस प्रकार भरत॰ प्रोक्त नान्दी में रसेश्वरता तथा नाट्य की रसमयता का एक ही बिन्दु पर समन्वय दिखलाई देता है।

भरतमुनि के नान्दीविषयक विचारों का परवर्ती विद्वानों ने पर्याप्त उप-बृंहण किया—इनमे अग्निपुराण, आदिभरत, भावप्रकाशन, नाट्यप्रदीप, रसा-र्णवसुधाकर तथा साहित्यदर्पण मे नान्दी के विवरण विशेष उल्लेख्य हैं। इनमे अभिज्ञानशाकुन्तल की राघवभट्ट प्रणीत *व्याख्या* मे उद्धृत आदिभरत के मत मे नान्दी के द्वारा काव्यार्थ की सूचना दी जाती है तथा इसमे पदों की संख्या आठ या दस रखी जाती है। (आशीर्नमस्क्रियारूप श्लोक. कथ्यते—(अभि-ज्ञानशाकुन्तल टीका निर्णय॰ सं॰ पृष्ठ ५), अग्निपुराण (३३८।९-१०) के अनुसार नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है, तथा भास के नाटकों मे नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रवेश प्राप्त भी होता है। भावप्रकाशन

(भावप्रका०–१९६–१९७) मे शिव के नृत्यकाल मे उपस्थित वृषनन्दी की पूजा के साथ भी नान्दी का सम्बन्ध दिखलाया गया है। इसके अनुसार नान्दी प्रेक्षकवर्ग को आनन्दित करने के कारण नन्दन करने से नान्दी कहलाई। नाट्प्रदीप ने 'नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्त'। *यस्मादलं सज्जनसिन्धु-हंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी ॥*' कहकर नान्दी की बडी मनोहारी व्याख्या दी। जिसके अनुसार नान्दी कविजन, कुशीलव तथा सभ्यो का नन्दन करती हुई सज्जनरूपी सागर की हंसिनी जैसी दिखलाई देती है। सिंहभूपाल के रसार्णवसुधाकर के नाटकलक्षण रत्नकोश मे नान्दी प्रकरण (चौखम्बा सस्करण) भरतानुसारी है। इसमे रसार्णवसुधाकर मे अग्निपुराण के प्रभाव से गृहीत दस पदो की नान्दी का निदर्शन किया गया है। प्रतापरुद्रीय (प्रतापरुद्रीय पृष्ठ १३१) मे नान्दी के द्वारा काव्यार्थसूचन दिखलाकर नान्दी के पदो की सख्या बाइस तक बढा दी गयी है। साहित्यदर्पण (साहित्यदर्पण–६।११ तथा उसके गद्य भाग की वृत्ति) मे विश्वनाथ कविराज ने नान्दी की प्रमुखता दिखलाते हुए उसे प्रयोक्ता का प्रतिपाद्य बतलाया, कविकर्तव्य नहीं। इसके अनुसार 'वेदान्तेषु' इत्यादि कालिदास के विक्रमोर्वशीय का आरम्भ का पद्य नान्दी नहीं रगद्वार है, जहाँ से कवि के द्वारा रचित नाट्य का प्रयोग आरम्भ होता है।

नान्दी के उपरान्त पूर्वरङ्ग के शुष्कावकृष्ट, रङ्गद्वार, चारी, महाचारी त्रिगत तथा प्ररोचना का क्रमिक प्रयोग होता है। इसमे शुष्कावकृष्ट के बाद सूत्रधार द्वारा ऐसा श्लोक पाठ किया जाता था जिसमे ब्रह्मा आदि देवो का स्तुति पाठ रहता था। इसके बाद चारी नृत्य आरम्भ हो जाता था। (चारी का विस्तृत विवरण ना० शा० ११ वें अध्याय मे है) चारी श्रृगार रस से युक्त रहती थी जो पार्वती देवी की प्रीति के लिये प्रस्तुत की जाती थी। इसके बाद रौद्ररस युक्त महाचारी का प्रयोग किया जाता था जो भगवान् शिव की प्रीति का सपादन करती थी। रगद्वार से लेकर चारी और महाचारी के द्वारा गीत, वाद्य तथा नृत्य की मधुरता की सृष्टि की जाती है। इसके बाद त्रिगत का प्रयोग किया जाता है जिसमे विदूषक, सूत्रधार तथा पारिपार्श्विक के द्वारा कथावस्तु से सम्बन्धित ऐसी परिहासपूर्ण कथोपकथन की योजना की जाती है, जिससे सूत्रधार के चेहरे पर स्मित छा जाए। इसके बाद प्ररोचना द्वारा नाट्यप्रयोग की सिद्धि के लिये काव्योपक्षेपण होता है। प्ररोचना भारतीवृत्ति का एक भेद है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के मत मे प्ररोचना को नान्दी के रूप मे भी रखा जा सकता है क्योकि मगल तथा विजय की आशंका दोनो मे समान रूप से विद्यमान रहती है। किन्तु भरत ने प्ररोचना का एक दूसरा उद्देश्य भी दिखलाया है कि वह काव्योपक्षेपण का कार्य भी करती है तथा

जब यह नान्दी के उपरान्त प्रयुक्त की जाती है तो समान उद्देश्य की स्थिति नान्दी और प्ररोचना में हो ही नहीं सकती। अतएव प्ररोचना नान्दी और प्रस्तावना के मध्य में विद्यमान एक संयोजक शृंखला के रूप में अपना स्वतंत्र महत्व रखती है यह स्पष्ट ही है।

प्रस्तावना या स्थापना—पूर्वरंग के अन्तर्गत प्रस्तुत होने वाले नाट्य-प्रयोग का महत्वपूर्ण अंग प्रस्तावना है। क्योंकि इसमें कवि, काव्य तथा प्रयोक्ता का परिचय दिया जाता है और यहीं पर नाट्यसृष्टि के कारणीभूत प्रमुख अंगों का सांकेतिकता के साथ प्रेक्षकों के समक्ष प्रदर्शन भी होता है। प्रस्तावना के ही पर्याय हैं आमुख तथा स्थापना, जिनका प्रयोग स्वयं भरत-मुनि ने नाट्यशास्त्र में किया है। पञ्चम अध्याय में स्पष्ट रूप से प्रस्तावना या स्थापना की पृथक् कार्य विधि नहीं दिखलाई गयी [तथा इनका विवरण स्पष्ट भी नहीं है।] इस विवरण से इतना प्रतीत होता है कि जब भरत ने स्थापक के प्रवेश का उल्लेख किया है और प्रस्तावक के निष्क्रमण का तो इससे ये दोनों समानार्थक (बन जाते) हैं। इस क्रम में जब भारती वृत्ति के स्वरूप की (नाट्यशास्त्र अध्याय २२ में) चर्चा की गयी तो वहाँ भी इन दोनों को समानार्थक दिखलाया गया है। अतः प्रस्तावना, स्थापना तथा आमुख पर्याय-वाची शब्द हैं। अभिनवगुप्तपाद ने स्थापक तथा सूत्रधार की भिन्नकर्तृता को अस्वीकार कर बतलाया कि स्थापना की स्थापक या प्रस्तावक सूत्रधार ही नान्दी-प्रयोग को सम्पन्न कर स्थापक के रूप में प्रयोग करता है। अभिनवगुप्त के समय में *सूत्रधार तथा स्थापक का कार्य एक ही व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न हो* जाता था, यह स्पष्ट है। इससे इतना अवश्य प्रतीत होता है कि प्राचीन नाट्यपरम्परा में पूर्वरंग की विधियों के विस्तीर्ण प्रयोग के कारण सूत्रधार और स्थापक जैसे भिन्न व्यक्तित्व रखे गये होंगे तथा दोनों की पृथक् कार्य विधियाँ भी निश्चित की गयी होंगी पर कालान्तर में यह विस्तार स्थिर नहीं रह सका, जिसका प्रतिफलन आचार्य अभिनवगुप्तपाद की उपर्युक्त विचार-धारा से तो परिलक्षित होता ही है उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के लेखक आचार्य धनञ्जय तथा विश्वनाथ के विवरणों से भी (यही) स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में भी पूर्वरंग के ये कार्यकलाप इतने विस्तीर्ण नहीं रह गये थे।

पूर्वरंग की विधियों में नान्दी और प्रस्तावना महत्वपूर्ण मानी जाती है। प्रस्तावना भारती वृत्ति का अंग होती है। इसके पाँच प्रकार मुनि ने नाट्य-शास्त्र के अध्याय २२ में निर्दिष्ट किये हैं—यथा—उद्घात्यक, कथोद्घात्य, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक तथा अवलगित। भरत-मुनि ने रूपक प्रबन्ध में इन पाँचों में से किसी एक की योजना को अपेक्षित माना है। आचार्य नखकुट्ट के मत में नेपथ्योक्त वचन या आकाशभाषित के श्रवण पर भी सूत्रधार इन भेदों

के अतिरिक्त प्रस्तावन का कार्य कर सकता है। अतएव यह अतिरिक्त प्रस्तावना भेद है। (प्रस्तावना के इन प्रभेदो के उदाहरण यथास्थान नाट्यशास्त्र अध्याय २२ पर पुन द्रष्टव्य)।

पूर्वरंग के विभेद—भरतमुनि ने पूर्वरङ्ग के चार भेद बतलाये। इनमे सवप्रथम पूर्वरङ्ग क दो भेद किये गये हैं। ये हैं—चतुरस्र तथा त्यस्र। चतुरस्रपूर्वरङ्ग मे कला, ताल तथा लयाश्रित हस्त तथा पाद के सोलह पात होते हैं जबकि त्यस्र पूर्वरङ्ग मे इनकी सख्या बारह होती है। यही दोनो का भेद भी है। क्योकि त्यस्र मे वाद्य गति प्रचार ध्रुवा और ताल का जिस मात्रा मे प्रयोग होता है, चतुरस्र मे उससे (थोडा) विस्तृत रहता है। यही जब भारती वृत्ति के उपाश्रित हो गीत एव वाद्य के साथ नृत्य प्रयोग मे हीन रहता है तो शुद्ध पूर्वरङ्ग बन जाता है। इस प्रकार पूवरङ्ग के तीन प्रकार बन जात है–त्यस्र, चतुरस्र तथा शुद्ध।

इन भदो के अतिरिक्त एक अन्य प्रभेद भी मुनि ने बतलाया है। यह है चित्र पूर्वरङ्ग। चित्रपूर्वरङ्ग मे गीत और नृत्य की योजना विशेषरूप म रखी जाती है तथा गान और नृत्य की रसमयी मुद्राओ से प्रदर्शन करने की विधि के समायोजन से शुद्ध पूर्वरङ्ग ही चित्र के रूप मे परिणत हो जाता है।

यदि नाट्यशास्त्र के चतुर्थाध्याय के स दभ को ध्यान मे रखकर देखा जाए तो विदित होगा कि चित्र पूर्वरङ्ग की सृष्टि भगवान् शिव के द्वारा की गयी। क्योकि भरतमुनि ने ब्रह्मा के प्राप्त नाट्यवेद के शिक्षण के अनुसार अपने प्रयोग म (शुद्ध) पूर्वरङ्ग की योजना की थी। जब उसका प्रयोग शिवजी ने देखा तो उसमे नृत्त प्रयोग को जोडने का आदेश देकर तण्डु द्वारा भरत को एमे नृत्य की शिक्षा दिलवायी जो करण तथा अङ्गहारो से विभूषित था। आचार्य अभिनवगुप्त ने चित्र पूर्वरङ्ग के विषय मे बतलाया कि भरतमुनि ने पूर्वरङ्ग म नृत्य की योजना नही की थी पर जब भगवान् शिव से निर्दिष्ट नृत्य को भी इसमे सयुक्त किया गया तो वैचित्र्यकारक होने से इसे चित्र पूवरङ्ग म ताण्डव या लास्य की योजना आवश्यकतानुसार रखी जा सकती है।

पूर्वरङ्ग की महत्ता तथा उद्देश्य भी भरतमुनि ने बतलाये हैं। तदनुसार पूवरङ्ग के विधिवद् सम्पन्न करने पर नाट्य मे विघ्न नहीं होता कि तु प्रमाद करने पर अनिष्ट अवश्य होता है। पूर्वरङ्ग के इस विश्लेषण से भरतमुनि की सूक्ष्म प्रयोग दृष्टि का हमे अवबोध होता है। (जिसे उनने अतिस्पष्टता से विपर विवरण के साथ दिया)। नाट्यशास्त्र द्वारा पूर्वरङ्ग विधान पर इतना बल दिये जाने पर भी बाद मे इसका सर्वाङ्गीण प्रयोग स्थायी नहीं रह पाया और उत्तरोत्तर भरतकाली पूर्वरङ्ग विधियो के सक्षेपकरण की प्रवृत्ति बल पकडने लगी। आचार्य विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पणात उल्लेख इस

प्रवृत्ति के स्पष्ट निदर्शन है' क्योंकि उनके समय में इतनी विस्तीर्ण पूर्वरङ्गीय क्रियाएँ नहीं रह गयी थी।

नाट्योत्पत्ति से लेकर पर्वरंग की चित्रपूर्वरंग विधि तक यदि दृष्टिपात किया जाए तो यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि नाट्यशास्त्र अनेक क्रमिक संस्कारों के बाद व्यवस्थित हुआ था। इसमें सर्वप्रथम वेदों से गृहीत पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रसवाले नाट्यवेद में ब्रह्मा ने इतिहास जोड़ा, फिर इसमें कैशिकीवृत्ति के संयोजन के कारण स्त्रियों का प्रवेश हुआ। यह दो संस्कार हुए। तीसरी बार दैत्यों के द्वारा किये गये विघ्नों को दूर करने के लिए रंग-पूजा जोड़ी गयी और अन्त में करणों और अंगहारों से युक्त ताण्डव का पूर्व-रङ्ग में संयोजन भगवान् शिवजी ने करवाया। जिससे ताण्डव का नाटक में समावेश हुआ। यह चौथा संस्कार था। भारतीय परम्परा के अनुसार जब नाट्यशास्त्र ने इन चारों कक्षाओं का अतिक्रमण कर लिया तो उसे पूर्णता प्राप्त हुई, जो इसके ऐतिहासिक विकास का भी एक संकेत (बना सकता) है।

प्रथम से पञ्चमाध्याय तक जो कुछ नाट्यवेद या नाट्यशास्त्र में बतलाया गया वे विधियाँ हैं। षष्ठाध्याय में पूर्वरंगविधि के श्रवण के बाद मुनियों ने पुनः पाँच प्रश्न किये। यथा—(१) रस क्या है तथा रसत्व का कारण कौन है? (२) भाव क्यों हैं तथा वे किस वस्तु का भावन करते हैं? (३) संग्रह (४) कारिका तथा (५) निरुक्त के स्वरूप कैसे हैं?

भरतमुनि ने इसके उत्तर में बतलाया कि यद्यपि ज्ञान और शिल्प की अनन्तता के कारण नाट्य का अन्त पाना कठिन है किन्तु संक्षेप में सूत्ररूप में नाट्य का रसभावादि संग्रह बतलाता हूँ। फिर अर्थों के संक्षिप्त निबन्धन को संग्रह बतलाते हुए मुनि ने संपूर्ण नाट्यशास्त्र के प्रतिपाद्य अर्थों का संग्रह एक श्लोक में इस प्रकार बतलाया।

> रसभावा ह्यभिनया धर्मी-वृत्ति प्रवृत्तय ।
> सिद्धि-स्वरास्तथातोद्य गान रंगश्च संग्रह ॥ [ना० शा० ६।११]

अर्थात् नाट्यशास्त्र के संक्षेप में ग्यारह संग्रह अंग है —

(१) रस, (२) भाव, (३) अभिनय, (४) धर्मी, (५) वृत्ति, (६) प्रवृत्ति, (७) सिद्धि, (८) स्वर, (९) आतोद्य, (१०) गान तथा (११) रंग।

मुनि ने आरम्भ में इन एकादश अङ्गों का संक्षिप्त स्वरूप दिखलाकर बाद में जो विस्तार से व्याख्या के साथ विवरण दिया वह शास्त्र है। यह विधि भिन्न स्वरूप वाला है क्योंकि इसमें रसादि के भेदोपभेदों को युक्तिपूर्वक बतलाते हुए ज्ञान करवाने के साथ साथ इनकी क्यों और कब प्रयोग के लिये विधि की जाए यह भी दर्शाया गया है विधि सदा अवश्यानुष्ठेय होती है तथा ` तर्क का प्रवेश कम ही रहता है किन्तु शास्त्र में ऊहापोह यथा तर्क का

अधिक प्रसार हो सकता है क्योंकि उसमे शका समाधान की पर्याप्त गुजाइश होती है और इससे बौद्धिक विवरण का पर्याप्त आधार मिल जाता है।

षष्ठाध्याय रसाध्याय है जिसमे नाट्यप्रसग मे (तथा नाट्य रस के सन्दर्भ मे) उद्दिष्ट रसस्वरूप की सूत्र भाष्यरूप व्याख्या भरतमुनि ने प्रस्तुत की है। भारतीय समीक्षाशास्त्र को भरतप्रोक्त रस सिद्धान्त एक अमूल्य देन है। यद्यपि भरतमुनि रस के आदि प्रतिष्ठाता आचार्य हैं किन्तु नाट्यशास्त्र से ऐसा सकेत भी मिलता है कि इनके पूर्व भी रस मीमांसा की परम्परा विद्यमान थी। नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्याय मे रस तथा भाव के विवेचन के अवसर पर भरत मुनि ने पूर्ववर्ती आचार्यों के आनुवश्यश्लोक तथा आर्याएँ अपने विचारो के अनुमोदन मे प्रस्तुत की है। इतना होने पर भी एक सुनिश्चित सिद्धान्त के रूप मे सर्वप्रथम रस का उपस्थापन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र म ही है जहाँ नाट्यप्रसङ्ग मे रसनिरूपण किया गया है। काव्य के सन्दर्भों के साथ रससिद्धान्त की विवेचना बाद मे आरम्भ हुई। भरतमुनि काव्य तथा नाट्य के उस विभेद को जो आज माना जाता है स्वीकार ही नहीं करते थे। उनके समय मे रस नाटक का धर्म था तथा चतुर्विध अभिनयो के द्वारा सहृदय सामाजिक के चित्त मे रसनिष्पत्ति का सम्पादन करना नाटकों का उद्देश्य था।

भरतमुनि ने नाट्य के सन्दर्भ मे जैसा रस का निरूपण किया तथा इस प्रसग मे मानवीय सवेगो प्रवृत्तियो तथा क्षणिक अनुभूतियो का जो मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया वह मानवमन के सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करने वाले आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्र तथा उसकी सम्प्राप्त उपलब्धियो से आश्चर्यजनक समानता लिये हुये हैं। डॉ० ए० बी० कीथ ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कृत नाटक मे (पृ० ३३६) रस के विषय मे बतलाया कि भारतीय नाट्यशास्त्र का सर्वाधिक मौलिक तथा मनोहारी प्रसङ्ग है रस के क्रमिक विकास का जिसमे सामाजिक के हृदय म रसानुभूति उत्पन्न कराना ही नाटक का उद्देश्य था।

रस की प्रमुखता को बतलाते हुए मुनि ने स्वय ही कहा कि– नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' अर्थात् बिना रसज्ञान के किसी भी नाट्योक्त विभावादि को जानना कठिन होगा। नाट्यशास्त्र के मुख्य विवेच्य विषय चार हैं– रस, अभिनय, सगीत तथा नृत्य किन्तु मुनि की दृष्टि म रस इन सभी म प्रमुख है, क्योंकि अभिनय, नृत्य तथा सगीत के द्वारा रस को ही अभिव्यक्ति मिलती है तथा ये रस की अभिव्यक्ति मे प्रधान या गौण रूप मे सहकारी होने से साधन मात्र हैं, साध्य नही। यहाँ तक कि मुनि ने जिन जिन विषयो की नाट्यशास्त्र म व्याख्या या विवरण दिये हैं उन सभी का साक्षात् या परम्परया रस से ही सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ—हम रगमच या प्रेक्षागृह को

ही ले लें। इस प्रसङ्ग मे जब मध्यम-विकृष्ट नाट्यगृह की चर्चा करते हुए मुनि इसके आकार का वर्णन करते हैं तो इसकी उपयोगिता को इसलिये अधिक दर्शाते है, क्योकि यही नाट्यगृह का आकार रस के साक्षात्कार करवाने मे अधिक सक्षम है। रगमञ्च का आकार यदि विशाल हुआ तो दर्शको के लिये रस अस्पष्टता धारण कर लेगा, जो वाणी के उच्चारण तथा शारीर अनुभावो द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र मे प्रतिपादित सभी विवेच्य विषय रस की अभिव्यक्ति के साधन मात्र होकर ही प्रस्तुत किये गये हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त (अभि० भा० भाग १ पृष्ठ-२६२) के मत मे नाटक से (अनिवार्य रूप मे) विषय रूप रस की उद्भावना होती है, क्योकि प्रकृतिजन्य वस्तुओ मे इसकी प्राप्ति असभव है। यह रस शुद्ध एकत्व रूप नही होता है क्योकि इसकी अनेकता मे एक वस्तुरूप तत्व होता है स्थायीभाव जो रसोत्पादक तत्व म सबसे महत्वशाली है एव अन्य सभी सहकारी है। ये हैं— विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव। ये स्थायीभाव को उसी प्रकार महत्वशाली बनाते है जैसे राजसी साज सज्जा तथा सेवकवर्ग राजा को प्रमुखता दिलवाते हैं। इसमे जैसे केन्द्रिय स्थान राजा लेता है उसी प्रकार स्थायीभाव ही दर्शको का आकर्षक विन्दु बनकर मुख्यता धारण करता है तथा इसी कारण यह कहा जाता है कि विभावादि से व्यक्त होने वाला स्थायीभाव ही रस है ('व्यक्त स तै विभावाद्यै स्थायीभावो रस स्मृत' (काव्य प्र० ४।२८)

विभावादि का स्वरूप—विभाव शब्द से आशय है नाट्यगत वह परिस्थिति या अवसर जिसकी सहायता से नायक मे स्थायीभाव उद्बुद्ध होता हो। यही नायक के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कारण प्रेक्षक मे भी उदित हो जाता है और इसे कारण न कहकर विभाव पद से इसलिये कहा भी जाता है। देश, काल तथा अवच्छिन्न वस्तु मे सदा भेद रहता ही है। इसीभेद ने विभावो को भी दो रूपो मे विभक्त कर दिया एक आलम्बन विभाव या अवच्छिन्न वस्तु जो स्थायीभाव का आधार होती है तथा दूसरा उद्दीपन-विभाव—जो देश और काल के समग्र रूप के साथ प्रेरक वातावरण के रूप मे आकर वस्तु या आश्रय के प्रभाव को तीव्रतम बनाता है। व्यावहारिक जगत् मे किसी स्थायी-भाव के कार्य (कहे जाने वाले) तथा स्थायी भाव की जागृति से उद्भूत होने वाली शारीरिक चेष्टाएं न ट्यप्रयोग मे अनुभाव कहलाती है। ये चेष्टाएँ या गतियां दो प्रकार की होंगी। एक इच्छा से उत्पन्न होने वाली और दूसरी सहजन्य या स्वयमुद्भूत। इच्छा से उत्पन्न चेष्टाएँ दूसरो पर अपने भाव को प्रकट करने के लिये की जाती हैं। ये स्थायीभाव के इच्छाजन्य प्रकटन के रूप मे रहती हैं। जैसे—आंखो या भौंहो का परिचालन। अपनी इच्छा से जिन

शारीरिक क्रियाओ को प्रकट किया जाए वे हैं अनुभाव। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार की भी चेष्टाएँ होती हैं, जो भावो के उदित होने या व्यक्त होने पर स्वय ही बिना किसी इच्छा के प्रकट होती है—जैसे व्रीडा, रोमाच, स्वर-भग, विवर्णता इत्यादि। ये स्वयमुद्भूत चेष्टाएँ सात्विकभाव कहलाती हैं। अन्त करण मे स्थायीभाव के रहने पर ही सात्विक भावो की अभिव्यक्ति होती है। ये स्थायी भावो के अविनाभावी-लक्षण या चिह्न माने जाते हैं। भरतमुनि ने उनचास भावो का वर्णन करते हुए उन्हें रसानुभव मे उपयोगी बतलाया है। इनमे आठ स्थायी-भाव, तैंतीस व्यभिचारीभाव तथा आठ सात्विकभाव हैं। सात्विकभावो को अनुभाव के अन्तर्गत लिया जा सकता है किन्तु फिर भी इनकी पृथक् गणना का कारण है इनका स्थायीभाव के व्यक्त होने पर तदन्तर्गत किसी इच्छा के साथ स्वय प्रकट होना जिससे इसके विषय मे कोई सदेह न किया जा सके।

व्यभिचारीभाव अस्थायी होने के कारण सचारीभाव कहे जाते है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने व्यभिचारीभाव की व्याख्या करते हुए बतलाया कि इन्हे व्यभिचारीभाव कहने का कारण है—इनका विविध रसो के अनुभव मे दर्शक के सम्मुख प्रत्यक्षवत् प्रकट होना। एक अन्य कारण से भी इन्हे सचारीभाव कहते है क्योकि ये विविध रसों को मानो प्रत्यक्ष रूप म दर्शकों के समक्ष उपस्थितकर देते हैं। क्योकि जब एक उपयुक्त परिस्थिति मे प्रभूत अस्थायी मानसिक अवस्थाओ का अभिनय किया जाता है तो दर्शको के चित्त मे उस स्थायीभाव के विषय मे कोई आशका नही रहती जिससे इनकी उत्पत्ति होती है। ये अस्थायी मानसिक दशाएँ सचारीभाव हैं।

स्थायीभाव को इन उनचास भावो के अन्तर्गत प्रमुख स्थान नाट्यशास्त्र मे दिया गया है। स्थायीभाव भी चित्तवृत्तिरूप होते हैं किन्तु चित्त के अन्दर स्थायिता ही इनकी प्रमुखता म हेतु है। ये भाव मनुष्य म प्रधानरूप से विद्यमान होकर उसके चरित्र गठन म सहयोग करते हैं। यह एक स्थायी मानसिक भावावस्था है। इसका उदय किसी विशिष्ट परिस्थिति के कारण होता है जिसमे कर्ता या नायक अवस्थित रहता है। इसलिये यह भावावस्था उद्दिष्टकार्य सभी दशाओ मे एक सी बनी रहती है तथा इसी कारण स्थायी-भाव कहलाती है। स्थायीभाव आठ हैं जिनका प्रकटन विभावो, अनुभावो तथा सचारीभावो के सहकार से होता है। इनका विशद वर्णन भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय म किया है। (इस भावाध्याय की सम्प्रति अभिनवभारती प्राप्त नही है। भावो का विशेष विवरण यहाँ देना आवश्यक नहीं है, केवल रस के स्वरूप को स्पष्ट करने मे सहयोगी रहने से इनके विवरण को यहाँ उपस्थापित किया गया है।—)

रस-निष्पत्ति—भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रस का विवेचन सूत्र-भाष्य शैली में किया है। इनका प्रसिद्ध रस-निष्पत्ति विवेचक सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यह इस सूत्र का शाब्दिक अनुवाद मात्र है। इसका स्पष्टीकरण स्वयं भरतमुनि ने लौकिकरसनास्वाद से मानसिक रसास्वाद की तुलना करते हुये बतलाया कि जैसे नानाप्रकार के व्यञ्जनों से उपस्थित सुसंस्कृत भोज्य (अन्न) का भोक्ता आस्वादन करता है इसी प्रकार विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावरूप अभिनय से सम्बद्ध स्थायीभावों का सहृदय प्रेक्षक मानसिक आस्वादन करता है। यह आस्वादन नाट्य से प्राप्त होता है अतएव यही नाट्य रस कहलाता है जो परमानन्द स्वरूप वाला है।

इन रससूत्र की व्याख्या भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्तपाद जैसे आचार्यों ने अपने-अपने भिन्न दृष्टिकोण के सन्दर्भों में प्रस्तुत की। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के आरम्भ में क्रमश इन व्याख्याकारों के मतों का उल्लेख करते हुये उनका खण्डन किया है। आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्तपाद के मत का ही स्वग्रन्थ काव्यप्रकाश में अनुसरण किया। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया एवं उसके जो स्वरूप इन आचार्यों ने निर्धारित किये तदनुसार रसनिष्पत्ति विषयक मान्यताएं उत्पत्तिवाद या आरोपवादवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद के नाम से परम्परा बनाते हुए प्रसिद्ध हुई।

भट्टलोल्लट तथा उनका उत्पत्तिवाद—रससूत्र के व्याख्याता भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद या स्थायीभावोपचयवाद कहा जाता है। इनके मूल विवरण तथा उसकी पोषक युक्तियों का विस्तार से अभिनवभारती में उल्लेख मिलता है। संक्षेप में इसका आशय यह है कि ये निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति लेते है। तदनुसार विभाव, अनुभाव आदि से उपचित स्थायीभाव ही रसरूप में उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् स्थायीभाव का विभावादि से संयोग जब होता है तो रस की उत्पत्ति होती है। स्थायीभाव और रस की उत्पत्ति का सम्बन्ध कार्यकारणभाव की तरह होता है। रत्यादि स्थायी चित्तवृत्तियों के रसरूप में उत्पन्न होने में विभावादि कारण होते हैं तथा अनुभाव कार्य होते हैं। अत लौकिक कारण कार्यभाव के समान ही विभावादि के संयोग से स्थायीभाव रसरूप में उत्पन्न होता है। अनेक प्राचीन आचार्य भट्टलोल्लट के इस तर्क से सहमत थे।

इस प्रसङ्ग में भट्टलोल्लट ने रस के वास या स्थान की भी व्याख्या की है। प्रश्न यह है कि यह रस कहाँ स्थित होता है? भट्टलोल्लट का उत्तर है कि—रस प्रधानरूप से अनुकार्य या मूल ऐतिहासिक व्यक्ति में निवास करता है परन्तु राम आदि के अनुरूप प्रतीति करवाने के कारण वह गौणरूप से

६ प्रस्ता० ना० शा० प्र०

अभिनेता मे भी निवास करता है। इस गौणता का कारण है अभिनेता का मूल या अनुकार्य व्यक्ति के साथ तादात्म्य स्थापन जिसमे वह ठीक मूल नायक के समान ही अपने अनुभावो को सगठित करने में सफल हो जाता है और इसलिये नायक के मूल-भावो की उसमे जागृति हो जाती है। यह आनन्दानुभव दर्शको को अभिनेता मे (अनुकार्य के रूप मे) भ्रान्ति के कारण होता है अर्थात् प्रेक्षक नट मे रामादि अनुकार्य का आरोप करता है, इसी कारण *भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को आरोपवाद भी कहा जाता है। दर्शक या सामाजिक* की रसप्रतीति के दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे भट्टलोल्लट ने कोई विवरण नही दिया। अभिनवगुप्त ने जिस रूप मे उनके मत को प्रस्तुत किया उसमे दर्शक के लिये कोई सकेत नही मिलता है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश मे अभिनवगुप्त के उद्दिष्ट पाठ मे थोडा सशोधन करते हुए प्रतीयमान शब्द जोड दिया जो दर्शक का भी बोधक है। अन्य आचार्यो के मत मे भट्टलोल्लट द्वारा प्रयुक्त नट शब्द उपलक्षण है जिसके द्वारा सामाजिक का भी ग्रहण हो जाता है क्योकि सामाजिक को रसानुभूति होती ही है। मम्मट का सशोधित पाठ इस प्रकार है—मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानात् नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस (का० प्र० झल० स० पृष्ठ ८८)।

भट्टलोल्लट का सिद्धान्त तत्त्वत व्यावहारिक था। उनके मत म विभावादि की अनेकता मे एकता का जनक स्थायीभाव ही विषय रूप रस हो जाता है। उसे ही रसविधायक तत्त्व पुष्ट करते हैं तथा पुष्ट कर प्रभावशाली बना देते हैं। इसके अनुसार विषयरूप रस मे विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो की अनेकता के मध्य विद्यमान स्थायीभाव की ही एकता है क्योकि रसविधायक तत्त्व समुदाय मे स्थायीभाव एकता का उत्पादक तत्त्व होता है, जिससे सभी तत्त्व सम्बद्ध होते हैं। सामान्यत स्थायीभाव उसको उत्पन्न करने वाले किसी कारण के आधार पर होता है, जहाँ अभिनेता अपने अभिनय-कौशल तथा नाटकीय वातावरण की सहायता के द्वारा मूल पात्र के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। और वह मूलपात्र की ही भाँति आचरण करते हुये उसी भाव को उत्पन्न कर लेता है जिसे कवि ने नायक के अन्त करण मे विद्यमान दिखलाना चाहा था। अत पूर्वप्रतिपादित विधि के अनुसार स्थायीभाव ही विषय रूप रस हो जाता है यह स्पष्ट है।

यद्यपि भट्टलोल्लट का यह मत मुख्यरूप से व्यवहारिक आधार को लेकर प्रवृत्त हुआ था किन्तु इस मत म श्रीशकुक ने आक्षेप करते हुये उसे दोषपूर्ण बतलाया। इनका कहना है कि श्रीभट्टलोल्लट ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके अनुसार दर्शक के अन्त करण मे विद्यमान रस के कारणो को स्पष्ट नही किया जा सकता है क्योकि रसविधायक तत्त्वो मे प्रमुख तत्त्व

स्थायीभाव की प्रत्यक्षत जब प्रतीति सम्भव नही है तो वह दर्शक के अन्त करण मे प्रकट कैसे होगा और जब तक स्थायीभाव की प्रतीति दर्शक को न हो तो रसोत्पत्ति कैसे सम्भव होगी ।

इस मत के अनुसार रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत किये गये इतिवृत्त को प्रत्यक्ष देखकर दर्शक को कुछ समय के लिये वैसा ही अनुभव होगा जैसा सत्यरूप मे घटित देखने से हो सकता था क्योकि दर्शक को नाटकीय नायक के अन्त -करण मे विद्यमान उस भाव की स्थिति का ज्ञान होता है जो वास्तविक न होकर कल्पित है तथा जिसको कला के प्रदर्शन द्वारा भ्रम उत्पन्न करते हुये चतुर अभिनेता ने लाया है । श्रीशकुक ने जब भट्टलोल्लट की रस व्याख्या म रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत किये गये रस तथा दर्शकगत रस के अर्थो को बिना किसी विभेद को स्पष्ट करते हुये पाया तो उसे सदोष सिद्धान्त दिखलाया क्याकि बिना पारस्परिक भेद के यदि इन दोनो शब्दो में रस शब्द को प्रयुक्त करेंगे तो फिर प्रदर्शनगत रस और दर्शक के अनुभवगत रस मे समानता आ ही जाएगी, परतु इस समानता या अभेद का जब कोई स्पष्ट उल्लेख ही नही है तो इनकी सिद्धि नही हो सकती । इसलिये यह भट्टलोल्लट के सिद्धान्त प्रतिपादन म कमी है ।

इसके अतिरिक्त दूसरा आक्षेप इसी सिद्धान्त पर और भी है जहां वे रस एव स्थायीभाव के पारस्परिक विभेद को दिखलाते हैं । स्थायीभावों के उपचय या परिपुष्टि को भट्टलोल्लट ने रस माना था । श्रीशकुक का इस सन्दर्भ मे कहना है कि यदि परिपुष्टि या उपचय के कारण ही रस हो जाता है तो इस उपचित मे असख्या क्रम होने से प्रत्येक स्थायीभाव के ही अनेक रूप हो जाएँगे । यदि यह मान लिया जाए कि स्थायीभाव की परिपुष्टि का अन्तिम बिन्दुभूत तत्व रस है तो ऐसी स्थिति मे करुणरस का अस्तित्व नही रहेगा, क्योकि करुणरस का स्थायीभाव शोक है और शोक के तो आरम्भ में ही तीव्रता रहती है एव जिसका उत्तरोत्तर उपचय होना जाता है और ज्यो ज्यो समय बीतता जाता है त्यो त्यो उसका आवेग कम होता है । अतएव यह मानना कि शोक स्थायीभाव अपने अन्तिम बिन्दु पर रस हो जाता है, व्यर्थ होगा । अत स्थायीभाव अपने चरम बिन्दु पर रस बन जाता है यह भट्ट-लोल्लट का सिद्धान्त भी युक्तिहीन है । (द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र प्रस्तुत सस्करण अभिनवभारती—पृष्ठ २ १-२३२) ।

श्रीशंकुक का अनुकरण अथवा अनुमितिवाद—श्रीशकुक ने रससूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में भट्टलोल्लट की समीक्षा के बाद रसमीमासा करते हुए अपना सिद्धान्त रसानुकरणवाद या अनुमितिवाद के आधार पर प्रतिपादित किया । इसके अनुसार रस के अनुभव का कारण नाट्यप्रदर्शन का प्रमेय रूप मे प्रत्यक्ष होना है । इनने रस के दो स्वरूप बतलाये—एक तो विषयगत-रूप रस जो रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित होता है तथा दूसरा दर्शक के अन्त करण मे

विद्यमान अनुभव गम्यरूप रस। इसकी व्याख्या यहाँ आवश्यक है। श्रीशंकुक इस समस्या को कि दर्शक के अन्तःकरण मे सर्वांगपूर्ण रस का अनुभव किस प्रकार हो, क्योंकि स्थायीभाव एक मानसिक दशा है, जिसका विषय रूप मे ज्ञान अन्य रसविधायक तत्वों की भाँति प्राप्त नही किया जा सकता है तो इसके समाधान के लिये उनने अनुमितिवाद को आधार बनाकर इस समस्या पर अपना विचार प्रस्तुत किया। इनके अनुसार प्रत्यक्षरूप विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारीभाव आदि रस विधायक तत्वों से स्थायीभाव का उसी प्रकार अनुमान होता है जैसे उठते हुए धूम को प्रत्यक्ष पर्वत के शिखर पर देखकर उसके ऊपर सघन वृक्षों मे प्रच्छन्न अग्नि के अस्तित्व का अनुमान से ज्ञान किया जाता है। यह ज्ञान अनुकरण स्वरूप होता है तथा अभिनेता अपनी अभिनयनिपुणता के द्वारा अनुकार्य रामादि से अपना अभिन्न बोध दर्शक को करवाता है। दर्शक का यह ज्ञान भ्रान्ति नही है—(जैसा कि भट्टलोल्लट मानते हैं) क्योंकि भ्रान्ति या आरोप क्षणस्थायी होता है। इसका स्वरूप संशय के सदृश भी नहीं है क्योंकि दर्शक के अन्तःकरण म यह सन्देह नहीं उठता कि रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित नायक अभिनेता है यह वही व्यक्ति जिसका वह अभिनय कर रहा है। इस अनुभव का स्वरूप न यथार्थ वस्तु के अनुभव के सदृश होता है और न ही मिथ्या ज्ञान की स्थिति मे इसे रखा जा सकता है। यह तो चित्रतुरङ्ग के समान विलक्षण है। इसमे चित्र म अश्व की सजीव आकृति देखकर जैसे यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि यही अश्व है, इसी प्रकार सहृदयदर्शक अभिनेता मे राम आदि मूल व्यक्ति के अनुभावों आदि को देखकर वहाँ स्थायीभाव की सत्ता का अनुमान लगा लेते हैं। यह अनुमानित स्थायीभाव मूल व्यक्ति राम के यथार्थ स्थायीभाव का अनुकृत रूप होने से तथा हृदयाकर्षक विभावादि से सवलित होने से विशेष ग्राहकरूप धारण करता है। इसी का विकास दर्शक के अन्तःकरण मे आनन्ददायक दशा मे होता है तथा आनन्ददायक होने के कारण इसे रस कहते हैं। इस प्रकार प्रेक्षकों के द्वारा रस की सत्ता का अनुमान होने से विभावादि इसके अनुमापक बन जाते हैं तथा रस हो जाता है अनुमाप्य। इस प्रकार श्रीशंकुक अनुमितिवाद का आधार लेकर यहाँ स्पष्टतापूर्वक समझते हैं कि वास्तविक रति आदि दुष्यन्त या रामादि म है किन्तु अभिनेता मे उसकी अनुकरणात्मकता के रहने के कारण अनुक्रियमाण स्थायीभाव ही रस रूप म अनुमानित किया जाता है।

श्रीशंकुक के अनुमिति या अनुकरणवाद की समीक्षा आचार्य अभिनवगुप्तपाद के नाट्यशास्त्र के आचार्य भट्टेन्दुराज तथा भट्टतौत ने विस्तार से की थी जिसका उल्लेख अभिनवगुप्तपाद ने किया है। इन आचार्यों के मत में श्रीशंकुक का यह सिद्धान्त कि 'अनुक्रियमाण स्थायीभाव रस है' स्वीकार नहीं

किया जा सकता है। क्योकि यह न तो दर्शक या सामाजिक के दृष्टिकोण से, न अभिनेता के दृष्टिकोण से और न ही नाट्यशास्त्र के आचार्य भरतमुनि की दृष्टि से आदरणीय (या अभिमत) है। प्रथमत दर्शक या सामाजिक के दृष्टिकोण से श्रीशकुक का सिद्धान्त स्वीकृत नही किया जा सकता, क्योकि अनुकरण की प्रतीति तभी होगी जब उसका प्रत्यक्ष या प्रामाणिक ज्ञान हो जिसको अनुकृत कहा जाता है। सुरापान का अनुकरण करता हुआ जब कोई अभिनेता दुग्धपान करते हुए यह बतलाये कि इसी प्रकार व्यक्ति मदिरापान करता है तो दर्शक उसके दूध पीने को देखकर (किसी) व्यक्ति के मदिरापान की बाह्य अनुकृति के आधार पर मान लेगा। परन्तु नाट्यप्रदर्शन मे दर्शक ऐसी कौन सी वस्तु को अभिनेता मे देखता है जिसको स्थायीभाव की अनुकृति माना जाए। क्योकि जो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है वह तो अभिनेता का शरीर तथा उस पर स्थित मुकुटादि है, जिससे युक्त होकर अनुभाव तथा सात्विकादिभावो का वह प्रदर्शन कर रहा है। परन्तु यहाँ यह तो कोई नही मान सकेगा कि ये सब स्थायीभाव के अनुकरण हैं क्योंकि दोनो मे आधार तथा स्वरूपगत विभेद है। प्रत्यक्ष होने वाली वस्तुएँ भौतिक हैं और स्थायीभाव आत्मा का आधार लकर मूलरूप से मानसिक है। फिर इनको जानने के साधन भी अलग अलग होते है। भौतिक वस्तुओ का नेत्रादि इन्द्रियो से प्रत्यक्षज्ञान होता है जब कि स्थायीभाव की प्रतीति अन्त करण से होती है।

इसमे दूसरा कारण यह भी है कि अनुकरण का ज्ञान बिना अनुकार्य तथा अनुकृति के प्रत्यक्षज्ञान के नही हो सकता। अनुकरण सदृशतामूलक होता है तथा मुख्य अनुकार्य रामादि (ऐतिहासिक मूल व्यक्ति) तथा अमुख्य अनुकर्ता अभिनेता दोनो पर देखने पर ही अनुकरण की प्रतीति होती है। इस मूल एतिहासिक व्यक्ति या अनुकार्य के रत्यादि भाव प्रेक्षको मे से किसी के भी द्वारा प्रत्यक्ष नही किया गया, अत अभिनेता राम के रतिभाव का अनुकरण करता है तथा यह अनुक्रियमाण रत्यादिस्थायीभाव रसरूप मे अनुमाप्य होता है यह मानना आधारहीन है, क्योकि प्रत्यक्षीकरण के अभाव मे अनुकार्य का तो अनुकरण जब सभव ही नही होता तब रसरूप मे अनुक्रियमाण रत्यादि को कैसे अनुमाप्य मानें। इस प्रकार जब अनुकार्य का अनुकरण ही सभव नही तो फिर अनुमाप्य रस कैसे हो सकेगा। यह युक्ति भी अधिक सारवती नही है कि भरतमुनि ने स्वय इस अनुकरण सिद्धान्त का समर्थन किया है क्योकि नाट्यशास्त्र मे ऐसा कोई विवरण या अश नही मिलता है जिसके प्रकरणादि को देखकर पर्याप्त रूप से अनुकरण के सिद्धान्त का समर्थन हो सके। इस प्रकार श्रीशकुक का यह सिद्धान्त कि रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित स्थायीभाव अनुकृतिस्वरूप है, प्रत्येक दृष्टि से दोषग्रस्त है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद या त्रिविध-व्यापारवाद—आचार्य भट्टनायक ने भट्टलोल्लट तथा श्रीशकुक के पूर्वोक्त मतो की समीक्षा करते हुए खण्डन किया है। इनने रस की प्रतीति, उत्पत्ति या अभिव्यक्त का निषेध किया क्योंकि रस की प्रतीति, उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति को पात्रनिष्ठ अथवा परगत मानने पर प्रेक्षको को रसास्वादन सम्भव नही होगा। यदि स्वगत अथवा प्रेक्षकनिष्ठ स्वीकार करें तो करुणरस के प्रसङ्ग मे प्रेक्षक का हृदय शोकाप्लावित होने लगेगा। तथा परगत स्वीकार करने से सामाजिक को कोई रसानुभूति नही होगी और रस की प्रतीति स्वीकार करने पर दु ख-प्रधान रसो में प्रेक्षको के शोकाभिभूत हो जाने की आशङ्का होने लगती है।

इसलिये भट्टनायक ने रसानुभूति के लिये नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसे भुक्तिवाद कहा जाता है। इसमे त्रिविध-व्यापार के अन्तर्गत प्रथम है अभिधाशक्ति जिसके द्वारा वाच्यार्थ का ज्ञान होता है, तदन्तर नाट्य प्रयोग या काव्य मे भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अन्य व्यापार और होते हैं। भावकत्व या भावना-व्यापार द्वारा सामाजिक के अन्त करण मे राम और सीतारूप विभावादि का साधारणीकृत रूप मे आविर्भाव होता है, जिनमे उनके रत्यादि भाव साधारणीकृत होकर सामाजिक या प्रेक्षक के अन्त स्थिति रत्यादि भाव से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं और उनके रत्यादि स्थायीभावो में सामाजिक स्वय विलीन हो जाता है। सामाजिक की परत्व एव ममत्व-परक भेदवृत्ति इसी व्यापार से विलीन हो जाती है तथा इसी भावकत्व व्यापार के परिणामस्वरूप भोग का—जो रस का साक्षात्कारक होता है—प्रादुर्भाव होता है। इनके मत मे रसास्वादन की दशा मे सामाजिक की अनुभूति मे रजस् और तमस् तत्त्व की अपेक्षा सत्त्व का (अधिक) आविर्भाव होता है, जो प्रकाश, आनन्द तथा विश्रान्तिमयता सम्पन्न होता है। आनन्द की यह दशा चेतना के ऐसे चरम आनन्द का स्वरूप होती है जो ब्रह्मास्वाद-सहोदर है। ब्रह्म की आध्यात्मिक अनुभूति से इसका अन्तर यह है कि रसानुभूति सीमित होती है, यद्यपि रसानुभव काल मे इस सीमा का भान नही रहता, क्योंकि नाट्यप्रदर्शन तथा प्रेक्षक मे साधारणीकरण व्यापार द्वारा तादात्म्य रहता है। इस रसानुभूति को सामान्य लौकिक अनुभव मानने मे प्रत्यक्ष स्मृति आदि की अपेक्षा माननी पड़ेगी, अत सत्त्व की प्रमुखता के कारण एक पूर्ण आनन्द की दशा में साधारणीकृत दर्शक के साधारणीकृत विषय-रूप वाली रसानुभूति भट्टनायक का प्रतिपाद्य है।

भट्टनायक का महत्व इसलिये है कि इनने रस का सम्बन्ध सामाजिको के साथ जोड़ने का श्लाघनीय प्रयास करते हुए साधारणीकरण व्यापार की उद्भावना की, जो नाट्यशास्त्र-सम्मत, व्यवहारिक तथा उपयुक्त भी थी, परन्तु

इतने जो दो अतिरिक्त व्यापार माने उनकी प्रामाणिकता मे परवर्ती विद्वानो ने सन्देह प्रकट किया तथा इन व्यापारो को रसनिष्पत्ति मे आवश्यक भी माना। इसके अतिरिक्त इनके मत मे यह विशेषत स्पष्ट नहीं होता था कि जिस स्थायीभाव का भोग किया जाता है, उसका आश्रय या स्थिति पात्र या प्रेक्षक में से किसमे मानी जाए।

आचार्य अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—भट्टलोल्लट के पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रीय व्याख्याकार विद्वानो से लेकर आचार्य अभिनवगुप्त के बीच मे आने वाले नाट्यशास्त्रीयव्याख्याकार भट्टनायक जैसे विद्वानो ने अभिनवगुप्त के सिद्धान्त के लिये पर्याप्त विचार सामग्री एकत्र कर दी थी। साहित्य के जिस युग मे आचार्य अभिनवगुप्त का आविर्भाव हुआ उसकी अपनी ऐतिहासिक महत्ता अनेक कारणो से है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने रस-सिद्धान्त मे अभिव्यक्तिवाद का प्रवर्तन किया। यह कार्य इनके द्वारा आचार्य आनन्दवर्द्धन के सिद्धान्त तथा अपने नाट्यशास्त्रीय उपाध्याय भट्टतोत के निर्देश के आधार को लेकर सम्पन्न किया गया था। इस समय मानवीय अनुभूतियो का विश्लेषण सिद्धान्त-ग्रन्थो का आधार बन रहा था जिसमें उपयुक्त तर्कवाद को सयुक्त किया जाता था। आचार्य अभिनवगुप्तपाद का ससार मे विद्यमान शास्त्रो के अध्ययन और व्याख्यान तथा शैवसिद्धान्त की साधना के अतिरिक्त जीवन का अन्य लक्ष्य भी नहीं था। दर्शन, तन्त्र, व्याकरण तथा काव्य शास्त्र के समग्र प्राचीन ज्ञान की विपुल राशि को इनने आत्मसात् कर लिया था और इसी कारण रससिद्धान्त की समस्याओ को नये दृष्टिकोण से समझकर अपने सिद्धान्त की रचना करने मे ये पूर्ण सक्षम हो गये थे, जो इनकी बहुशास्त्र-चिन्तना का पिण्डीभूत परिणाम था। इनने रसनिष्पत्ति का सिद्धान्त काश्मीरी शैव-दर्शन के आभासवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए रसानुभव सम्बन्धी समस्याओ से लेकर उपस्थापित किया। अभिनवभारती मे इनका यह मन्तव्य विस्तार से (प्रस्तुत सस्करण मे भी) विद्यमान है जिसका आधार लेकर काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट तथा अन्य परवर्ती आलकारिक आचार्यो ने रस-मीमासा की थी। (अत हम उनके सिद्धान्त का अति सक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं)।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद के मत मे निष्पत्ति शब्द का अर्थ है अभिव्यक्ति तथा सयोग शब्द से विभावादित्रय का सम्मिलित रूप लिया गया है, जो रसाभिव्यक्ति मे कारण है, किन्तु अभिनवगुप्ताचार्य रस मे पूर्व आचार्यों की तरह कारण, कार्य तथा सहकारी जैसे सम्बन्धो का निषेध करते हैं। इनके मत में रस अलौकिक है, लौकिक नियमो से परे है। ये भट्टनायक के भावकत्व एव भोजकत्व जैसे (दो) अतिरिक्त व्यापारो को न मानकर केवल उनके

साधारणीकरण व्यापार को स्वीकार करते हैं, किन्तु इनका यह साधारणीकरण व्यापार सर्वसाधारण से सम्बद्ध है जिसमे विभावादि का सम्बन्ध नायकनायिकादि से दूर हटा दिया गया है। अभिनवगुप्त की यह साधारणीकरण की कल्पना अतिशय व्यावहारिक, उपयुक्तयुक्ति-समन्वित तथा नाट्यशास्त्रसम्मत भी है तथा इसी कारण सभी पूर्ववर्ती व्याख्याओ से अधिक मान्य है।

सहृदय रसानुभूति कैसे करता है? इस प्रश्न को उठाते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने समाधान हेतु साधारणीकरण सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार पात्र, काल, देश आदि की सभी विशेषताओ से निर्मुक्त होकर प्रेक्षक विभावानुभावो को देखकर ऐसे आनन्द की अनुभूति करता है जो सभी सहृदयों को भोग्य है। दुष्यन्त और शकुन्तला की रङ्गमञ्चस्थ रत्यानुभूति को देखकर प्रेक्षक को ऐसी प्रतीति नही होगी कि यह अनुभूति दुष्यन्त और शकुन्तला की ही है उनकी नही। रति का इस प्रकार विशेषता-निर्मुक्त रूप उन्हें साधारणीकरण व्यापार मे उपलब्ध होता है और साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव का सहृदय आनन्द लेते हैं जो कि अलौकिक है। यही रसानुभूति अभिनव की प्रतिपाद्य थी, क्योकि वे रामादि पात्र मे रसानुभूति का निषेध करते हैं। इनकी युक्ति यह है कि जैसे मद्य का आस्वादन मद्य का पात्र नही करता, किन्तु वह दूसरो को मद्यपान करवाने मे हेतु बनता है इसी प्रकार अभिनेता भी स्वय रसानुभूति प्राप्त न करके सामाजिक या प्रेक्षक को ही रसास्वादन करवाने मे हेतु हो जाता है। इसका कारण यह है कि अभिनेता को तो अभिनय प्रस्तुत करने के समय श्रम होता है, अत उसे रसास्वाद कैसे होगा।

नाट्यरस की अनुभूति के आधार सहृदय कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त ने बतलाया कि ये प्रेक्षक या सहृदय स्वभावत निर्मलदर्पण के समान पारदर्शी हृदयवाले होते हैं, जो रूपक के प्रत्यक्ष करने के समय सामान्य जन की तरह लौकिक क्रोध-मोहादि से परे रहते हुये मञ्च पर प्रस्तुत किये गये अलौकिक रस का आनन्द प्राप्त करते हैं। ऐसा होने पर जो रसानुभूति इन्हें होती है, वह लोकजन्य न होकर नाट्यजन्य हो जाती है। ऐसी ही अनुभूति काव्य-पाठ या काव्यश्रवण के समय भी सहृदयो मे देखी जाती है तथा इसी कारण वे काव्यजन्य रसानुभूति मे भी अलौकिक रस का आनन्द प्राप्त करते हैं। इस अनुभूति का कारण होता है सहृदय के अन्त करण में विद्यमान रत्यादि भाव की वासना या संस्कार जिससे उनके अन्त करण भावित होते हैं। ऐसा स्थायीभाव जब साधारणीकृत विभावादि की उपस्थिति से उद्बुद्ध हो जाता है तो यही अभिव्यक्ति हो जाती है, जिससे सहृदय तन्मयी भाव की दशा मे आकर परमानन्द रस का आस्वादन करने लगता है।

रससूत्र में स्थायिन शब्द का भरतमुनि द्वारा समावेश नहीं करने की कारणमीमांसा—यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भरतमुनि ने रस-निष्पत्ति सूत्र में स्थायिन् शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इस संकेत को नाट्य-शास्त्र के दो व्याख्याकारों—(१) श्रीशंकुक तथा (२) आचार्य अभिनवगुप्त-पाद ने अर्थपूर्ण बतलाया है। हम क्रमश उनके मन्तव्य यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं —

श्रीशंकुक के अनुसार स्थायीभाव अनुमानप्रमाण के द्वारा बोध्य होता है। भरतमुनि ने स्थायिन् शब्द का यहाँ प्रयोग इसलिये नहीं किया है। रस स्थायीभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता तथा जिसका प्रत्यक्ष होने वाले विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों के आधार पर अनुमान किया जाता है। इसका आशय यही है कि भरतमुनि के अनुसार दर्शक के अन्त करण में जिस स्थायीभाव का बोध होता है वह विभावादि के बोध से भिन्न है। जिन विभा-वादि का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से होता है उन्हें तो मुनि ने शब्दों से बतलाया है किन्तु स्थायीभाव का बोध अनुमान से होने के कारण (स्थायी शब्द का) अत्यावश्यक होने पर भी रससूत्र में भरतमुनि ने समावेश नहीं किया।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने रस परिभाषा-सूत्र में स्थायिन् पद के भरत-मुनि द्वारा प्रयोग न करने की विशद मीमांसा की है तथा इस प्रश्न को उठा-कर दो स्थानों पर इसका उत्तर दिया है। इसमें प्रथम अभिनवभारती में रस-सूत्र के व्याख्यान प्रसङ्ग में तथा दूसरा ध्वन्यालोक की (प्रथमोद्योत १।२१ की) लोचन व्याख्या में रस व्याख्यान के अवसर पर भी है।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव से पृथक् रूप में स्थायीभाव का अनुभव नहीं होकर वह उनके मिश्रित तथा सामुदायिक रूप का वैसा ही अनुभव है जिसकी समानता प्रपाणकरस से दी जाए। जैसे प्रपाणक रस का स्वाद इसके विधायक किसी एक अङ्गभूत पदार्थ का नहीं होता, किन्तु यह एक विशिष्ट स्वाद है जो इन सभी विविध पदार्थों के सामञ्जस्यपूर्ण मिश्रण के कारण विलक्षण रूप में व्यक्त हुआ है। अत जो यह प्रतिपादित करते हैं कि विभावादि के प्रत्यक्षबोध में ज्ञात स्थायीभाव का अनुभव ही रसास्वादन है, यह उचित नहीं है। इसका कारण यह भी है कि रसानुभव के विधायक तत्त्वों में जो प्रधानतत्त्व है वह है स्थायीभाव। इस स्थायीभाव की प्रतीति या बोध भी किसी स्वीकृत प्रमाण-परिपाटी से सम्भव नहीं है। यह प्रतीति मानसिक होने के कारण प्रत्यक्षप्रमाण से अवगत भी नहीं हो सकती है। अनुमानप्रमाण से भी इसका बोध सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुमानप्रमाण से इसका ज्ञान मानने पर इसका सम्बन्ध किसी दूसरे के साथ

अवश्य मानना पड़ेगा तथा ऐसा होने पर फिर यह स्थायी आस्वाद्यमान नही रह पाएगा।

भरतमुनि ने भी रससूत्र मे स्थायिन् शब्द का प्रयोग इसलिए नही किया था तथा वे भी इससे यही स्पष्टतः सूचित करना चाहते थे कि जब विषयरूप स्थायीभाव का ज्ञान किसी प्रमाण से सम्भव ही नही होता है तो फिर इस शब्द का निवेषकर रस का स्वरूप कैसे बतलाया जा सकता है। इसका अन्य कारण यह भी है कि स्थायी नाटकादि के नायक के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के कारण दर्शक की उपचेतना से निकल कर और फिर चेतनांग में जाकर अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। स्थायीभाव रसविधायक तत्त्वों मे मुख्य (होता) है, यह अनेक बार बतलाया जा चुका है। (तथा यह भी कि) स्थायीभाव से संयुक्त रहने पर ही विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव जैसे रस विधायक तत्त्वो का महत्त्व माना जाता है।

रसों के विभेद एवं संख्या—रसों की संख्या के सम्बन्ध में भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्पराएँ अनेक (विरोधी) मान्यताओं को लिये हुए है। इन (विरोधी) मान्यताओं के प्रसङ्ग में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि ऐसी दशा मे रस शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ मे नहीं (किया गया) है। कहीं पर प्रसङ्गानुसार रस शब्द का आशय रसास्वादन किया गया है तो कही रसानुभावक सम्मिश्रित सामग्री के समुदायरूप अर्थ के भाव में रस शब्द का प्रयोग हुआ है तथा कही इन दोनो अर्थो को क्रोडीकृत किया गया है। इससे जो मतभिन्नता आई उसके अनुसार रसो की संख्या भी भिन्न-भिन्न विनिश्चित हुई। धाराधीश भोज ने मानवात्मा मे विद्यमान अहङ्कार को ही रसराज शृंगाररूप एकरस स्वीकार किया और भवभूति के उल्लेख से करुणरस ही मूल रस है, जिससे शृंगारादि रसो की उद्भूति या प्रवृत्ति होती है। आचार्य भरतमुनि के मान्य व्यवहारिक आठ रस हैं। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र मे अपने परम्परा प्राप्त पाठ को मानकर नौ रस स्वीकारते हुए शान्त-रस को सभी रसो का मूल मानने की सप्रमाण व्याख्या की है। अन्य शास्त्रकार इन नौ प्रभेदों मे वात्सल्य, लौल्य एवं भक्ति को मिलाकर रस के बारह भेद तक निरूपित करते है। सभी आचार्यों ने अपनी जीवनदृष्टि तथा रचनाओ को ध्यान में रखकर तदनुरूप रस के स्वरूप तथा संख्या आदि का विनिश्चय किया था, यह इससे स्पष्ट होता है।

भरत मुनि के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से जो नाट्य मे आठ रस हैं उनमे मूल रस चार है, जिनसे चार रसो की उत्पत्ति हुई है। इसमे शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण तथा बीभत्स से भयानकरस उत्पन्न हैं।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद का कहना है कि भावो तथा रसो के आन्तरिक सम्बन्धो का यह व्याख्यान भरतमुनि ने रसो की उत्पत्ति दिखाकर जिस प्रकार प्रस्तुत किया है वह कोई स्पष्टरूप मे नियम—निश्चय नही है। रसो की सख्या के सम्बन्ध मे जो भी कुछेक आचार्यों मे विभेद हो, परन्तु आठ रस सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। तथा भरतमुनि के द्वारा निरूपित चार रसो से अन्य चार रसो के उद्भव के कारण आठ रस के सिद्धान्त को मानवीय अन्तश्चेतना की विकासशील प्रक्रिया के अतिशय समीप तथा अनुरूप भी माना जाता है।

एकरस वाद :—धाराधीश भोज ने मात्र एक शृङ्गार ही रस माना है, जिसमे रत्यादि भाव शृङ्गार या अभिमान से उद्भूत (होते) हैं। यहाँ शृङ्गार शब्द अहङ्कार या अभिमान का समानार्थक है। यही अहङ्कार रस है, जो सुखादि भावो के अनुभव का कारण है। यह एक विशेष प्रकार का अहङ्कार है, क्योकि इसकी उत्पत्ति सत्वप्रधान प्राणियो के पुण्यकर्मो से होती है। यही सहृदय के मन मे जागता है। जिसमे अहङ्कार मूलरूप मे रहता है, वही स्वात्मानुभवात्मा रस है।

इनके मतानुसार इसी शृगार के कारण सहृदय के अन्त करण मे रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं। 'शृङ्गार ही केवल रस है' इस सिद्धान्त के प्रसङ्ग मे शृगार शब्द का रस-सामान्य के रूप मे प्रयोग हुए नही है। शृङ्गार का सामान्य अर्थ है, वह रसानुभावक सामग्री जिसका प्रधान अश रति नामक स्थायीभाव होता है ? भोज ने शृगार का अर्थ एक विशेष प्रकार का स्वात्मानुभव लिया है, जिसका कारण सात्विक पुरुषो के पुण्यकर्म हैं और जिसकी उत्पत्ति पूर्व-जन्म के सस्कारो से होती है। यह शृङ्गार एक-रस-कोटि मे इसलिये आता है, क्योकि इसके द्वारा सहृदय व्यक्ति को उन्नततल पर आसीन करवाया जाता है (येन शृङ्गमुच्चयो रीयते स शृगार —शृगारप्रकाश)।

भवभूति के करुणरस पर विचार करने से विदित होता है कि सामान्यत जिस पद्य मे करुण शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट रस के लिये किया गया है तथा जो उत्तररामचरित के तीसरे अङ्क मे दर्शाया भी गया है। अतएव इतने उल्लेख मात्र से यह कहना ठीक नही होगा कि भवभूति केवल करुणरस को ही प्रमुख या उद्भावक रस की कोटि मे भोज के केवल शृङ्गार की तरह मानते थे।

स्वीकृत रस—रसो की सख्या के सम्बन्ध मे चाहे आचार्यों मे मत विभेद हो किन्तु प्राय सभी आठ या नौ रसो को स्वीकार करते हैं। क्रमश इनका विवरण इस प्रकार है —

१. शृङ्गार—शृङ्गार रस का स्थायीभाव रति है। इसके सयोग तथा विप्रलम्भात्मा दो प्रकार होते हैं। इसमे आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा के अति-

रिक्त सभी सचारीभाव रखे जाते हैं। करुण तथा शृङ्गार के विप्रलम्भप्रभेद मे यही अन्तर है कि करुण निरपेक्ष है तथा उसमे निराशा के भाव से जीवन दु खमय रहता है परन्तु विप्रलम्भ मे आशा का बन्धन होने से प्रेम भाव स्थिरता बनाये रहता है। शृङ्गार के भरत मुनि ने वाक्य, वेष तथा क्रिया भेद से तीन प्रकार और भी माने हैं।

२. **हास्य**—इसका स्थायीभाव हास होता है। इसमें अवहित्था, आलस्य तथा तन्द्रा आदि सचारीभाव होते हैं। इसके आत्मस्थ तथा परस्थ दो विभेद होते हैं। हास्य सक्रमणशील स्वरूप वाला होता है। मानव प्रकृति के अनुसार स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित ये छ भेद हैं जो क्रमश दो दो के प्रभेदो मे उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के पात्रों मे दिखाई देते हैं। यह भी अङ्ग, वाक्य तथा वेष-रचना के भेद से तीन प्रकार का होता है।

३. **करुण**—करुण रस का स्थायीभाव शोक है। धर्मनाश, बन्धुनाश *तथा अर्थनाश से उत्पन्न करुण-रस के तीन प्रकार और हो जाते हैं।* इसमे निर्वेदादि सचारीभाव होते हैं। भरतमुनि ने करुण तथा शृङ्गार को स्थायी-भाव प्रभव तथा अन्य रसो को स्थायीभावात्मक बतलाया है।

४. **रौद्र**—रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध होता है। इसके भी अङ्ग, वेष तथा रचनाभेद से तीन प्रकार होते हैं।

५. **वीर**—इसका स्थायीभाव उत्साह है। इसमे धृति, स्मृति आदि सचारीभाव होते हैं। इसके दान, धर्म तथा युद्ध-वीर नामक तीन प्रभेद और हो जाते हैं।

६. **भयानक**—इसका स्थायीभाव भय है। इसके स्तम्भ, स्वेद आदि व्यभिचारीभाव होते हैं। यह भय स्वाभाविक तथा कृत्रिम दो स्वरूप वाला होता है, स्त्री, नीच-पुरुष तथा बालादि मे स्वाभाविक भय तथा उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों म कृत्रिम भय रहता है।

७. **बीभत्स**—इसका स्थायीभाव जुगुप्सा होता है। इसके अपस्मार, उद्वेग, आवेग आदि व्यभिचारीभाव होते हैं। यह पुन शुद्ध तथा अशुद्ध दो भेदो का और भी हो जाता है।

८. **अद्भुत**—इसका स्थायीभाव विस्मय है। इसम स्तम्भ, अश्रु आदि सचारीभाव होते हैं। यह दिव्य तथा आनन्दज भेद से और दो प्रकार का हो जाता है।

शान्त रस—नाट्यशास्त्र के षष्ठ-अध्याय मे शान्तरस की स्थिति एक विचारणीय समस्या है तथा इस रस की भरत-निरूपित मान्यता के सम्बन्ध मे अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती एव परवर्ती आचार्यो मे पर्याप्त मतभेद परिलक्षित होता है। इस क्रम मे सर्वप्रथम स्थान प्राचीन आचार्य उद्भट का आता है जो

नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार भी थे तथा जिन्होंने शान्तरस को नवम रस के रूप में मान्य किया है। आचार्य आनन्दवर्धन तथा आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने शान्तरस के उद्भटादि द्वारा इसी परम्परागत नाट्यशास्त्रीय पाठ को मान्य किया था। एक महत्वपूर्ण उद्धरण में अभिनवभारती में इसके स्वरूप की विशद मीमांसा करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि शान्तरस सभी रसों का मूल या प्रधान रस है तथा यही सर्वाधिक स्वतन्त्र भी है। धनञ्जय ने दशरूपक में यद्यपि भरतमुनि के द्वारा निरूपित सिद्धान्तानुसारी रूपक विवरण देने की बात कही है किन्तु उसने रस के आठ प्रभेद ही स्वीकार किये। इसके मत में नाट्यदर्शन में या रङ्गमञ्च पर शान्त रस प्रदर्शित होना सम्भव नहीं है। दूसरे जब नाट्यशास्त्र में ही शान्त-रस का उल्लेख न हो तो फिर नाट्य में इस रस को कैसे स्थान दिया जाए।

नाट्यशास्त्र के उद्भटादि की परम्पराओं में स्वीकृत शान्तरस के पाठ को न मानने वाले रूढ़िवादी आचार्यों ने—जिनमें धनञ्जय भी थे, इस शान्तरस के पाठ (वाले मूलपाठ) को अस्वीकार किया। इनका तर्क यह था कि न तो मुनि ने शान्तरस का लक्षण किया है और न ही इसके विभावादिकों का विवरण ही। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इन (आचार्यों के) तर्कों का साधारण निराकरण करने का उद्योग करते हुए कहा कि प्रथम तो शान्तरस अनुभव तथा ग्रन्थ-पाठ दोनों के आधार पर सिद्ध हो जाता है। दूसरे इनका यह भी मत है कि नाट्यशास्त्र के परवर्ती पाठ में भी यदि शान्तरस का अंग जोड़ दिया जाय तो भी बुरा नहीं। हमें इस रस को इसलिये भी मानना आवश्यक है, क्योंकि ऐहिक तृष्णाओं के नाश होने पर सभी को इस रस की अनुभूति होती है। आचार्य-अभिनवगुप्तपाद ने विस्तार से शान्तरस का विवेचन करते हुए नवम रस के रूप में इसकी प्रमुख एवं अनिवार्य स्थिति प्रतिपादित की।

आधुनिक समीक्षकों में बड़ौदा से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के द्वितीय संस्करण के सम्पादक श्रीरामास्वामीशास्त्री का मत है कि शान्तरस का प्रक्षिप्त पाठ नाट्यशास्त्र के मूलभाग में अभिनवगुप्तपाद के पूर्व ही समाविष्ट हो चुका था, जिस पर अभिनवगुप्तपाद ने अपनी व्याख्या भी की थी। यह भी कदाचित् सम्भव है कि अभिनवगुप्त द्वारा शान्तरस के स्वतन्त्ररूप में प्रतिपादित विवरण को परवर्ती किसी अन्य आचार्य ने नाट्यशास्त्र में सन्दर्भ देखकर संयुक्त कर दिया हो तथा नाट्यशास्त्र के शान्तरस सम्बन्धी प्रक्षेप से भी इसका अधिक सम्बन्ध न हो। सम्भवतः यह (प्रक्षेप करने का) कार्य अभिनवगुप्तपाद के ध्वन्यालोक लोचन में व्यक्त विचारों को आधार मानकर नाट्यशास्त्र के शान्तरस विवरण में ऐसे प्रक्षेप के बाद किया गया होगा।

समीक्षकों के उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के अन्य आशङ्का भरे मतों का

आचार्य अभिनवगुप्त ने प्राचीन काल मे स्वय यी अनुभव करते हुए निराकरण किया था जिसका वर्णन दिया जा चुका है तथा शान्तरस के प्रकरण मे विस्तार से प्रस्तुतग्रन्थ के सम्बद्धअध्याय में उसे उपस्थापित भी किया गया है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने मनुष्य की विभिन्न मनोभावना एव पुरुषार्थों को आगिक आदि अभिनयो के द्वारा नाट्य स्थिति मे दर्शाये जाने पर आस्वाद्यमान भावदशा ही रस हो जाती है यह बतलाया भी है। अत नाट्य ही रस है, जो आनन्द स्वरूप है तथा जो नाट्य के अतिरिक्त काव्य मे भी विद्यमान रहता है तथा आस्वाद्य भी है। अत यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो नाट्य एव रस एक ही बिन्दु पर मिलते हैं जिसे धाराधीश भोज ने अहङ्कार शृगार के नाम से अभिहित किया है जहाँ मानवात्मा की प्रज्वलित दीप्ति सात्विक आवेग से मिल कर आनन्द की ज्योतिरश्मियों को प्रस्फुरित करती है।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद बिना किसी सशय के नौ से अधिक रस भेद स्वीकार ही नही करते हैं। इनके मत मे वात्सल्य रस मे विद्यमान मृदुता रति ही है जो शृङ्गार का स्थायी भाव है। यही दशा भक्ति और लौल्य की है। क्योकि हास्य के प्रसङ्ग मे लौल्य केवल रति का वही रूप होता है जो किसी वस्तु की उत्कट अभिलाषा को प्रकट करे। इसी प्रकार भक्ति भी श्रद्धाभाव के अतिरिक्त और कुछ नही जिसमे सब कुछ अर्पित किया जाता है। जो अन्य शास्त्रकार नौसे अधिक इस प्रकार के रस भेद मानते थे उनका खण्डन सक्षिप्त रूप मे एक ही गद्यखण्ड मे इस प्रकार अभिनवगुप्त आचार्य ने कर दिया है।

भाव एवं उनके स्वरूप—नाट्यशास्त्र के सप्तमाध्याय मे भावों का विवेचन है। भाव चित्तवृत्ति स्वरूप होने से प्राणिमात्र मे व्याप्त है। नाट्य का साध्य यदि रस है तो भाव उसके साधन हैं, अत बिना भाव के रस की सिद्धि ही नही हो सकती। भरत-मुनि ने भाव के इस व्यापक स्वरूप का नाट्य प्रसग मे विस्तार म शास्त्रीय-तत्व बतलाया है। भरतमुनि ने सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया कि भाव शब्द चित्तवृत्ति के लिये क्यो प्रचलित हुआ ? इसके उत्तर में स्वय मुनि ने ही दो तरह से समाधान भी प्रस्तुत किये। प्रथम तो ये भाव इसलिये कहे जाते हैं क्योकि ये चित्तवृत्ति के रूप मे स्थित रहते हैं अथवा ये आगिक, वाचिक एव सात्विक अभिनय द्वारा काव्यार्थ रूप रस की भावना करवाते है, इसीलिये ये भाव हैं। भाव शब्द व्याप्ति का बोधक है, अत सभी मे व्याप्त होने के कारण भी यह भाव कहलाता है, तथा यही भाव कवि, प्रयोक्ता तथा प्रेक्षक तीनो में नाट्य प्रयोग के प्रसङ्ग मे व्याप्त माना जाता है। भाव का स्वरूप मुनि ने अपने प्रसिद्ध पद्य- विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैश्च गम्यते' (ना० शा० अ० ७।१) मे स्पष्ट बतलाया जिसका

अभिनवगुप्तपाद ने विस्तार से विवेचन किया है। भावो के अन्तर्गत विभावों तथा अनुभावो की गणना मुनि ने नही की क्योकि इनके मत में ये लोक-स्वभाव का अनुकरण करने वाली बाह्य स्थिति मात्र हैं तथा अभिनयक्रम में ये भावो के साथ ही व्यक्त एवं तिरोहित होते रहते हैं। भाव तथा अभिनव में पूर्वपश्चात् भाव या कारण कार्य की स्थिति वास्तविक नही होती चाहे प्रत्यक्ष भने ही वैसा जान पड़े। अतः भावो के पश्चात् होने से इनको अनुभाव जो आचार्य मानते हैं तथा स्थायीभावो के बाद कार्य रूप मे उत्पन्न होने वाले अनुभावो के द्वारा ही स्थायीभाव का भावन होता है यह भी जो मानते हैं उनका मत भरत-मत के अनुकूल नही कहा जा सकता।

विभाव एवं अनुभाव—विभाव एव अनुभाव से युक्त भाव होता है, अत इन दोनो का भाव से सम्बन्ध होता ही है। चित्तवृत्तियो के (जो भाव-रूप है) उद्बुद्ध करने का कारणरूप विषय विभाव कहलाता है, जैसे विपत्ति का आना शोक के उद्बुद्ध करने का कारणरूप विषय होकर करुणरस का कारण या चन्द्रोदय होना रति के उद्बुद्ध करने का कारकरूप विषय होकर शृङ्गाररस का कारण बन जाता है। प्रेक्षक के द्वारा वाचिक आदि अभिनय का अनुभावन ही अनुभाव है। ये अनुभाव वाचिकादि अभिनय के अन्तर्गत होने वाली चेष्टा या व्यापार रूप हैं। अनुभाव भावो के साथ ही उत्पन्न होते हैं तथा तिरोहित भी। विभाव शब्द हेतु-वाचक होने से स्थायी तथा व्यभि-चारी भावो का ज्ञान इसी विभाव शब्द के द्वारा संभव होता है तथा तभी रसप्रतीति की सम्भावना होती है। नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ मे इसी कारण-वाचक शब्द के रूप में भी विभाव का प्रयोग किया जाता है।

स्थायीभाव—जो जो भाव निरन्तर वर्तमान रहते हो, वे स्थायीभाव हैं परन्तु जो अनियमित रूप से यदा कदा प्रवहमान भाव-धारा मे गति देकर चलते रहते हो उन्हे सचारी समझा जाता है। दशरूपककार धनञ्जय (द० रू० ४।३४) ने भी स्थायीभाव को समुद्र-सा व्यापक कहा है। जैसे समुद्र समस्त मिलने वाली नदियो को आत्मसात् कर लेता है, उसी प्रकार स्थायी-भाव से भी प्रतिकूल या अनुकूल सभी भाव विच्छिन्नता प्राप्त कर नही सकते तथा वे सभी स्थायी के आत्मरूप बन जाते हैं। इसको एक अन्य उदाहरण से भी समझा जा सकता है। इनकी स्थिति फूल-माला के समान है। जैसे एक सूत्र मे कई पुष्प गूँथ दिये जाते हैं वैसे ही एक स्थायी या प्रधान भाव के साथ अन्य अनेक भाव भी सयुक्त कर दिये जा सकते हैं। अत. पुष्पमाला मे सूत्रभूत होने वाला भाव जो सभी से सम्बद्ध हो वही स्थायी तथा पुष्परूप मे पृथक् पृथक् रहने वाले सचारी होते हैं।

नाट्यशास्त्र मे उनचास भावो के अन्तर्गत आठ स्थायी भावो को मुख्यता दी गयी है। इसका कारण यह है कि स्थायीभाव रूपी आठ वासनाएँ प्राणियो

के अन्तःकरणो म सर्वदा स्थित होती हैं तथा सहज भी। इन वासनाओं के सदा विद्यमान रहने के कारण ही, भाव भी स्थायीभाव कहा जाता है। इसके विपरीत सचारी भावरूपी वासनाएँ वे हैंजो सदा विद्यमान नही रहती किन्तु उपयुक्त विभावादि के उपस्थित होने पर ही उद्‌बुद्ध हो जाती हैं।

संचारी-भाव—भरतमुनि के अनुसार जो भाव विविध प्रकार से रसाभिमुख होकर सचरण करते हैं वे सचारी भाव या व्यभिचारी-भाव कहलाते हैं। ये सचारी अनुभावो से युक्त होकर स्थायीभाव को रसत्व की ओर अभिमुख करने या ले जाने वाले होते हैं, अतएव ये स्थायीभाव के सहायक भाव भी हैं। व्यभिचारी भावो की सख्या तैंतीस है। सभी व्यभिचारी-भाव आत्मगत, परस्थ तथा मध्यस्थ भेद से तीन प्रकार के माने जाते हैं, जिनका देश, काल एव अवस्था की अनुकूलता के सन्दर्भ में उत्तम, मध्यम तथा अधम श्रेणी के व्यक्तियो के (या पात्रों के) द्वारा उपयोग किया जाता है। इन सभी भावादि का स्वरूप नाट्यशास्त्र मे विस्तार से प्रतिपादित है।

सात्विक भाव—भरतमुनि ने आठसात्विक भाव बतलाकर सात्विकभावों के निरूपण को आरम्भ करते हुए यह प्रश्न उठाया कि इन आठों भावो को सात्विक क्यो कहा जाता है ? फिर इसके उत्तर मे स्वय मुनि ने बतलाया कि सत्व की उत्पत्ति समाहित मन से होती है, अत चित्त की एकाग्रता या समाहित-मनस्त्व से सात्विकभाव उत्पन्न होते हैं। सात्विक अभिनय मन की एकाग्रता के बिना सम्भव ही नही होता है। जिस अभिनय मे सत्व की अतिरिक्तता होगी वही उत्तम अभिनय होगा। अन्य अभिनयो की तुलना मे समान मात्रा मे सत्व रहने पर मध्य तथा सत्व के अभाव मे अधम या निम्न कोटि का अभिनय हो जाता है। भरत का यह मन्तव्य ध्यान देने योग्य है। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि सात्विक-भाव अनेक प्रकार के अभिनयो पर आश्रित होकर सभी रसो मे विद्यमान रहते हैं और इन्ही का व्यवस्थित प्रयोग प्रेक्षक के हृदय मे रसोदय करवाता है। अतएव नाट्य म स्थायी, सात्विक तथा सचारी भावो का समायोजन कौशल के साथ वैसे ही किया जाए जैसे चतुर मालाकार, विविध पुष्पों का यथास्थान ग्रथित कर एक सुन्दर माला को प्रस्तुत कर देता हो। स्थायी तथा सचारी के इस विभेद के अतिरिक्त रस तथा भाव मे भी विभेदक तत्व विद्यमान है तथा भाव ही पराकाष्ठा तक विकसित होकर रसदशा को प्राप्त करता है, यह पहिले बतला आये हैं किन्तु इस मान्यता को भी कुछ आचार्य नहीं मानते हैं। कुछ अन्य आचार्यों के मतानुसार सभी भाव समान रूप मे आवश्यकतानुसार या परिस्थितिवश स्थायी और सचारी हो सकते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्यप्रयोग मे प्रस्तुत किये जाने वाले भावों की

गणना एवं उनकी विनियोजना के विषय में भरतमुनि के द्वारा प्रस्तुत तथ्य ही महत्त्वशाली है। मानव स्वभाव की जो गहन तलस्पर्शिता हमें नाट्यशास्त्र के भावादि विवरण में मिलती है वह बड़ी आश्चर्यमयी तब हो जाती है जब हमें उसका वर्तमान मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी तथैव दिखाई देने लगता है। मानवीय संवेदन-भूमि के अन्तरतम प्रदेश का जो समुज्ज्वल स्वरूप नाट्यशास्त्र में है वही नाट्यविद्या की आत्मा है और इसी कारण भरत मुनि के द्वारा किया गया इन भावों का विवेचन अतिशय मौलिकता के साथ साथ परवर्ती सभी आचार्यों द्वारा सामान्यतः उपजीव्य बना रहा, यह सभी जानते हैं। मुनि का यह विराट् प्रयास वैज्ञानिक और तर्कसम्मत होकर इसी कारण सर्वमान्य हुआ है तथा ऐसा विवरण विश्व के तत्कालीन किसी अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ में तो नितरां अप्राप्य है।

पाठसङ्केत—इस प्रकार यहाँ नाट्यशास्त्र के प्रथम से सप्तमाध्याय तक के विवरण को (प्रथम खण्ड में) उपस्थापित किया गया। अष्टमाध्याय से षट्त्रिंशाध्याय तक इसी प्रकार अगले खण्डों में क्रमशः विवेचन किया जाता रहेगा। हम यह पूर्व में दिखला आए हैं कि नाट्यशास्त्र के प्रस्तुत संस्करण में प्रायः सभी अद्यतन उपलब्ध पाठगत सामग्री का यथाशक्य उपयोग किया गया है तथा प्रायः सभी प्राप्य तथ्यों का अनुशीलन भी। इनमें क पाठ के अन्तर्गत बड़ौदा से प्रकाशित अभिनवभारती टीका के अनुसारी पाठ तथा इसी के अन्तर्गत अन्य सभी पाठान्तरों को दर्शाया गया है, ख पाठ के अन्तर्गत काव्यमाला बम्बई से प्रकाशित पाठों को तथा ग पाठ के अन्तर्गत काशी संस्कृत ग्रन्थमाला-चौखम्बा, वाराणसी के पाठों को लिया गया है। मूलपाठ काशी की दीर्घपाठ परम्परा के अनुसार ही यथासंभव रखा गया है, किन्तु आवश्यकतानुसार इसमें अनेक स्थानों पर परिवर्तन भी किया गया है। नाट्यशास्त्र के चतुर्थाध्याय के ताण्डव-प्रकरण में वर्णित करणों के चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर में उत्कीर्ण प्रतिमाओं के रेखाचित्रों को भी यथास्थान विनियोजित किया गया है तथा नाट्यमण्डप के रेखाचित्रों को भी। इससे नाट्यशास्त्र के व्यापक बोध का मार्ग प्रशस्त होगा ऐसी आशा है। इसी क्रम में द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ खण्डों में भी अपेक्षित रेखाचित्रों को रखा जायगा। नाट्यशास्त्र के शेष सभी खण्ड यथाशक्य शीघ्र ही प्रस्तुत किये जायेंगे ऐसी चेष्टा है। आवश्यक विवेचन को ध्यान में रखकर प्रस्तुत खण्ड में परिशिष्ट १ में अतिरिक्त टिप्पणियों तथा परिशिष्ट २ में पद्यार्धानुक्रमणिका आदि लगाई गयी है। अन्त में शुद्धिपत्र भी दे दिया गया है, जिससे अशुद्धियों का भी परिमार्जन हो सके। इसमें दृष्टिदोष या प्रमाद से छूटी हुई अशुद्धियों

तथा आवश्यक परिष्कार एवं सुझावो को निर्देशित करने की अध्येता एव सुधीजन से विनम्र अभ्यर्थना है उनके द्वारा प्राप्त सभी सुझाव अगले सस्करण मे समाविष्ट किये जा सकेंगे।

आभार प्रदर्शन

नाट्यशास्त्र के मूल सस्कृत के साथ पाठान्तरादि विविध परिशिष्टो, टिप्पणियो आदि से समन्वित इस प्रदीप हिन्दी व्याख्यान के लेखन से लेकर प्रस्तुत करने के सुदीर्घकाल के अन्तराल मे अनेक सुधीजनो, विद्वानों एव साहित्यकारो से सहयोग, प्रोत्साहन एव प्रेरणा मिली है। सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के मूलपाठ के पूर्ववर्ती सभी सस्करणों के सम्पादको की मैं अधमर्णता स्वीकार करता हूँ जिनने इस सस्करण को सँवारने मे आधार प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्रीय वाङ्मय के उन सभी प्राचीन ग्रन्थकारों तथा अभिनव समालोचको का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थों के अनुशीलन ने मुझे प्रस्तुत सस्करण में अभिनवतथ्यो की अधिक मीमासा करने मे प्रवृत्त करवाया। नाट्यशास्त्र के चतुर्थाध्याय मे प्रतिपादित करणो के चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर में उत्कीर्ण प्रतिमाओं के रेखाचित्रो के ९६ ब्लाकों को प्रस्तुत सस्करण मे प्रकाशनार्थ प्रेषित करने के कारण मैं भारत शासन देहली के शासकीय अभिलेखाधिकृत तथा दक्षिण भारतीय प्रशाखा ओटकमड के पुरातात्विक सामग्री एव अभिलेख के विशेषाधिकारी श्री डॉ० जी० एस० घाई पी-एच० डी० का भी अतिशय कृतज्ञ हूँ।

इस ग्रन्थ के लेखनकाल में अनेक मित्रो तथा विद्वानो का हार्दिक एव व्यावहारिक सहयोग मिला है। इस क्रम मे मैं डॉ० राजबली जी पाण्डेय, (दिवगत कुलपति, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर), प्राचार्य श्री रामेश्वर शुक्ल, 'अचल' महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर, डॉ० श्रीनाथ श्रीपाद हसूरकर, पूर्वाचार्य, सस्कृत महाविद्यालय रायपुर तथा प्राचार्य शासकीय महाविद्यालय धार, डॉ० उदयनारायण तिवारी, अध्यक्ष-हिन्दी विभाग जबलपुर विश्वविद्यालय जबलपुर, डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्राध्यापक, अध्यक्ष काशी हिन्दूविश्वविद्यालय वाराणसी, डॉ० प्रभुदयालु जी अग्निहोत्री, सचालक मध्यप्रदेश रचना अकादमी, भोपाल, श्री रामेश्वर शर्मा प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, डॉ० कृष्णवल्लभ जोशी, प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, जबलपुर-विश्वविद्यालय, जबलपुर, तथा डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी प्राध्यापक एव अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन का विशेषरूप से आभार व्यक्त करता हूँ।

नाट्यशास्त्र के व्याख्यान लेखन का समग्र कार्य मध्यप्रदेश शासन की सेवा

मे रहते हुए करने के कारण मैं मध्यप्रदेशशासन के प्रति भी अपना विनम्र आभार प्रदर्शित करता हूँ।

अन्त मे काशी के विश्रुत एव लब्धप्रतिष्ठ प्रकाशन सस्थान चौखम्बा सस्कृत सस्थान तथा उनके समस्त शाखा परिवार के प्रति सामान्यत तथा इसके भूतपूर्व सचालक गोलोकवासी श्रीकृष्णदासजी गुप्त के प्रति विशेषत अपना हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूँ जिनने प्रेमपूर्वक इस बडे कार्य को प्रकाशनार्थ स्वीकृत कर अनुशीलनकर्त्ता तथा साहित्यसेवियो के लिये नाट्यशास्त्र को उपलब्ध करवाया किन्तु दु ख भी है कि वे इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व ही असमय मे गोलोकवासी हो गये तथा सस्था के कर्णधार मा० श्रीसेठ जयकृष्णदास जी गुप्त भी इसी बीच गोलोकवासी हो गये। मैं इस दुर्घटना से आहत-सा हूँ तथा वृन्दावनचारी से इनकी पवित्र आत्माओ को सदैव उनके नित्य विहार मे समाविष्ट करने की अन्त करण से प्रार्थना करता हूँ।

मैं चौखम्बा सस्कृत सस्थान के वर्तमान सचालक श्रीभाई मोहनदासजी गुप्त का भी आभारी हूँ जिनने अपनी सस्था के गौरवानुरूप इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने मे तत्परता दिखाई। मैं चौखम्बा परिवार के ही श्री प० देवनारायण झा तथा पण्डित श्री रामचन्द्र झा व्याकरणाचार्य की भी इस प्रसग म की गयी सहायता का आभारी हूँ। किमधिकम्—

नाट्याम्नाय-नितान्ततान्तमनसामासेतुशीताचला-
क्षोणीमण्डलमध्यवर्तिविदुषामाभोगिनी चेतसाम्।
जीयादुक्तिविवेकजालनिकरै सशोधिता निस्तुलं
गम्भीरा मधुरा प्रबोधजननी व्याख्या प्रदीपाभिधा॥

महाशिवरात्रि, स० २०२८ | मन्दसौर

सुधीजनकृपाकाक्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

ग्रन्थ संकेत

अभि० द० : अभिनयदर्पण ।
अभि० भा० : अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र व्याख्या) ।
अ० भा० : अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र व्याख्या) ।
का० प्र० : काव्यप्रकाश ।
काव्या० सू० : काव्यालकारसूत्र ।
द० रू० : दशरूपक ।
ना० चं० : नाटकचन्द्रिका ।
ना० द० सू० : नाट्यदर्पणसूत्र ।
ना० शा० : नाट्यशास्त्र ।
ना० शा० सं० : नाट्यशास्त्रसग्रह ।
भ० को० : भरतकोश ।
भा० प्र० : भावप्रकाशन ।
भ० अ० : भरतार्णव ।
भ० भा० : भरतभाष्य ।
म० भा० : महाभारत ।
र० गं० : रसगङ्गाधर ।
वा० रा० : वाल्मीकिरामायण ।
रसा० सु० : रसार्णवसुधाकर ।
शृ० प्र० : शृङ्गारप्रकाश ।
सर० क० : सरस्वतीकण्ठाभरण ।
सा० द० : साहित्यदर्पण ।
सं० र० : सङ्गीतरत्नाकर ।

सामान्य सङ्केत

अ० : अध्याय ।
अं० : अङ्क ।
का० सं० : काशीसस्करण ।
चौ० सं० : चौखम्बासस्करण ।
द्र० : द्रष्टव्य ।
नि० सा० : निर्णयसागरसस्करण ।
गा० ओ० सी० : गायकवाड ओरियेन्टल सीरीज, बडौदा ।
श्लो० सं० : श्लोक सख्या ।
सं० : सख्या ।

विषयानुक्रमणिका

प्रथमोऽध्यायः

मङ्गलाचरण

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[1] ॥ १ ॥

(प्रदीपकर्तु मङ्गलाचरणम्)

वाणी ताण्डवमाधत्ता मञ्जिह्वारङ्गमण्डपे।
दुग्धा यद्भूमिकालीला विद्या वेदपुरस्सरी ॥

(मैं) पितामह ब्रह्मा तथा महेश्वर भगवान शंकर को प्रणाम कर उस नाट्यशास्त्र[2] का निरूपण करूँगा जो ब्रह्माजी के द्वारा (वेदों से) उत्पन्न किया गया है ॥ १ ॥

---

१ नाट्यशास्त्र के प्रथमप्रवक्ता होने से सर्वप्रथम ब्रह्मा की तथा ताण्डव एवं लास्य नृत्यों के प्रथम प्रवर्तक होने और तण्डु द्वारा भरत को नाट्य-विद्या प्रदान करने के कारण भगवान शिव की यहाँ वंदना की गई है, जिससे ग्रन्थ की परम्परा तथा प्राचीनता प्रकट होती है। (तथा इसमें एक समन्वित ग्रन्थ की सूचना भी मिलती है जो ग्रन्थ पहिले ब्रह्मा तथा सदाशिव भरत द्वारा पृथक् पृथक् निर्मित रहे थे) नाट्य-शास्त्रीयग्रन्थों में शिव तथा ब्रह्मा की वन्दना एकसाथ कम ही प्राप्त होती है।

२ यहाँ 'नाट्यशास्त्र' शब्द का प्रयोग उसके मञ्चीय तथा साहित्यिक (उभय) पार्श्वों को ध्यान में रखकर किया गया है। आचार्य अभिनवगुप्त पाद ने इस शास्त्र की महत्ता एवं उपयोगिता बतलाते हुए इसे कवि तथा प्रयोक्ताजन

---

१ यदुदीरितम्—क०।

ऋषियों का भरत मुनि से प्रश्न—

समाप्तजप्यं व्रतिनं स्वसुतैः परिवारितम् ।
अनध्याये कदाचित्तं[1] भरतं नाट्यकोविदम् ॥ २ ॥
मुनयः पर्युपास्यैनमात्रेयप्रमुखाः पुरा ।
पप्रच्छुस्ते महात्मानो नियतेन्द्रियबुद्धय ॥ ३ ॥

अति प्राचीन समय में किसी अनध्याय तिथि को जब नाट्यशास्त्र के विज्ञाता भरत[1] मुनि जप समाप्त कर अपने पुत्रों के बीच स्थित थे; तब महात्मा तथा जितेन्द्रिय[2] आत्रेय आदि मुनि गण भरत मुनि के सम्मुख उपस्थित हो उनसे विनयपूर्वक प्रश्न करने लगे ॥ २–३ ॥

योऽयं भगवता सम्यग्ग्रथितो[2] वेदसम्मितः ।
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते ॥ ४ ॥

कत्यङ्गः[3] किंप्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः ।
सर्वमेतद्यथातत्त्वं भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

हे भगवन्, आपने[3] जिस वेदतुल्य 'नाट्यवेद'[4] का निर्माण किया वह

(अभिनेता एवं निर्देशक गण) दोनो के लिये उपदेशप्रद शास्त्र बतलाया है । (द्रष्टव्य–'कविप्रयोक्तृपदेशपर शास्त्रमिति' (अ० १, पृ० सं० ७, अभि० भार०, बड़ौदा संस्क०) ।

१. भरत मुनि के विषय में प्रस्तावना देखिये ।

२. आत्रेय—आत्रेय नामक दो मुनियों के उल्लेख प्राप्त है । इनमें एक याज्ञवल्क्य ऋषि के शिष्य (महा भा०) तथा दूसरे वामदेव के शिष्य (ब्रह्म पु०) थे ।

३ यहाँ नाट्यशास्त्र की जिज्ञासा हेतु मुनियो द्वारा ५ प्रश्न उपस्थापित किए गए हैं जिनका विवेचन ही प्रकृत ग्रन्थ का उद्देश्य है । उनका क्रमिक उत्तर देना नहीं (और न ऐसा किया ही गया है) ।

४. नाट्यशास्त्र के लिये 'नाट्यवेद' तथा 'नाट्यशास्त्र' दोनो ही शब्दों के

---

१. सु—ख० । २. कथितो—क० । ३ कत्यश —क० ।

किस प्रकार उत्पन्न हुआ और किसके लिए? इसके कितने अंग हैं, इस (वेद) का कितना परिमाण है और इसका प्रयोग (अभ्यास, अभिनय) किस प्रकार किया जाता है? इन सभी बातों को आप हमें कृपा कर विस्तार-पूर्वक बतलाइये ॥ ४–५ ॥

नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति—

तेषां तु [1]वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं नाट्यवेदकथां प्रति ॥ ६ ॥

उन मुनियों के इन वचनों को सुनकर 'नाट्यवेद' के विषय में भरत मुनि ने तब इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥ ६ ॥

भवद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथाऽवहितमानसैः ।
श्रूयतां नाट्यवेदस्य [2]सम्भवो ब्रह्मनिर्मितः ॥ ७ ॥

हे मुनिगण, आप ब्रह्मा के द्वारा निर्मित (उस) 'नाट्यवेद' की उत्पत्ति को पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर सुनिये ॥ ७ ॥

पूर्वं[3] कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
त्रेतायुगे सम्प्रवृत्ते[4] मनोर्वैवस्वतस्य तु ॥ ८ ॥
ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते[5] तु कामलोभवशङ्गते ।

प्रयोग किये गये हैं। 'नाट्यवेद' शब्द 'नाट्यशास्त्र' का ही बोधक है। इस शास्त्र का वेद शब्द के साथ अभिधान इसे प्राचीनता, पवित्रता तथा प्रामणिकता प्रदान करने के अतिरिक्त सश्रद्ध ग्रहण करने के लिये भी है। वेद शब्द को 'नाट्य' विशेषण देने का आशय है इसका अध्येयत्व सूचित करना। जैसा कि अभिनव-गुप्ताचार्य ने कहा भी है—

'अत्र तु नाट्यस्य वेद शास्त्रमिति समास । अन्यथा अध्यापनासम्भवात्' (अभि० भारती vol. I. पृ० ४) नाट्यवेद अर्थात् नाट्य-सिद्धान्तों का निदर्शक (शास्त्रीय परम्परा सम्पन्न) आकरग्रन्थ, अन्यथा उसका अध्यापन सम्भव न होता।

---

१. तद्वचन—क० । २. सक्षेपो—क० । ३. पुरा—क० ।
४. °गेऽथ सम्प्राप्ते—क० । ५ धर्मे प्रवृत्ते—क० ।

ईर्ष्याक्रोधादिसम्मूढे[1] लोके सुखितदुःखिते ॥ ९ ॥

देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगैः ।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपाल-प्रतिष्ठिते ॥ १० ॥

महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यञ्च [2]यद् भवेत् ॥ ११ ॥

न वेदव्यवहारोऽयं[3] संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।
तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्[4] ॥ १२ ॥

हे मुनिगण, अति प्राचीन काल में जब स्वायम्भुव मनु के मन्वन्तर में सत्ययुग बीत चुका था तथा वैवस्वत मनु का त्रेतायुग प्रारम्भ हो चुका था। (उस समय) प्रजाजन के काम और लोभ के वशीभूत होकर ग्राम्य[1] धर्म में प्रवृत्त होने एवं ईर्ष्या, क्रोध आदि से अभिभूत होने के कारण (अपने अपने कर्मों के अनुसार) सुखी और दुःखी होने पर तथा (भूर्भुवः आदि) लोकों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस सर्पाधिपतियों तथा लोकपालों की प्रतिष्ठा हो चुकने पर महेन्द्र आदि देवताओं ने पितामह ब्रह्मा जी से आकर निवेदन किया कि हे देव, (इन सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए) हम ऐसा मनोविनोद का साधन (क्रीडनीयकम्) चाहते हैं जो देखने (दृश्यं) तथा सुनने (श्रव्य) के योग्य हो। (विधि-निषेधात्मक तथा दुर्बोध होने के कारण) वेद का शूद्रों को सुनाना सम्भव नहीं है अतएव

१ ग्राम्य धर्म = इन्द्रिय लोलुपता। अभिनवगुप्त ने ग्राम्यधर्म शब्द का अर्थ किया है—'ग्राम्योऽश्रुतशास्त्रार्थजनाकीर्णदेशोचितो धर्मः स्वधर्माननुपालनलक्षण' (अभि० भार० vol I पृ० १०) अर्थात् वह धर्म जो अशास्त्रज्ञ व्यक्तियों से व्याप्त प्रदेश में हो, जहां अपने धर्म का पालन न किया जाता हो)।

२ अभिनवगुप्त के अनुसार दृश्य का हृद्य तथा श्रव्य का अर्थ है व्युत्पत्तिप्रद।

१. °भिसम्मू—ग०। २ श्राव्यञ्च—क०।
३ नव्य (न च) विहारोऽय—ख०।
४ 'नेमे वेदा यत श्राव्या स्त्रीशूद्राद्यास्तु जातिषु।
वेदमन्यत्तत स्रक्ष्ये सर्वश्राव्यन्तु पञ्चमम् ॥'
इति श्लोकोऽधिक क-पुस्तके प्रक्षिप्तश्च।

आप (शूद्रों तथा अन्य) सभी वर्णों के लिए उपयोगी (एक) पांचवें वेद[1] की और रचना कीजिये ॥ ८-१२ ॥

एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च ।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥ १३ ॥

(तब) देवताओं को 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कह और देवराज इन्द्र को विदा कर सम्पूर्ण तत्त्वों के वेत्ता (उन) ब्रह्माजी ने योग (समाधि) में स्थित (एकाग्रचित्त) होकर चारों वेदों का स्मरण किया ॥ १३ ॥

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यञ्च सोपदेश्यं ससङ्ग्रहम् ।
भविष्यतश्च लोकस्य[1] सर्वकर्मानु[2]दर्शकम्[3] ॥ १४ ॥

सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम् ।
नाट्याख्यं[4] पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥ १५ ॥

भगवान् ब्रह्मा ने सभी वेदों का स्मरण करते हुए सङ्कल्प किया—मैं 'नाट्य' नामक ऐसे पाँचवें वेद की इतिहास[2] सहित रचना करता हूँ जो

---

१ नाट्यवेद के प्रमाण, परम्पराओं और इसके पाँचवें वेद पर परिशिष्ट में विस्तार से विवेचन किया गया है। प्रारम्भ से ही नाट्य एक समिश्रितकला के रूप में (Composite Art) रही है जिसमें सभी कलाओं (वास्तु चित्र, सगीत आदि) का सयोग रहता था।

२. 'इतिहास' शब्द को भी प्राचीन काल में वेद की सज्ञा प्राप्त थी। उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—इति + (इस प्रकार) ह + (निश्चय ही) आस (हुआ)। अतएव स्पष्ट है कि पूर्वकालीन घटनाओं को इतिहास माना गया है। इतिहास का लक्षण इस प्रकार है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
इतिवृत्तकथायुक्तमितिहास प्रचक्षते ॥

अर्थात इतिहास उसे कहते हैं जिसमे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के उपदेश

---

१ कालस्य—क०। २ कर्मप्रदर्शकम्—क०। ३ प्रदर्शकम–ग०।
४ नाट्यसज्ञमिम—ग०।

धर्म और अर्थ की प्राप्ति कराने वाला (धर्म तथा अर्थ के प्रयोजन का उपपादक या उनके अनुकूल), यश-प्रदाता, उपदेश तथा संग्रह से युक्त, भावी जगत् के लिये सभी कार्यों का पथ-प्रदर्शक, सब शास्त्रों के अर्थों से परिपूर्ण और सभी शिल्पों को प्रदर्शित करने वाला होगा ॥ १४–१५ ॥

एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्वान्[1] वेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार का संकल्प करके भगवान् ब्रह्मा ने सभी वेदों का स्मरण करते हुए चारों वेदों के अंगों से उत्पन्न होने वाले 'नाट्य वेद' की रचना की ॥ १६ ॥

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो[2] गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसा[3]नाथर्वणादपि ॥ १७ ॥

तब (नाट्य के संवाद या गद्यपद्यात्मक प्रथम अंग) पाठ्य को ऋग्वेद से, (नाट्य के द्वितीय अंग) गीत को सामवेद से, (नाट्य के तृतीय अंग) अभिनयों को यजुर्वेद से और (नाट्य के चतुर्थ अंग) रसों को अथर्ववेद (या आथर्वण) से लिया ॥ १७ ॥

वेदोपवेदैः सम्बद्धो[4] नाट्यवेदो महात्मना ।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना[5] ॥ १८ ॥

वाली पुरानी घटित कथा हो और इसी प्रकार की साहित्यिक रचना भी इतिहास मानी जा सकती है। इतिहास का प्राचीन काल में अध्ययन पर्याप्त मनोयोग से किया जाता था और उसे पाँचवाँ वेद भी माना जाता था। इतिहास से युक्त होने के कारण (ही) नाट्यशास्त्र' भी पाँचवाँ वेद माना गया, जैसा कि भरत-मुनि की प्रतिज्ञा से स्पष्ट है। इतिहास को अतिरिक्त वेद मानने वाले प्रमाणों के हेतु देखिये—छान्दोग्योपनिषद् ७।७, सुत्तनिपात २।७ (सेल्लसुत्त) कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा विन्टरनित्स कृत भारतीय साहित्य का इतिहास प्रथम जिल्द (पृ० ३१३)।

---

१ सर्ववेदान्—क० । २ सामतो—क० । ३ नृत्ताना—क० ।
४. सम्बन्धो—ग० । ५ ललितात्मकम्—ग० ।

इस प्रकार सम्पूर्णतत्वों के वेत्ता ब्रह्माजी ने वेदों तथा उपवेदों से सम्बद्ध (अर्थात् वेदों तथा उपवेदों से जिसके अंगों को ग्रहण किया गया है ऐसे) इस 'नाट्यवेद' की रचना की ॥ १८ ॥

उत्पाद्य नाट्यवेदं तु ब्रह्मोवाच[1] सुरेश्वरम् ।
इतिहासो मया सृष्टः[2] स सुरेषु नियुज्यताम्[3] ॥ १९ ॥

(इस प्रकार) नाट्यवेद की उत्पत्ति के उपरान्त ब्रह्माजी देवराज इन्द्र से बोले—मेरे द्वारा यह नाट्यकथा (काव्यकृति, इतिहास) निर्मित कर दी गयी; अब आप देवताओं के द्वारा इसका प्रयोग करवाइए ॥ १९ ॥

कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च जितश्रमाः[4] ।
तेष्वयं नाट्यसंज्ञो हि वेदः संक्राम्यतां त्वया ॥ २० ॥

जो देवगण कार्य[1] (अभिनय) में चतुर, विदग्ध, प्रौढ तथा श्रम को जीते हुए हों (अथवा रंगमंचीय भय से निर्मुक्त हों और परिश्रमी हों) उन्हीं को इस 'नाट्य वेद' की आप शिक्षा दीजिये (या ऐसे देवों को ही यह कृति अभिनय के प्रयोगार्थ प्रदान कीजिये) ॥ २० ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं शक्रो ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[5] ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ॥ २१ ॥

(ब्रह्माजी के द्वारा कहे गए) इन वचनों को सुनकर देवराज इन्द्र सविनय प्रणाम कर (पुनः) ब्रह्माजी से बोले ॥ २१ ॥

ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे चास्य सत्तम ।
अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या[6] नाट्यकर्मणि ॥ २२ ॥

---

१ प्रस्तुत श्लोक में अभिनेता के चार गुण बतलाए हैं—(१) कार्य-कुशलता, (२) पाण्डित्य, (३) वाक्पटुता तथा (४) श्रम पर विजय पाने की क्षमता ।

---

१. ब्रह्मावोचत्—क० । २. दृष्ट—ग० । ३ निवेश्यताम्—क० ।
४. जितक्लमा—क० । ५. समुदाहृतम्—क० । ६. न योग्या—घ० ।

य इमे वेदगुह्यज्ञा ऋषयः संशितव्रताः[1]।
एतेऽस्य[2] ग्रहणे शक्ताः प्रयोगे धारणे तथा ॥ २३ ॥

हे भगवन्, इस नाट्यवेद के ग्रहण करने, धारण करने (स्मरण करने), (इस विषय में ऊहापोह करते हुए) जान लेने तथा प्रयोग (अभिनय) करने की देवताओं में सामर्थ्य नहीं है। अतएव वे इस (नाट्यकर्म) के योग्य नहीं हैं।

किन्तु जो वेद के गुह्य रहस्यों के ज्ञाता और उत्तम व्रतों के पालन करने वाले ऋषिगण हैं वे ही इस नाट्य वेद के ग्रहण, धारण तथा प्रयोग करने की (भी) सामर्थ्य रखते हैं ॥ २२–२३ ॥

नाट्य वेद की भरत[1] को उपलब्धि—

श्रुत्वा[3] तु शक्रवचनं मामाहाम्बुजसम्भवः।
त्वं पुत्रशतसंयुक्तः प्रयोक्ताऽस्य भवानघ ॥ २४ ॥
आज्ञापितो विदित्वाऽहं नाट्यवेदं पितामहात्।
पुत्रानध्यापयं योग्यान्[4] प्रयोगं चापि तत्त्वतः ॥ २५ ॥

इन्द्र के वचनों को सुन कमल से उत्पन्न होने वाले पितामह ब्रह्माजी ने मुझ (भरत मुनि) से कहा कि हे अनघ ! (निष्पाप एवं प्रिय मुनि !) तुम अपने सौ पुत्रों से युक्त होकर इस (नाट्य) प्रयोग के कर्ता बनो। इस प्रकार पितामह ब्रह्मा से आज्ञा पाकर, उन्हीं से नाट्यवेद को प्राप्त कर मैंने इसके प्रयोगों को अपने योग्य पुत्रों को प्रयत्नपूर्वक पढ़ाया ॥ २४–२५ ॥

---

१ पुराणों मे नाट्यशास्त्रवेत्ता भरत का नाम नही मिलता, केवल अपवाद रूप में 'मत्स्यपुराण' मे भरत का उल्लेख है। भरतपुत्रों के ये नाम पुराणो में उपलब्ध नहीं होते। इनमे (कुछ के विषय मे) जो थोड़े उल्लेख प्राप्त हैं उनके आधार पर इतना विदित होता है कि कोहल, आत्रेय, शालिकर्ण (शातकर्ण) बादरायण, नखकुट्ट, अश्मकुट्ट आदि भी नाट्यशास्त्र के आचार्य हुए हैं। प्राचीन काल मे विशाल नाट्यसाहित्य विद्यमान था जिसका कालान्तर में विनाश हो गया। इस विनाश की भी नाट्यशास्त्र में कथा विद्यमान है।

---

१. संशितव्रता —क०। २. एते सद्ग्रहणे—क०।
३. श्रुत्वेमम्—क०। ४. पुत्रानध्यापयामास—क०।

शाण्डिल्यं चैव[1] वात्स्यं च कोहलं[2] दत्तिलं[3] तथा।
[4]जटिलाम्बष्टकौ चैव तण्डुमग्निशिखं तथा ॥ २६ ॥

सैन्धवं सपुलोमानं [5]शाड्वलिं विपुलं तथा।
कपिञ्जलिं बादरिञ्च[6] यम धूम्रायणौ तथा ॥ २७ ॥

जम्बुध्वजं काकजङ्घं[7] स्वर्णकं तापसं तथा।
कैदारं[7] शालिकर्णञ्च दीर्घगात्रञ्च शालिजम् ॥ २८ ॥

कौत्सं ताण्डायनिञ्चैव पिङ्गलं चित्रकं तथा।
बन्धुलं भल्लकञ्चैव मुष्टिकं सैन्धवायनम् ॥ २९ ॥

तैतिलं भार्गवञ्चैव शुचिं बहुलमेव च।
अबुधं बुधसेनञ्च पाण्डुकर्णं सुकेरलम्[9] ॥ ३० ॥

ऋजुकं मण्डकञ्चैव शम्बरं वञ्जुलन्तथा।
मागधं सरलञ्चैव कर्तारञ्चोग्रमेव च ॥ ३१ ॥

तुषारं[10] पार्षदञ्चैव गौतमं बादरायणम्[11]।
विशालं शबलञ्चैव सुनाभं[12] मेषमेव च ॥ ३२ ॥

कालियं भ्रमरञ्चैव तथा पीठमुखं मुनिम्।
नखकुट्टाश्मकुट्टौ[13] च षट्पदं सोत्तमन्तथा ॥ ३३ ॥

पादुकोपानहौ चैव श्रुतिं [14]चापस्वरन्तथा।
अग्निकुण्डाज्यकुण्डौ च वितण्ड्यं[15] ताड्यमेव च ॥ ३४ ॥

---

१ चापि—ग० । २ केहाल—ग० । ३. दन्तिल—ग० ।
४ जटुला—ग० । ५ शाड्वली—ग० । ६ बादिरञ्च—क० ।
७ कंदारि—क० । ८ तिन्तिल—क० । ९ सकेरलम्—ग० ।
१० तुपाद —ग० । ११ वादरायणिम्—ग० ।
१२ सुनाली—ग० । १३ तरुकुट्टात्मकुट्टौ—ग० ।
१४ श्रुतिव षट्स्वर—ग० । १५ विताण्ड्य—ग० ।

दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः।
कैशिकी श्लक्ष्णनैपथ्या शृङ्गाररससम्भवा ॥ ४५ ॥

अशक्या पुरुषैः सा[1] तु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाऽप्सरसो विभुः ॥ ४६ ॥

नाट्यालङ्कारचतुराः प्रादान्मह्यं प्रयोगतः।

(अपने सौ पुत्रों को शिक्षण देने के पश्चात्) हे मुनिजन, मैंने भारती, सात्वती, तथा आरभटी वृत्तियों[1] पर आश्रित प्रयोग को प्रस्तुत करने का उपक्रम किया और ब्रह्माजी के सम्मुख उपस्थित हो एवं प्रणाम कर अपनी सम्पूर्ण तैयारी के विषय में बतलाया। (कैशिकी वृत्ति हीन अभिनय के अभ्यास तथा तैयारी को जानकर) तब ब्रह्माजी मुझ से बोले कि (अभिनय में और) इन वृत्तियों के साथ कैशिकी वृत्ति की भी योजना कीजिए तथा उसके लिये जो योग्य द्रव्य हो उसे बतलाइये। तब मैंने निवेदन किया—हे भगवन्! कैशिकी वृत्ति के सम्यक् प्रयोग के लिये अपेक्षित द्रव्य प्रदान कीजिये (जिससे कि उसकी योजना की जा सके)। इस कैशिकी वृत्ति

---

१ वृत्तियो का लक्षण नाट्यशास्त्र के अध्याय २२ में विस्तार से दिया हुआ है। ये वृत्तियां चार हैं। वृत्तिका प्रयोग व्यवहार अर्थ में किया गया है। अभि० गुप्त ने 'व्यापार पुमर्थसाधनी वृत्ति' कहा है। यह व्यापार वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक भेद से तीन प्रकार का होता है। वाचिक व्यापार को 'भारती' मानसिक को सात्वती और कायिक व्यापार को आरभटी वृत्ति कहा है। तीनो व्यापारो मे सौन्दर्य का आधायक एक और व्यापार होता है जिसे 'कैशिकी वृत्ति' कहा है *क्योंकि जैसे केश शरीर के सौन्दर्य म उपयोगी होकर भी किसी कार्य को* सम्पादित नही करते और शीर्षस्थ रहते हुए शोभा बढाते हैं वैसे ही सौन्दर्य मे उपयोगी व्यवहार-व्यापार आदि विशिष्ट होकर कैशिकी वृत्ति कहलाते है (अभि० भार० vol I पृ० २०)। सभवत ये वृत्तियाँ चार जातियो से सबद्ध होगी जिनमें भरत तथा सात्वत जातियां तो विदित हैं, शेष जातियां नष्ट हो गई (और अब उनका नाममात्र शेष रह गया) है।

---

१ साधु—ग०, न शक्या पुरुषै साधु—घ०।

को—जो नृत्त[1] और अङ्गहारों से पूर्ण रस तथा भावों के व्यापार वाली, सुन्दर वेषभूषा से सज्जित तथा शृङ्गार रस से उत्पन्न होने वाली (या शृंगार रस की उत्पादिका) है—मैंने भगवान शिव[2] के नृत्य के अवसर पर देखा है। परन्तु इस कैशिकी-वृत्ति का स्त्रीपात्र के बिना अभिनय प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

तब महातेजस्वी और सर्वव्यापक ब्रह्माजी ने मानसिक सङ्कल्प द्वारा नाट्य[3]-प्रयोग तथा शोभावर्द्धन में चतुर अप्सराओं की रचना की और उन्हें अभिनय के लिए मुझे प्रदान किया ॥ ४१–४७ ॥

अप्सराओं की संज्ञाएँ—

मञ्जुकेशीं सुकेशीं च मिश्रकेशीं सुलोचनाम् ॥ ४७ ॥
सौदामिनीं देवदत्तां देवसेनां मनोरमाम् ।
सुदतीं सुन्दरीं चैव विदग्धां विपुलां[1] तथा ॥ ४८ ॥
सुमालां सन्तति चैव सुनन्दां सुमुखीं तथा ।
मागधीमर्जुनीं चैव सरलां केरलां[2] धृतिम् ॥ ४९ ॥

---

१ नृत्त तथा अंगहारों के लिये नाट्यशास्त्र के अध्याय ४ तथा रस और भाव के लिये अध्याय ६ तथा ७ देखिये।

२ भगवान शिव नृत्य के आदि प्रवर्तक हैं। अभिनयदर्पण के प्रारंभ में उनकी वंदना (इस प्रकार) है—

आंगिकं भुवनं यस्य, वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्विकं शिवम् ॥ (अ० द० १।१)

३ यह नाट्यालंकार-चतुरा पद का अर्थ है (नाट्यालङ्कार के लिये देखिये नाट्यशास्त्र अध्याय २५–४, ५)। इसी का दूसरा अर्थ है नाट्यलङ्कार के प्रदर्शन में दक्ष। यह (प्राचीन) उल्लेख इस तथ्य का प्रदर्शक है कि भारतीय नाट्य का स्वाभाविकता की ओर कितना झुकाव था। पुरुषों का अभिनय पुरुषों के द्वारा तथा स्त्रियों का अभिनय स्त्रियों के द्वारा ही हो, यह मान्यता नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त शायद ही किसी अभारतीय प्राचीन नाट्यशास्त्रीय-ग्रन्थ में प्राप्त होगी।

---

१. विविधा—ग०, विबुधा—घ०।   २. केरलान्धृतीम्—ग०।

प्रददुर्मत्सुतेभ्यस्तु[1] सर्वोपकरणानि वै।[2]

तब उस ध्वज महोत्सव में—जो कि असुरों और दानवों पर विजय प्राप्ति के उपलक्ष्य में मनाया जाता था तथा जिसमें आनन्दित देवगण इतस्ततः विचर रहे थे (ऐसे अवसर पर नाट्यप्रयोग प्रस्तुत करते हुए)—सर्वप्रथम मैंने आशीर्वादात्मक वचनों से युक्त नान्दी का पाठ किया। (मेरे द्वारा पठित) यह नान्दी वेदों से निर्मित, विचित्र तथा आठ[1] पदों वाली (जो कि उसके अंग होते हैं) थी। इस नान्दी के पश्चात् देवताओं द्वारा दैत्यों पर विजय प्राप्त करने का मैंने ऐसा अभिनय प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया जो क्रोधपूर्ण वचनों (सफेट), मगदड आदि कार्यों तथा मारकाट और युद्धार्थ किये गये आह्वानों से युक्त था। इस प्रदर्शन को देख कर ब्रह्माजी तथा देवगण सन्तुष्ट हो गए और तब प्रसन्नमनाः उन ब्रह्मादि देवों ने हमें सभी प्रकार के उपकरण (पुरस्कार—नाट्य आदि के उपयोग में आने वाली वस्तुएँ) प्रदान किये ॥ ५५-५८ ॥

भरत-मुनि को तुष्ट देवताओं द्वारा दिए गए उपकरण[2]—

प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो दत्तवान् स्वं ध्वजं शुभम् ॥ ५९ ॥
ब्रह्मा कुटिलकञ्चैव[3] भृङ्गारं वरुणः [4]शुभम्।

---

१. अष्टपदा—नान्दी की व्याख्या में पदों के आठ विभाग (जो कि नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट हैं—अ० १४-४) इस प्रकार हैं— (१) नाम, (२) आख्यात, (३) निपात, (४) उपसर्ग, (५) समास, (६) तद्धित, (७) सन्धि तथा (८) विभक्ति। नान्दी का लक्षण नाट्यशास्त्र (अध्याय ५।१०७-१०८) में दिया गया है। इसकी व्याख्या है 'नन्दन्ति देवता अस्याम् इति नान्दी'। अर्थात जिसमें देवता आदि आनन्दित होते हों। [इन आनन्दित होने वालों में कवि, अभिनेता तथा सामाजिकों को भी सम्मिलित किया जा सकता है]। नान्दी का विशद विवेचन नाट्यशास्त्र के सम्बन्धित स्थान पर देखिये।

२ भारत में कलाकारों को सफल प्रदर्शन पर पुरस्कार देने की प्राचीन

---

१. प्रददुर्हृष्टमनसः—ग०। २. न—ग०।
३. कमण्डलु—ग०। ४. तथा—ग०।

सूर्यश्छत्रं शिवस्सिद्धिं वायुर्व्यंजनमेव च ॥ ६० ॥
विष्णुः सिंहासनञ्चैव कुवेरो मुकुटं तथा ।
श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती ॥ ६१ ॥

शेषा ये देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगा- ।
तस्मिन्[1] सदस्यभिप्रेतान् नानाजातिगुणाश्रयान् ॥ ६२ ॥
अंशांशैर्भाषितान्[2] भावान् रसान् रूपं[3] बलन्तथा ।
प्रददु-[4] मत्सुतेभ्यश्च विभ्रमाभरणं बहु ॥ ६३ ॥

सर्व प्रथम प्रसन्न होने वाले इन्द्र ने अपना शुभ ध्वज प्रदान किया। ब्रह्मा ने कुटिलक[1] (टेढा मेढा दण्ड जिसे दण्डकाष्ठ कहते हैं यह विदूषक के प्रयोग में आता है। 'कमण्डलु' पाठान्तर के अनुसार अर्थ होगा—कमण्डलु) दिया।

वरुण ने झारी, सूर्य ने छत्र (चदोवा), शिव ने सिद्धि, वायु ने पखा, विष्णु ने सिंहासन, कुबेर ने मुकुट तथा भगवती सरस्वती ने प्रेक्षणीय (नाटक आदि) को सुने जाने का सौष्ठव (क्षमता) प्रदान किया। इसके अतिरिक्त उस सभा में विद्यमान जो अन्य देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, तथा पन्नग थे उन्होंने भी अति-प्रसन्न होते हुए मेरे पुत्रों को अपने अपने अशों

परम्परा है। सम्पन्न व्यक्तियो या राजा के द्वारा ये पुरस्कार दिये जाते थे। सामान्य प्रजा बिना किसी शुल्क के इन मनोरजक प्रदर्शनो का अवलोकन करती थी (यही प्राचीन परम्परा आज टिकिट के रूप मे परिवर्तित हो गई है तथा पुरस्कार आदि देना प्राय बन्द होता जा रहा है)।

१ कुटिलक=दण्डकाष्ठ। यह विदूषक (को धारण करने) के लिये होता है। अनेक रूपको मे विदूषक के 'दण्डकाष्ठमुद्यम्य' का विवरण मिलता है। नाट्यशास्त्र मे (अ० २२।१६७, १७०) कपित्थ तथा बिल्व वृक्ष के त्रिवक्र (टेढे) दण्डकाष्ठ का वर्णन है पर इसका विदूषक के लिये होने का विवरण नही मिलता है।

---

१ तस्मिन् सदस्यतिप्रीता —घ०।
२ भाषित—क०, भाषितान्—घ०।
३ रूपबलि क्रियाम्—ग, रूप क्रियाबलम्—घ०।
४ दत्तवन्त प्रहृष्टास्ते मत्सुतेभ्यो दिवौकस —ग०।

से उत्पन्न होने वाली विभिन्न जाति एवं गुणों वाले, रस, रूप, बल तथा क्रिया को और उनके अनुरूप अनेक अलङ्करणों को प्रदान किया ॥ ५९–६३ ॥

एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने ।
अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गताः ॥ ६४ ॥

विरूपाक्षपुरोगांस्तु विघ्नान् प्रोत्साह्य[1] तेऽब्रुवन् ।
न[2] क्षमिष्यामहे नाट्यमेतदागम्यतामिति ॥ ६५ ॥

दैत्यों तथा दानवों के नाशक इस अभिनय (प्रयोग) के प्रारम्भ होने पर वहाँ उपस्थित सभी दैत्य क्षुभित हो उठे (भड़क उठे)।

उन दैत्यों ने अपने नेता विरूपाक्ष[1] तथा अनेक विघ्नकारी तत्त्वों को उकसाते हुए कहा—हमें इस प्रकार नाट्य को (प्रदर्शित किये जाने पर) सहन नहीं करना चाहिए। (अतएव) चलो, सभी यहाँ से बाहर आओ (हम इसे बिगाड़ें) ॥ ६४–६५ ॥

ततस्तैरसुरैस्सार्धं विघ्ना[3] मायामुपाश्रिताः ।
वाचश्चेष्टां स्मृतिञ्चैव स्तम्भयन्ति स्म नृत्यताम् ॥ ६६ ॥

तब माया तथा छल का आश्रय लेकर असुरों के साथ उन विघ्नकारी दैत्यों ने (अदृश्य होकर) नृत्य करते हुए अभिनेताओं की वाणी, चेष्टा तथा स्मृति को रुद्ध कर दिया ॥ ६६ ॥

तथा विध्वंसनं दृष्ट्वा सूत्रधारस्य[5] देवराट् ।
कस्मात् प्रयोगवैषम्यमित्युक्त्वा ध्यानमाविशत् ॥ ६७ ॥

अथापश्यत् सदो[6] विघ्नैः समन्तात् परिवारितम् ।
सहेतरैः[7] सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम् ॥ ६८ ॥

---

१. विरूपाक्ष—एक दैत्य जो कि विद्यमान दैत्यों का अग्रणी था। विरूपाक्ष का दूसरा अर्थ है—शिव। पर यह अर्थ यहाँ अनुपयुक्त है। विघ्न से तात्पर्य है विघ्नकारी।

---

१. प्रोत्साद्य—ग०। नेत्यमिष्यामहे—ग०, नेत्यमोक्षामहे—घ०।
३. विघ्नमायामु०—ग०। ४. वचश्चेष्टा—ग०।
५. तत्र तेषां स देवराट्—ध०। ६. तदा—ग०।
७ सहेतरं—क०।

देवराज ने इन्द्र अभिनय में इस प्रकार उपस्थित विघ्न को देखकर सूत्रधार के नाट्य प्रयोग में उपस्थित विषमता और विघ्न के कारण को जानने के लिए ध्यानावस्थित हो गए। ध्यान लगाने पर उन्हें चारों ओर विघ्नों से घिरी हुई सभा दिखाई दी और उन्होंने सूत्रधार को अपने अन्य सहकारी अभिनेताओं के साथ चेतनाहीन अवस्था में पड़ा हुआ पाया ॥६७–६८॥

विघ्न नाशक [1]जर्जर की उपलब्धि—

उत्थाय त्वरितं शक्रः गृहीत्वा[1] ध्वजमुत्तमम्।
सर्वरत्नोज्ज्वलतनुः[2] किञ्चिदुद्[3]वृत्तलोचनः॥ ६९॥
रङ्गपीठगतान् विघ्नानसुरांश्चैव देवराट्।
जर्जरीकृतदेहांस्तानकरोज्जर्जरेण सः॥ ७०॥

(यह देखकर) इन्द्र ने शीघ्र ही क्रोध से उठकर अपने उस दिव्य ध्वज को ग्रहण कर लिया। उस समय इन्द्र का शरीर सभी प्रकार के रत्नों से देदीप्यमान था और क्रोध से उनके नेत्र (कुछ) ऊपर की ओर चढ़े हुए थे। फिर उस जर्जरध्वज के द्वारा इन्द्र ने रंगपीठ पर विद्यमान विघ्नों तथा असुरों को जर्जरित (देहवाला) कर दिया॥ ६९–७०॥

निहतेषु[4] च सर्वेषु विघ्नेषु सह दानवैः।
सम्प्रहृष्य ततो वाक्यमाहुः सर्वे दिवौकसः॥ ७१॥

दानवों सहित सभी विघ्नों के नष्ट हो जाने पर प्रसन्न हो सभी देवगण यों कहने लगे॥ ७१॥

अहो प्रहरणं दिव्यमिदमासादितं त्वया।
नाट्यविध्वंसिनस्सर्वे येन[5] ते जर्जरीकृताः॥ ७२॥

---

१ जर्जर :—नाट्यशास्त्र में इसका स्वरूप बतलाया गया है (दे० ना० शा० अ० २३।१६१–१७०)। इसके पूजन का विधान नाट्यशास्त्र अध्याय ३ में है। प्रारम्भ में यह उद्दण्ड दर्शकों के नियमन के लिये था पर सुव्यवस्थित प्रेक्षागृहों के निर्माण के बाद यह एक प्रथा मात्र रह गया।

---

१ क्रोधाज् जग्राह त ध्वजम्—ग० २ सर्वरत्नोज्ज्वलन्त त—ग०।
३. कोपादुद्वृत्त—घ०। ४ गतेषु तेषु विघ्नेषु सर्वेषु—घ०।
५. येनैते—क०, जर्जरीकृतसर्वाङ्गा येनैते दानवा कृता—ख०।

यस्मादनेन ते विघ्नाः सासुराः जर्जरीकृताः ।
तस्माज्जर्जर इत्येव[1] नामतोऽयं भविष्यति ॥ ७३ ॥

आज आपको यह दिव्य शस्त्र प्राप्त हो गया है जिसके द्वारा ये दानव जर्जरित कर दिए गये । क्योंकि इसके द्वारा सभी असुरों सहित विघ्न जर्जरित कर दिए गए हैं अतएव (भविष्य में) यह 'जर्जर' नाम से विख्यात होगा ॥ ७२–७३ ॥

शेषा ये चैव हिंसार्थमुपस्थास्यन्ति[2] हिंसकाः[3] ।
दृष्ट्वैव जर्जरं तेऽपि गमिष्यन्त्येवमेव तु ॥ ७४ ॥

और भविष्य में जो भी विघ्न (नाट्यप्रयोग के समय) उपस्थित होंगे वे जर्जर को देखने पर ऐसी ही दशा प्राप्त करेंगे ॥ ७४ ॥

एवमेवास्त्विति ततः शक्रः प्रोवाच तान्सुरान् ।
रक्षाभूतश्च सर्वेषां भविष्यत्येव[4] जर्जरः ॥ ७५ ॥

उन देवताओं से देवराज इन्द्र ने 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहा और बोले कि (सचमुच) यही जर्जर सभी (प्रयोग एवं नाट्याभिनेताओं) का रक्षक होगा ॥ ७५ ॥

प्रयोगे प्रस्तुते ह्येवं स्फीते शक्रमहे पुनः ।
त्रासं सञ्जनयन्ति स्म विघ्नाः[5] सन्नधबुद्धयः ॥ ७६ ॥
दृष्ट्वा तेषां व्यवसितं मदर्थं[6] विप्रकारजम् ।
उपस्थितोऽहं ब्रह्माणं सुतैः सर्वैः समन्वितः ॥ ७७ ॥

तब पुनः इन्द्रध्वजमहोत्सव के अवसर पर नाट्याभिनय के प्रस्तुत किये जाने पर अवशिष्ट वे विघ्न मेरा वध करने का निश्चय कर फिर त्रास उत्पन्न करने लगे । तब उन दैत्यों के उद्योग को विघ्नकारक जानकर मैं अपने सभी पुत्रों के साथ (पुनः) ब्रह्माजी के सम्मुख उपस्थित हुआ ॥ ७६–७७ ॥

निश्चिता भगवन्विघ्ना नाट्यस्यास्य विनाशने ।
अस्य[7] रक्षाविधिं सम्यगाज्ञापय सुरेश्वर ॥ ७८ ॥

---

१. एवेति—ख० । २. उपयास्यन्ति—ग० । ३. हिंसका —घ० ।
४. भविष्यत्येव—ग० ।
५. शेषास्तु नृत्यताम्—ग०, ईर्ष्यास्तु नृत्यताम् घ० ।
६. दैत्याना—क० । ७. अतोरक्षाविध—घ० ।

और मैंने ब्रह्मा जी से कहा—हे भगवन्, ये विघ्नकर्त्ता नाट्य का विनाश करने पर तुले हुए हैं। अतएव हे देवश्रेष्ठ, आप इसकी रक्षा की उचित व्यवस्था करने की कृपा कीजिए ॥ ७८ ॥

नाट्यगृह का निर्माण—

ततश्च विश्वकर्माणं ब्रह्मोवाच प्रयत्नतः ।
कुरु लक्षणसम्पन्नं नाट्यवेश्म महामते[1] ॥ ७९ ॥

ततोऽचिरेण कालेन विश्वकर्मा महच्छुभम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नं कृत्वा[2] नाट्यगृहं तु सः ॥ ८० ॥
प्रोक्तवान्द्रुहिणं[3] गत्वा सभायान्तु कृताञ्जलिः ।
सज्जं नाट्यगृहं देव तदवेक्षितुमर्हसि ॥ ८१ ॥

(तब मेरी प्रार्थना सुनकर) ब्रह्माजी विश्वकर्मा[1] से बोले—हे महामते, आप सभी लक्षणों से युक्त एक नाट्यशाला का निर्माण कीजिए। तब विश्वकर्मा ने थोड़े ही समय में शुभ, महाविस्तार सम्पन्न, अच्छे लक्षणों से युक्त नाट्यगृह की रचना कर दी और वह ब्रह्माजी की सभा में (हाथ जोड़) पुनः उपस्थित होकर कहने लगे—हे देव, नाट्यगृह तैयार हो चुका है, आप उसे देख लीजिये ॥ ७९–८१ ॥

ततः सह महेन्द्रेण सुरैः सर्वैश्च सत्तमैः[4] ।
आगतस्त्वरितो द्रष्टुं द्रुहिणो नाट्यमण्डपम् ॥ ८२ ॥

दृष्ट्वा नाट्यगृहं ब्रह्मा प्राह सर्वान्सुरांस्ततः ।
अंशभागैर्भवद्भिस्तु रक्ष्योऽयं नाट्यमण्डपः ॥ ८३ ॥

---

१ विश्वकर्मा–देवताओं के वास्तुकार। इनका नाम ऋग्वेद मे भी मिलता है पर ये पुराणों मे अधिक प्रसिद्ध हैं और इनके कार्यों का भी पुराणो मे अधिक विवरण मिलता है।

---

१ चकार स —ग०। २ नाट्यवेश्म चकार स —घ०।
३ कृत्वा यथोक्तमेव तु गृह पद्मोद्भवाज्ञया इत्यधिक दृश्यते–ग० पुस्तके।
४ सत्तमैः—ग०। ५ अगच्छत्त्वरितो—ख०।

तब ब्रह्माजी, इन्द्र तथा अन्य सभी देवगण उस नाट्यमण्डप को देखने के लिये शीघ्रतापूर्व वहाँ आए और उस नवनिर्मित नाट्यगृह को देख ब्रह्माजी सभी देवगण से बोले—आपको अपने अपने अंशों से इस नाट्यमण्डप की रक्षा करनी चाहिये ॥ ८२–८३ ॥

नाट्यगृह के रक्षक देवताओं की नियुक्ति—

रक्षणे मण्डपस्याथ[1] विनियुक्तस्तु[2] चन्द्रमा।
लोकपालास्तथा[3] दिक्षु विदिक्ष्वपि च मारुताः ॥ ८४ ॥
नेपथ्यभूमौ मित्रस्तु निक्षिप्तो वरुणोऽम्बरे[4]।
वेदिकारक्षणे वह्निर्भाण्डे सर्वदिवौकसः ॥ ८५ ॥
वर्णाश्चत्वारः पचाथ स्तम्भेषु विनियोजिताः।
आदित्याश्चैव रुद्राश्च स्थिताः स्तम्भान्तरेष्वथ ॥ ८६ ॥
धारणीष्वथ[5] भूतानि शालास्वप्सरसस्तथा।
सर्ववेश्मसु यक्षिण्यो महीपृष्ठे महोदधिः ॥ ८७ ॥
द्वारशालानियुक्तौ[6] तु कृतान्तः काल एव च।
स्थापितौ द्वारपार्श्वेषु[7] नागमुख्यौ[8] महाबलौ ॥ ८८ ॥
देहल्यां यमदण्डस्तु शूलं तस्योपरि[9] स्थितम्।
द्वारपालौ स्थितौ चोभौ नियतिर्मृत्युरेव च ॥ ८९ ॥
पार्श्वे च रंगपीठस्य महेन्द्रः स्थितवान्स्वयम्।
स्थापिता मत्तवारण्यां विद्युद्दैत्यनिषूदनी ॥ ९० ॥
स्तम्भेषु मत्तवारण्याः स्थापिताः परिपालने[10]।

---

१. स्यास्य—ख०, मण्डपेऽस्याथ—ग०।
२. नियुक्तो रजनीकर—ख०।
३. यथादिग्लोकपालाश्च—ख०। ४. वरुणेश्वरः—ख०।
५. धरणीषु स्थिता भूता—ग०, धारणेष्वथ भूतानि—ख०।
६ नियुक्तस्तु—ग०। ७ पार्श्वे तु—ग०। ८. नागराजौ—ग०।
९. चोपरि सस्थितम्—ग०। १०. परिरक्षणे—ख०।

भूतयक्षपिशाचाश्च[1] गुह्यकाश्च महाबलाः ॥ ९१ ॥
जर्जरे तु[2] विनिक्षिप्तं वज्रं दैत्यनिबर्हणम्।
तत्पर्वसु विनिक्षिप्ता[3] सुरेन्द्रा ह्यमितौजसः ॥ ९२ ॥
शिरःपर्वस्थितो ब्रह्मा द्वितीये शङ्करस्तथा।
तृतीये च स्थितो विष्णुश्चतुर्थे स्कन्द एव च ॥ ९३ ॥
पञ्चमे च महानागाः शेषवासुकितक्षकाः।
एवं विघ्नविनाशाय स्थापिता जर्जरे सुराः ॥ ९४ ॥

तथा नाट्यमंडप की रक्षा के लिये 'चन्द्रमा' को विशेष रूप से नियुक्त किया। (चारों मुख्य) दिशाओं की रक्षा के लिए उन-उन दिशाओं के लोकपालों को तथा विदिशाओं (कोण दिशाओं) की रक्षा हेतु मरुद्गणों को नियुक्त किया। नेपथ्यभूमि की रक्षा के लिए मित्र को तथा आकाश (खाली प्रदेश) की रक्षा के लिए वरुण को नियुक्त किया। वेदिका (रंगभूमि) की रक्षा में अग्नि को तथा वाद्यों की रक्षा के लिए सभी देवताओं को नियुक्त कर दिया। (इसके) स्तम्भों के पास चारोवर्णों[1] (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) को विशेष प्रकार से नियुक्त किया। स्तम्भों के मध्यवर्ती भागों में आदित्य और रुद्रदेव स्थापित किये। धारणी की (बैठकों की) रक्षा के लिए भूतगणों को, ऊपर की अटारी (शाला) की रक्षार्थ अप्सराओं को, शेष (सारे) स्थानों की रक्षा के लिए यक्षिणियों को तथा फर्श (पृथ्वीतल) की रक्षा के लिये महोदधि (सागर) को नियुक्त किया। नाट्यशाला के द्वारों की रक्षा हेतु कृतान्त काल की तथा द्वारों के पार्श्वों में किवाड़ों के रक्षार्थ दो सर्पाधिपतियों (अनन्त तथा वासुकि) की नियुक्ति की गई। देहली पर यमदण्ड की नियुक्ति की गई और उसके ऊपर शूल को स्थापित किया गया। नियति तथा मृत्यु दोनों देवता द्वारपाल

---

१ 'वर्णाश्चत्वार.' का अर्थ चार वर्ण है। चार रंग या उनके देवता नहीं क्योंकि दूसरे अध्याय में इन स्तम्भों की स्थिति स्पष्ट रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र से सम्बन्ध रखने वाली बतलाई गई है।

---

१ भूता यक्षा पिशाचाश्च—ध०। २ चैव निक्षिप्त—ग०।
३ च निक्षिप्ता—ग०।

के रूप में स्थित हुए। रंगपीठ के पार्श्वकी रक्षार्थ स्वयं महेन्द्र स्थित हुए। मत्तवारणी[1] में दैत्यों की नाशक विद्युत् की स्थापना की गई। मत्तवारणी के (चारों) स्तम्भों में उनके रक्षार्थ महाबलशाली भूत, यक्ष, पिशाच तथा गुह्यकों को स्थापित किया। जर्जर में दैत्यों के नाशक वज्र की स्थापना की गई और उसके पर्वों (पैरों, पौरों) में अपरिमित शक्ति-सम्पन्न देवगण की स्थापना की गई। जर्जर के सबसे पहिले शीर्ष (स्थानीय) पर्व में ब्रह्मा की, दूसरे में शिव की, तीसरे में विष्णु की, चतुर्थ में स्कन्द की तथा पाँचवें में शेष, वासुकि और तक्षक नामक महासर्पों की स्थापना की गई। इस प्रकार विघ्नों के नाश के लिए जर्जर (के विभिन्न भागों) में देवगण की स्थापना की गई॥ ८४–९४॥

रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः।
इत्यर्थं[1] रङ्गमध्ये तु क्रियते पुष्पमोक्षणम्॥ ९५॥

रंगपीठ के मध्यदेश में स्वयं पितामह ब्रह्मा स्थित हुए। इसलिये (नाट्य के प्रारम्भ में) रंग के मध्यभाग में (ब्रह्मा की पूजा की भावना से) पुष्पों को चढ़ाया जाता है॥ ९५॥

पातालवासिनो ये च यक्षगुह्यकपन्नगाः।
अधस्ताद्रङ्गपीठस्य रक्षणे ते[2] नियोजिताः॥ ९६॥

और जो यक्ष, गुह्यक तथा सर्पगण पाताल में निवास करते थे उन्हें रंगपीठ के अधोभाग की रक्षा के लिये वहाँ स्थापित किया गया॥९६॥

नायकं रक्षतीन्द्रस्तु नायिकाञ्च सरस्वती।
विदूषकमथोङ्कारः शेषास्तु प्रकृतीर्हरः॥ ९७॥

नायक की रक्षा इन्द्र देव करते हैं, नायिका की सरस्वती, विदूषक की रक्षा ओंकार और शेष पात्रों की रक्षा भगवान् शिव करते हैं॥ ९७॥

यान्येतानि नियुक्तानि दैवतानीह रक्षणे।
एतान्येवाधिदैवानि भविष्यन्तीत्युवाच सः॥ ९८॥

---

१. मत्तवारणी का स्वरूप आगे (द्वितीय अध्याय में) बतलाया गया है।

---

१. इत्यर्थं—ग०। २. विनियोजिताः—ग०।

(इस प्रकार व्यवस्था करने के बाद) ब्रह्माजी ने कहा कि जिन देवताओं की जिन स्थानों पर रक्षार्थ नियुक्ति की गई है वे भविष्य में इन्हीं स्थानों के अधिदेवता भी होंगे ॥ ९८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवैस्सर्वैरुक्तः पितामहः।
साम्ना तावदिमे विघ्नाः स्थाप्यन्तां वचसा त्वया ॥ ९९ ॥

पूर्वं साम प्रयोक्तव्यं द्वितीयं दानमेव च।
तयोरुपरि भेदस्तु ततो दण्डः प्रयुज्यते ॥ १०० ॥

तब (इसी बीच) देवताओं ने ब्रह्माजी से निवेदन किया कि आपके द्वारा ये विघ्न पहिले साम (शान्त वाणी, आश्वासन, समझौता) के द्वारा रोके जाने चाहिए। सर्वप्रथम साम[1] का प्रयोग किया जाए, फिर दान, फिर भेद का और इन तीनों के बाद ही दण्ड का प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ ९९–१०० ॥

ब्रह्मा द्वारा विघ्नकर्ताओं का उद्बोधन—

देवानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा विघ्नानुवाच[1] ह।
कस्माद्भवन्तो[2] नाट्यस्य विनाशार्थमुपस्थिताः[3] ॥ १०१ ॥
ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा विरूपाक्षोऽब्रवीद्वचः।
दैत्यैर्विघ्नगणैः सार्धं सामपूर्वमिदं ततः[4] ॥ १०२ ॥
योऽयं भगवता सृष्टो नाट्यवेदः सुरेच्छया।
प्रत्यादेशोऽयमस्माकं सुरार्थं भवता कृतः ॥ १०३ ॥
तन्नैतदेवं कर्तव्यं त्वया लोकपितामह।
यथा देवास्तथा दैत्यास्त्वत्तः सर्वे विनिर्गताः ॥ १०४ ॥

देवगण के वचन सुनकर ब्रह्माजी जी ने विघ्नों से कहा–आप इस नाट्य के विनाश के लिए क्यों उद्यत हैं ? ब्रह्माजी के वचनों को सुनकर तब दैत्यों

---

१ विघ्नों के विरुद्ध पूरी व्यवस्था कर लेने पर भी 'साम' का प्रयोग व्यावहारिक यथार्थ तथा आदर्श का समन्वय प्रतीत होता है।

१. वचनमब्रवीत्—ग०। २. कथं भव—ख०।
३. विनाशाय समुत्थिताः—घ०। ४. वचः—ख०।

तथा विघ्नकर्ताओं के अग्रणी विरूपाक्ष ने शान्तिपूर्वक कहना प्रारम्भ किया—हे भगवन्! आपने देवताओं की इच्छा के अनुसार सर्वप्रथम जिस 'नाट्यवेद' की रचना की इसमें आपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिये हमारा निरादर (ही) किया है और हे पितामह, आपके द्वारा ऐसा नहीं किया जाना चाहिये; क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में आपसे जैसे देवगण वैसे ही दैत्यगण भी उत्पन्न हुए हैं ॥ १०१–१०४ ॥

विघ्नानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत्।
अलं वो मन्युना दैत्या विषादं त्यजतानघा ॥ १०५ ॥
भवतां देवतानाञ्च शुभाशुभविकल्पकः[1]।
कर्मभावान्वयापेक्षी[2] नाट्यवेदो मया कृतः ॥ १०६ ॥

विरूपाक्ष के वचन सुन ब्रह्माजी बोले—हे दैत्यों, आपका क्रोध व्यर्थ है; आप इस विषाद को छोड़ दीजिये। मेरे द्वारा यह जो नाट्यवेद निर्मित किया गया है यह आपके तथा देवगणों (दोनों) के शुभ तथा अशुभ कर्मों को बतलाने वाला तथा दोनों के कर्म, वंश तथा भावों को (उसी प्रकार) व्यक्त करने वाला है ॥ १०५–१०६ ॥

नाट्यस्वरूप—

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्[3]।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥ १०७ ॥

(अतएव) इस नाट्यवेद में केवल आपके या देवताओं के ही चरित्रों का अनुभावन (कल्पना द्वारा अनुकरण या अभिनय ही) नहीं है (किन्तु) इस नाट्य में तो त्रैलोक्य के (समस्त) भावों का प्रस्तुतीकरण (अनुकीर्तन) होता है ॥

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः[4]।

---

१. अनुकीर्तन का अर्थ है शब्द द्वारा कथन क्योंकि बिना शब्दों के साधारणीकरण का व्यापार सम्भव नहीं। अतएव अनुभावन नहीं किन्तु अनुकीर्तन ही 'नाट्य' है।

---

१ विकल्पकं —ख०। २ वान्वयापेक्षो—ग०।
३ चात्र भावनम्—ग०। ४. क्वचिच्छ्रम —ग०।

क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्काम: क्वचिद्वधः ॥ १०८ ॥

(इसमें) कहीं धर्म है, कहीं क्रीडा, कहीं अर्थ (राजनीति, अर्थनीति) कहीं श्रम, कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम तथा कहीं वध है ॥ १०८ ॥

धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्[1] ।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां[2] दमनक्रिया ॥ १०९ ॥

क्लीबानां धाष्टर्यजननं[3]मुत्साहः शूरमानिनाम् ।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं[4] विदुषामपि ॥ ११० ॥

ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च ।
अर्थोपजीविनामर्थो [5]धृतिरुद्विग्नचेतसाम् ॥ १११ ॥

धर्म परायणों के लिए इसमें धर्म है, काम के प्रयोजनों में प्रवृत्ति रखने वालों के लिये इसमें काम (भी) है। इसमें दुर्विनीतों (उद्दण्ड या अनीति का आश्रय लेने वाले व्यक्तियों) के लिए दण्ड व्यवस्था तथा मदमत्त व्यक्तियों को दमन करने की क्रियाएँ हैं। यह नपुंसकों में धृष्टता का तथा अपने को वीर समझने वाले मनुष्यों में उत्साह का उत्पादक है। (यह) अबोध जनों को विशेष ज्ञान प्रदान करने वाला तथा विद्वानों के ज्ञान को बढ़ाने वाला है। यह ऐश्वर्यशाली प्रभुओं के लिए विलास, दुःख से पीडित व्यक्तियों के लिए स्थिरता, अर्थाश्रित व्यक्तियों के लिए अर्थ तथा विकल-चित्त व्यक्तियों के लिए धीरज देने वाला है ॥ १०९–१११ ॥

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ ११२ ॥

यह अनेक प्रकार के भावों से समन्वित, (उपसम्पन्न—युक्त, मिश्रित) विभिन्न अवस्थाओं वाला तथा लोक व्यवहार का अनुकरण करने वाला है ॥ ११२ ॥

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।

---

१ कामार्थमेविनाम्—ख० । २ विनीताना दमक्रिया—क० ।
३ करण—ग० । ४ वैदग्ध—ख० । ५. वृति—ग० ।

हितोपदेशजननं [1]धृतिक्रीडासुखादिकृत् ॥ ११३ ॥

यह नाट्य उत्तम, मध्यम तथा अधम मनुष्यों के कर्म का आधार लेने वाला तथा हितावह उपदेशों का जनक होगा ॥ ११३ ॥

एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ ।
सर्वोपदेशजननं [2]नाट्यं लोके भविष्यति ॥ ११४ ॥

यह नाट्य रसों, भावों तथा इन सभी (रसभाव आदि) के कार्य और क्रियाओं के द्वारा उपदेश प्रदान करने वाला होगा ॥ ११४ ॥

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
[3]विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ ११५ ॥

यह नाट्य दुःख से, थकावट से तथा शोक से पीडित दीन दुखियों के लिए विश्राम देने वाला होगा ॥ ११५ ॥

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ ११६ ॥

यह नाट्य धर्म, यश और आयु का संवर्धक, हितकारी, बुद्धि का विकास करने वाला तथा संसार को उपदेश देनेवाला होगा ॥ ११६ ॥

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं[4] न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ ११७ ॥

जो नाट्य में न मिले ऐसा न तो कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और न ही कोई कार्य हो सकता है ॥ ११७ ॥

सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥ ११८ ॥

इस नाट्य में सभी शास्त्रों, सभी प्रकार के शिल्पों और विविध प्रकार के (अनेक) कार्यों का सन्निवेश रहता है। इसलिए मैंने इस नाट्य की रचना की है ॥ ११८ ॥

---

१ नाट्यमेतद्भविष्यति—ग० । २ नाट्यमेतद्भविष्यति—ग० ।
३ विश्रामजननं लोके—ग० घ० । ४ न तच्छ्रुतं—ख० ।

तन्नात्र मन्युः कर्तव्यो भवद्भिरमरान् प्रति ।
सप्तद्वीपानुकरणं [1]नाट्ये ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ ११९ ॥

इसलिए देवताओं पर आपको क्रोध नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस नाट्य में सातों[1] द्वीपों (सारे संसार) के भावों का अनुकीर्तन होता है ॥११९॥

[2]देवानामसुराणाञ्च राज्ञामथ[3] कुटुम्बिनाम् ।
ब्रह्मर्षीणाञ्च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम् ॥ १२० ॥

इस नाट्य को देवगण, असुर, राजा, गृहस्थीजन तथा ब्रह्मर्षिजन के वृत्तान्त को प्रदर्शित करने वाला जानिये ॥ १२० ॥

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥ १२१ ॥

सुख और दुःख से मिश्रित (या युक्त) जो लोक प्रकृतियाँ (स्वभाव) हैं वही आङ्गिक आदि अभिनय से युक्त होकर 'नाट्य' कहलाती है ॥ १२१॥

वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
विनोदकरणं[4] लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ १२२ ॥

यह नाट्य संसार में वेदों, विद्याओं और इतिहास की गाथाओं की परिकल्पना करने वाला होकर प्रजाजन के मनोविनोद का कर्ता होगा ॥ १२२॥

श्रुतिस्मृतिसदाचार-परिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति[5] ॥ १२३ ॥

---

१. पौराणिक वर्णन के अनुसार समस्त भूखण्ड सात द्वीपों में विभाजित है । यथा—(१) जम्बू, (२) प्लक्ष, (३) शाल्मलि, (४) कुश, (५) क्रौंच, (६) शाक तथा (७) पुष्कर । भारतवर्ष जम्बूद्वीप के अन्तर्गत आता है ।

---

१. नाट्यमेतद्भविष्यति—क०, ख० । २. देवानामित्यादि पद्यद्वयी ग० पु० नास्ति । ३. राज्ञा लोकस्य चैव हि—घ० । ४. विनोदजननं काले—ग० ।

५. इत्यस्याग्रे—देवतानामृषीणाञ्च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् । कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते । इत्यधिकं पद्यं वर्तते—ग० पुस्तके ।

अर्चना करेगा वह शुभ अर्थों की (धन, वस्तु आदि इष्ट पदार्थों की) तथा स्वर्ग की प्राप्ति भी करेगा ॥ १३० ॥

एवमुक्त्वा[1] तु भगवान् द्रुहिणः सह दैवतैः ।
रङ्गपूजाङ्कुरुष्वेति मामेवं समबोधयत् ॥ १३१ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे नाट्योत्पत्तिर्नाम प्रथमोध्यायः ।



ब्रह्माजी ने इस प्रकार कह कर मुझे तथा देवताओं को इसी विधान तथा प्रकारों से रंग की पूजा करने को प्रेरित किया ॥ १३१ ॥

भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की प्रदीप व्याख्या का 'नाट्योत्पत्ति' नामक प्रथम अध्याय सम्पूर्ण ॥ १ ॥



१. एव भवत्विति प्राह—ग० ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रेक्षागृह के विषय में मुनियों का प्रश्न

भरतस्य वचः श्रुत्वा [1]पप्रच्छुर्मुनयस्ततः।
भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजनं रङ्गसंश्रयम् ॥ १ ॥
अथ वा याः क्रियास्तत्र लक्षणं यच्च पूजनम्।
भविष्यद्भिर्नरैः कार्यं कथं तन्नाट्यवेश्मनि ॥ २ ॥

भरत मुनि के वचनों को सुन पुनः मुनिगण बोले—भगवन् ! हम 'रंग मंच' पर होने वाले पूजन आदि का विधान सुनना चाहते हैं। अथवा उस रंगपीठ की भविष्य में मनुष्यों द्वारा किस प्रकार रचना (क्रियाएँ[1]) की जाए तथा इसके लक्षण, आकार, परिमाण तथा अधिकारी देवताओं का पूजन विधान क्या होगा इसे भी बतलाइये ॥ १–२ ॥

इहादिर्नाट्ययोगस्य [2]नाट्यमण्डप एव हि।
तस्मात्तस्यैव तावत्त्वं लक्षणं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

क्योंकि नाट्य का प्रारम्भिक तत्त्व रंगमंच है अतएव आप सर्वप्रथम 'नाट्यगृह' के लक्षण (आकार, परिमाण, स्वरूप आदि) ही बतलाने की कृपा करें ॥ ३ ॥

नाट्यगृह के प्रकार

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतोऽब्रवीत्।
लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाट्यवेश्मनः ॥ ४ ॥

---

१ इस कारिका मे क्रिया तथा यजन शब्दो के क्रमश रखने का विशेष हेतु है। क्रिया शब्द 'नाट्यमण्डप' की रचना तथा लक्षण शब्द उसके विशेष आकार का बोधक है। भूतकाल के व्यक्तियो को बतलाना व्यर्थ है अतएव 'भविष्यद्भि' शब्द का तथा देवगण के लिये सकल्पमात्र से सब कार्य सिद्ध हो जाने के कारण, 'नरै' शब्द का प्रयोग किया गया है।

---

१. प्रपच्छुः—ग०। २. कीर्तितो नाट्यमण्डप—च०।

मुनिगण की बात सुन भरत मुनि बोले—पहिले आप 'नाट्यगृह' का लक्षण (आकार आदि) तथा पूजन-विधान (दोनों) सुनिये ॥ ४ ॥

दिव्यानां[1] मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च।
यथाभावाभिनिर्वर्त्याः सर्वे भावास्तु मानुषाः।
नराणां यत्नतः कार्या लक्षणाभिहिता क्रिया ॥ ५ ॥

श्रूयतां तद्यथा यत्र कर्तव्यो नाट्यमण्डपः।
तस्य वास्तु च पूजा च तथा योज्या[2]प्रयत्नतः ॥ ६ ॥

इह प्रेक्षागृहं[3] दृष्ट्वा धीमता विश्वकर्मणा।
त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः ॥ ७ ॥

विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डपः।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम् । ८ ॥

देवताओं[1] को गृह तथा उपवन निर्माण में मानसी शक्ति प्राप्त है (अर्थात् देवगण अपने इच्छानुसार गृह तथा उपवन का निर्माण (मन के द्वारा ही) कर लेते हैं अतः उनके लिए निर्माण विधि आवश्यक नहीं है) किन्तु मनुष्यों के लिये तो सभी शास्त्र के नियमों से युक्त होकर ही सम्पन्न होने वाले कार्य हुआ करते हैं (इसलिये मनुष्यों को तो लक्षणानुसार ही नाट्यगृह का निर्माण करना चाहिये)।

(अतएव) अब आप नाट्यगृह के स्थान, उसका निर्माण प्रकार (प्रमाण आदि) तथा पूजन-विधान को—जो कि प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये सुनिये।

---

१. यह श्लोक आगे भी आया है तथा वहीं अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इससे यह भी सूचित होता है कि नाट्यगृहों की अधिक आवश्यकता मनुष्यों के लिये ही है, देवगण के लिये नहीं और इनका स्वरूप बतलाना भी इसी कारण आवश्यक है।

१ देवाना—ख०। २. च वास्तुषु—ग०।
३. प्रेक्षागृहाणान्तु—ग०।

बुद्धिमान विश्वकर्मा ने 'नाट्यगृह' के विषय में विचार कर उसके शास्त्रानुसार तीन प्रकार बतलाए हैं जिनके नाम हैं (१) विकृष्ट, (२) चतुरस्र तथा (३) त्र्यस्र। इनके माप (परिमाण) तीन प्रकार के होते हैं—(१) ज्येष्ठ (बड़ा), (२) मध्य (मझला) तथा (३) अवर सबसे छोटा ॥ ५–८ ॥

प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्।
शतं चाष्टौ चतु षष्टिर्हस्ता[1] द्वात्रिंशदेव च ॥ ९ ॥

अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्।
कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता[2] द्वात्रिंशदिष्यते ॥ १० ॥

देवानां तु भवेज्ज्येष्ठं[3] नृपाणां मध्यमं भवेत्।
शेषाणां प्रकृतीनां तु कनीयः संविधीयते ॥ ११ ॥

प्रेक्षागृहाणां[4] सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम्।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत् ॥ १२ ॥

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥ १३ ॥

इन नाट्यगृहों का परिमाण हाथ[1] तथा दण्ड के आधार पर निश्चित किया जाता है। इनके माप हैं एक सौ आठ, चौंसठ तथा बत्तीस हाथ की एक भुजा। एक सौ आठ हाथ वाला प्रेक्षागृह ज्येष्ठ, चौंसठ हाथ वाला मध्य तथा बत्तीस हाथ वाला कनिष्ठ होता है। देवताओं का नाट्यगृह,[2]

---

१ हस्त और दण्ड के लक्षण इसी अध्याय (२।१६।१९) में हैं।

२ कुछ लोगों का मत है कि विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र ही क्रमशः ज्येष्ठ,

---

१ द्वात्रिंशच्चेति निश्चितम—ग०। २ द्वात्रिंशत्करमिष्यते—ग०। ३ भवन ज्येष्ठ—ग०। ४ 'प्रेक्षागृहाणां सर्वेषामित्यारभ्य नाट्यवेदप्रयोक्तृभि'-रित्यन्तं पद्यद्वय ग० पुस्तके नास्ति।

ज्येष्ठ, राजाओं का मध्यम तथा शेष सामान्य प्रजाजन के लिए अवर नाट्यगृह का संविधान किया जाना चाहिए। इन सभी प्रेक्षागृहों में मध्यम परिमाण का प्रेक्षागृह प्रशस्त होता है क्योंकि उसमें पाठ्य तथा गीत को सुखपूर्वक सुना जा सकता है। इस प्रकार प्रेक्षागृहों के विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र नामक ये तीन प्रकार बतलाये गये ॥ ९–१३ ॥

मध्यम तथा अवर होते है। अन्य लोगो का कहना है कि प्रत्येक के तीन तीन भेद होते हैं और इस प्रकार नौ भेद होगे। अभिनवगुप्ताचार्य ने भी इसी व्यवस्था को उचित माना है। (एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनि इतिकेचित्, अन्ये तु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवैतऽन्न भेदा इत्याहु, एतदेव युक्तम्—अ० भा० Vol I. पृ० ४९) इसके हस्त तथा दण्ड के अनुसार भेदो की कल्पना कर लेने पर १८ भेद हो जाते हैं। ये निम्न प्रकार से बनते हैं। यथा —

(१) हस्तप्रमाण ज्येष्ठ (२) हस्तप्रमाण ज्येष्ठ चतुरस्र (३) हस्तप्रमाण ज्येष्ठ त्र्यस्र (४) हस्तप्रमाण मध्य विकृष्ट (५) हस्तप्रमाण मध्य चतुरस्र (६) हस्तप्रमाण मध्य त्र्यस्र (७) हस्तप्रमाण अवर विकृष्ट (८) हस्तप्रमाण अवर चतुरस्र (९) हस्तप्रमाण अवर त्र्यस्र।

(१) दण्डप्रमण ज्येष्ठ विकृष्ट (२) दण्डप्रमाण ज्येष्ठ चतुरस्र (३) दण्डप्रमाण ज्येष्ठ त्र्यस्र (४) दण्डप्रमाण मध्य विकृष्ट (५) दण्डप्रमाण मध्य चतुरस्र (६) दण्डप्रमाण मध्य त्र्यस्र (७) दण्डप्रमाण अवर विकृष्ट (८) दण्डप्रमाण अवर चतुरस्र (९) दण्डप्रमाण अवर त्र्यस्र।

इन सभी नाटचगृहो मे मध्यम नाटचगृह श्रेष्ठ होता है। इसका कारण है अभिनय की स्वाभिकता की रक्षा। अभिनवगुप्ताचार्य ने बतलाया है कि देवता, भूपति तथा प्रजा का जो यहाँ वर्णन किया है वे पात्र रूप मे है, प्रेक्षक रूप मे नही। पर प्रेक्षक के रूप मे भी उन्हे यहाँ मानना उचित है क्योकि ये नाटचगृह उन्हे प्रेक्षक मान कर तथा उनकी सुविधाओ को ध्यान मे रखते हुए बनाए गए हैं। यूनान के बडे मचो मे जो असुविधाएँ होती थी वे इन मचो मे कदाचित् नही हो पाती थी, यह सहज ही अनुमान भी किया जा सकता है।

नाट्यगृह के तीन परिमाण (माप)

कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं तु मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः ॥ १४ ॥

त्र्यस्र सबसे छोटा और चतुरस्र मध्यम आकारवाला होता है तथा नाट्य वेद के ज्ञाता एवं प्रयोक्तागण 'विकृष्ट' (ज्येष्ठ) को सबसे बड़े आकार वाला समझें ॥ १४ ॥

प्रेक्षागृहों के प्रमाण तथा लक्षण—

प्रमाणं यच्च निर्दिष्टं लक्षणं विश्वकर्मणा ।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तच्चैव हि निबोधत ॥ १५ ॥

अणू रजश्च लिक्षा यूका यवस्तथा ।
अंगुलश्च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः ॥ १६ ॥

अणवोऽष्टौ रजः प्रोक्तं तान्यष्टौ वाल उच्यते ।
वालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा यूका लिक्षाष्टकं भवेत् ॥ १७ ॥

यूकास्त्वष्टौ यवो ज्ञेयो यवास्त्वष्टौ तथाङ्गुलम् ।
अङ्गुलानि तथा हस्तश्चतुर्विंशतिरुच्यते ॥ १८ ॥

चतुर्हस्तो भवेद्दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः ।
अनेनैव प्रमाणेन वक्ष्याम्येषां विनिर्णयम् ॥ १९ ॥

विश्वकर्मा ने (सभी प्रकार के) इन प्रेक्षागृहों के जो लक्षण तथा प्रमाण[1] निर्दिष्ट किए हैं इन्हें भी अब आप जानिये । अणु, रज, बाल, लीख

---

१ यहां जो माप तौल का प्रमाण बतलाया गया है वही (प्राय) प्राचीन काल मे प्रचलित था । कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी यही प्रमाण मिलता है । (द्रष्टव्य—अ० शा० २।१०) पाणिनि की अष्टाध्यायी मे भी इसी प्रकार का मापतौल का प्रमाण बतलाया गया है । द्रष्टव्य—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष (अष्टाध्यायी ५।४।८६ पर)

१ यव प्रोक्त —ग० ।

(जू का अण्डा), जू, जौ, अगुली, हस्त तथा दण्ड ये नौ नाप के उत्तरोत्तर बढते हुए परिमाण हैं। आठ अणुओं का एक रज होता है, आठ रजों का एक बाल, आठ बालों की एक लीख तथा आठ लीखों से एक जू होती है। आठ जू से एक जौ तथा आठ जौ का एक अगुल होता है। चौबीस अगुल का एक हाथ तथा चार हाथ का एक दण्ड कहलाता है। इसी प्रमाण विधि के अनुसार अब मैं प्रेक्षागृहों के आकार (प्रमाण) का निश्चय करता हूँ ॥ १५–१९ ॥

मनुष्यों के लिए निर्मित प्रेक्षागृह का स्वरूप—

चतु.षष्टिकरान्कुर्याद्दीर्घत्वेन तु मण्डपम्।
द्वात्रिंशेन तु विस्तारं मर्त्यानां यो भवेदिह[1] ॥ २० ॥

इस पृथ्वी पर मनुष्यों के लिए जो नाट्यगृह निर्माण किया जाए उसकी लम्बाई ६४ हाथ तथा चौडाई ३२ हाथ रखनी चाहिए ॥ २० ॥

विस्तीर्ण प्रेक्षागृह की अनुपयोगिता—

अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डप ।
यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र नाट्यं व्रजेदिति[2] ॥ २१ ॥

निर्मातागण इससे बडा नाट्यगृह निर्माण न करें क्योंकि प्रेक्षागृहों के अधिक विस्तीर्ण होने पर उनमें उच्चारित किये जाने वाले स्वरयुक्त पाठ्य (सवाद, गीत) तथा प्रस्तुत किया जाने वाला नाट्याभिनय अस्पष्ट होने लगेगा ॥ २१ ॥

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चा[3]रितस्वरम्।
अनिस्सरणधर्मत्वाद्विस्वरत्वं[4] भृशं व्रजेत्[5] ॥ २२ ॥
[6]यश्चाप्यास्यगतो भावो[7] नानादृष्टिसमन्वितः।
स वेश्मन. प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम् ॥ २३ ॥

---

१ यो भवेदिह—ख०। द्वात्रिंशतश्च विस्तारान् मर्त्याना योजयेदिह—ग० घ०। २ भवेदिति—ग०। ३ मुच्चरित—घ०।
४ अनभिव्यक्तवर्णत्वात्—ग०। ५ व्रजेदिति—क०।
६ यश्च लास्यगतो—ग०, यस्य लास्य—ख० घ०।
७ भावसृष्टिरसाश्रय—ग०, भावदृष्टिसमन्वित —घ०।

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते।

यस्मात्पाठ्यञ्च[1] गेयञ्च तत्र[2] श्रव्यतरं भवेत्॥ २४॥

(प्रेक्षागृह के लम्बे होने पर) कथोपकथन तथा गीतों में वर्णों के ठीक तरह से (स्फुटरूप में) उच्चारण (प्रकट) न होने से अतिशय बेसुरापन (विस्वरता) हो जाएगा और अभिनेताओं के मुखों पर स्थित नाना दृष्टियों से समन्वित भाव भी (प्रेक्षागृह के विस्तीर्ण होने के कारण) अस्पष्ट हो जाएँगे। इसलिए सभी प्रेक्षागृहों में मध्यम परिमाण वाला प्रेक्षागृह ही ठीक है, जिनमें संवाद, वाद्य तथा गीत सुखपूर्वक सुने जा सकें॥ २२—२४॥

देवानां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च।

यत्नभावाभिनिष्पन्ना.[3] सर्वे भावा हि मानुषा.॥ २५॥

तस्माद्देवकृतैर्भावैर्न विस्पर्द्धेत मानुषः।

(सब प्रकार के) गृहों तथा उपवन की देवताओं[1] द्वारा मानसी सृष्टि की जाती है किन्तु मनुष्यों द्वारा सब रचनाओं को प्रयत्नपूर्वक (परिश्रम से) निर्माण करना होता है। अतएव मनुष्य को देवताओं की रचना शक्ति से विशेष स्पर्धा नहीं करनी चाहिए॥ २५—२६॥

मानुषस्य[4] तु गेहस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम्॥ २६॥

भूमेर्विभागं पूर्वन्तु परीक्षेत प्रयोजकः।

ततो वास्तुप्रमाणेन[5] प्रारभेत शुभेच्छया॥ २७॥

समा स्थिरा तु कठिना कृष्णा[6] गौरी च या भवेत्।

---

१ देवों तथा मनुष्यों का अन्तर बतलाने का उद्देश्य यह है कि मनुष्यों की दृष्टि तथा कर्णेन्द्रिय शक्ति (श्रवणशक्ति) सीमित है और यह भी कि आगे के (सभी) वर्णन मनुष्यों के लिए ही किए गए हैं।

---

१ वाद्यञ्च—ग०। २ सुख—ग०। ३ यत्नभावाद् विनिष्पन्ना—ग ख०। ४ मनुष्यस्य—ग० ५ प्रमाणञ्च—ग०। ६ कृष्णा गौरी च—घ०।

भूमिस्तत्रैव¹ कर्तव्य. कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ॥ २८ ॥
प्रथमं शोधनं कृत्वा लाङ्गलेन समुत्कृषेत् ।
अस्थि कीलकपालानि तृणगुल्मांश्च शोधयेत् ॥ २९ ॥
शोधयित्वा वसुमतीं प्रमाणं निर्दिशेत्ततः ।

अब मैं मनुष्यों के नाट्यगृह का लक्षण कहता हूँ । नाट्यगृह निर्माण करवाने वाले (शिल्पी) को सर्वप्रथम पृथ्वी के भाग की (जिस पर नाट्यगृह बनवाया जाए) परीक्षा करनी चाहिए ।

तथा वास्तुशास्त्र¹ के प्रमाणानुसार शुभभावना से युक्त हो कार्य प्रारम्भ करे । जो भूमि समतल, स्थिर, कड़ी हो एवं जिसका रंग काला या गौर वर्ण (सफेद या भूरा) हो उसी भूमि पर निर्मातागण नाट्यमण्डप का निर्माण करवाएँ । सर्वप्रथम उस भूमि का शोधन करे फिर उसको हल चलाकर जुतवा दे और उसमें स्थित हड्डी, कीलें, खपड़े, घास (जो कि भूमि में ही बढ़ रहा हो) तथा झाड़ियों को भी साफ कर दे । इस प्रकार भूमि का शोधन कर फिर प्रमाण का (नाप आदि का) निर्देश करे ॥ २९–३० ॥

(निर्माण हेतु) शुभ नक्षत्र—

त्रीण्युत्तराणि² सौम्यञ्च विशाखापि च रेवती ॥ ३० ॥
हस्ततिष्यानुराधाश्च प्रशस्ता नाट्यकर्मणि ।

नाट्यगृह के निर्माण में शुभ नक्षत्र हैं—तीन उत्तरा शब्द युक्त नक्षत्र (अर्थात् उत्तराषाढा, उत्तराफाल्गुनी तथा उत्तरा भाद्रपद), मृगशिरा (सौम्य), विशाखा, रेवती, हस्त, तिष्य तथा अनुराधा ॥ ३०–३१ ॥

---

१ प्राचीन काल में भवन निर्माण शास्त्र अथवा वास्तुशास्त्र पर अधिक साहित्य उपलब्ध था । विश्वकर्मा इसके दूसरे आद्य प्रवर्तक थे तथा मयासुर आदि अनेक विद्वान् तथा शिल्पकार इसके निर्माता थे । सम्प्रति 'मानसारवास्तुसार वास्तुशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ संस्कृत ग्रन्थ है । इसमें भी प्रेक्षागृह का वर्णन (किया गया) है जो लगभग नाट्यशास्त्र जैसा ही है या उससे भी अस्पष्ट ।

---

१ तत्र सु—ग० । २ अयं श्लोकः ख-पुस्तके प्रक्षिप्तः समुपलभ्यते ।

रज्जु-ग्रहण —

पुष्यनक्षत्रयोगेन[1] शुक्लं सूत्रं प्रसारयेत् ॥ ३१ ॥
कार्पासं वाल्वजं[2] वापि मौञ्जं[3] वाल्कलमेव च ।

सूत्रं बुधैस्तु कर्तव्यं यस्य च्छेदो न विद्यते ॥ ३२ ॥
अर्धच्छिन्ने भवेत्सूत्रे स्वामिनो मरणं ध्रुवम् ।

त्रिभागच्छिन्नया[4] रज्ज्वा राष्ट्रकोपो विधीयते ॥ ३३ ॥
छिन्नायां तु चतुर्भागे प्रयोक्तुर्नाश उच्यते ।

हस्तात्प्रभ्रष्टया चापि कश्चिच्चपचयो भवेत् ॥ ३४ ॥
तस्मान्नित्यं प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते ।

कार्यं चैव प्रयत्नेन मानं नाट्यगृहस्य तु ॥ ३५ ॥
मुहूर्तेनानुकूलेन तिथ्या[5] सुकरणेन च ।

ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु पुण्याहं वाचयेत्ततः ॥ ३६ ॥
शान्तितोयं ततो दत्त्वा ततः[6] सूत्रं प्रसारयेत् ।

पुष्य नक्षत्र (के योग) में श्वेत वर्ण के सूत्र[1] को (मापने वाली) सफेद डोरी को) विस्तीर्ण करे । यह सूत्र कपास, ऊन, मूज या किसी वृक्ष की छाल से निर्मित होना चाहिए ।

बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा (इस) डोरी को ऐसी बनानी चाहिए कि वह टूटने न पाए । क्योंकि डोरी के बीच (भाग) से टूटने पर नाट्यगृह के निर्माता या राज्य के स्वामी की निश्चित मृत्यु हो जाती है ।

---

१ सूत्र' बनाने का जो विधान यहाँ दिया गया है मानसार वास्तुशास्त्र में भी प्राय वही मिलता है । इससे चूने में डुबोकर निशान बनाए जाते थे और तब नींव की खुदाई की जाती थी । आज भी ऐसा ही होता है ।

---

१ योगे तु—क०, ग० । २ बादर—ग० ।
३ वाल्कलं मौञ्जमेव च—ग० ४ त्रिभाग—क०, त्रिभागे—क० ।
५ तिथ्या च करणेन च—घ० । ६ तत्र सूत्र—घ० ।

यदि रस्सी तिहाई भाग से टूट जाए तो राष्ट्रविप्लव[1] होता है। चौथे भाग से टूट जाने पर प्रयोक्ता[2] (अभिनय के प्रबन्धक या प्रस्तुत कर्ता) का नाश कहा गया है। यदि यह डोरी (भूमि मापन के समय) हाथ से खिसक कर गिर या टूट जाए तो भी कोई न कोई हानि अवश्य होती है। अतएव रस्सी को सदा बड़ी सावधानी से (मापने के लिए) ग्रहण करना चाहिए। अतः नाट्यगृह हेतु रज्जु से माप यत्नपूर्वक की जानी चाहिए। इसके लिए मुहूर्त[3] और तिथि अनुकूल चाहिए और करण भी शुभ होना चाहिए तथा ऐसा होने पर फिर ब्राह्मणों को तृप्त कर (भोजन, दक्षिणा आदि देकर) पुण्याहवाचन करवाए। तदुपरान्त शान्ति का जल (छिड़क या) छोड़ते हुए सूत्र को धारण करे और उसे फैलाए ॥ ३१–३७ ॥

नाट्यगृह की भूमि योजना—

चतुष्षष्टिकरान्कृत्वा द्विधा कुर्यात्पुनश्च तान् ॥ ३७ ॥

पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधो[1] भूतस्य तस्य तु।

तस्यार्धेन[2] विभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत् ॥ ३८ ॥

पश्चिमे च[3] विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्।

(विकृष्ट तथा मध्यम[3]-परिमाण के प्रेक्षागृह की रचना के लिए) चौसठ

---

१. 'राष्ट्रकोप या राष्ट्रविप्लव का अर्थ है राजनैतिक परिवर्तन या उथलपुथल। प्रयोक्ता का अर्थ है अभिनयनिर्देशक या नाट्याचार्य।

२ ज्योतिषशास्त्र के अनुसार एक मुहूर्त ४८ मिनट का कालांश होता है। चान्द्रतिथि के अर्धभाग को करण कहते हैं जो ११ होते हैं। इन्हें प्रत्येक मुहूर्त के देखते समय विचारना होता है। (देखिये सूर्यसिद्धान्त २।६७, ६८)।

३ 'मध्य विकृष्ट' नाट्यगृह की रचना का यह क्रम है कि इसकी लंबाई ६४ तथा चौड़ाई ३२ हाथ है। दो भागों में बाँट कर पिछले भाग को जो कि १६ हाथ का हो ८, ८, हाथ के दो भागों में विभक्त किया जाए जिसमें पिछला भाग नेपथ्यगृह का तथा अगला भाग रंगपीठ और रंगशीर्ष हो जाता है। नेपथ्यगृह

---

१ द्विधाभूतो भवेच्च य —ग०। २ समम‍र्धं—क०। ३ तु पुनर्भागे–ग०।

हाथ (लम्बी) भूमि को नाप कर उसे दो भागों में विभक्त करे। इनमें जो पीछे का आधा भाग है उसे दो भागों में पुनः बाँट कर उसके अगले पर 'रंगपीठ' और 'रंगशीर्ष' का निर्माण करे तथा शेष पिछले आधे भाग पर (जो रंग-शीर्ष के पीछे है) 'नेपथ्य गृह' को बनवाना चाहिए ॥ ३७–३८ ॥

आधारशिला स्थापन हेतु उत्सव विधान—

विभज्य[1] भागान्विधिवद्यथावदनुपूर्वशः ॥ ३९ ॥

शुभे नक्षत्रयोगे च मण्डपस्य निवेशनम्।

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभिः ॥ ४० ॥

सर्वातोद्यैः[2] प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु।

उत्सार्याणि त्वनिष्टानि [3]पाषण्ड्याश्रमिणस्तथा ॥ ४१ ॥

काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः।

इस प्रकार पूर्व कथित विधि के अनुसार भूमि के भागों को यथावत् विभाजन कर शुभ नक्षत्र तथा योग में शंख दुन्दुभि आदि मंगल वाद्यों के नाद घोष के साथ तथा मृदंग, पणव[1] आदि बाजों को वृन्दवादन सहित बजवाते हुए नाट्य-मण्डप (नाट्यगृह) की आधारशिला स्थापित करनी चाहिए।

और इस मंगलमय उत्सव के अवसर पर अनिष्टकारी जो भी (पदार्थ या मनुष्य) हों उन्हें तथा पाषण्ड[2], सन्यासी, काषायवस्त्रधारी तथा विकलांग मनुष्यों को भी (उस समय) इस स्थान से हटा देना चाहिए ॥ ३९–४२ ॥

अभिनेताओं के विश्राम तथा सज्जा के उपयोगार्थ बनाया जाता था (प्रेक्षागृह का रेखाचित्र देखने पर यह स्पष्ट हो जाएगा) विशेष विवेचन के लिए भूमिका तथा परिशिष्ट भी द्रष्टव्य।

१ अवनद्ध वाद्य का एक प्रकार।

२ यहाँ 'पाखण्ड का बुरा कार्य नहीं किन्तु किसी अन्य समाज या संघ में अन्तर्भुक्त व्यक्ति है। पीछे चलकर इसका अर्थ ढोंगी हो गया।

---

१ विकल्प्य—च०। २ सर्वातोद्यनिनादैश्च—च०। ३ पाषण्डाश्रमि–ग।

निशायाञ्च बलिः कार्यो नानाभोजनसंयुतः ॥ ४२ ॥
गन्धपुष्पफलोपेतो दिशो दश समाश्रितः ।
पूर्वेण शुक्लान्नयुतो नीलान्नो[1] दक्षिणेन च ॥ ४३ ॥
पश्चिमेन बलिः पीतो रक्तश्चैवोत्तरेण तु ।
यादृशं[2] दिशि यस्यान्तु दैवतं परिकल्पितम् ॥ ४४ ॥
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मन्त्रपुरस्कृतः ।

(नींव रखने के दिन) रात्रि में अनेक प्रकार के भोजनों से युक्त, गन्ध, पुष्प और फलों से समन्वित दशों दिशाओं में (उनके अधिष्ठाता रक्षक, देवताओं के हेतु) बलि देना चाहिए। पूर्व दिशा में शुक्ल (सफेद) अन्न की, दक्षिण में नीले, पश्चिम में पीले तथा उत्तर में लाल अन्न की बलि दी जानी चाहिए। जिस दिशा का जो देवता अधिदेव के रूप में बतलाया गया है उस दिशा में वैसी ही मन्त्रों के सहित बलि प्रदान करना चाहिए ॥ ४२-४५ ॥

स्थापने ब्राह्मणेभ्यश्च दातव्यं घृतपायसम् ॥ ४५ ॥
मधुपर्कस्तथा राज्ञे कर्तृभ्यश्च गुडौदनम् ।
नक्षत्रेण तु कर्त्तव्यं मूलेन स्थापनं बुधैः ॥ ४६ ॥
मुहूर्त्तेनानुकूलेन तिथ्या[3] सुकरणेन च ।

गृह स्थापना के (उत्सव के) समय ब्राह्मणों को [1]घृतयुक्त पायस (खीर), राजा को मधुपर्क तथा (अभिनयादि समस्त) कार्य करने वाले व्यक्तियों को गुड धानी दी जानी चाहिए।

---

१ 'घृत' का तात्पर्य मक्खन है। 'मधुपर्क' दही में शहद मिलाकर श्रद्धा॰ विधिपूर्वक राजा आदि को दिया जाता था (दे॰ आश्व॰ गृ॰ सूत्र अ॰ १ तथा मनुस्मृति अ॰ २) और यह वैदिक काल से आज तक एक परम्परागत सदाचार के रूप में प्रचलित है। (१) दही, (२) घृत, (३) जल (४) मधु तथा (५) शक्कर मिलाई जाती है।

१ नीलाभो दक्षिणेन च—च॰
२. यस्या यस्याधिदैवं तु दिशि सम्परिकीर्तितम्—च॰ ।
३ तिथ्यानुकरणेन च—च॰ ।

बुद्धिमान जन इस मण्डप की स्थापना मूल नक्षत्र में अनुकूल मुहूर्त तिथि तथा शुभ करण म करें ॥ ४५–४७ ॥

भित्ति तथा स्तम्भो का निर्माण—

एवन्तु स्थापनं कृत्वा भित्तिकर्मप्रयोजयेत् ॥ ४७ ॥
भित्तिकर्मणि निर्वृत्ते स्तम्भानां स्थापनं तत. ।

(पूर्व प्रतिपादित विधि म) नाट्य मडप की इस प्रकार स्थापना कर फिर भित्ति[1] कर्म (दीवारें बनाने का कार्य) प्रारम्भ करे और उसके पूर्ण हो जाने पर स्तम्भो की स्थापना की जाए ॥ ४७–४८ ॥

तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च ॥ ४८ ॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं रोहिण्या श्रवणेन वा ।
आचार्येण सुयुक्तेन त्रिरात्रोपोषितेन च ॥ ४९ ॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं प्राप्ते सूर्योदये शुभे ।

इन स्तम्भो का स्थापना शुभ तिथि, नक्षत्र, योग तथा (शुभ) करण म की जानी चाहिए । इनकी स्थापना के समय रोहिणी या श्रवण नक्षत्र होना चाहिए ।

एकाग्रचित नाट्याचार्य तीन दिन उपवास रखन क पश्चात् सूर्योदय की शुभ वेला में स्तम्भों की स्थापन विधि (पूर्ण) करे ॥ ४८–५० ॥

[चन्दनन्तु भवेद् ब्राह्मं क्षात्रं खादिरमेव च ।
धावात्यं वैश्यवर्णं स्याच्छूद्रं सर्वद्रुमैस्स्मृतम् ।]

(प्रक्षिप्त) ब्राह्मण स्तम्भ चन्दन का, क्षत्रिय स्तम्भ खैर (खदिर) का, वैश्य स्तम्भ धव (धाय) का तथा अन्य सभी वृक्षों का शूद्र स्तम्भ होता है ।

---

१ ये दीवार ईंटो की बनाई जाती थी क्योंकि दर्शको के उपवेशन स्थल ईंटो से बनाए जाने का नाट्यशास्त्र मे निर्देश मिलता है (अतएव मिट्टी तथा ईंटो से दीवार बनाई जाती थी ऐसा मानना उचित है) सभवत भित्तियाँ १८ हाथ ऊँची बनानी होती थी क्योंकि इससे कम होने पर विवरण से सगति नही बैठती ।

प्रथमे ब्राह्मणस्तम्भे सर्पिस्सर्षपसंस्कृत[1] ॥ ५० ॥
सर्वशुक्लो विधि कार्यो दद्यात् पायसमेव च ।
ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम् ॥ ५१ ॥
सर्वं रक्तं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च गुडौदनम् ।
वैश्यस्तम्भे विधि कार्यो दिग्भागे पश्चिमोत्तरे ॥ ५२ ॥
सर्व पीत प्रदातव्य[2] द्विजेभ्यश्च घृतौदनम् ।
शूद्रस्तम्भे विधिः कार्य सम्यक्पूर्वोत्तराश्रये ॥ ५३ ॥
नीलप्राय प्रयत्नेन कृसर[3] च द्विजाशनम् ।

(ईशान कोण में) सर्वप्रथम स्थापित किये जाने वाले ब्राह्मणस्तम्भ का घी और सरसों से संस्कार करे। इसकी स्थापना के अवसर पर पूजा की समग्र विधि श्वेत वर्ण की वस्तुओं से सम्पन्न की जानी चाहिए तथा ब्राह्मणों को भोजन में पायस (खीर) प्रदान करना चाहिए।

और (आग्नेय कोण में) क्षत्रिय स्तम्भ की स्थापना के अवसर पर वस्त्र, पुष्प और चन्दन सभी रक्त वर्ण के चढाए जाने चाहिए तथा ब्राह्मणों को भोजन में गुड चीनी प्रदान करना चाहिए।

(नैऋत्य दिशा में) वैश्य स्तम्भ की स्थापना नाट्यगृह के पश्चिमोत्तर दिग्भाग में करना चाहिये। इसकी स्थापना के समय सभी पूजन सामग्री पीले रंग वाली वस्तुओं की रखनी चाहिये तथा ब्राह्मणों को भोजन में घृत और भात दिया जाना चाहिये।

पूर्वोत्तर (वायव्य) कोण में स्थापित किये जाने वाले शूद्र स्तम्भ की सभी विधियाँ प्रयत्नपूर्वक नीले वर्ण की सामग्री द्वारा सम्पन्न की जानी चाहिए तथा ब्राह्मणों को भोजन के रूप में कृसर[1] (खिचडी) देनी चाहिये ॥ ५०–५४ ॥

---

१ तिल मिश्रित चावलों की खिचड़ी को कृसर कहते हैं जो दूध में पकाई जाए।

१ सर्पिस्सर्षपसंस्कृते—ग०। २ प्रदातव्य—ग०। ३ कृसरा —ख०।

पूर्वं तु[1] ब्राह्मणस्तम्भे शुक्लमाल्यानुलेपने ॥ ५४ ॥
निक्षिपेत्कनकं मूले [2]कर्णाभरणसंश्रयम्।
ताम्रं चाधः प्रदातव्यं स्तम्भे क्षत्रियसंज्ञके ॥ ५५ ॥
वैश्यस्तम्भस्य मूले तु रजतं सम्प्रदापयेत्।
शूद्रस्तम्भस्य मूले तु दद्यादायसमेव च ॥ ५६ ॥
शेषेष्वपि[3] च निक्षेप्यं स्तम्भमूलेषु काञ्चनम्।

पहले ब्राह्मण स्तम्भ नीचे (मूल में)—जो कि सफेद वस्त्र, पुष्प तथा चन्दन से युक्त है—कान के आभूषण के लिये प्रर्याप्त सोना डाला जाए।

क्षत्रिय स्तम्भ के नीचे ताम्रा तथा वैश्य स्तम्भ के नीचे चांदी डालना चाहिए। शूद्र स्तम्भ के मूल में लोहा तथा शेष स्तम्भों के मूल में सोना डालना चाहिए ॥ ५६–५७ ॥

स्वस्तिपुण्याहघोषेण जयशब्देन चैव हि ॥ ५७ ॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं [4]पुष्पमालापुरस्कृतम्।
रत्नदानैः सगोदानैर्वस्त्रदानैरनल्पकैः ॥ ५८ ॥
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु स्तम्भानुत्थापयेत्ततः[5]।
अचलं चाप्यकम्पञ्च तथैवावलितं[6] पुनः ॥ ५९ ॥
स्तम्भस्योत्थापने सम्यग्दोषा ह्येते प्रकीर्तिता।
अवृष्टिश्चला चलने वलने मृत्युतो[7] भयम् ॥ ६० ॥

---

१ इन स्तम्भों में की गई रंगों की व्यवस्था विविध वर्णों की सूचक है। यथा ब्राह्मण स्तम्भ का श्वेत वर्ण सात्विकता और ज्ञान का, क्षत्रिय का लाल वर्ण शौर्य तथा राजसवृत्ति का, वैश्य का पीतवर्ण सुवर्ण तथा धनसम्पत्ति का तथा शूद्रों का नीलवर्ण तामस वृत्ति का बोधक है।

---

१ पूर्वोक्त—क, पूर्वं च० ख०। २ कण्ठाभरण—क०।
३ सर्वेष्वेव तु, शेषेष्वेव च—क०। ४ पर्णमाला—ग०।
५ स्तम्भमु—ग०। ६ वाचलितं—ग०।
७ मृतितो—घ०।

रगपीठ (की दोनों) बाजू में [दोनो ओर] रगपीठ क माप (लबाई) के बराबर चार खम्भों से युक्त मत्तवारणी[1] की रचना की जाये। इस (मतवारणी) की ऊँचाई डेढ हाथ रखी जाए और इन दोनो मत्तवारणियों के बराबर ही रगपीठ की ऊँचाई रहे ॥ ६७–६९ ॥

तस्यां माल्यञ्च धूपञ्च गन्धं वस्त्रन्तथैव च ॥ ६९ ॥

नानावर्णानि देयानि तथा भूतप्रियो बलि.।

मत्तवारणी के निर्माण (मुहूर्त) के अवसर पर भूतो को इष्ट पदार्थों की बलि तथा अनेक वर्णों के पुष्प, मालाएँ, वस्त्र तथा अनेकविध धूप और सुगन्धित पदार्थ (इत्र, तैल आदि) अर्पण करने चाहिए ॥६९–७०॥

आयसं[1] तत्र दातव्यं स्तम्भानां कुशलैरध[2]. ।

भोजने[3] कृसराश्चैव दातव्यं ब्राह्मणाशनम् ॥ ७० ॥

दक्ष शिल्पीजन इसके स्थापित किये जाने वाले खम्भों के मूल में लोहा रख दें और ब्राह्मणो को खिचडी का भोजन प्रदान करें[2] ॥ ७१ ॥

एवं विधिपुरस्कारैं कर्त्तव्या मत्तवारणी[4] ॥ ७२ ॥

इस प्रकार विधिवत् देवताओं को वस्त्र आदि प्रदान करते हुए मत्तवारणी का निर्माण करना चाहिए ॥ ७२ ॥

रङ्गपीठ—

रङ्गपीठं तत. कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा ।

रङ्गशीर्षन्तु कर्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम् ॥ ७३ ॥

---

१ मत्तवारणी रगपीठ के दोनो ओर बनाये जाने वाले दो बरामदों की शक्ल मे होती थी और इसके चारो कोनो मे ४ खम्भे लगाये जाते थ। मत्तवारणी का प्रवेश और निर्गम करने वाले पात्रो के क्रमश प्रतीक्षा और विश्राम करने मे उपयोग किया जाता था तथा अन्य कार्यों मे भी उपयोग होता था। मत्तवारणी के विषय मे विद्वानो मे मतैक्य नही है [इसका विशेष विवेचन, प्रस्तावना तथा परिशिष्ट मे भी द्रष्टव्य है] इसकी ऊँचाई डेढ हाथ रखी जाती थी।

२ (कुछ प्रतियो मे) यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

---

१ आसन—क०, पायस ग०।　　२ कुशलाय तु—ष०।

३. भोजन कृसरा—क०।　　४. मत्तवारणी—ख०।

कार्यं द्वारद्वयञ्चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु।

इसके बाद (वास्तु शास्त्र आदि के) विधानानुसार 'रङ्गपीठ' का निर्माण किया जाए। इस रंगशीर्ष को षड्दारुक[1] से युक्त करते हुए बनाया जाए। इसके (समीपवर्ती) नेपथ्यगृह में दो दरवाजे रखने चाहिए॥

पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः॥ ७४॥
लाङ्गलेन[1] समुत्कृष्य निर्लोष्टतृणशर्करम्[2]।
लाङ्गले शुद्धवर्णौ तु धुर्यौ योज्यौ प्रयत्नतः॥ ७५॥
कर्तारः पुरुषाश्चात्र येऽङ्गदोषविवर्जिताः[3]।
अहीनाङ्गैश्च वोढव्या मृत्तिका पीवरैर्नवैः[4]॥ ७६॥
एवंविधं[5] प्रकर्तव्यं रङ्गशीर्षं प्रयत्नतः।

इस रंग शीर्ष को भरने के लिये हल से जोत कर ढेलों, घास तथा कंकड़ों से रहित की हुई काली[2] मिट्टी प्रयत्नपूर्वक डालनी चाहिए। हल में श्वेतवर्ण के बैल जोतने चाहिए और इस हल को जोतने वाले मनुष्य अंगहीन (हीन या विकलांग) नहीं होने चाहिए। यह मिट्टी सुदृढ़ तथा बलवान् मनुष्यों के द्वारा ढोई जानी चाहिएँ जो विकलांग न हों। इस प्रकार बड़े (ध्यान तथा) प्रयत्नपूर्वक रंगशीर्ष का निर्माण किया जाए॥७४–७७॥

---

१ लकड़ी के २ खड़े, २ आड़े और २ तिरछे डंडे लगाकर बनाया गया चौखट षड्दारुक कहलाता है। इसे रंगशीर्ष के नीचे लगा देने से उसमें एक तो मजबूती आएगी, दूसरे शब्दों को गूंजने में सहायता मिलेगी। षड्दारुकम की व्याख्या है —षण्णां दारूणां समाहार षड्दारुकम्। [देखिये मानचित्र तथा परिशिष्ट भी]।

२ काली मिट्टी मजबूत और चिपकन वाली होने से रंगमंच मजबूत रहेगा तथा टिकाऊ भी। इसी कारण प्रयत्नपूर्वक काली मिट्टी के भराव करने का मुनि द्वारा निर्देश दिया गया।

---

१ लाङ्गले च—क०। २ निर्लोष्टतृणशर्करा—ग०।
३ शब्ददोषविवर्जिता —क०।
४ पिटकैर्नवैः —क०, पोटकैर्नवैः —घ०। ५ एवंविधैश्च—घ०।

कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ॥ ७७ ॥
शुद्धादर्शतलाकारं[1] रङ्गशीर्षं[2] प्रशस्यते ।

यह रंगशीर्ष न तो कछुए की पीठ के समान (बीच में अधिक उभरा हुआ) और न मछली की पीठ के समान (लंबा एवं दूर तक उभरा हुआ) ही बनाना चाहिए। शुद्ध दर्पण के समान समतल धरातल वाला रंगशीर्ष ही श्रेष्ठ समझा जाता है ॥ ७७–७८ ॥

रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्रं विचक्षणैः ॥ ७८ ॥
वैडूर्यं[3] दक्षिणे पार्श्वे स्फटिकं पश्चिमे तथा ।
प्रवालमुत्तरे चैव मध्ये तु कनकं भवेत् ॥ ७९ ॥
एवं रङ्गशिरः कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत्[4] ।

और चतुर शिल्पीजन के द्वारा इसमें रत्नों (को भी) रखना चाहिए। पूर्व की ओर हीरा, दक्षिण में वैदूर्य (लहसुनिया), पश्चिम में स्फटिक तथा उत्तर में प्रवाल (मूँगा) को लगाना चाहिए। इसके मध्य भाग में सोना रखा जाए। इसी प्रकार रङ्गशीर्ष[1] का निर्माण कर लेने पर फिर लकड़ी का काम आरम्भ करवाना चाहिये ॥ ७८–८० ॥

रंगमञ्च की शोभार्थ दारुकर्म तथा अन्य सजावट के कार्य—

ऊहप्रत्यूहसंयुक्तं नानाशिल्पप्रयोजितम् ॥ ८० ॥
नानासञ्जवनोपेतं[5] बहुव्यालोपशोभितम् ।
ससालभञ्जिकाभिश्च[6] समन्तात्समलंकृतम् ॥ ८१ ॥

---

१ रंगशीर्ष तथा रंगपीठ ये दोनों प्रेक्षागृह में दो भिन्न विभाग हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हें पृथक् मान कर ही व्याख्या की है जो उचित होती है। (विवेचन अन्यत्र द्रष्टव्य)।

---

१ शुद्धादर्शतलप्रख्य—ख०। २ रङ्गपीठ—ग०।
३ वैदूर्य—ख०, ग०। ४ प्रवर्तयेत्—ग०। ५ मधुवरी—ख०, ग०।
६ अट्टालभञ्जिकाभिश्च—ग० भवेयु चात्र विचरता विविधा शालभञ्जिका इति क० पु० अधिकम्।

[1]निर्व्यूहकुहरोपेतं नानाग्रथितवेदिकम्।
नानाविन्याससंयुक्तं [2]चित्रजालगवाक्षकम् ॥ ८२ ॥
सुपीठधारणी[3]युक्तं कपोतालीसमाकुलम्।
नानाकुट्टिमविन्यस्तैः स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम् ॥ ८३ ॥
एवं काष्ठविधिं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत्[4]।

यह लकड़ी का कार्य बहुत सोच विचार तथा निरीक्षण करते हुए (ऊहप्रत्यूह[1]) किया जाए। इसमें विविध प्रकार की कारीगरी [शिल्प] रहनी चाहिए। इसमें अनेक तख्ता का—जो भित्ति के समान दिखाई दें—प्रयोग किया जाना चाहिए। अनेक हाथी (या सर्प आदि) की आकृतियाँ इनमें खुदवायी जाएँ। इनमें सुन्दर पुत्तलियाँ खुदवायी जाएँ, इसकी

---

१ ऊह प्रत्यूह, निर्यूह तथा कुहर शब्द शिल्पशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। परन्तु किसी प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थ में काष्ठशिल्प का व्यवस्थित उल्लेख प्राप्त न होने से विश्वासपूर्वक कुछ भी कहने की स्थिति सम्भव नहीं। यहाँ 'निर्यूहकुहरोपेतम' का अर्थ होगा लकड़ी के कोरों पर निर्मित खुदाई। यह शिल्पशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है जो उस समय प्रचलित रहा होगा। दीवार में चुनी हुई लकड़ी का बाहरी भाग भी 'निर्यूह' कहलाता है। (निर्यूह का अन्य अर्थ है कपोतपालिका परन्तु वह यहाँ पुनरुक्त हो जाने के कारण नहीं लिया जायगा क्योंकि 'कपोताली' शब्द इसी वर्णन में आया है) यदि निर्व्यूह पाठान्तर को माना जाय तो अर्थ होगा निश्चित स्वरूप वाले व्यवस्थापित छिद्रों से युक्त। मानसार वास्तुशास्त्र में 'निर्यूह' शब्द का अर्थ शिरोभूषण भी दिया है अभिनवगुप्त की व्याख्या इस स्थल पर विशेष प्रकाश नहीं डालती। 'यन्त्र' शब्द का एक अर्थ कुंडी (साँकल) है। 'कपोताली' का अर्थ है 'कपोतपालिका' या कबूतरों की छतरी। अन्य अर्थ इसका वही है जो 'निर्यूह' का है। माघ ने वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीड (३।५५) में निर्यूह शब्द का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य भी उपर्युक्त ही प्रतीत होता है।

---

१ निर्यूह—ग०। २. यन्त्रजाल—ग०।
३. धरणी—ग०। ४ प्रवर्तयेत्—क, ग०।

वेदिकाओं के नानाविध चित्र बाहर निकले हुए (निर्यूह) और भीतर खुदे हुए (कुहर) रहना चाहिए। इनकी रचना अनेक शैलियों से युक्त रहनी चाहिए और इनकी जालियाँ और झरोखे एक विचित्र सजावट के लिये हुए होने चाहिए। इनमें विद्यमान खम्भों के ऊपर सुन्दर तुलाएँ [धारणी] लगायी जाएँ जिनमें विचित्र स्वरूप वाली कबूतरों की छतरियाँ पंक्तिबद्ध (रखी हुई) दिखाई दें तथा फर्श पर खड़े किये गये खम्भों पर अनेक तरह की चित्रकारी रहनी चाहिये। इस प्रकार जब लकड़ी का कार्य और सजावट (आदि) पूर्ण हो जाए तो फिर दीवारों को उठाने का कार्य आरंभ किया जावे।

स्तम्भं वा नागदन्तं वा वातायनमथापि वा ॥ ८४ ॥

कोणं[1] वा सप्रतिद्वारं [2]द्वारविद्धं न कारयेत्।

दीवारों को उठाने के अवसर पर कोई खम्भा, खूँटी, झरोखा या खिड़की अथवा कोना किसी दरवाजे के सामने न आने पावे अथवा किसी दरवाजे के सामने दूसरा दरवाजा न रखा जावे [या न खुलने पावे] ॥ ८४–८५ ॥

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ॥ ८५ ॥

मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान्[3]।

तस्मान्निवातः कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ॥ ८६ ॥

गंभीरस्वरता[4] येन कुतपस्य भवेदिति[5]।

यह नाट्यमण्डप (नाट्यगृह) पर्वत की गुफा के समान आकार लिये हुए और द्विभूमि[1] (पहले नीचा और फिर क्रमशः ऊँचा होने वाला या

---

१ 'द्विभूमि नाट्यमण्डप का आशय है कि नाट्यमण्डप दो मंजिला बनाया जाए। प्राचीन नाटकों में कुछ ऐसे दृश्य हैं जो दो मंजिले मण्डपों पर ही अभिनीत हो सकते थे। कुछ विद्वानों के अनुसार यह ऊँचे नीचे दो धरातलों के कारण द्विभूमि कहलाता है क्योंकि नेपथ्य और रंगशीर्ष का तल एक समान न ही होता। शैल्पिक विधाओं के पर्यालोचक द्विभूमि का अर्थ दो छत करते हैं। पर द्विभूमि का अर्थ दो फर्श 'नाट्यशास्त्र' से थोड़ा मेलताल रखता

---

१ कार्ष्णायस—क०। २ दारुविद्ध—ग०। ३ धीरशब्दभाक्—ग०।
४ गाम्भीर्यं सुस्वरत्वञ्च कुतपस्य भवेदिति—ग०।
५ भविष्यति—घ०।

दुमजिला) बनाया जाए। इसमें झरोखे या खिड़कियों से हल्की-हल्की हवा आती रहनी चाहिए, यह तेज हवा से रहित (निर्वात) और गम्भीर शब्दों को गुँजाने वाला होना चाहिए [अर्थात् जिसमें उच्चरित शब्द की प्रतिध्वनि होती रहे।]। शिल्पीजन इसको निवात [जिसमें तेज हवा न आ पाए ऐसा] ही बनाएँ क्योंकि ऐसे मण्डप में सभी प्रकार के वाद्यों (कुतप) की ध्वनि से स्वरगत गाम्भीर्य बना रहता है ॥८५–८७॥

भित्तिकर्मविधिं कृत्वा भित्तिलेपं प्रदापयेत् ॥ ८७ ॥

सुधाकर्म बहिस्तस्य[1] विधातव्यं प्रयत्नत:।

भित्तियों को उठाने के बाद इन पर [पिसे हुए शख, सीप आदि को बालू में मिला कर] चूने से लेप (पलस्तर) चढाया जाए और इसके बाहरी भाग पर ध्यान पूर्वक चूने की पुताई की जाए ॥ ८७–८८ ॥

भित्तिष्वथ[2] विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वत:॥ ८८ ॥

समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत्[3]।

दीवारों पर पलस्तर हो जाने और (उनकी) घिसाई, घुटाई आदि हो जाने से चिकनी और समतल बन जाने के बाद इन भित्तियों पर चित्र रचना करवायी जाए ॥ ८८–८९ ॥

चित्रकर्मणि चालेख्या: पुरुषा: स्त्रीजनास्तथा ॥ ८९ ॥

लताबन्धाश्च कर्त्तव्याश्चरितश्चात्मभोगजम्।

अंकित किये जाने वाले चित्रों में लताबन्ध[1] तथा अन्य विलास क्रीडाओं वाले स्त्री पुरुषों के चरित्र प्रदर्शित करने वाले चित्र रहें ॥८९–९०॥

है। अभिनवगुप्त ने इस विषय में कई व्याख्याकारों के मन्तव्य उपस्थित किये हैं और इस प्रकार इस स्थल को विचारणीय कोटि में रख दिया है। निश्चय ही 'द्विभूमि' का अर्थ 'दो फर्श' उचित होगा।

१ 'लताबन्ध' या 'लतावेष्टन सभोग के प्रकार हैं। आत्मभोगजम् का अर्थ है स्त्री-पुरुषों की विलास क्रीडा या स्वय के आनन्द से उत्पन्न होने वाले चरित। (चित्रकर्म 'अजन्ता' के चित्रों में आज भी देखा जा सकता है)।

---

१ तथैवस्य कुर्याद् बाह्ये प्रयत्नत —घ०।

२ भित्तिष्वपि च लिप्तासु—ग०। ३ प्रवर्तयेत्—ग०।

एवं विकृष्टं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः ॥ ९० ॥

विकृष्ट [आयताकार] नाट्यगृह की इसी प्रकार प्रयोक्ताजन रचना करें ॥

चतुरस्र नाट्य गृह का स्वरूप—

पुनरेव[1] हि वक्ष्यामि चतुरस्रस्य लक्षणम् ।
समन्ततश्च[2] कर्तव्या हस्ता द्वात्रिंशदेव हि ॥ ९१ ॥
शुभभूमिविभागस्थो नाट्यज्ञैर्नाट्यमण्डपः ।

अब मैं 'चतुरस्र' नाट्यगृह का लक्षण बतलाता हूँ—नाट्य के विज्ञाता पुरुषों के द्वारा शुद्ध भूमि पर विभाग पूर्वक अवस्थित चतुरस्र नाट्यगृह चारों ओर (चारों भुजाओं में) ३२ हाथ के प्रमाण का (चौकोन) बनाया जाना चाहिए ॥ ९१–९२ ॥

यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु लक्षणं मङ्गलानि च ॥ ९२ ॥
विकृष्टे[3] तान्यशेषाणि चतुरस्रेऽपि कारयेत् ।

विकृष्ट नाट्यगृह के विषय में जो विधियाँ, लक्षण तथा मांगलिक विधि-विधान बतलाए गये हैं व सभी चतुरस्र नाट्यगृह में भी (निर्माण आदि के अवसर पर सम्पन्न) किये जाएँ ॥ ९२–९३ ॥

चतुरस्रं समं कृत्वा सूत्रेण प्रविभज्य च ॥ ९३ ॥
बाह्यतः सर्वतः कार्या भित्तिः श्लिष्टेष्टका दृढा ।

चतुरस्र नाट्यगृह के क्षेत्र का समान विभाग कर तथा उसे सूत से [चारों ओर समान ३२ × ३२ हाथ] नापते हुए उसके बाहरी भाग से सटी हुई ईंटों की दृढ दीवार उठा दी जाए ॥ ९३ ॥

तत्राभ्यन्तरतः कार्याः रङ्गपीठोपरि[4] स्थिताः ।
दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शस्ताः मण्डपधारणे ॥ ९४ ॥

इसमें (रंगपीठ में) भीतर की ओर दिशा के विचार के अनुसार

---

१. अत परं प्रवक्ष्यामि—ग० । २ समन्ततस्तु कर्तव्यो—ग० ।
३. चतुरस्रस्य तान्येव कारयेन्नाट्यवेश्मन —ग० ।
४. रङ्गपीठे तदा दिशम्—घ० ।

निर्माता गण दस स्तम्भों को खड़ा करें जो इस मण्डप को सम्हालने में सक्षम हों[1] ॥ ९४ ॥

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृतिपीठकम् ।
इष्टका-दारुभि कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ॥ ९५ ॥

स्तम्भों से बाहर की ओर प्रेक्षकों के बैठने के लिए ईंटों तथा लकड़ियों द्वारा सीढ़ियों के आकार में पीठक (आसन) बनाना चाहिए[2] ॥ ९५ ॥

हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितै ।
रङ्गपीठावलोक्यञ्च[1] कुर्यादासनजं[2] विधिम् ॥ ९६ ॥

धरातल से एक हाथ ऊपर उठती हुई सीढ़ियों जैसी दर्शकों के लिए ऐसी बैठकें बनाई जाएँ जहाँ से रंगपीठ भलीभाँति दिखलायी दे ॥ ९६ ॥

षट्स्थानन्तरं[3] चैव पुन स्तम्भान्यथादिशम् ।
विधिना स्थापयेत्तज्ज्ञो[4] दृढान्मण्डपधारणे ॥ ९७ ॥

और फिर विज्ञाता शिल्पी उचित दिशाओं में (प्रत्यक् दिशाओं में) अन्तर देते हुए मण्डप को धारण करने में समर्थ छ दृढ स्तम्भों को लगावे ।

अष्टौ स्तम्भान्पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत् ।[5]
विष्कम्भमष्टहस्तं च पीठं तेषु ततो न्यसेत् ॥ ९८ ॥

---

[1] मूल में इन दस स्तम्भों की स्थिति स्पष्ट नहीं होती । अभिनवभारती का विवेचन भी उलझा हुआ है । अतएव इसका तात्पर्य वैसा ही होना चाहिए जैसा कि हमारा मानचित्र है । (इसका विशेष विवेचन प्रस्तावना में भी देखिये) ।

२ सोपानाकृतिपीठकम् का आशय है आसनों की प्रथम पंक्ति पृथ्वी से ऊँची हो फिर क्रमश एक दूसरे से ऊँची रखी जाएँ । ये कितनी ऊँची हो इसका विवेचन नहीं मिलता है पर सम्भवत ये आठ इंच तक रखी जा सकती हैं ।

---

१ रङ्गपीठविलोक्य च—ग० । २ दासनिक—ग० ।
३ षट्स्थान सुदरान दद्यात्—ग० । ४ धारयेत्—ग० ।
५ कारयेत्—ग० । ६ सम्थाप्यात्र पुन पीठमष्टहस्तप्रमाणत —ग० ।

इसके पश्चात इनके ऊपर आठ खम्भे रखे। इनके ऊपर बिंधे हुए मुँह वाले आठ हाथों के शहतीरों (पीठ) को रखा जाए और इन शहतीरों के मुँह एक दूसरे में लगे हुए (विद्धास्य[1]) रहें ॥ ९८ ॥

तत्र स्तम्भाः प्रदातव्यास्तज्ज्ञैर्मण्डपधारणे ।
धारणीधारणास्ते[1] च शालस्त्रीभिरलङ्कृताः ॥ ९९ ॥

चित्रशिल्पी इसकी छत को धारण करने के लिये और शहतीर को सम्हालने के लिए खड़े किये जाने वाले मजबूत खम्भों को काष्ठ पुतलियों आदि से अलंकृत करते हुए लगाएँ[2] ॥ ९९ ॥

नेपथ्यगृहकञ्चैव ततः कार्यं प्रयत्नतः[2] ।
द्वारञ्चैकं भवेत्तत्र[3] रंगपीठ-प्रवेशनं[4] ॥ १०० ॥

फिर [रङ्गपीठ के पीछे ८ × ३२ हाथ के भूखण्ड पर] नेपथ्यगृह की प्रयत्न पूर्वक रचना की जाए। इसमें रङ्गपीठ पर खुलने वाले एक और (दो) द्वार रखना चाहिए ॥ १०० ॥

जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत् ।
रङ्गस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ॥ १०१ ॥

रङ्गमंच के सामने वाले भाग में प्रेक्षकों के प्रवेशार्थ एक (अन्य) द्वार बनवाना चाहिये और नटों के प्रवेशार्थ निर्मित द्वार का रङ्गमंच के सम्मुख मुँह रहना चाहिये ॥ १०१ ॥

---

१. विद्धास्य का अर्थ है—बिंधे मुख वाले या रङ्गमंच की ओर मुखवाले।

२. शालस्त्री, शालभञ्जी या शालभञ्जिका स्त्रियों की प्रतिमा को कहते हैं। शालस्त्री की प्रतिमा के साथ वृक्ष या लता-वेष्टित दिखाया जाता था। ये स्तम्भों में शीर्ष (ब्रैकेट) पर उत्कीर्ण की जाती थीं। शालभञ्जिका का एक अर्थ वेश्या भी है। कुछ भी हो अभिनवगुप्त द्वारा जो 'काष्ठप्रतिकृतय काष्ठमय' अर्थ दिया गया है वही उचित है। धारणी का अर्थ है-शहतीर; क्योंकि धारण का स्तम्भ अर्थ होता है।

१. धारणीधारितास्ते च—ग०। २. प्रयोक्तृभि —घ०।
३. भवेत्तस्य—ग०। ४. रङ्गपीठप्रवेशनम् घ०, ग०।

अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रंगपीठं प्रमाणतः ।
चतुरस्रं समतलं वेदिकासमलङ्कृतम् ॥ १०२ ॥

चतुरस्र नाट्यगृह का रंगपीठ आठ हाथ का चौकोन, (८×८) समतल और वेदिका से युक्त रंगपीठ के प्रमाणानुसार सुन्दर रूप में बनाया जाए ॥ १०२ ॥

पूर्वप्रमाण निर्दिष्टा कर्तव्या मत्तवारणी ।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वतः ॥ १०३ ॥

वेदिका की (दोनों) बाजुओं में पूर्व निर्दिष्ट प्रमाण तथा विधि के अनुसार चार स्तम्भों से युक्त 'मत्तवारणी' का निर्माण किया जाए ॥ १०३ ॥

समुन्नतं समं चैव रंगशीर्षं[1] तु कारयेत् ।
विकृष्टे[2] तून्नतं कार्यं चतुरश्रे समं तथा ॥ १०४ ॥

रंगपीठ की अपेक्षा ऊँचा और समतल [बराबर भेद से] (दो प्रकार का रंगशीर्ष बनाया जाता है। विकृष्ट में वेदिका से ऊँचा तथा चतुरस्र में समान एवं समतल रंगशीर्ष बनाया जाए ॥ १०४ ॥

एवमेतेन विधिना चतुरश्रं गृहं भवेत् ।
अतः[3] परं प्रवक्ष्यामि त्र्यश्रगेहस्य लक्षणम् ॥ १०५ ॥

चतुरस्र नाट्यगृह की यही विधि है। अब मैं त्र्यश्र नाट्यगृह का लक्षण बतलाता हूँ ॥ १०५ ॥

त्र्यश्र नाट्यगृह का स्वरूप—

त्र्यश्रं त्रिकोणं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः ।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रंगपीठं तु कारयेत् ॥ १०६ ॥

नाट्यगृह निर्मातागण त्र्यस्र नाट्यगृह को त्रिकोणाकृति बनवाएँ और इसके बीच में बनने वाले रंगपीठ को भी त्रिकोणाकृति ही बनवाना चाहिए ॥

---

१. रङ्गपीठ—ग०। २ विकृष्टेत्स्वत—क, विकृष्टेस्तून्नत—ख०, विकृष्टेऽप्युन्नत—ग०। ३ त्र्यश्रस्य मण्डपस्यापि सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम्—ग०।

द्वारं[1] तेनैव कोणेन कर्तव्यं तस्य वेश्मनः।
द्वितीयञ्चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः॥ १०७॥

नाट्यगृह का प्रवेश द्वार इसी कोण में निर्माण करना चाहिए तथा रंगपीठ के पीछे दूसरा द्वार (पात्रों के प्रवेश आदि के लिए जो कि नेपथ्य से हो) भी ऐसा ही बनवाना चाहिए॥ १०७॥

विधिर्यश्चतुरश्रस्य　　भित्तिस्तम्भसमाश्रयः।
स तु सर्वः प्रयोक्तव्यः त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभि॥ १०८॥

भित्ति तथा स्तम्भों के विषय में जो विधि चतुरस्र नाट्यगृह के लिये कही गई वही निर्मातागण त्र्यस्र के लिये भी प्रयोग में लाएँ[1]॥ १०८॥

एवमेतेन विधिना कार्या[2] नाट्यगृहा बुधैः।
पुनरेषां[3] प्रवक्ष्यामि पूजामेव यथाविधि॥ १०९॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे प्रेक्षागृहलक्षणं नाम द्वितीयोऽध्यायः।



बुद्धिमानों के द्वारा इसी प्रकार इन नाट्यगृहों की रचना की जाए। अब मैं (अगले अध्याय में) इनकी पूजा का विधि विधान कहूँगा॥ १०९॥

भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की प्रदीप व्याख्या का 'प्रेक्षागृह-लक्षण' नामक द्वितीय अध्याय सपूर्ण॥२॥

---

१ विकृष्ट तथा चतुरस्र नाट्यगृहो की तरह 'त्र्यस्र' नाट्यगृह मे स्तम्भो तथा भित्तियो का विधान कैसा हो, यह स्पष्ट नही होता। इसका आशय इतना ही है कि दोनो नाट्यगृहो की स्थिति देखकर त्र्यस्र' के अनुकूल स्तम्भो तथा भित्तियो का ऐसा विधान किया जाय जो उपयुक्त हो। यह सभी शिल्पिकों पर छोड दिया था, ऐसा प्रतीत होता है। 'त्र्यस्र' नाट्यगृह मे मत्तवारणी नही होगी, ऐसा कुछ विवेचक-विद्वानो का मन्तव्य है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा सभव नही लगता। (देखिये त्र्यस्र प्रेक्षागृह का मानचित्र)।

---

१ द्वारमेकेन कोणेन कर्तव्य तु प्रवेशने—[illegible]०।
२ कार्य नाट्यगृह—ग०।
३ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि पूजामेषा यथाविधि—ग०।

अथ तृतीयोऽध्यायः

सर्वलक्षणसम्पन्ने कृते नाट्यगृहे शुभे।
गावो वसेयुः सप्ताहं सह जप्यपरैर्द्विजैः ॥ १ ॥

इस प्रकार सभी लक्षणों से युक्त शुभ नाट्यगृह के निर्माण हो चुकने के उपरान्त उसमें जपकर्ता ब्राह्मणों के साथ गौएँ एक सप्ताह तक निवास करें ॥

रंगमञ्च की प्रतिष्ठा (या संस्कार)—

ततोऽधिवासयेद्वेश्म रङ्गपीठं तथैव च।
मन्त्रपूतेन तोयेन प्रोक्षिताङ्गो निशागमे ॥ २ ॥
यथास्थानान्तरगतो दीक्षितः प्रयतः शुचिः।
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा नाट्याचार्योऽहताम्बरः[1] ॥ ३ ॥

तब नाट्याचार्य रात्रि को आगमन वेला में अपने शरीर को मन्त्रोच्चारण द्वारा पवित्र जल से प्रोक्षित कर, अपने घर के अतिरिक्त अन्य स्थान पर रहकर दीक्षित, (संयतेन्द्रिय) और पवित्र होकर तीन रात्रि पर्यन्त उपवास रखते हुए नवीन वस्त्र धारण कर नाट्यगृह तथा रंगपीठ को देवताओं से अधिवासित करवाए ॥ २–३ ॥

नमस्कृत्य महादेवं सर्वलोकोद्भवं[2] भवम्।
पद्मयोनिं सुरगुरुं[3] विष्णुमिन्द्रं गुहं तथा ॥ ४ ॥
सरस्वतीं च लक्ष्मीं च सिद्धिं मेधां धृतिं[4] स्मृतिम्।
सोमं[5] सूर्यं च मरुतो लोकपालांस्तथाश्विनौ ॥ ५ ॥

---

१ नायकोऽहतवस्त्रधृक्—ख०। २ सर्वलोकोद्भवोद्भवम्—ख०, सर्वलोकेश्वर भवम्—ग०। ३ जगत्पितामहञ्चैव—क, ख०।
४. स्मृतिं मतिम्—घ०। ५ सेन्दु—ग०।

मित्रमग्निं सुरान्वर्णान्[1] रुद्रान्कालं कलिं तथा।
मृत्युं च नियतिं चैव कालदण्डं तथैव च ॥ ६ ॥
विष्णुप्रहरणं चैव नागराजं च[2] वासुकिम्।
वज्रं विद्युत्समुद्रांश्च गन्धर्वाप्सरसो मुनीन् ॥ ७ ॥
भूतान् पिशाचान् यक्षांश्च गुह्यकांश्च महेश्वरान्[3]।
असुरान्नाट्यविघ्नांश्च तथाऽन्यान्दैत्यराक्षसान् ॥ ८ ॥
तथा नाट्यकुमारीश्च महाग्रामण्यमेव च।
यक्षांश्च गुह्यकांश्चैव भूतसङ्घांस्तथैव च ॥ ९ ॥
एतांश्चान्यांश्च राजर्षीन्प्रणिपत्य[4] कृताञ्जलिः।
यथास्थानान्तरगता-समाधाय ततो वदेत् ॥ १० ॥
भवद्भिर्नो[6] निशायान्तु कर्तव्यः सम्परिग्रहः।
साहाय्यञ्चैव दातव्यमस्मिन्नाट्ये सहानुगैः ॥ ११ ॥

तब सम्पूर्ण लोकों के स्वामी भगवान् शिर,पद्म से जन्म लेने वाले ब्रह्मा जी, देवगुरु बृहस्पति, भगवान् विष्णु, इन्द्र तथा कार्तिकेय, सरस्वती, लक्ष्मी, सिद्धि, मेधा धृति, मति, सोम (चन्द्र), सूर्य, मरुत, लोकपाल, अश्विनीकुमार, मित्र, अग्नि, स्वर, वर्ण[1], रुद्रों (एकादश रुद्रों), काल, कलि, मृत्यु, नियति, कालदण्ड, विष्णु के प्रहरण (सुदर्शनचक्र), नागराज, गरुड, वज्र, विद्युत, समुद्र, गन्धर्व, अप्सराएँ, मुनि भूत, पिशाच, यक्ष,

---

१ वर्ण शब्द का प्रयोग देवों के मध्य में होने से इसका अर्थ होगा वर्णों के नियामक अधिकारी देवगण। यहाँ वर्ण शब्द चातुर्वर्ण्य का बोधक नहीं हो सकता।

२ यक्ष और गुह्यक शब्दों को महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में अभिन्न मानते हुये प्रयुक्त किया है। (दे० पूर्व० मेघ० श्लो १ तथा ५)

१ स्वरान्—ख०। २ खगेश्वरम्—ग०। ३ महोरगान्—ग०।
४ देवर्षीन् प्रणिपत्य—क० ख० घ०।
५ यथास्थानस्थितान् देवान् निमन्त्र्यतद्वचो वदेत्—घ०।
६ भगवद्भिः—ख०।

गुह्यक, महासर्पगण, असुर, नाट्यविघ्नों तथा अन्य दैत्यों और राक्षसों, नाट्यकुमारियों, महाग्रामणी[1] तथा अपने अपने स्वतंत्र स्थानों पर स्थित अन्य राजर्षिगण को (आवाहन कर हाथ जोडकर) प्रणाम करते हुए तथा अपने-अपने योग्य स्थान पर स्थित देवगण को आमन्त्रित करते हुए इस प्रकार निवेदन करे—हे भगवन् ! आप सभी के द्वारा आज रात्रि में हम रक्षण में लिये जाएँ तथा हमारे 'नाट्यकर्म' में आप अपने अनुचरों सहित सहायता प्रदान करें ॥ ४–११ ॥

जर्जरपूजनविधान—

सम्पूज्य सर्वानेकत्र[1] कुतपं सम्प्रयुज्य च ।
जर्जराय प्रयुञ्जीत पूजां नाट्यप्रसिद्धये ॥ १२ ॥

तब सभी (देवताओं) का एक साथ पूजन कर वाद्यों का प्रयोग करे और तब नाट्य की सफलता (प्रसिद्धि) के लिये जर्जर की पूजा करे ॥ १२ ॥

त्वं महेन्द्रप्रहरण सर्वदानवसूदन ।
निर्मितस्सर्वदेवैश्च सर्वविघ्ननिवर्हणः ॥ १३ ॥
नृपस्य[2] विजयं देहि रिपूणाञ्च पराजयम् ।
गोब्राह्मणशिवञ्चैव नाट्यस्य च विवर्द्धनम् ॥ १४ ॥

हे जर्जर ! तू इन्द्र का शस्त्र है एवं सभी दानवों का नाशक है । सभी देवगण द्वारा तू विघ्नों का निवारक बनाया गया है । तू हमारे राजा को विजय तथा शत्रुओं को पराजय प्रदान कर और तू गौ तथा ब्राह्मणों का हितकारी और 'नाट्यकर्म' का सवर्द्धनकारी हो ॥ १३–१४ ॥

एवं कृत्वा यथान्यायमुपास्यं[3] नाट्यमण्डपे ।
निशायान्तु प्रभातायां पूजनं प्रक्रमेदिह ॥ १५ ॥

---

१. गणों का या ग्राम का मुख्यनेता । आचार्य अभिनवगुप्त ने इसका अर्थ गणपति किया है । (महाग्रामणी=गणपति) परन्तु यहाँ इसका अर्थ गण-मुख्य या ग्राममुख्य ही ग्राह्य है, गणपतिदेवता नहीं ।

---

१ देवता सवा —ग० । २. ... नृपस्य विजय शस—ख० ।
३ मुषित्वा—ग० ।

इस प्रकार नियमानुसार पूजन विधान सम्पन्न कर तथा रात्रि में नाट्य मण्डप में निवास करते हुए (रात्रि के उपरान्त) प्रातःकाल होने पर बुद्धिमान नाट्याचार्य (आमन्त्रित देवों का) पूजनकार्य प्रारम्भ करे ॥ १५॥

आर्द्रायां वा मघायां वा याम्ये पूर्वेषु[1] वा त्रिषु ।
आश्लेषामूलयोर्वापि कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ १६ ॥
आचार्येण तु युक्तेन[2] शुचिना दीक्षितेन च ।
रङ्गस्योद्योतनं[3] कार्यं देवतानाञ्च पूजनम् ॥ १७ ॥

यह रंगपूजन आर्द्रा, मघा, याम्या, तीनों पूर्वा (पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढा तथा पूर्वाभाद्रपदा) नक्षत्रों अथवा आश्लेषा या मूल नक्षत्रों के समय किया जाए। एकाग्रमन वाले, पवित्र एवं व्रत में दीक्षित नाट्याचार्य के द्वारा रंगस्थल का उद्यापन करते हुए देवताओं का पूजन करना चाहिए।

देवगण की स्थापना—

दिनान्ते दारुणे घोरे मुहूर्ते भूतदैवते[4] ।
आचम्य तु यथान्यायं देवता[5] वै निवेशयेत् ॥ १८ ॥
रक्ता प्रतिसराः[6] सूत्रं रक्तगन्धाश्च पूजिताः ।
रक्ताश्सुमनसश्चैव यच्च रक्तं फलं भवेत् ॥ १९ ॥
यवैस्सिद्धार्थकैलाजैरक्षतैः शालितण्डुलैः[7] ।
नागपुष्पस्य चूर्णेन वितुषाभिः प्रियङ्गुभिः ॥ २० ॥
एतैर्द्रव्यैर्युतं कुर्यात् देवतानां निवेशनम् ।

दिन के अन्त में आने वाले घोर एवं दारुण नामक मुहूर्त में (जिसके अधिदेवता भूत होते हैं) आचार्य को नियमानुसार आचमन करते हुए देवताओं की स्थापना करनी चाहिए। इस (देवपूजन) में लालरंग के ही सूत्र कंकण तथा उत्तम प्रकार का रक्तवर्ण का चन्दन, रक्तवर्ण के पुष्प तथा इसी वर्ण के फल को लेना

---

१ पूर्वासु च त्रिषु—ख० । २ सुयुक्तेन—ग० । ३ रङ्गस्योद्यापन—ग० ।
४ यमदैवते—क० । ५. दैवतानि—ग० । ६ प्रतिसरास्तत्र—घ० ।
७ लाजं—ग० ।

चाहिए। जौ, सरसों, खीलें, धानों के अक्षत, नागपुष्प की जड तथा छिलके निकाले हुए प्रियगु[1] फल (चम्पक)—इन द्रव्यो के साथ देवताओ को आसीन करना चाहिए ॥ १८–२१ ॥

देवगणों के स्थापनार्थ मण्डल निर्माण विधि—

आलिखेन्मण्डलं पूर्वं यथास्थानं यथाविधि ॥ २१ ॥
समन्ततश्च कर्तव्यं हस्ता षोडश मण्डलम् ।
द्वाराणि चात्र कुर्वीत विधानेन चतुर्दिशम् ॥ २२ ॥
मध्ये चैवात्र कर्तव्ये द्वे रेखे तिर्यगूर्ध्वगे ।
तयो. कक्ष्याविभागेन दैवतानि निवेशयेत् ॥ २३ ॥
पद्मोपविष्टं ब्रह्माणं तस्य मध्ये निवेशयेत् ।
आदौ निवेश्यो भगवान्सार्धं भूतगणैः शिव ॥ २४ ॥
नारायणो महेन्द्रश्च स्कन्द्रा कौवश्विनौ शशी[1] ।
सरस्वती च लक्ष्मीश्च श्रद्धा मेधा च पूर्वत ॥ २५ ॥
पूर्वदक्षिणतो वहिर्निवेश्य स्वाहया सह ।
विश्वेदेवा सगन्धर्वा रुद्राश्च[2] ऋषयस्तथा ॥ २६ ॥
दक्षिणेन निवेश्यस्तु यमो मित्रश्च सानुग ।
पितृम्पिशाचानुरगान् गुह्यकांश्च निवेशयेत् ॥ २७ ॥
नैऋत्या राक्षसाश्चैव भूतानि[3] च निवेशयेत् ।
पश्चिमायां समुद्राश्च वरुणं यादसां पतिम् ॥ २८ ॥
वायव्यां वै दिशि तथा सत वायून्निवेशयेत् ।
तत्रैव[4] विनिवेश्यस्तु गरुड पक्षिभि सह ॥ २९ ॥

---

१ यहा 'प्रियगु' का अर्थ लतापरक नही है किन्तु इसका अर्थ होगा नागपुष्प का फल या उसका चूर्ण जो कि केशर जैसा होता है।

---

१ स्कन्द सूर्योश्विनौ—क, ख०। २ सर्वगणा —ख, सर्पगणा—क०।
३ सर्वभूतान्—घ०। ४ निवेशयेच्च तत्रैव गरुड पक्षिभि सह—घ०।

उत्तरस्यां दिशि तथा धनदं सन्निवेशयेत्।
नाट्यस्य मातृश्च तथा यक्षानथ सगुह्यकान् ॥ ३० ॥
तथैवोत्तरपूर्वायां [1]नन्दिनं च गणेश्वरान्।
ब्रह्मर्षिभूतसंघांश्च यथाभागं निवेशयेत् ॥ ३१ ॥

सर्व प्रथम इन देवगणों के बैठाने के लिए यथास्थान विधिपूर्वक मण्डल बनाना चाहिये। यह मण्डल १६ हाथ[1] (बालिस्त) लंबा-चौड़ा होना चाहिए तथा विधानपूर्वक इसमें चारों ओर द्वार रखे जाने चाहिए; इसके मध्य में दो तिरछी रेखाएँ पूर्व पश्चिम तथा उत्तर दक्षिण जाने वाली बनाई जानी चाहिए; तथा इन रेखाओं से निर्मित कोष्ठकों (कोठों, कक्षों) में विभागपूर्वक देवगण की स्थापना की जाए।

इस मण्डल के मध्यभाग में कमल पर आसीन ब्रह्मा को स्थापित करे फिर सर्व प्रथम भूतगणों के साथ भगवान शिव को पूर्व दिशा में स्थापित करे। (फिर) इसी दिशा में नारायण, महेन्द्र, कार्तिकेय, सूर्य, अश्विनीकुमार, चन्द्रमा, सरस्वती, लक्ष्मी, श्रद्धा तथा मेधा की स्थापना करे। दक्षिणपूर्व दिशा (कोण) में स्वाहा के साथ अग्नि, विश्वेदेवा, गन्धर्व, रुद्र तथा ऋषियों की स्थापना करे। दक्षिण दिशा में यम, अपने अनुचरों सहित मित्र, पितरगण, पिशाच, सर्पगण तथा गुह्यकों को स्थापित किया जाए। नैर्ऋत्य कोण में राक्षस तथा भूतों को स्थापित करे। पश्चिम दिशा में जल के अधिपति वरुण देव तथा समुद्रों को स्थापित करें। उत्तर पश्चिम (वायव्य दिशा) में सातपवनों को तथा उन्हीं के पास पक्षियों के साथ गरुडदेव की स्थापना करे। उत्तर दिशा में कुबेर की भली भाँति

१. हस्तशब्द द्वारा यहाँ 'हस्तताल' लिया गया है। हस्तताल का लक्षण है—अगूठे और बीच की अगुली को विपरीत दिशाओ मे फैलाने पर होने वाली दोनो सिरो की दूरी। इसे ताल या 'हस्तताल' भी कहते हैं। यहाँ इस अर्थ के बिना स्वीकार किये मच का विस्तार व्यवस्थित नही हो सकता। (हस्तताल के लक्षण के लिये देखिये—सगीतरत्नाकर अ० ७, पृष्ठ १०४६, आ० आश्रम स०, पूना)।

१. नन्दाद्याश्च—क०।

स्थापना करे तथा वहीं मातृकाओं और गुह्यकों के साथ यज्ञों की भी स्थापना करे। इसी प्रकार उत्तरपूर्व दिशा में (ईशान में) नन्दी, गणेश्वर, ब्रह्मर्षि तथा भूतों के संघों की उनके यथायोग्य उचित स्थानों पर स्थापित करे ॥ २१–३१ ॥

स्तम्भे सनत्कुमारं तु दक्षिणे दक्षमेव च।
ग्रामण्यमुत्तरे स्तम्भे पूजार्थं सन्निवेशयेत् ॥ ३२ ॥
अनेनैव विधानेन यथास्थानं यथाविधि।
²वर्णरूपान्विितास्सर्वा देवताः सन्निवेशयेत् ॥ ३३ ॥
स्थाने स्थाने यथान्यायं विनिवेश्य तु देवताः।
तासां प्रकुर्वीत ततः पूजनन्तु यथार्हतः ॥ ३४ ॥

(पूजा के लिए) (पूर्व दिशा के स्तम्भ में) सनत्कुमार की, दक्षिण स्तम्भ में दक्ष की तथा उत्तर स्तम्भ में गणेश की स्थापना करे। इसी विधान के अनुसार विधिपूर्वक उचित स्थान पर सब देवताओं को अपने अपने वर्ण तथा स्वरूप के अनुसार स्थापित करे। फिर यथास्थान देवगण की स्थापना कर चुकने के उपरान्त उनका यथायोग्य पूजन प्रारम्भ करे ॥ ३२–३४ ॥

देवगण का पूजन—

³देवताभ्यश्च दातव्यं सितमाल्यानुलेपनम्।
गन्धर्ववह्निसूर्येभ्यो रक्तमाल्यानुलेपनम् ॥ ३५ ॥
गन्धं माल्यञ्च धूपञ्च यथावदनुपूर्वशः।
दत्वा ततः प्रकुर्वीत बलिं पूजां⁴ यथाविधि ॥ ३६ ॥

देवताओं को श्वेतवर्ण¹ की मालाएँ (पुष्प) तथा चन्दन प्रदान करना

---

१ 'शुभ्र'। यहाँ पवित्र तथा श्रेष्ठवस्तु का प्रतीक मानकर प्रयुक्त किया गया (प्रतीत होता) है।

---

१ पश्चिमे स्कन्दमेव च—ध०।
२ गुप्रमादानि सर्वाणि दैवतानि निवेशयेत्—ब०।
३. दैवतेभ्यस्तु—ग०। ४. बलिपूजा—ब०।

चाहिए। गन्धर्व, अग्नि तथा सूर्य को रक्तवर्ण[1] की मालाएँ और चन्दन प्रदान किया जाना चाहिए। सभी देवगण को क्रमशः यथायोग्य गन्ध, मालाएँ तथा धूप अर्पण कर फिर उन्हें विधिपूर्वक पूजा तथा बलि प्रदान करे ॥३५-३६॥

[1]ब्रह्माणं मधुपर्केण पायसेन सरस्वतीम्।
शिवविष्णुमहेन्द्राद्याः सम्पूज्या मोदकैरथ ॥ ३७ ॥
घृतौदनेन [2]हुतभुक्सोमार्कौ तु गुडौदनैः।
विश्वेदेवाः सगन्धर्वा मुनयो मधुपायसैः ॥ ३८ ॥
यममित्रौ च [3]सम्पूज्यावपूपैर्मोदकैस्तथा।
पितॄन् पिशाचानुरगान् सर्पिःक्षीरेण तर्पयेत् ॥ ३९ ॥
[4]पक्वान्नेन तु मांसेन सुरासीधुफलासवैः।
अर्चयेद् भूतसङ्घांश्च चणकैः पललाप्लुतैः ॥ ४० ॥
अनेनैव विधानेन सम्पूज्या मत्तवारणी।
[5]पक्वान्नेन तु मांसेन सम्पूज्या रक्षसां गणाः ॥ ४१ ॥
सुरामांसप्रदानेन [6]दानवान् प्रतिपूजयेत्।
शेषान् देवगणान् तज्ज्ञः सापूपोत्कारिकोदनैः ॥ ४२ ॥
मत्स्यैश्च पिष्टभक्ष्यैश्च सागरान् सरितस्तथा।
[7]सम्पूज्य वरुणञ्चापि दातव्यं घृतपायसम् ॥ ४३ ॥
नानामूलफलैश्चापि मुनीन्सम्प्रतिपूजयेत्।
वायूंश्च पक्षिणश्चैव [8]विचित्रैर्भक्ष्यभोजनैः ॥ ४४ ॥

---

१ 'रक्तवर्ण को शक्ति का प्रतीक समझना चाहिये।

१ द्रुहिण—ग०। २ वह्निश्च—ग०। ३ समभ्यर्च्यौ—ग०।
४ मोदकैः सूपमिश्रितैः—ग०। ५ पक्वामकेन—ग० घ०।
६ विधिना—ग०। ७ अभ्यर्च्य—ग० घ०। ८ विविधैः—ग० घ०।

मातृर्नाट्यस्य[1] सर्वास्ता धनदं च सहानुगैः ।
अपूपैर्लो[2]पिकामिश्रैर्भक्ष्यभोज्यैश्च पूजयेत्[3] ॥ ४५ ॥
एवमेषां बलिः कार्यो नानाभोजनसंश्रयः ।

ब्रह्मा का मधुपर्क द्वारा, सरस्वती का पायस (खीर) से और शिव, विष्णु तथा महेन्द्र आदि देवताओं का मोदकों के द्वारा पूजन करे । घी और भात से अग्नि का, गुड और भात से सूर्य तथा चन्द्रमा का गन्धर्वों सहित विश्वेदवा तथा मुनिगण का मधु और पायस से पूजन करे । यम तथा मित्र की पूजा मालपुओं तथा मोदकों से की जानी चाहिए । पितरगण पिशाच तथा सर्पों का घी तथा दूध से पूजन करना चाहिए । भूतगणों की अर्चना पक्वान्न, मांस, मदिरा तथा शीरे की मदिरा, फलों के आसव, तथा मांस से सने चना के द्वारा की जाय और इसी विधि से 'मत्तवारणी' का भी पूजन किया जाना चाहिए ।

मछली से युक्त पक्वान्न द्वारा राक्षस गणों का पूजन किया जाना चाहिए तथा सुरा और मांस प्रदान पूर्वक दानवों का पूजन करना चाहिए ।

पूजा विधि के ज्ञाता शेष देवगण को मालपुओं, लपसी[1] तथा भात से पूजा करें । सागर और सरिताओं को मछलियों और पीठी से बने भोजन से पूजें । वरुण देव का पूजन कर उन्हें घृत और खीर प्रदान करना चाहिए । मुनिगण की अनेक प्रकार के कन्द-मूल तथा फलों से पूजा करे । वायु तथा पक्षियों को विविध भक्ष्य तथा भोजन के द्वारा पूजें । नाट्य की सभी मातृकाओं तथा (अपने) अनुचरगण सहित कुबेर की पूओं तथा लपसी मिश्रित भक्ष्य भोजन पदार्थों से पूजा करे । इसी प्रकार अनेक प्रकार के भोजनों से भी इन देवताओं को बलि दी जानी चाहिए ॥ ३७–४५ ॥

देवताओं को बलि प्रदान करने के मन्त्र—

पुनर्मन्त्रविधानेन बलिकर्म च[4] वक्ष्यते ॥ ४६ ॥

---

१ 'लोपिका' शब्द के कई पाठान्तर मिलते हैं । यथा—लोचिता, लोपिका, लेपिका तथा लिपिका । इसका अर्थ है लपसी या लूची ।

---

१ नाट्यस्य च तथा मातृ —घ० ।
२ र्लाजिकामिश्रै —क, लेपिकामिश्रै —ख० ।
३ प्रयत्नतः—घ० । ४. प्रवक्ष्यते—घ० ।

देवदेव महाभाग [1]सर्वलोकपितामह।
मन्त्रपूतमिमं सर्वं प्रतिगृह्णीष्व[2] मे बलिम् ॥ ४७ ॥
देवदेव महादेव गणेश त्रिपुरान्तक।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ४८ ॥
महादेव महायोगिन्देवदेव सुरोत्तम।
संप्रगृह्य बलिं देव रक्ष विघ्नात्सदोत्थितात् ॥ ४९ ॥
नारायणामितगते पद्मनाभ सुरोत्तम।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो[3] मयार्पितः ॥ ५० ॥
पुरन्दरामरपते वज्रपाणे शतक्रतो।
प्रगृह्यतां बलिर्देव विधिमन्त्रपुरस्कृतः ॥ ५१ ॥
देवसेनापते स्कन्द भगवन् शङ्करप्रिय।
बलिः प्रीतेन मनसा षण्मुख प्रतिगृह्यताम् ॥ ५२ ॥
देवि देवि महाभागे सरस्वति हरिप्रिये।
प्रगृह्यतां बलिर्मातर्मया भक्त्या समर्पितः ॥ ५३ ॥
नानानिमित्तसम्भूताः पौलस्त्याः सर्व एव तु।
राक्षसेन्द्रा महासत्त्वाः प्रतिगृह्णीत[4] मे बलिम् ॥ ५४ ॥

अब मैं मन्त्र विधान सहित इनके बलि कर्म को कहता हूं।

ब्रह्मा के लिए मंत्र—

हे देवों के महानुभाव पितामह ब्रह्माजी, मन्त्रों से पवित्र इस मेरी बलि को आप कृपया ग्रहण कीजिये।

शिव का मन्त्र—

हे देवाधिदेव, गण के अधीश्वर तथा त्रिपुरहन्ता महादेव, हे

---

१ पद्मयोने पितामह—ग०।　　२. बलि देव गृहाण न —घ०।
३ मन्त्रसंस्कारसंस्कृत —घ०।
४ प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम्—ग०, बलिं समुपगृह्यताम्—घ०।

महायोगी, देवश्रेष्ठ, शिव ! इस बलि को आप स्वीकार करें और हे देव, सभा में उत्पन्न होने वाले विघ्नों से आप हमारी रक्षा कीजिए।

हे देव, मेरे मन्त्रों से पवित्र इस प्रस्तुत बलि को आप ग्रहण करें।

विष्णु का मन्त्र—

हे असीम गतिवाले, पद्मनाभ, हे देवों में श्रेष्ठ देव विष्णु, मेरे द्वारा अर्पित मंत्रों से पवित्र इस बलि को ग्रहण कीजिए।

इन्द्र का मन्त्र—

हे देवों के स्वामी, वज्रहस्त, पुरन्दर, हे शतक्रतु इन्द्रदेव, विधिवत् मन्त्रों के सहित दी जाने वाली इस बलि को ग्रहण कीजिए।

स्कन्द का मन्त्र—

हे देवताओं के स्वामी, शंकर के प्रिय पुत्र भगवान् कार्तिकेय, हे षण्मुख आप प्रसन्न मन से इस बलि को—जो प्रस्तुत है—ग्रहण कीजिए।

सरस्वती का मन्त्र—

हे देवताओं की पूजनीय देवी सरस्वती, हे हरिप्रिये, माता ! आप मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक समर्पित इस बलि को ग्रहण कीजिए।

राक्षसगण का मन्त्र—

अनेक कारणों से उद्भूत पौलस्त्य के वंशज हे राक्षस श्रेष्ठो, आप महासत्त्व हैं, आप मेरे द्वारा अर्पित बलि को ग्रहण करें ॥ ४६–५४ ॥

लक्ष्मीः सिद्धिर्मतिर्मेधा सर्वलोकनमस्कृताः।
मन्त्रपूतमिमं देव्यः प्रतिगृह्णन्तु मे बलिम् ॥ ५५ ॥
सर्वभूतानुभावज्ञ लोकजीवन मारुत।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ५६ ॥

देवियों का मन्त्र—

सभी संसार की तथा प्रजाजन की वन्दनीय हे लक्ष्मी, सिद्धि, मति एवं मेधा नामक देवियों, आप मन्त्रों द्वारा पवित्र इस बलि को स्वीकार करें।

पवन का मन्त्र—

हे पवनदेव, आप सभी भूतों के प्रभाव या शक्तियों के ज्ञाता हो और लोक के जीवन हो अतः आप मेरे द्वारा अर्पित मन्त्रपूत इस बलि को ग्रहण करें ॥ ५५–५६ ॥

देववक्त्र सुरश्रेष्ठ धूमकेतो हुताशन ।
भक्त्या समुद्यतो देव बलिः सम्प्रतिगृह्यताम् ॥ ५७ ॥
सर्वग्रहाणां प्रवर तेजोराशे दिवाकर ।
भक्त्या मयोद्यतो देव बलिः सम्प्रतिगृह्यताम् ॥ ५८ ॥
सर्वग्रहपते सोम द्विजराज जगत्प्रिय ।
प्रगृह्यतामेष बलिर्मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ५९ ॥
महागणेश्वराः सर्वे नन्दीश्वरपुरोगमाः ।
प्रगृह्यतां बलिर्भक्त्या[1] मया सम्प्रति चोदितः ॥ ६० ॥
नमः पितृभ्यस्सर्वेभ्यः प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम् ।

अग्नि का मन्त्र—

हे देवताओं के मुख स्वरूप, देवश्रेष्ठ, अग्निदेव, आपकी धूम्र ही ध्वजा है तथा आप हुत पदार्थ के भक्षणकर्त्ता हैं—आपको यह बलि अर्पित है, इसे आप ग्रहण कीजिए।

सूर्य का मन्त्र—

हे सभी ग्रहों में श्रेष्ठ, तेजोराशि, सूर्य! आप मेरे द्वारा अर्पित बलि को ग्रहण कीजिए।

चन्द्र का मन्त्र—

हे सभी ग्रहों के अधिपति चन्द्रदेव, हे द्विजराज, हे जगत् के प्रिय देव, मन्त्रों से पवित्र मेरे द्वारा प्रस्तुत इस बलि को आप ग्रहण कीजिए।

गणेश और नन्दी का मन्त्र—

जिनमें नन्दी प्रमुख हैं ऐसे हे महागणेश्वरों, भक्ति भाव से प्रस्तुत इस बलि को आप ग्रहण कीजिये—यह आपके ही लिये प्रेरित होकर प्रस्तुत की गई है।

---

१ प्रतिगृह्णन्त्विमं भक्त्या बलिं सम्यङ्मयोदितम्—घ० ।

पितृ का मन्त्र—

सभी पितरों को नमस्कार, आप इस बलि को स्वीकार करें ॥ ५७–६० ॥

भूतेभ्यश्च नमो नित्यं येषामेष बलिः प्रियः।
कामपाल नमो नित्यं यस्यायं ते विधिः[1] कृतः ॥ ६१ ॥
नारदस्तुम्बुरुश्चैव विश्वावसुपुरोगमाः।
प्रतिगृह्णन्तु मे सर्वे गन्धर्वा बलिमुद्यतम् ॥ ६२ ॥
यमो मित्रश्च भगवानीश्वरौ लोकपूजितौ।
इमम्मे प्रतिगृह्णीतां बलिं मन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ६३ ॥
रसातलगतेभ्यश्च[2] पन्नगेभ्यो नमो नमः।
दिशन्तु सिद्धिं नाट्यस्य पूजिताः[3]पापनाशनाः ॥ ६४ ॥
सर्वाम्भसां पतिर्देवो वरुणो हंसवाहनः।
पूजितः प्रीतिमानस्तु ससमुद्र-नदीनदः ॥ ६५ ॥

भूतगण का मन्त्र—

भूतों को सदा नमस्कार हो, जिनको यह बलि प्रिय है।

बलदेव या शिव का मन्त्र—

हे कामपाल, आपको नित्य नमस्कार, आपके लिये यह बलि प्रस्तुत की गई है ॥ ६१ ॥

गन्धर्व का मन्त्र—

नारद, तुम्बुरु तथा विश्वावसु जिनमें प्रमुख हैं ऐसे सभी गन्धर्वगण, आप मेरे द्वारा प्रस्तुत बलि को ग्रहण करें ॥ ६२ ॥

यम तथा मित्र का मन्त्र—

सब लोकों के द्वारा पूजित भगवान यम तथा मित्र, मेरे द्वारा मन्त्रों से प्रस्तुत की गई इस बलि को आप ग्रहण करें ॥ ६३ ॥

---

१. बलि —घ०। २. रसातलचरेभ्यश्च—ग० घ०।
३. पवनाशना —ग०।

नाग का मन्त्र—

पृथ्वी के नीचले भाग (रसातल) में स्थित सर्पों को बारबार प्रणाम। हे पवन के भक्षक नागगण, पूजित होकर आप नाट्य में सिद्धि प्रदान करें।

वरुण का मन्त्र—

हंसवाहन के समस्त जलप्रदेश के अधिपति भगवान वरुण, आप (मेरे द्वारा) पूजित होकर समस्त समुद्रों, नदियों और नदों से युक्त होकर मुझ पर प्रसन्न हों ॥ ६५ ॥

वैनतेय महासत्त्व सर्वपक्षिपते विभो ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ६६ ॥

धनाध्यक्षो यक्षपतिर्लोकपालो धनेश्वरः ।
[1]सगुह्यकस्सयक्षश्च प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ॥ ६७ ॥

नमोऽस्तु नाट्यमातृभ्यो ब्राह्म्यादिभ्यो नमो नमः ।
सुमुखीभिः प्रसन्नाभिर्बलिम्संप्रतिगृह्यताम् ॥ ६८ ॥

रुद्रप्रहरणं चैव प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ।
विष्णुप्रहरणं चैव विष्णुभक्त्या मयोद्यतम् ॥ ६९ ॥

तथा कृतान्तः कालश्च [2]सर्वप्राणधनेश्वरः ।
मृत्युश्च नियतिश्चैव प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ॥ ७० ॥

याश्चास्या मत्तवारण्यां संश्रिता वास्तुदेवताः ।
मन्त्रपूतमिमं सम्यक्प्रतिगृह्णन्तु मे बलिम् ॥ ७१ ॥

[3]अन्येऽपि ये देवगणा दिशो दश समाश्रिताः ।
दिव्यान्तरिक्षभौमाश्च तेभ्यश्चायं बलिः कृतः ॥ ७२ ॥

---

१ सगुह्यकं सयक्षैश्च—ग० ।
२ सर्वप्राणिवशेश्वरौ—ग०, सर्वप्राणिववेश्वरौ—घ० ।
३ अन्ये ये देवगन्धर्वा—ग० ।

गरुड का मन्त्र—

हे परमबलशाली, सर्वपक्षिगण के स्वामी, महात्मन् विनतापुत्र गरुडदेव, आप मेरे द्वारा प्रस्तुत इस मन्त्र से पवित्र बलि को ग्रहण कीजिये।

कुबेर का मन्त्र—

हे धन के अधिपति, यक्षों के स्वामी, उत्तरदिशा के लोकपाल भगवान कुबेर, आप यक्षों तथा गुह्यकों के साथ प्रस्तुत की गई बलि को ग्रहण कीजिए ॥ ६७ ॥

नाट्यमातृकाओं का मन्त्र—

उन ब्राह्मी आदि मातृकाओं को (जो नाट्यमातृकाएँ हैं) मेरा बार बार प्रणाम। ये सुन्दर मुखवाली प्रसन्न मातृकाएँ मेरे द्वारा अर्पित इस बलि को आप ग्रहण करें।

त्रिशूल का मन्त्र—

हे रुद्र के शस्त्र, तुम मेरे द्वारा अर्पित इस (सभी) बलि को ग्रहण करो।

सुदर्शन का मन्त्र—

हे विष्णु के शस्त्र, विष्णु की भक्ति रखते हुए मैं यह बलि प्रस्तुत करता हूँ (आप) इसे स्वीकार करें ॥ ६९ ॥

काल तथा कृतान्त का मन्त्र—

सभी प्राणियों के प्राणरूपी धन के स्वामी हे कृतान्त तथा काल, मृत्यु तथा नियति देव, आप मेरे द्वारा अर्पित इस बलि को स्वीकार करें ॥ ७० ॥

तथा जो अन्य देवता इस मत्तवारणी में स्थित हैं वे भी मन्त्रों से पवित्र इस बलि को स्वीकार करें ॥ ७१ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य वे देवताओं के समूह जो दशों दिशाओं में स्थित हैं और जो स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूमि प्रदेशों में निवास करते हों उन सभी के लिए यह बलि प्रस्तुत है ॥ ७२ ॥

कुम्भ स्थापन—

> कुम्भं सलिलसम्पूर्णं [1]पुण्यमालापुरस्कृतम् ।
> स्थापयेद्रङ्गमध्ये तु सुवर्णञ्चात्र दापयेत् ॥ ७३ ॥

---

१ पर्णमाला—ग० ।

आतोद्यानि तु सर्वाणि कृत्वा वस्त्रोत्तराणि तु।
गन्धैर्माल्यैश्च धूपैश्च भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पूजयेत् ॥ ७४ ॥

जल से परिपूर्ण एक मिट्टी का घड़ा पत्तों की माला से सजाकर रंगमंच के मध्यस्थान पर स्थापित करे तथा उसमें थोड़ा सा सुवर्ण रखे ॥ ७३ ॥

और सभी वाद्यों को वस्त्रों से ढँककर फिर उनकी सुगन्धितमालाओं, धूप तथा भोज्य वस्तुओं से पूजन करे ॥ ७४ ॥

जर्जर-पूजन—

पूजयित्वा तु सर्वाणि दैवतानि यथाक्रमम्।
जर्जरस्त्वभिसंपूज्यः स्यात्ततो विघ्नजर्जरः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार सभी देवगण का क्रमशः पूजन करने के उपरान्त जर्जर का पूजन करे जिससे विघ्नों का नाश हो ॥ ७५ ॥

श्वेतं शिरसि वस्त्रं स्यान्नीलं रौद्रे च पर्वणि।
विष्णुपर्वणि वै पीतं रक्तं स्कन्दस्य पर्वणि ॥ ७६ ॥
[1]मूडपर्वणि चित्रं तु देयं वस्त्रं हितार्थिना[2]।
सदृशश्च प्रदातव्यं [3]धूपमाल्यानुलेपनम् ॥ ७७ ॥

अपने कल्याण की कामना रखने वाले व्यक्ति के द्वारा इस जर्जर के सिर पर श्वेत वस्त्र, रुद्र की पोरी पर नीला वस्त्र, विष्णु की पोरी पर पीला वस्त्र, स्कन्द की पोरी पर रक्त वस्त्र तथा नीचे की पोरी पर अनेक रंगोंवाला चितकबरा वस्त्र बाँधना चाहिए और उन्हीं के सदृश ही धूप, माला तथा चन्दन आदि पदार्थ भी प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ७६–७७ ॥

सर्वमेवं विधिं कृत्वा गन्धमाल्यानुलेपनैः।
विघ्नजर्जरार्थन्तु जर्जरन्त्वभिमन्त्रयेत् ॥ ७८ ॥

---

१. मूलपर्वणि—ग०। २ हितार्थिनाम्—ग०।
३ माल्यधूपानुलेपनम्—ग०।

इस प्रकार धूप, माला तथा चन्दन (अनुलेपन) के अर्पण द्वारा सभी विधियों को पूर्ण करने के उपरान्त विघ्न को नष्ट करने के लिए 'जर्जर' को अभिमन्त्रित करे ॥ ७८ ॥

[1]अत्र विघ्नविनाशार्थं पितामहमुखैस्सुरैः।
निर्मितस्त्वं महावीर्यो वज्रसारो महातनुः ॥ ७९ ॥

विघ्नों को शान्त करने के लिये ब्रह्मा के साथ प्रमुख रूप में रहने वाले देवगणों ने हे जर्जर ! तुम्हें परम सुदृढ, वज्र के समान कठोर तथा विशाल शरीरवाला बनाया है ॥ ७९ ॥

शिरस्ते रक्षतु ब्रह्मा सर्वदेवगणैः सह।
द्वितीयञ्च हरः पर्वं तृतीयञ्च जनार्दनः ॥ ८० ॥
चतुर्थञ्च कुमारस्ते पञ्चमं पन्नगोत्तम.।
नित्यं सर्वेऽपि पान्तु त्वां सुराये[2] च शिवो भव ॥ ८१ ॥

सब देवताओं सहित ब्रह्माजी तुम्हारे शरीर की रक्षा करें। दूसरे पर्व की रक्षा भगवान् शिव; तीसरे की भगवान विष्णु, चौथे की कुमार कार्तिकेय तथा पाँचवें की श्रेष्ठ नारायण रक्षा करें। वे सभी देव तुम्हारी रक्षा करें और तुम इन देवगणों को मंगलकारी होओ ॥ ८०–८१ ॥

नक्षत्रेऽभिजिति त्वं[3] हि प्रसूतोऽहितसूदन[4]।
जयञ्चाभ्युदयञ्चैव पार्थिवस्य[5] समावह ॥ ८२ ॥

हे शत्रुओं के नाशकर्ता जर्जर, तुम अभिजित नक्षत्र में उत्पन्न हुए हो अतः तुम हमारे राजा को जय तथा अभ्युदय प्रदान करो ॥ ८२ ॥

होम विधि—

जर्जरं पूजयित्वैवं बलिं सर्वं निवेद्य च।
अग्नौ होमं ततः कुर्यान्मन्त्राहुतिपुरस्कृतम् ॥ ८३ ॥

---

१ विघ्नानां शमनार्थं हि देवैर्ब्रह्मपुरोगमैं —ग०। २ सुरास्त्वञ्च—ग०।
३ श्रेष्ठे जातस्त्व रिपुसूदन —घ०। ४ रिपुसूदन—ग०।
५ पार्थिवाय प्रयच्छ न —ग०।

फिर शख और दुन्दुभिनाद के निर्घोष तथा मृदग और पणर वाद्यों के बजाने और सभी वाद्यों का वादन करते हुए रगभूमि पर युद्ध की आयोजना करे।

तत्र च्छिन्नं च भिन्नं च दारितं च सशोणितम्।
क्षतं¹ प्रदीप्तमायस्तं निमित्तं सिद्धिलक्षणम् ॥ ९४ ॥

यदि इस युद्ध में योद्धाओं का कटा, फटा, चिरा या भाटा हुआ घाव रक्त से चमकीला या बटा हो जाए तो यह बड़ा शुभ शकुन माना जाता है और यह सिद्धि का सूचक होता है ॥ ९४ ॥

रग-प्रतिष्ठा से शुभ प्राप्ति तथा रग पूजन का माहात्म्य—

सम्यगिष्टस्तु रङ्गो वै स्वामिनः शुभमावहेत्।
²पुरस्याबालवृद्धस्य तथा जनपदस्य च ॥ ९५ ॥

विधिपूर्वक पूजन किया हुआ 'रगमञ्च' राजा को शुभदाता होता है तथा इसी प्रकार यह नगर के बालकों, बूढ़ों तथा जनपद के लिये भी कल्याणप्रद होता है ॥ ९५ ॥

दुरिष्टस्तु तथा रङ्गो दैवतैर्दुरधिष्ठितः।
नाट्यविध्वंसनं कुर्यान्नृपस्य च तथाऽशुभम् ॥ ९६ ॥

तथा रगमञ्च की विधिवत् पूजना न की जाने पर तथा देवगण के ठीक तरह से अधिष्ठित न होने पर नाट्य का विध्वंस तथा राजा का अशुभ भी हो जाता है ॥ ९६ ॥

³यस्त्वेवं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत्।
प्राप्नोत्यपचयं शीघ्रं तिर्यग्योनिञ्च गच्छति ॥ ९७ ॥

जो व्यक्ति इस प्रकार की विधि को त्याग कर यथेष्ट (स्वच्छन्द होकर) अभिनयादि का मञ्च पर प्रयोग करता है वह शीघ्र ही अवनति प्राप्त करता है ॥ ९७ ॥

---

१ क्षत प्रदीप्तमायस्त—क०।　२ पुरस्य बालवृद्धस्य—ख०।
३ य एव—ख०।

यज्ञेन सम्मितं[1] ह्येतद्रङ्गदैवतपूजनम् ।
अपूजयित्वा रङ्गन्तु नैव प्रेक्षां प्रयोजयेत् ॥ ९८ ॥

रंगस्थ देवगण का यह पूजन वैदिक यज्ञ के समान होता है अतएव बिना रंगपूजन किये प्रेक्षा (रूपक या खेल) का प्रदर्शन या अभिनय नहीं करना चाहिए ॥ ९८ ॥

पूजिताः पूजयन्त्येते मानिता मानयन्ति च ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ ९९ ॥

रंगस्थल के (प्रतिष्ठापित) देवगण पूजे जाने पर पूज्य बनाते हैं तथा मानित होने पर उन्हें भी सम्मान प्राप्त करवाते हैं। अतएव सभी प्रयत्नों के साथ रंग का पूजन किया जाना चाहिए ॥ ९९ ॥

न तथाशु[2] दहत्यग्निः प्रभञ्जनसमीरितः ।
यथा ह्यपप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ॥ १०० ॥

आँधी से प्रेरित अग्नि भी उतनी शीघ्रता से नहीं जलती जितनी (शीघ्रता से) दूषित विधि के द्वारा किया गया नाट्यप्रयोग क्षणमात्र में प्रयोक्ता को ध्वस्त कर देता है ॥ १०० ॥

शास्त्रज्ञेन विनीतेन शुचिना दीक्षितेन च ।
नाट्याचार्येण [3]शान्तेन कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ १०१ ॥

इसलिए शास्त्र के ज्ञाता, विनम्र, पवित्र, व्रत की दीक्षा ग्रहण करने वाले तथा शान्त स्वभाव वाले नाट्याचार्य के द्वारा रंगमञ्च का पूजन किया जाना चाहिए ॥ १०१ ॥

स्थानभ्रष्टन्तु यो दद्याद् बलिमुद्विग्नमानसः ।
मन्त्रहीनो यथा होता प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥ १०२ ॥

१. सम्मत—ख० । २. तथा प्रदहत्यग्नि —क० । ३. सार्द्धश्च—क० ।

जो मनुष्य को चित्त के उद्वेग के कारण अयोग्य स्थान में बलि प्रदान कर देता है वह मन्त्रहीन आहुति देने वाले होता के समान प्रायश्चित्त का भागी होता है ॥ १०२ ॥

[1]इत्ययं यो विधिर्दृष्टो रङ्गदैवतपूजने ।
नवे नाट्यगृहे [2]कार्यः प्रेक्षायाञ्च प्रयोक्तृभिः ॥ १०३ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रङ्गदैवतपूजनं नाम
तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।



इस प्रकार रंगदैवत पूजन की जो विधि बतलाई गई है, उसे प्रयोक्तागण नये नाट्यगृह के निर्माण तथा प्रदर्शन हेतु अभिनयादि प्रस्तुत किये जाने के अवसर पर अवश्य प्रयुक्त करें ॥ १०३ ॥

भरतमुनिप्रणीत नाट्यशास्त्र की प्रदीपव्याख्या का 'रंगदैवतपूजन' नामक तृतीय अध्याय सम्पूर्ण ।



१ एवमेव विधि—ग० । २. कार्यं प्रेक्षायान्तु—ग० ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

एवं तु पूजनं कृत्वा मया प्रोक्तः पितामहः।
आज्ञापय विभो[1] क्षिप्रं कः प्रयोगः प्रयुज्यताम् ॥ १ ॥

इस प्रकार विधिवत् पूजन करने के उपरान्त मैंने पितामह ब्रह्मा से कहा—हे प्रभो! आप शीघ्र आज्ञा दीजिए कि किस नाटक को खेला जाए (या मैं किस रचना को प्रयोग रूप में उपस्थित करूँ!) ॥ १ ॥

ततोऽस्म्युक्तो भगवता योजयामृतमन्थनम्।
एतदुत्साहजननं सुरप्रीतिकरं तथा[2] ॥ २ ॥

तब (मुझे) पितामह ब्रह्मा बोले—हे वत्स, [1]अमृतमन्थन का संयोजन करो। (क्योंकि) यह देवगणों को प्रिय है और उनके उत्साह को बढ़ाने वाला है ॥ २ ॥

योऽयं समवकारस्तु[3] धर्मकामार्थसाधकः।
मया प्राग्ग्रथितो[4] विद्वन्स प्रयोगः प्रयुज्यताम् ॥ ३ ॥

हे विद्वन्! मैंने जिस समवकार की रचना की है वह धर्म, काम तथा अर्थ का साधक है। आप उसी 'नाट्य' का अब प्रयोग करें ॥ ३ ॥

तस्मिन्समवकारे तु प्रयुक्ते देवदानवाः।
हृष्टाः समभवन्सर्वे कर्मभावानुदर्शनात् ॥ ४ ॥

---

१. 'अमृतमन्थन' का वृत्तान्त पुराणों मे अतिशय प्रसिद्ध है। अनेक पुराणों मे यह कथा है (दे० श्रीमद्भागवत तथा म० भा० प० १, अध्या० १७–१९ तथा विष्णु० पु० अ० १ इत्यादि)

---

१ प्रभो—ग०। २ महत्—ग०। ३ समस्तकार्यस्य—ख०।
४. प्रग्रथितो—घ०।

इस समवकार[1] के प्रस्तुत किये जाने पर देवता तथा दैत्यगण (अपने) कर्म (अभिनय आदि) तथा भावों (विचारों, कल्पनाओं) को देखकर प्रसन्न हुए ॥ ४ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य मामाहाम्बुजसम्भव ।
नाट्यं सन्दर्शयामोऽद्य त्रिनेत्राय महात्मने ॥ ५ ॥

फिर किसी समय मुझसे कमलयोनि भगवान् ब्रह्माजी बोले—हम (अपने) इसी नाट्य को अब महात्मा शंकर के सम्मुख प्रस्तुत करेंगे ॥ ५ ॥

तत सार्धं सुरैर्गत्वा वृषभाङ्कनिवेशनम् ।
समभ्यर्च्य[1] शिवं पश्चादुवाचेदं पितामह ॥ ६ ॥
मया समवकारस्तु योऽयं सृष्टः सुरोत्तम ।
श्रवणे दर्शने चास्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

तब पितामह ब्रह्मा देवगणों के साथ भगवान शिव के निवास स्थान पर जाकर और भगवान शिव की विधिवत् अर्चना कर (फिर) उनसे बोले। हे देवाधिदेव ! मैंने जिस समवकार की रचना की है उसे सुनने तथा देखने की कृपा कीजिये ॥ ६–७ ॥

पश्याम इति देवेशो द्रुहिणं वाक्यमब्रवीत् ।
ततो मामाह भगवान् सज्जो भव महामते ॥ ८ ॥

भगवान शंकर ने ब्रह्माजी से कहा—'हम इसे अवश्य देखेंगे'। तब भगवान पितामह मुझ (भरत) से बोले—हे मुने ! इस प्रयोग के प्रदर्शन की तैयारी कीजिए ॥ ८ ॥

ततो हिमवतः पृष्ठे नानानगसमाकुले ।
बहुभूतगणाकीर्णे[2] रम्यकन्दरनिर्झरे ॥ ९ ॥

---

१ समवकार तथा डिम'—रूपकों के भेद । इनके लक्षण ना० शा० अ० २० में है । 'त्रिपुरदाह'—भगवान शिव ने त्रिपुर दैत्य की तीनों नगरियों को भस्म कर उसका संहार किया था और इसी कारण वे त्रिपुरान्तक' कहलाए ।

१ अभ्यर्च्य च—ग० । २ बहुचूतद्रुमाकीर्णे—ख० ।

पूर्वरङ्गे कृते पूर्वं तत्रायं द्विजसत्तमाः।
तथा त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥ १० ॥

हे श्रेष्ठ मुनिगण ! तब उस हिमालय पर्वत के प्रदेश पर —जो अनेक पर्वतों से घिरा हुआ था, जिसमें अनेक भूतगण विद्यमान थे तथा जो सुरम्य कन्दराओं और सोतों से युक्त था। वहाँ मैंने पूर्वरंग विधान के पश्चात् इस अमृतमन्थन समवकार तथा त्रिपुरदाह नामक डिम[1] का अभिनय (प्रयोग) प्रस्तुत किया ॥ ९–१० ॥

ततो भूतगणा हृष्टाः कर्मभावानुकीर्तनात्।
महादेवश्च सुप्रीतः पितामहमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

तब सभी भूतगण कार्य तथा भावों के अभिनय (प्रयोग) को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और भगवान् शिव भी अतिशय सन्तुष्ट होकर पितामह ब्रह्माजी से बोले ॥ ११ ॥

अहो नाट्यमिदं सम्यक्त्वया [1]सृष्टं महामते।
यशस्यं च शुभार्थं च पुण्यं बुद्धिविवर्धनम् ॥ १२ ॥

हे महामते ! यह नाट्य प्रयोग आपने बहुत ही श्रेष्ठ निर्माण किया है जो यशःप्रदाता, शुभ अर्थों का साधक, पवित्र और बुद्धि का संवर्धक है ॥१२॥

मयापीदं स्मृतं नृत्यं[2] सन्ध्याकालेषु नृत्यता।
नानाकरणसंयुक्तैरङ्गहारैर्विभूषितम् ॥ १३ ॥
पूर्वरङ्गविधावस्मिन् त्वया सम्यक्प्रयोज्यताम्[3]।

सन्ध्या के समय नृत्य करते हुए जब मैंने नृत्य का निर्माण किया तब मैंने इसे (नृत्य को) अगहारों[1] से—जो करणों से मिलकर निर्मित

१ अगहार का अर्थ होता है शरीर का हलन चलन। आचार्य अभिनवगुप्त ने अगहार पद की व्याख्या इस प्रकार की है—"अगाना देशान्तरे समुचिते

१ दृष्ट—ख०। २. नृत्तं—ग०। ३. प्रयुज्यताम्—ग०।

होते हैं—युक्त करते हुए और भी सुन्दर बनाया है। तुम इन अंगहारों का 'नाटक' की पूर्वरंगविधि में प्रयोग करो ॥ १३ ॥

पूर्वरंग के दो प्रकार—

वर्धमानकयोगेषु[1] गीतेष्वासारितेषु च ॥ १४ ॥
महागीतेषु चैवार्थान् सम्यगेवाभिनेष्यसि ।
यश्चायं पूर्वरङ्गस्तु त्वया शुद्धः प्रयोजितः ॥ १५ ॥
[2]एभिर्विमिश्रितश्चायं चित्रो नाम भविष्यति ।

वर्धमानक, आसारित, गीत और महागीत (के योग या सम्बन्ध) की अवस्था में (इसके) भावों को ठीक प्रकार से अभिनय कर सकोगे। आपने जो पूर्वरंग प्रयुक्त किया वह शुद्ध पूर्वरंग है पर जब ये वर्धमानक आदि इसमें संसक्त होंगे तो इनके मिश्रण हो जाने से इस (पूर्वरंग) का 'चित्र पूर्वरङ्ग' नाम हो जाएगा ॥ १४–१६ ॥

अंगहार—

श्रुत्वा महेश्वरवचः प्रत्युक्तस्तु[3] स्वयंभुवा ॥ १६ ॥
प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व सुरसत्तम ।
ततस्तण्डुं समाहूय प्रोक्तवान् भुवनेश्वरः[4] ॥ १७ ॥
प्रयोगमङ्गहाराणां आचक्ष्व[5] भरताय वै ।

महेश्वर के वचनों को सुन ब्रह्माजी बोले हे देवाधिदेव, आप 'अंगहारों' के विषय में बतलाइये।

प्रापणप्रकारोऽङ्गहार-। हरस्य चाय हार प्रयोग । अगनिर्वर्त्यो हारोऽङ्गहार' (अभि० भार० Vol. I. पृ० ९१) । अर्थात् वह प्रधान नृत्यप्रकार जो संक्षिप्त (छोटे) करणों के द्वारा निष्पन्न होता हो, अङ्गहार है।

---

१. योगेन—घ० २. एतद्वि—क०। ३. प्रयुक्तश्च—ग०।
४. सुरसत्तम —घ०। ५ भरतायोपदिश्यताम्—क०।

तब (त्रिभुवनाधिपति भगवान्) शिव ने तण्डु को बुलाकर कहा— 'भरतमुनि' को अंगहारों का विधान बतला दीजिये ॥ १६–१७ ॥

ततो ये[1] तण्डुसम्प्रोक्तांस्त्वङ्गहारान् महात्मना ॥ १८ ॥
[2]नानाकरणसंयुक्तान् व्याख्यास्यामि सरेचकान् ।

तब (महात्मना) तण्डु के द्वारा मुझे जो करणों तथा रेचकों से युक्त अंगहार बतलाए गए अब मैं उनकी व्याख्या करूँगा ॥ १८–१९ ॥

स्थिरहस्तोऽङ्गहारस्तु तथा पर्यस्तकः स्मृतः ॥ १९ ॥
सूचीविद्धस्तथा चैव ह्यपविद्धस्तथैव च ।
आक्षिप्तकस्तु विज्ञेयस्तथा चोद्घट्टितस्स्मृतः ॥ २० ॥
विष्कम्भश्चैव सम्प्रोक्तस्तथा चैवापराजितः ।
विष्कम्भापसृतश्चैव मत्ताक्रीडस्तथैव च ॥ २१ ॥
स्वस्तिको रेचितश्चैव पार्श्वस्वस्तिक एव च ।
[3]वृश्चिकापसृतः प्रोक्तो [4]भ्रमरश्च तथापरः ॥ २२ ॥
मत्तस्खलितकश्चैव मदाद्विलसितस्तथा ।
गतिमण्डलको[5] ज्ञेयः परिच्छिन्नस्तथैव च ॥ २३ ॥
[6]परिवृत्तरेचितः स्यात्तथा वैशाखरेचितः ।
परावृत्तोऽथ विज्ञेयस्तथा चैवाप्यलातकः ॥ २४ ॥
पार्श्वच्छेदोऽथ सम्प्रोक्तो विद्युद्भ्रान्तस्तथैव च ।
ऊरूद्वृत्तस्तथा चैव स्यादालीढस्तथैव च ॥ २५ ॥
रेचितश्चापि विज्ञेयस्तथैवाच्छुरितः स्मृतः ।
आक्षिप्तरेचितश्चैव सम्भ्रान्तश्च तथापरः ॥ २६ ॥

१ ततो ये तण्डुना प्रोक्तास्त्वङ्गहारा महात्मना—ख०, घ० ।
२ नान्वे —घ० । ३ वृश्चिकश्चैव सम्प्रोक्तो—घ० ।
४ चमरश्च —ग० । ५ गतिमण्डलोऽथ—ग० ।
६ रेचितोऽथ—ग० ।

[1]अपसर्पस्तु विज्ञेयस्तथा चार्धनिकुट्टकः।
द्वात्रिंशदेते सम्प्रोक्ता अंगहारास्तु नामतः॥ २७॥

अगहार[1] बत्तीस होते हैं :—(१) स्थिरहस्त, (२) पर्यस्तक, (३) सूचीविद्ध, (४) अपविद्ध, (५) आक्षिप्तक, (६) उद्घट्टित, (७) विष्कम्भ, (८) अपराजित, (९) निष्कम्भापसृत, (१०) मत्ताक्रीड, (११) स्वस्तिकरेचित, (१२) पार्श्वस्वस्तिक, (१३) वृश्चिकापसृत, (१४) भ्रमर, (१५) मत्तस्खलित, (१६) मदविलासित, (१७) गतिमण्डल, (१८) परिच्छिन्न, (१९) परिवृत्तरेचित, (२०) वैशाखरेचित, (२१) परावृत्त, (२२) अलातक, (२३) पार्श्वच्छेद (२४) विद्युद्भ्रान्त, (२५) ऊरूद्वृत्त, (२६) आलीढ, (२७) रेचित, (२८) आच्छुरित, (२९) आक्षिप्तरेचित, (३०) सम्भ्रान्त, (३१) अपसर्प (अपसर्पित) तथा (३२) अर्धनिकुट्टक॥ १९–२७॥

अगहारों की योजना—

एतेषां[2] तु प्रवक्ष्यामि प्रयोगं करणाश्रयम्।
हस्तपादप्रचारश्च यथा योज्यः प्रयोक्तृभिः॥ २८॥
अङ्गहारेषु वक्ष्यामि करणेषु[3] च वै द्विजाः।
सर्वेषामङ्गहाराणां निष्पत्तिः [4]करणैर्यतः॥ २९॥
[5]तान्यतः सम्प्रवक्ष्यामि नामतः कर्मतस्तथा।

अब मैं इन अङ्गहारों का करणों पर निर्भर रहने वाला प्रयोग (योजना) बतलाता हूँ; इसके अतिरिक्त (हे द्विजश्रेष्ठ मुनिगण आपको) यह भी बतलाता हूँ कि अगहार तथा करणों में हस्त तथा पैरों की गतियाँ (हलन-चलन) किस प्रकार रखनी चाहिए।

१ 'अगहारों का विशेष वर्णन इसी अध्याय में आगे दिया जा रहा है।

१ अपसर्पितोऽथ—ग०।
२ एताश्चैव प्रवक्ष्यामि प्रयोगं करणाश्रितम्—ग०, घ०।
३ तथाह द्विजसत्तमा —ग०, घ०। ४ करणैमंवेत—ग०।
५ तान्यह—ग०।

सभी अंगहार करणों के द्वारा निष्पन्न होते हैं इसलिये (सर्वप्रथम) इन करणों के नाम (तथा उनके स्वरूप) बतलाता हूँ ॥ २८–३० ॥

[1]करण—

हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत् ॥ ३० ॥
द्वे नृत्तकरणे चैव भवतो नृत्तमातृका ।
द्वाभ्यां त्रिचतुराभिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभिः ॥ ३१ ॥
त्रिभिः[1] कलापकौ ज्ञेयः चतुर्भिः मण्डकस्तथा[2] ।
पञ्चैव करणानि स्युः सङ्घातक इति स्मृतः ॥ ३२ ॥
षड्भिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभिर्नवभिस्तथा ।
करणैरिह संयुक्ता अङ्गहारा प्रकीर्तिताः ॥ ३३ ॥
एतेषामिह[3] वक्ष्यामि हस्तपादविकल्पनम् ।

नृत्य में हस्त तथा पादों के मिलकर हलन चलन करने को 'करण'[2] कहते हैं । दो करणों (के संयोग) से एक मातृका बनती है और दो, तीन या चार मातृकाओं से एक अंगहार बनता है । तीन करणों के द्वारा एक कलापक तथा चार से एक मण्डल (मण्डक) बनता है और पाँच करणों से संघातक । इस प्रकार से अंगहार छः, सात, आठ, तथा नौ करणों के मेल से बनते हैं । अब इनके हाथ तथा पैरों की गति से बनने वाले स्वरूपों (भेदों) को बतलाता हूँ ॥ ३०–३४ ॥

तलपुष्पपुटं पूर्वं वर्तितं वलितोरु[4] च ॥ ३४ ॥
अपविद्धं समनखं लीनं स्वस्तिकरेचितम् ।
मण्डलस्वस्तिकं चैव निकुट्टकमथापि च ॥ ३५ ॥

---

१ 'करण'—अगभूतनृत्य प्रकारों के नाम ।

---

१. त्रिभि कलापकश्चैव—ख० । २ मण्डक भवेत्—क० ।
३ एतेषामेव—ख० । ४ वलितोरु च—ग० ।

तथैवार्धनिकुट्टं च कटिच्छिन्नं तथैव च ।
अर्धरेचितकं चैव वक्षःस्वस्तिकमेव च ॥ ३६ ॥

उन्मत्तं स्वस्तिकं चैव पृष्ठस्वस्तिकमेव च ।
दिक्स्वस्तिकमलातं च तथा चैव कटीसमम् ॥ ३७ ॥

आक्षिप्तरेचितं चैव विक्षिप्ताक्षिप्तकं तथा ।
अर्धस्वस्तिकमुद्दिष्टमञ्चितं च तथापरम् ॥ ३८ ॥

भुजङ्गत्रासितं प्रोक्तम् ऊर्ध्वजानु तथैव च ।
निकुञ्चितं च मत्तल्लि त्वर्धमत्तल्लि चैव हि ॥ ३९ ॥

स्याद्रेचकनिकुट्टं च तथा पादापविद्धकम् ।
[1]वलितं घूर्णितं चैव ललितं च तथापरम् ॥ ४० ॥

दण्डपक्षं तथा चैव भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।
नूपुरं चैव सम्प्रोक्तं तथा वैशाखरेचितम् ॥ ४१ ॥

भ्रमरं चतुरं चैव भुजङ्गाञ्चितमेव च ।
दण्डरेचितकं चैव तथा [2]वृश्चिककुट्टितम् ॥ ४२ ॥

कटिभ्रान्तं तथा चैव लतावृश्चिकमेव च ।
छिन्नं च करणं प्रोक्तं तथा वृश्चिकरेचितम्[3] ॥ ४३ ॥

वृश्चिकं व्यंसितं चैव तथा पार्श्वनिकुट्टकम् ।
ललाटतिलकं क्रान्तं कुञ्चितं चक्रमण्डलम् ॥ ४४ ॥

उरोमण्डलमाक्षिप्तं तथा तलविलासितम् ।
अर्गलं चापि विक्षिप्तमावृत्तं दोलपादकम् ॥ ४५ ॥

विवृत्तं विनिवृत्तं च पार्श्वक्रान्तं निशुम्भितम् ।
विद्युद्भ्रान्तमतिक्रान्तं विवर्तितकमेव च ॥ ४६ ॥

---

१. घूर्णितञ्चैव वलितं—ग० ।　　२. वृश्चिककुट्टनम्—ख० ।
३. पार्श्वनिकुट्टनम्—ग०

गजक्रीडितकं चैव तलसंस्फोटितं तथा ।
गरुडप्लुतकं चैव गण्डसूचि तथापरम् ॥ ४७ ॥
परिवृत्तं समुद्दिष्टं पार्श्वजानु तथैव च ।
[1]गृध्रावलीनिकं चैव सन्नतं सूच्यथापि च ॥ ४८ ॥
अर्धसूचीति करणं सूचीविद्धं तथैव च ।
अपक्रान्तं च सम्प्रोक्तं मयूरललितं तथा ॥ ४९ ॥
सर्पितं दण्डपादं च हरिणप्लुतमेव च ।
प्रेङ्खोलितं नितम्बं च स्खलितं करिहस्तकम् ॥ ५० ॥
[2]प्रसर्पितकमुद्दिष्टं सिंहविक्रीडितं तथा ।
सिंहाकर्षितमुद्वृत्तं [3]तथोपसृतमेव च ॥ ५१ ॥
[4]तलसङ्घट्टितं चैव जनितं चावहित्थकम् ।
[5]निवेशमेलकाक्रीडमूरूद्वृत्तं तथैव च ॥ ५२ ॥
मदस्खलितकं चैव विष्णुक्रान्तमथापि च ।
सम्भ्रान्तमथ विष्कम्भमुद्घट्टितमथापि च ॥ ५३ ॥
वृषभक्रीडितं चैव लोलितं च तथापरम् ।
नागापसर्पितं चैव शकटास्यं तथैव च ॥ ५४ ॥
[6]गङ्गावतरणं चैवेत्युक्तमष्टाधिकं शतम् ।
अष्टोत्तरशतं ह्येतत्करणानां मयोदितम् ॥ ५५ ॥

करण[1] एक सौ आठ हैं—(१) तलपुष्पपुट, (२) वर्तित, (३) वलितोरु, (४) अपविद्ध, (५) समनख, (६) लीन, (७) स्वस्तिक-

१. 'करणों' का उपयोग सामान्य तथा विस्तृत रूप से नृत्य प्रयोग में तो किया ही जाता है, परन्तु कभी-कभी अभिनय के मध्य वचन वाले समय की पूर्ति (In the acting fill up its gaps) के लिये भी किया जाता है । इसके

१ गृद्धावलीनक—ग० ।   २ सर्मापत समुद्दिष्टम्—घ० ।
३ तथापसृत—घ० ।   ४ तलघट्टितक—ख० ।
५ निवेश मौलिकाक्रीड—ग० ।   ६ रङ्गा—ख० ।

रेचित, (८) मण्डलस्वस्तिक, (९) निकुट्टक, (१०) अर्धनिकुट्ट, (११) कटिछिन्न, (१२) अर्धरेचित, (१३) वक्ष· स्वस्तिक, (१४) उन्मत्त, (१५) स्वस्तिक, (१६) पृष्ठस्वस्तिक, (१७) दिक्स्वस्तिक, (१८) अलात, (१९) कटीसम, (२०) आक्षिप्तरेचित, (२१) विक्षिप्ताक्षिप्तक, (२२) अर्धस्वस्तिक, (२३) अञ्चित, (२४) भुजगत्रासित, (२५) ऊर्ध्वजानु, (२६) निकुञ्चित, (२७) मत्तल्लि, (२८) अर्धमत्तल्लि, (२९) रेचकनिकुट्ट, (३०) पादापविद्धक, (३१) वलित, (३२) घूर्णित, (३३) ललित, (३४) दण्डपक्ष, (३५) भुजगत्रस्तरेचित, (३६) नूपुर, (३७) वैशाखरेचित, (३८) भ्रमर, (३९) चतुर, (४०) भुजगाञ्चितक, (४१) दण्डरेचितक (दण्डकरेचित) (४२) वृश्चिककुट्टित, (४३) कटिभ्रान्त, (४४) लतावृश्चिक, (४५) छिन्न, (४६) वृश्चिकरेचित, (४७) वृश्चिक, (४८) व्यंसित, (४९) पार्श्वनिकुट्टकम् (५०) ललाटतिलक, (५१) क्रान्त (क्षान्त), (५२) कुञ्चित, (५३) चक्रमण्डल, (५४) उरोमण्डल, (५५) आक्षिप्त (५६) तलविलासित, (५७) अर्गल, (५८) विक्षिप्त, (५९) आवृत्त, (६०) दोलपादक, (६१) विवृत्त, (६२) विनिवृत्त, (६३) पार्श्वक्रान्त, (६४) निशुम्भित, (६५) विद्युद्भ्रान्त, (६६) अतिक्रान्त, (६७) विवर्तितक, (६८) गजक्रीडित, (६९) तलसंस्फोटित, (७०) गरुडप्लुतक, (७१) गण्डसूची, (७२) परिवृत्त, (७३) पार्श्वजानु, (७४) गृध्रावलीनक, (७५) सन्नत, (७६) सूची, (७७) अर्धसूची, (७८) सूचीविद्ध, (७९) अपक्रान्त, (८०) मयूरललित, (८१) सर्पित, (८२) दण्डपाद, (८३) हरिणप्लुत, (८४) प्रेङ्खोलित, (८५) नितम्ब, (८६) स्खलित, (८७) करिहस्तक, (८८) प्रसर्पितक, (८९) सिंहविक्रीडित, (९०) सिंहकर्षित, (९१) उद्वृत्त, (९२) उपसृत, (९३) तलसंघट्टित, (९४) जनित, (९५) अवहित्थक, (९६) निवेश, (९७) एलकाक्रीडित, (-क्रीड), (९८) उरूद्वृत्त, (९९) मदस्खलितक, (१००) विष्णुक्रान्त, (१०१) सम्भ्रान्त, (१०२) विष्कम्भ, (१०३) उद्घट्टित, (१०४)

अतिरिक्त आचार्य अभिनव गुप्त के मत में शस्त्रादि युद्ध बाहुयुद्ध तथा नृत्य सौष्ठव के लिये भी करणों का व्यवहार होता है (द्रष्ट०—अभिनव भारती I पृ० ९४)

वृषभक्रीडित, (१०५) लोलितक, (१०६) नागापसर्पित, (१०७) शकटास्य, तथा (१०८) गंगावतरण। इस प्रकार मैंने १०८ करण बतलाए ॥३४-५०॥

करणों की योजना—

नृत्ते[1] युद्धे नियुद्धे च तथा गतिपरिक्रमे।
गतिप्रचारे वक्ष्यामि युद्धचारीविकल्पनम् ॥ ५६ ॥
यत्र तत्रापि सयोज्यमाचार्यैर्नाट्यशक्तित ।

इन करणों को नृत्य, युद्ध, बाहुयुद्ध तथा युद्ध के समय रखी जाने वाली पैरों की गति (चारी) का गतिप्रचाराध्याय में वर्णन करूँगा। आचार्यगण इन करणों की योजना नाट्य की सामर्थ्य के अनुसार (जहा तक हो) उचित प्रकार से करें ॥ ५०-५७ ॥

प्रायेण करणे कार्यो वामो वक्षःस्थित कर ॥ ५७ ॥
चरणस्यानुगश्चापि दक्षिणस्तु भवेत्कर ।

(प्राय) करण में बायाहाथ छाती पर तथा दाहिना हाथ दाहिने चरण का अनुसत्ता (या दाहिने पैर की स्थिति के अनुसार) होना चाहिए ॥

हस्तपादप्रचारं तु कटिपार्श्वोरुसंयुतम् ॥ ५८ ॥
उर पृष्ठोदरोपेत वक्ष्यमाण[2] निबोधत।

अब मैं आपको हाथपैरों की उन गतियों का—जो नृत्य में कटि, कोख, पिण्डलियाँ, वक्षःस्थल, पीठ तथा उदर से सम्बद्ध होकर रहती है—वर्णन करूँगा ॥ ५८-५९ ॥

यानि स्थानानि याश्चार्या [1]नृत्तहस्तास्तथैव च ॥ ५९ ॥
सा मातृकेति विज्ञेया तद्योगात्करणं भवेत् ।

स्थान, [1]चारियां तथा [2]नृत्तहस्त जो भी (पहिले या आगे) कहे गये

---

१ चारी का वर्णन नाट्यशास्त्र के ११ वें अध्याय में है।

२ नृत्तहस्त तथा हस्तों का वर्णन नाट्यशास्त्र के ९ वें अध्याय स्थानों का वर्णन ११ वें में और मण्डलों का १२ वें अध्याय में है।

---

१ नये—क०। २ नृत्तमार्गे—ग०। ३ व्यायामे गदितानि वै—घ०

यदि हाथो को संयुक्त कर (उन्हें) घुमाते हुए 'स्वस्तिक' मुद्रा में रखें— हाथों के तले सामने तथा ऊपर की ओर (सामान रूप मे) घूमते हुए रखें और शरीर को मण्डल स्थान में रखे तो 'मण्डलस्वस्तिक' करण कहलाता है ॥ ६८–६९ ॥

निकुट्टितौ यदा हस्तौ स्वबाहुशिरसोऽन्तरे ॥ ६९ ॥
पादौ निकुट्टितौ चैव ज्ञेयं तत्तु निकुट्टकम् ।

यदि भुजा और मस्तक के बीच हाथो को [१]'निकुट्टित' तथा पैरों को भी 'निकुट्टित' दशा में रखे तो 'निकुट्टक' करण कहलाता है ॥॥६९–७०॥

अञ्चितौ बाहुशिरसि[१] हस्तस्त्वभिमुखाङ्गुलिः ॥ ७० ॥
निकुञ्चितार्धयोगेन भवेदर्धनिकुट्टकम् ।

यदि अञ्चित (अलपल्लव[२] मुद्रा वाले) हाथों को (बाहु के) सामने की ओर करें तथा पिंडलियों को ऊपर और नीचे की ओर झुकाएं तो 'अर्धनिकुट्टक' करण कहलाता है ॥ ७०–७१ ॥

पर्यायशः कटिश्छिन्ना बाहू शिरसि पल्लवौ ॥ ७१ ॥
पुनःपुनश्च करणं कटिच्छिन्नं तु तद्भवेत् ।

यदि 'कटि' क्रमशः 'छिन्न' मुद्रा में और दोनों हाथ क्रमशः 'पल्लव' मुद्रा में मस्तक पर रखे जाएँ । और यह (विधान) बार-बार करें तो इसे 'कटिच्छिन्न' करण कहते हैं ॥ ७१–७२ ॥

अपविद्धकरः सूच्या पादश्चैव निकुट्टितः ॥ ७२ ॥
सन्नतं यत्र पार्श्वं च तद्भवेदर्धरेचितम् ।

---

१ भरताचार्य के अतिरिक्त 'निकुट्टक' या 'निकुट्टन' का कोहल प्रणीत लक्षण भी अ० भा० मे दिया है—यथा—'उन्नमन विवलन स्यादगस्य निकुट्टनम्' (अर्थ —अवयवो को ऊपर तथा नीचे की ओर ले जाना 'निकुट्टन' कहलाता है ।)

२ 'अञ्चित' का अभिनवगुप्ताचार्य ने अलपल्लवमुद्रायुक्त अर्थ किया है । यहां तदनुसार ही अर्थ दिया गया है ।

---

१. बाहुशिरसी—घ० ।

तलपुष्पपुटम् ।



(पृ० ९४ श्लो० ६१)

वर्तितम् ।



(पृ० ९४, श्लो० ६२)

वलितोरुकम् ।



(पृ० ९४ श्लो० ६३)

अपविद्धम् ।



(पृ० ९५, श्लो० ६४)

समनखम् ।



(पृ० ९५, श्लो० ६५)

लीनम् ।



(पृ० ९५, श्लो० ६६)

स्वस्तिकरेचितम् ।



(पृ० ९५, श्लो० ६७)

मण्डलस्वस्तिकम् ।



(पृ० ९५, श्लो० ६८)

कटिच्छिन्नम् ।



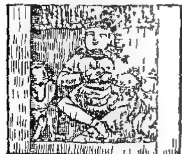
(पृ० ९६, श्लो० ७१)

अर्द्धरेचितम् ।



(पृ० ९६, श्लो० ७२)

वक्षः स्वस्तिकम् ।



(पृ० ९७, श्लो० ७३)

उन्मत्तकम् ।



(पृ० ९७, श्लो० ७४)

स्वस्तिकम् ।



(पृ० ९७, श्लो० ७५)

पृष्ठस्वस्तिकम् ।



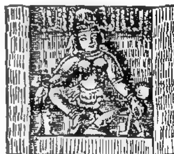
(पृ० ९७, श्लो० ७६)

दिक्स्वस्तिकम् ।



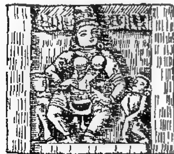
(पृ० ९७, श्लो० ७७)

अलातकम् ।



(पृ० ९८ श्लो० ७८)

कटीसमम् ।



(पृ० ९८, श्लो० ७९)

आक्षिप्तरेचितम् ।



(पृ० ९८, श्लो० ८०)

विक्षिप्ताक्षिप्तकम् ।



(पृ० ९८ श्लो० ८१

अर्धस्वस्तिकम् ।



(पृ० ९८ श्लो० ८२)

अञ्चितम् ।



(पृ० ९ श्लो० ८३)

भुजङ्गत्रासितम् ।



(पृ० ९९ श्लो० ८

ऊर्ध्वजानु ।



(पृ० ९९ श्लो० ८५)

निकुञ्चितम् ।



(पृ० ९९ श्लो० ८६)

मत्तल्लि।



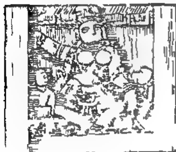
(पृ० ९९ श्लो० ८७)

अर्धमत्तल्लि।



(पृ० १०० श्लो० ८८)

रेचितनिकुट्टितम्।



(पृ० १०० श्लो० ८९)

पादापविद्धकम्।



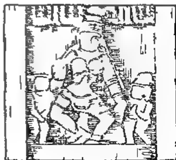
(पृ० १०० श्लो० ९०)

वलितम्।



(पृ० १००, श्लो० ९१)

घूर्णितम्।



(पृ० १००, श्लो० ९२)

ललितम् ।



(पृ० १०१, श्लो० ९३)

दण्डपक्षम् ।



(पृ० १०१, श्लो० ९४)

भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।



(पृ० १०१, श्लो० ९५)

नूपुरम् ।



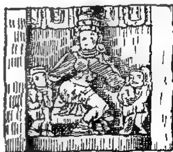
(पृ० १०१, श्लो० ९६)

वैशाखरेचितम् ।



(पृ० १०१, श्लो० ९७)

भ्रमरकम् ।



(पृ० १०२, श्लो० ९८)

चतुरम् ।



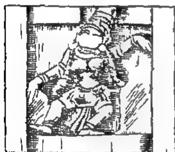
(पृ० १०२ श्लो० ९९)

भुजङ्गाञ्चितकम् ।



(पृ० १०२ श्लो० १००)

दण्डकरेचितम् ।



(पृ० १०२ श्लो० १०१)

वृश्चिककुट्टितम् ।



(पृ० १०२ श्लो० १०२)

कटिभ्रान्तम् ।



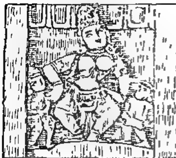
(पृ० १०३ श्लो० १०३)

लतावृश्चिकम् ।



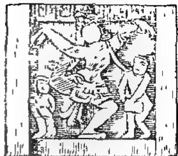
(पृ० १०३, श्लो० १०४)

छिन्नम् ।



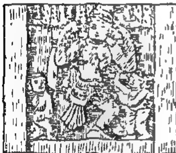
(पृ० १०३, श्लो० १०५)

वृश्चिकरेचितम् ।



(पृ० १०३, श्लो० १०६)

वृश्चिकम् ।



(पृ० १०३, श्लो० १०७)

व्यंसितम् ।



(पृ० १०४, श्लो० १०८)

पार्श्वनिकुट्टकम् ।



(पृ० १०४, श्लो० १०९)

ललाटतिलकम् ।



(पृ० १०४, श्लो० ११०)

क्रान्तकम् ।



(पृ० २०४, श्लो० १११)

चक्रमण्डलम् ।



(पृ० २०५, श्लो० ११३)

आक्षिप्तम् ।



(पृ० २०५, श्लो० ११५)

तलविलासितम् ।



(पृ० २०५, श्लो० ११६)

अर्गलम् ।



(पृ० २०५, श्लो० ११७)

विक्षिप्तम् ।



(पृ० १०६, श्लो० ११८)

आवर्तम् ।



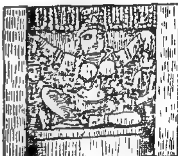
(पृ० १०६, श्लो० ११९)

दोलापादम् ।



(पृ० १०६, श्लो० १२०)

विवृत्तम् ।



(पृ० १०६, श्लो० १२१)

पार्श्वक्रान्तम् ।



(पृ० १०६, श्लो० १२३)

विद्युद्भ्रान्तम् ।



(पृ० १०७, श्लो० १२५)

अतिक्रान्तम् ।



(पृ० १०७, श्लो० १२६)

विवर्तितकम् ।



(पृ० १०७, श्लो० १२७)

गजक्रीडितकम् ।



(पृ० १०७, श्लो० १२८)

तलसंस्फोटितम् ।



(पृ० १०८, श्लो० १३०)

गण्डसूची ।



(पृ० १०८, श्लो० १३२)

पार्श्वजानु ।



(पृ० १०८, श्लो० १३३)

गृध्रावलीनकम् ।



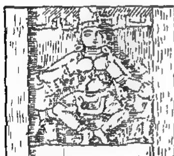
(पृ० १०९, श्लो० १२४)

सन्नतम् ।



(पृ० १०९, श्लो० १२५)

सूची ।



(पृ० १०९, श्लो० १२६)

अर्धसूची ।



(पृ० १०९, श्लो० १२७)

सूचीविद्धम् ।



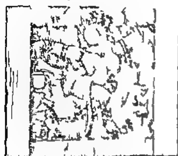
(पृ० १०९, श्लो० १२८)

अपक्रान्तम् ।



(पृ० ११०, श्लो० १२९)

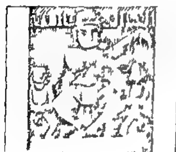
मयूरललितम्।



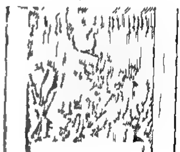
[illegible]



हरिणप्लुतम्।



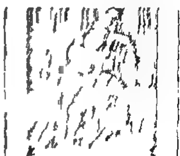
[illegible]



नितम्बम्।



[illegible]

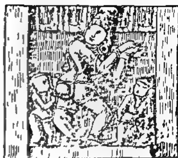


सिंहाकर्षितकम् ।



(पृ० ११२, श्लो० १५०)

उद्वृत्तम् ।



(पृ० ११२, श्लो० १५१)

उपसृतकम् ।



(पृ० ११२, श्लो० १५२)

अवहित्थकम् ।



(पृ० ११३, श्लो० १५५)

एलकाक्रीडितम् ।



(पृ० ११३, श्लो० १५७)

ऊरूद्वृत्तम् ।



(पृ० ११३, श्लो० १५८)

मदस्खलितकम् ।



(पृ० ११४, श्लो० १५९)

विष्णुक्रान्तम् ।



(पृ० ११४, श्लो० १६०)

विष्कम्भम् ।



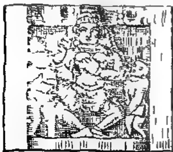
(पृ० ११४, श्लो० १६२)

उद्घट्टितम् ।



(पृ० ११४, श्लो० १६३)

वृषभक्रीडितम् ।



(पृ० ११५, श्लो० १६४)

लोलितम् ।



(पृ० ११५, श्लो० १६५)

नागापसर्पितम् ।



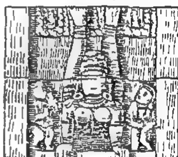
(पृ० ११५, श्लो० १६६)

शकटास्यम् ।



(पृ० ११५, श्लो० १६७)

गङ्गावतरणम् ।



(पृ० ११६, श्लो० १६८)



[फलक १–१६, पुरातत्त्वविभाग, भारतसरकार के सौजन्य से

यदि हाथ ¹'सूचीमुख' मुद्रा में यथेच्छ डोलाए, पैरों को क्रमशः ऊपर नीचे हिलता हुआ (गतिशील) और कोस को 'नत' मुद्रा में रखे तो 'अर्धरेचित' करण कहलाता है ॥ ७२–७३ ॥

स्वस्तिकौ चरणौ यत्र करौ वक्षस्थ¹-रेचितौ ॥ ७३ ॥
निकुञ्चितं तथा वक्षो वक्षस्स्वस्तिकमेव तत् ।

यदि दोनों पैर परस्पर 'स्वस्तिक' दशा में रखे। दोनों हाथ 'रेचित' करते हुए उन्हें 'वक्षःस्थल' तक (झुकाते हुए) लाए, फिर वक्ष.स्थल भी झुकाले तो (यह) 'वक्षःस्वस्तिक' करण कहलाता है ॥ ७३–७४ ॥

अञ्चितेन तु पादेन रेचितौ तु करौ यदा ॥ ७४ ॥
उन्मत्तं करणं तत्तु विज्ञेयं ²नृत्तकोविदैः ।

यदि (दोनों) पैर अचित और (दोनों) हाथ 'रेचित' दशा में हों तो नृत्यशास्त्र के विज्ञाता इसे 'उन्मत्त' करण कहते है ॥ ७४–७५ ॥

हस्ताभ्यामथ³ पादाभ्यां भवतः स्वस्तिकौ यदा ॥ ७५ ॥
तत्स्वस्तिकमिति प्रोक्तं करणं करणार्थिभिः ।

यदि दोनों हाथ और पैर 'स्वस्तिक' मुद्रा में हों तो करण के अभिनेता इसे 'स्वस्तिक' करण जाने ॥ ७५–७६ ॥

विक्षिप्ताक्षिप्तबाहुभ्यां स्वस्तिकौ चरणौ यदा ॥ ७६ ॥
अपक्रान्तार्धसूचिभ्यां तत् पृष्ठस्वस्तिकं भवेत् ।

यदि दोनों बाहु ऊपर (विक्षेप) तथा नीचे की ओर झटके के साथ (आक्षेप) 'स्वस्तिक' मुद्रा में किये जाएँ, तथा दोनों पैर 'अपक्रान्ता' और 'अर्धसूची' चारियों के साथ 'स्वस्तिक' बनाएँ तो यह 'पृष्ठस्वस्तिक' करण कहलाता है ॥ ७६–७७ ॥

पार्श्वयोरग्रतश्चैव यत्र ⁴श्लिष्टः करो भवेत् ॥ ७७ ॥
स्वस्तिकौ हस्तपादाभ्यां तद्दिक्स्वस्तिकमुच्यते ।

---

१ 'अपविद्ध' का अभिनवगुप्त द्वारा किया हुआ अर्थ 'सूचीमुख' है।

---

१ वक्षसि—घ०। २ नट्यकोविदैं—क, नृत्यकोविदै—ख०।
३ उभाभ्या हस्तपादाभ्यां—घ०।
४ श्लिष्टकृतो—क, श्लिष्ट कृतो—ग, श्लिष्ट गतो—घ०।

यदि कोख तथा सामने की ओर स्पर्शकर घूमते हुए दोनों हाथ पैर 'स्वस्तिक' मुद्रा में रहें तो 'दिक्स्वस्तिक' करण कहलाता है ॥ ७७–७८ ॥

अलातं चरणं कृत्वा व्यंसयेद्दक्षिणं करम् ॥ ७८ ॥

[1]ऊर्ध्वजानुक्रमश्चैव अलातकमिति स्मृतम् ।

यदि 'आलात' चारी करते हुए सीधे हाथ को कन्धे के बराबर से नीचे उतारे, फिर 'ऊर्ध्वजानु' चारी को (क्रमशः दोनों-हाथ पैरों से) सम्पादित करे तो 'आलात' करण कहलाता है ॥ ७८–७९ ॥

स्वस्तिकापसृतः पादः करौ नाभिकटिस्थितौ ॥ ७९ ॥

पार्श्वमुद्वाहितं चैव करणं तत्कटीसमम् ।

यदि पैर 'स्वस्तिक' करण के पश्चात् पृथक् रखे, दोनों हाथ नाभि तथा कटि पर रखे और कोख 'उद्वाहित' चेष्टा में रखे हो तो 'कटीसम' करण कहलाता है ॥ ७९–८० ॥

हस्तो हृदि भवेद्वामः सव्यश्चाक्षिप्तरेचितः ॥ ८० ॥

रेचितश्चापविद्धश्च तत् स्यादाक्षिप्तरेचितम् ।

यदि बायाँ हाथ हृदय पर और सीधा 'रेचित' मुद्रा युक्त कर ऊपर तथा कोनों में उछाला जाए। फिर दोनों हाथ 'रेचित' तथा 'अपविद्ध' (चक्राकार) मुद्रा में रखे तो 'आक्षिप्तरेचित' करण कहलाता है ॥ ८०–८१ ॥

विक्षिप्तं हस्तपादन्तु तस्यैवाक्षेपणं पुनः ॥ ८१ ॥

यत्र तत्करणं ज्ञेयं विक्षिप्ताक्षिप्तकं द्विजाः ।

यदि हाथ और पैर ऊपर उछाले जाएँ (विक्षिप्त) तथा फिर उन्हें नीचे पटका जाए (आक्षिप्त) तो हे मुनियों ! 'विक्षिप्ताक्षिप्तक' करण कहलाता है ॥ ८१–८२ ॥

स्वस्तिकौ चरणौ कृत्वा करिहस्तश्च दक्षिणम् ॥ ८२ ॥

वक्षःस्थाने तथा वाममर्धस्वस्तिकमादिशेत् ।

यदि दोनों पैर 'स्वस्तिक', सीधा हाथ 'करिहस्त' (मुद्रा में) और बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर (कटकामुख मुद्रा में) स्थित रहे तो 'अर्धस्वस्तिक' करण कहलाता है ।

१ ऊर्ध्वजानुक्रमं कुर्याद्—ख० ।

व्यावृत्तपरिवृत्तस्तु स एव तु करो यदा ॥ ८३ ॥
अञ्चितो नासिकाग्रे तु तदञ्चितमुदाहृतम् ।

यदि 'अर्धस्वस्तिक' करण की अवस्था में 'करिहस्त' मुद्रा वाला हाथ क्रमश व्यावृत्त (चक्राकार घुमाव में) तथा परिवृत्त (दूसरी ओर घुमाते हुए) रखा जाए और फिर उसे 'नासिका' के अग्रभाग की ओर झुका लिया जाए तो 'अंचित' करण कहलाता है ॥ ८३–८४ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य त्र्यश्रमूरुं विवर्तयेत् ॥ ८४ ॥
कटिजानु विवृत्तं[१] च भुजङ्गत्रासितं भवेत् ।

यदि 'कुंचित' मुद्रा के पैरों को ऊपर उछाला जाए, उसको तिरछा घुमा दिया जाय और कटि और जघा भी उसी क्रम से घुमाव लें तो 'भुजगत्रासित' करण होता है ॥ ८४–८५ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुमूर्ध्वं[२] प्रसारयेत् ॥ ८५ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तावूर्ध्वजानु प्रकीर्तितम् ।

यदि 'कुंचित' पाद को ऊपर उछाला जाए, जानु (घुटने) को ऊपर की ओर (छाती के बराबर) फैलाया जाए तथा दोनों हाथ नृत्य के प्रयोग के (ताल, नाद आदि के) अनुकूल रखे जाएँ तो 'उर्ध्वजानु' करण होता है ॥ ८५–८६ ॥

करणं वृश्चिकं कृत्वा करं पार्श्वे निकुञ्चयेत् ॥ ८६ ॥
नासाग्रे दक्षिणं चैव ज्ञेयं तद्धि निकुञ्चितम् ।

यदि 'वृश्चिक' करण में पैरों को रखकर हाथ को कोख की ओर झुका ले (या सिकुडा ले) तथा सीधे हाथ को नाक की नोक के अग्रभाग पर झुका कर रखे तो 'निकुंचित' करण होता है ॥ ८६–८७ ॥

वामदक्षिणपादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ॥ ८७ ॥
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्तल्ल्युदाहृतम् ।

यदि बाएँ तथा साधे पैरों के द्वारा एक चक्करदार घुमाव लेकर फिर उस पृथ्वी पर पटका जाए, दोनों नृत्य करते हुए हाथ उद्वेष्टित और अपविद्ध

१ कटिजानू विवर्त्तौ च—ख०, कटिजानु निवृत्तो च—घ० ।
२ जानुस्तनसम न्यसत्—ख०, जानुहस्त मम न्यसेत्—घ० ।

गति (हलचल) को प्रदर्शित करें तो वह 'मत्तली' करण कहलाता है ॥ ८७-८८ ॥

स्खलितापसृतौ पादौ वामहस्तश्च रेचित ॥ ८८ ॥
सव्यहस्तः कटिस्थः स्यादर्धमत्तल्लि तरस्मृतम्[१] ।

यदि पैरों को 'स्खलित' करण में पीछे की ओर हटा लिया जाए, बाएँ हाथ को 'रेचित' करे और दाहिना हाथ कटि पर रख लें तो 'अर्द्धमत्तली' करण होता है ।

रेचितो[२] दक्षिणो हस्तः पादः सव्यो निकुट्टित. ॥ ८९ ॥
दोला चैव भवेद्वामस्तद्रेचितनिकुट्टितम्[३] ।

यदि सीधा हाथ 'रेचित', दाहिना पैर उद्‌घट्टित और बायाँ हाथ 'दोला' मुद्रा में रखा जाए तो 'रेचित निकुट्टित' करण कहलाता है ॥ ८९-९० ॥

कार्यौ नाभितटे हस्तौ प्राङ्मुखौ खटकामुखौ ॥ ९० ॥

सूचीविद्धावपक्रान्तौ पादौ पादापविद्धके ।

यदि दोनों हाथ 'कटकामुख' मुद्रा में नाभी के समीप हथेलियों को सामने की ओर करते हुए रखे जाएँ और दोनों पैर 'सूची' (सूचीविद्ध) तथा 'अपक्रान्ता' चारी से युक्त हों तो 'पादापविद्धक' करण कहलाता है ॥९०-९१॥

अपविद्धो भवेद्धस्तः सूचीपादस्तथैव च ॥ ९१ ॥

तथा त्रिकं विवृत्तं च वलितं नाम तद्भवेत् ।

यदि हाथ 'अपविद्ध' मुद्रा में, पैर 'सूची' चारी में (तथा 'भ्रामरी' चारी में) और त्रिक (अपने अधोभाग सहित पीठ के भाग) को घुमा दिया जाय तो 'वलित' करण हो जाता है ॥ ९१-९२ ॥

[४]वर्तिताघूर्णितः सव्यो हस्तो वामश्च दोलित. ॥ ९२ ॥

स्वस्तिकापसृत. पाद. करणं घूर्णितं तु[५] तत् ।

यदि दाहिना हाथ 'वलित' (करिहस्त) मुद्रा में घुमाया जाए और

१. मत्तल्लिमाहिथेत्—ग० । २ कुञ्चितो—क० ।
३. रेचकनिकुट्टितम्—ग० । ४ वर्तितो घूर्णित —घ० ।
५ हि तत्—क० ।

बायाँ हाथ 'दोला' मुद्रा में घुमाए, दोनों पैर 'स्वस्तिक' दशा में रखकर परस्पर एक दूसरे से दूर (अपसृत) कर लिये जाएँ तो 'घूर्णित' नामक करण कहलाता है ॥ ९२-९३ ॥

करिहस्तो भवेद्वामो [1]दक्षिणश्चापवर्तितः ॥ ९३ ॥
बहुशः कुट्टितः पादो ज्ञेयं तल्ललितं बुधैः ।

यदि बायाँ हाथ 'करिहस्त' मुद्रा में और सीधा हाथ अपवर्तित (दशा) में एक ओर घुमाया जाए और दोनों पैर ऊपर नीचे कई बार पटके जाएँ तो 'ललित' करण जानना चाहिये ॥ ९३-९४ ॥

[2]ऊर्ध्वजानु विधायाथ तस्योपरि लतां न्यसेत् ॥ ९४ ॥
दण्डपक्षं तु तत्प्रोक्तं करणं नृत्तवेदिभिः ।

यदि 'ऊर्ध्वजानु' चारी को प्रदर्शित कर दोनों 'लता' मुद्राओं वाले हाथों को घुटने पर रखे तो नृत्तवेत्ताजन इस करण को 'दण्डपक्ष' कहते है ॥ ९४-९५ ॥

भुजङ्गत्रासितं कृत्वा यत्रोभावपि रेचितौ ॥ ९५ ॥
वामपार्श्वस्थितौ हस्तौ भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।

यदि 'भुजंगत्रासित' चारी को प्रदर्शित कर दोनों हाथों को 'रेचित' मुद्रा में रख उन्हें बाएँ कोख की ओर मोड़ ले तो इस करण को 'भुजग-त्रस्तरेचित' कहते हैं ॥ ९५-९६ ॥

त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ ॥ ९६ ॥
नूपुरश्च[3] तथा पादः करणे नूपुरे न्यसेत् ।

यदि 'त्रिक' को आकर्षक पद्धति से ('भ्रमरी चारी' की दशा में) घुमाया जाए, दोनों हाथ 'लता' तथा 'रेचित' मुद्रा से युक्त हों और पैरों द्वारा 'नूपुरपादचारी' का प्रदर्शन हो तो उसे 'नूपुर' करण कहते हैं ॥९६-९७॥

रेचितौ हस्तपादौ च [4]कटी ग्रीवा च रेचिता ॥ ९७ ॥
वैशाखस्थानकेनैतद्भवेद्वैशाखरेचितम् ।

यदि हाथ और पैर 'रेचित' मुद्रा में तथा इसी प्रकार कटि और ग्रीवा

१. दक्षिणश्च विवर्तित.—घ० । २. ऊर्ध्वं जानु निधायाथ—ग० ।
३. नूपुर च तथा पाद—घ० । ४. कटिग्रीवौ च रेचितौ—घ० ।

भी रेचित दशा में हो एवं शेष (सम्पूर्ण) अंग 'वैशाखस्थान में रहे तो इस करण को 'वैशाखरेचित' कहते हैं ॥ ९७–९८ ॥

आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा ॥ ९८ ॥
त्रिकस्य वलनाच्चैव[1] ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत्।

यदि 'स्वस्तिक' पादों को 'आक्षिप्त' चारी में रखकर हाथों को 'उद्वेष्टित' अवस्था में रखें (चक्राकार घुमाते हुए) और त्रिक को चारों ओर (भ्रमरी चारी के अनुसार) घुमाए तो 'भ्रमरक' करण हो जाता है ॥९८-९९॥

अञ्चितः स्यात्करो वामः सव्यश्चतुर एव च ॥ ९९ ॥
दक्षिणः कुट्टितः पादः चतुरं तत् प्रकीर्तितम्।

यदि बायाँ हाथ 'अंचित' मुद्रा में, दायाँ हाथ 'चतुर' में और दायाँ पैर 'कुट्टित' (उद्घट्टित) मुद्रा में हों तो 'चतुर' करण हो जाता है ॥

भुजङ्गत्रासितः पादो दक्षिणो रेचितः करः ॥ १०० ॥
लताख्यश्च करो वामो भुजङ्गाञ्चितकं भवेत्।

यदि पैर 'भुजंगत्रासित' चारी में, दाहिना हाथ 'रेचित' मुद्रा में तथा बायाँ हाथ 'लता' मुद्रा में रहे तो 'भुजगाञ्चित' (नामक) करण होता है ॥

विक्षिप्तं हस्तपादं तु समन्तायत्र दण्डवत् ॥ १०१ ॥
रेच्यते तद्धि करणं ज्ञेयं दण्डकरेचितम्।

यदि हाथ और पैरों को सीधे दण्ड के समान चारों ओर झटके से सीधा करे फिर हाथ और पैरों को 'रेचित' मुद्रा में रख ले तो 'दण्डक-रेचितक' करण कहलाता है ॥ १०१–१०२ ॥

वृश्चिकं चरणं[2] कृत्वा द्वावप्यथ निकुट्टितौ ॥ १०२ ॥
विधातव्यौ करौ तत्तु[3] ज्ञेयं वृश्चिककुट्टितम्।

यदि 'वृश्चिक' करण प्रदर्शित कर दोनों हाथों को 'निकुट्टित' (क्रिया से सम्पन्न) करे तो 'वृश्चिक-कुट्टित' करण होता है ॥ १०२–१०३ ॥

---

१. वलनं चैव—ख०। २. करण—क०। ३. तद्धि—ग०।

सूचीं [1]कृत्वापविद्धं च दक्षिणं चरणं न्यसेत् ॥ १०३ ॥
रेचिता च कटिर्यत्र कटिभ्रान्तं तदुच्यते।

यदि पैर 'सूची' चारी में करके बायाँ पैर 'अपविद्ध' मुद्रा में रखे तथा कटि 'रेचित' (चारों ओर घूमती हुई) रखी जाय तो 'कटिभ्रान्त' करण कहलाता है ॥ १०३–१०४ ॥

अञ्चितः पृष्ठतः पादः कुञ्चितोर्ध्वतलाङ्गुलिः ॥ १०४ ॥
लताख्यश्च करो वामस्तल्लतावृश्चिकं भवेत्।

यदि एक पैर 'अंचित' मुद्रा में पीछे की ओर घुमाया रखा जाए तथा बायाँ हाथ 'लता' मुद्रा से युक्त हो और उसका पंजा और अंगुलियाँ सिकुड़ी हुई और ऊपर की ओर रखी जाएँ तो वह 'लतावृश्चिक' करण होता है ॥ १०४–१०५ ॥

अलपद्मः कटीदेशे छिन्ना पर्यायशः कटी ॥ १०५ ॥
वैशाखस्थानकेनेह तच्छिन्नं करणं भवेत्।

यदि 'अलपद्म' मुद्रावाले हाथ कटि पर रखे जाएँ, कटि 'छिन्न' मुद्रा में रहे और क्रमशः इस मुद्रा में स्थित नर्तक शेष अंगको 'वैशाखस्थान' में रखे तो 'छिन्न' करण कहलाता है ॥ १०५–१०६ ॥

वृश्चिकं चरणं कृत्वा स्वस्तिकौ च करावुभौ ॥ १०६ ॥
रेचितौ[2] विप्रकीर्णौ च करौ वृश्चिकरेचितम्।

यदि 'वृश्चिक' चरण को प्रदर्शित कर दोनों हाथों को 'स्वस्तिक' मुद्रा में रख कर 'रेचित' और विप्रकीर्ण करे तो वह करण 'वृश्चिकरेचित' कहलाता है ॥ १०६–१०७ ॥

बाहुशीर्षाञ्चितौ हस्तौ पादः पृष्ठाञ्चितस्तथा ॥ १०७ ॥
दूरसन्नतपृष्ठं च वृश्चिकं तत्प्रकीर्तितम्।

यदि दोनों हाथ झुके हुए और कन्धों पर रखे हो, पैर झुका हुआ और

---

१ दत्वाप—ख० । २ रेचितापमृतौ चैव—ग०, घ० ।

पीठ के पीछे की ओर घूमते हुए रखा जाए और पीठ 'नत' (झुकी हुई) मुद्रा में हो तो उस करण को 'वृश्चिक' कहते हैं ॥ १०७-१०८ ॥

आलीढस्थानके[1] यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ॥ १०८ ॥

ऊर्ध्वाधोविप्रकीर्णौ च व्यंसितं[2] करणं तु तत् ।

यदि 'आलीढस्थान' के प्रदर्शन के साथ दोनों हाथों को वक्षस्थल पर 'रेचित' मुद्रा में रखे जो ऊपर और नीचे की ओर हिलते हुए ('विप्रकीर्ण' मुद्रा में) रहें तो वह करण 'व्यंसित' कहलाता है ॥ १०८-१०९ ॥

हस्तौ तु स्वस्तिकौ पार्श्वे तथा पादौ निकुट्टितः ॥ १०९ ॥

यत्र तत्करणं ज्ञेयं बुधैः पार्श्वनिकुट्टितम्[3] ।

यदि 'स्वस्तिक' मुद्रावाले दोनों हाथ दोनों बाजू (कोख में) रखे जाएँ एवं पैर 'निकुट्टित' हों तो बुधजन उसे 'पार्श्वनिकुट्टित' जानें ॥ १०९-११० ॥

वृश्चिकं चरणं कृत्वा पादस्याङ्गुष्ठकेन तु ॥ ११० ॥

ललाटे तिलकं कुर्याल्ललाटतिलकन्तु तत् ।

यदि 'वृश्चिक' चरण के प्रदर्शन के बाद पैर के अगूठे को ललाट तक ले जाकर उससे तिलक अंकित करने का भाव प्रदर्शित करे तो उसे 'ललाटतिलक' करण जानो ॥ ११०-१११ ॥

पृष्ठतः कुञ्चितं कृत्वा व्यतिक्रान्तकमं[4] ततः ॥ १११ ॥

आक्षिप्तौ च करौ कार्यौ क्रान्तके करणे द्विजाः ।

यदि एक पैर को 'कुंचित' कर पीछे की ओर तथा 'अतिक्रान्ता' चारी में चारों ओर घुमाते हुए रखे और दोनों हाथों को नीचे की ओर पटके (आक्षिप्त) (या झटके से फेंके) तो वह करण 'क्रान्तक' कहलाता है ॥ १११-११२ ॥

आद्यः पादो[5] नतः कार्यः सव्यहस्तश्च कुञ्चितः ॥ ११२ ॥

उत्तानो वामपार्श्वस्थ[6]स्तत्कुञ्चितमुदाहृतम् ।

यदि पैर को पहले झुकाकर 'अंचित' मुद्रा में दाहिने हाथ को कुंचित

---

१ आलीढं स्थानक—ख० । २. तद्विदुर्बुधा —घ० ।
३. निकुट्टकम्—घ० । ४. कुर्यादतिक्रान्त समन्ततः—ग० ।
५. पादोऽञ्चितः—ग० । ६. पार्श्वम्—घ० ।

रखे जो पार्श्व कोण पर ऊपर की ओर पंजे वाला होकर रखा जाय तो वह 'कुंचित' करण कहलाता है ॥ ११२–११३ ॥

प्रलम्बिताभ्यां बाहुभ्यां यद्गात्रेणानतेन च ॥ ११३ ॥

अभ्यन्तरापविद्धः[1] स्यात्तज्ज्ञेयं चक्रमण्डलम् ।

यदि अपविद्ध (अड्डिता) चारी के अन्दर शरीर को झुका कर सीधी झूलती हुई भुजाओं से युक्त रखे तो वह करण 'चक्रमंडल' कहलाता है ॥

स्वस्तिकापसृतौ पादावपविद्धक्रमौ यदा ॥ ११४ ॥

उरोमण्डलकौ हस्तावुरोमण्डलकन्तु तत् ।

यदि 'स्वस्तिक' दशा में दोनों पैर आगे बढ़ा कर फिर 'अपविद्ध' चारी का प्रयोग करे और दोनों हाथों को 'उरोमण्डल' मुद्रा में रखे तो 'उरोमण्डल' करण कहलाता है ॥ ११४–११५ ॥

आक्षिप्तं हस्तपादं च क्रियते यत्र वेगतः ॥ ११५ ॥

आक्षिप्तं नाम करणं विज्ञेयं तद् द्विजोत्तमाः[2] ।

यदि वेग से हाथ और पैरों को झटका-पटका जाए तो हे मुनियों वह 'आक्षिप्त' करण कहलाता है ॥ ११५–११६ ॥

ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पादः पार्श्वेणोर्ध्वं प्रसारितः ॥ ११६ ॥

प्रकुर्याद्वञ्चिततलौ हस्तौ तलविलासिते ।

यदि पैर अपने तलवे और अंगुलियों सहित ऊपर की ओर एक ओर (पार्श्व) में फैलाया जाए (या उठाया जाए) और हाथों के दोनों तले (पंजे) सिकुड़े हुए रखे जाएँ तो 'तलविलसित' करण होगा ॥११६–११७॥

पृष्ठतः प्रसृतः पादो द्वौ तालावर्द्धमेव[3] च ॥ ११७ ॥

तस्यैव[4] चानुगो हस्तः पुरतस्त्वर्गलं तु तत् ।

यदि पैर पीछे की ओर हटाकर ढाई ताल तक (२॥ ताल तक) रखे तथा हाथ भी पैर के अनुसार सामने की ओर घूमते हुए रखे जाएँ तो अर्गल करण जानो ॥ ११७–११८ ॥

---

१ अभ्यन्तरापविद्धा—ग० । २. द्विजर्षभाः—घ० ।
३ तलावूर्द्धमेव च—ग० । ४. तस्यैवानुगतो हस्त —घ० ।

विक्षिप्तं हस्तपादं च पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि[1] वा ॥ ११८ ॥

एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम् ।

यदि हाथ तथा पैरों को पीछे तथा दोनों बगलों की ओर एक साथ एक दूसरे का अनुसरण करते हुए (झटके से) फेंकें तो उसे 'विक्षिप्त' करण जानो ॥ ११९-१२० ॥

प्रसार्य कुञ्चितं पादं पुनरावर्तयेद् द्रुतम् ॥ ११९ ॥

प्रयोगवशगौ हस्तौ तदावर्तमुदाहृतम्[2] ।

यदि 'कुंचित' पाद को फैला कर शीघ्रता से लौटा ले और दोनों हाथों को *प्रयोग के अनुसार रखते हुए तेज गति से घुमाव ले तो 'आवर्त' करण जानो ॥*

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वात्पार्श्वं तु दोलयेत् ॥ १२० ॥

प्रयोगवशगौ हस्तौ दोलापादं[3] तदुच्यते ।

यदि 'कुंचित' पाद को ऊपर उठाकर दोनों ओर क्रमशः झुलाए और दोनों *हाथों को (यदि) इसी प्रक्रिया के अनुसार गतिशील रखे तो 'दोलापद' करण जानो ॥ १२०-१२१ ॥*

आक्षिप्तं हस्तपादञ्च त्रिकञ्चैव विवर्तयेत्[4] ॥ १२१ ॥

रेचितौ च तथा हस्तौ विवृत्ते करणे द्विजाः ।

'हे मुनिजन, *यदि दोनों हाथ और पैरों को बाहर की ओर उछाला* देकर *'त्रिक' को एक गोल चक्कर देते हुए हाथों को 'रेचित' मुद्रा में रखे तो* उसे *'विवृत्त' करण जानो ॥ १२१-१२२ ॥*

सूचीविद्धं विधायाथ त्रिकन्तु विनिवर्तयेत् ॥ १२२ ॥

करौ तु रेचितौ कार्यौ विनिवृत्ते द्विजोत्तमा ।

यदि 'सूचीविध' चारी का प्रयोग करने के उपरान्त त्रिक की एक गोल घुमाव दे और हाथों के *'रेचित' मुद्रा में रखे तो उसे 'विनिवृत्त' करण जानो ।*

पार्श्वक्रान्तक्रमङ्कृत्वा[5] पुरस्तादथ पातयेत् ॥ १२३ ॥

प्रयोगवशगौ हस्तौ पार्श्वक्रान्तन्तदुच्यते[6] ।

---

१ तोऽथवा—ग० । २ तदावृत्त—ख० । ३ दोलपाद—ग० ।

४ त्रिक तु विनिवर्तितम्—ख०, विवर्तितम—ग० ।

५ पार्श्वजानुक्रम—ग० । ६ पार्श्वक्रान्तमुदाहृतम्—ख० ।

यदि 'पार्श्वक्रान्त' चारी का प्रयोग कर पैरों को आगे की ओर (भूमि पर) पटके तथा हाथों को नृत्य-प्रयोग के अनुसार सामने की ओर सचालित करे तो उसे 'पार्श्वक्रान्त' करण कहते हैं ॥ १२३-१२४ ॥

पृष्ठतः कुञ्चितः[1] पादो वक्षश्चैव समुन्नतम् ॥ १२४ ॥
तिलके च करः स्थाप्यस्तन्निस्तम्भित[2]मुच्यते ।

यदि एक पैर पीछे की ओर सिकुड़ाकर ले जाए तथा छाती को ऊँची उठाकर रखे। हाथ को तिलक लगाने की चेष्टा में ललाट प्रदेश तक ले जाए तो उसे 'निस्तम्भित' करण कहते हैं ॥ १२४-१२५ ॥

पृष्ठतो वलितं पादं शिरोघृष्टम्प्रसारयेत् ॥ १२५ ॥
सर्वतो[3] मण्डलाविद्धं विद्युद्भ्रान्तन्तदुच्यते ।

यदि पैर को पीछे की ओर घुमाकर मस्तक से लगते हुए रखे, दोनों हाथों को 'मण्डलाविद्ध' दशा में सचालित करे तो विद्युद्भ्रान्त' करण कहलाता है ॥ १२५-१२६ ॥

अतिक्रान्तक्रमङ्कृत्वा पुरस्तात् सम्प्रसारयेत् ॥ १२६ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तावतिक्रान्ते प्रकीर्तितौ ।

यदि 'अतिक्रान्त' चारी का प्रदर्शन करने के उपरान्त दोनो हाथों को नृत्य-प्रयोग के अनुसार सम्मुख फैला दे तो 'अतिक्रान्त' करण जानों ॥

आक्षिप्तं हस्तपादञ्च त्रिकञ्चैव विवर्तितम् ॥ १२७ ॥
द्वितीयो[4] रेचितो हस्तो विवर्तितकमेव तत् ।

यदि एक हाथ और पैर को ऊपर की ओर उछाला देकर त्रिक को एक गोल घुमाव दे और दूसरे हाथ को 'रेचित' मुद्रा में रखे तो 'विवर्तितक' करण कहलाता है ॥ १२७-१२८ ॥

कर्णेऽञ्चितः करो वामो लताहस्तश्च दक्षिणः ॥ १२८ ॥
दोलापादस्तथा चैव गजक्रीडितकं[5] भवेत् ।

यदि बायाँ हाथ बायें कान के समीप सिकुड़ा कर ले जाए और सीधा

---

१. कुञ्चितौ पादौ—घ० २. निसुम्भित—ग०, निशुम्भित—घ० ।
३. हस्तौ च मण्डलाविद्धौ—ग० । ४. पुनश्च रेचयेद्धस्तं—ग० ।
५ गजक्रीडितके—ग० ।

हाथ 'लता' मुद्रा में और पैरों को 'दोलापाद' चारी में रखें तो 'गजक्रीडितक' करण होता है ॥ १२८–१२९ ।

> द्रुतमुत्क्षिप्य चरणं पुरस्तादथ पातयेत् ॥ १२९ ॥
> तलसंस्फोटितौ हस्तौ तलसंस्फोटिते मतौ[1] ।

यदि एक पैर को जल्दी से ऊपर उठाकर सम्मुख पटके, दोनों हाथों को 'तल संस्फोटित' मुद्रा में रखे तो वह 'तलसंस्फोटित' करण कहलाता है ॥

> पृष्ठप्रसारितः पादः लतारेचितकौ करौ ॥ १३० ॥
> समुन्नतं[2] शिरश्चैव गरुडप्लुतकं भवेत् ।

यदि पैर पीछे की ओर फैलाकर दोनों हाथों (दायें–बाएँ) क्रमशः 'लता' तथा 'रेचित' मुद्रा में रखें और मस्तक को ऊपर तान दें तो 'गरुडप्लुतक' करण कहलाता है ॥ १३०–१३१ ॥

> सूचीपादो[3] नतं पार्श्वमेकं वक्षःस्थितः करः ॥ १३१ ॥
> द्वितीयश्चाञ्चितो गण्डे गण्डसूची तदुच्यते ।

यदि पैर 'सूची' में, कोख झुकी हुई, एक हाथ वक्षःस्थल पर और दूसरा 'अंचित' मुद्रा में कपोल प्रदेश का स्पर्श करते हुए हो तो 'गण्डसूची' करण कहते हैं ॥ १३१–१३२ ॥

> ऊर्ध्वापवेष्टितौ[4] हस्तौ सूचीपादो विवर्तितः ॥ १३२ ॥
> परिवृत्तत्रिकं चैव परिवृत्तं तदुच्यते ।

यदि दोनों हाथ 'अपवेष्टित' मुद्रा में ऊपर उठाए जाएँ, पैर 'सूची' और त्रिक को 'भ्रमरी चारी' के लक्षण में घुमाया जाए तो 'परिवृत्त' करण कहलाता है ॥ १३२–१३३ ॥

> एकः समस्थितः पाद ऊरुपृष्ठे[5] स्थितोऽपरः ॥ १३३ ॥
> मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः पार्श्वजानु तदुच्यते ।

यदि एक पैर 'समपाद' चारी में और दूसरा उसी के ऊरु भाग पर

---

१. रेचितौ—ग० । २ समुन्नतमुरश्चैव—भ० ।
३. सूचीपादो नतं—भ०, ग० ।
४. ऊर्ध्वापवेष्टितौ—भ०; ऊर्ध्वविवेष्टितौ—च० ।
५. ऊरुपार्श्वस्थित पर ग०, ऊरुपार्श्वे स्थितोऽपर —भ० ।

(पीछे की ओर) रखा हो तथा 'मुष्टि' मुद्रा में एक हाथ वक्ष स्थल पर रखे तो 'पार्श्वजानु' करण कहते हैं ॥ १३३–१३४ ॥

पृष्ठप्रसारितः पादः किञ्चिदञ्चितजानुकः ॥ १३४ ॥
यत्र प्रसारितौ बाहू तत्स्याद् गृध्रावलीकनम् ।

यदि एक पैर पीछे की ओर फैला कर (उसके) घुटने को थोडा झुकाया जाए तथा दोनों हाथों को सामने फैलाये तो उसे 'गृध्रावलीनक' करण कहते हैं ॥ १३४–१३५ ॥

उत्प्लुत्य चरणौ कार्यावग्रतः स्वस्तिकस्थितौ ॥ १३५ ॥
सन्नतौ च तथा हस्तौ सन्नतं तदुदाहृतम् ।

यदि एक उछाल लेकर दोनों पैरों को स्वस्तिक बना सामने की ओर रखे और दोनों हाथ 'सन्नत' (दोला) मुद्रा में रखे तो उसे 'सन्नत' करण कहते हैं ॥ १३५–१३६ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य कुर्यादग्रस्थितं भुवि ॥ १३६ ॥
प्रयोगवशगो हस्तौ सा[1] सूची परिकीर्तिता ।

यदि 'कुञ्चित' पाद को उठाकर उसे आगे की ओर (भूमि पर) रख दे और दोनों हाथों को नृत्य-प्रयोग के अनुसार (ताललय के अनुसार) रखे तो 'सूची' करण कहते हैं ॥ १३६–१३७ ॥

अलपद्मः[2] शिरोहस्तः[3] सूचीपादश्च दक्षिणः ॥ १३७ ॥
यत्र तत्करणं ज्ञेयमर्धसूचिति नामतः ।

यदि अलपद्म मुद्रा वाले हाथ को सिर तक ले जाए और सीधा पैर 'सूची' को प्रदर्शित करे तो 'अर्धसूची' करण जानें ॥ १३७–१३८ ॥

पादसूच्यां यदा पादौ[4] द्वितीयस्तु प्रविध्यते[5] ॥ १३८ ॥
कटिवक्ष[6]स्थितौ हस्तौ सूचीविद्धं तदुच्यते ।

यदि एक पैर 'सूची' करण बतलाए हुए दूसरे पैर की एडी से सटा हो

---

१ तत्सूचि—ग० ।
२. वाम पाद शिरोदेशे—ग० ।
३ शिरोद्देशे–घ०
४ पादौ—ग० ।
५ प्रपीडयते—घ० ।
६ देश—ख० ।

दोनों हाथ क्रमशः कटि तथा वक्षःस्थल पर स्थापित किये जाएँ तो उसे 'सूचीविद्ध' करण जानो ॥ १३८–१३९ ॥

ऊरुवोद्वलितं पादमपक्रान्तक्रमं न्यसेत् ॥ १३९ ॥

प्रयोगवशगौ हस्तावपक्रान्तं तदुच्यते ।

यदि जघा (उरु) को 'वलित' करने के उपरान्त चरणों से 'अपक्रान्त' चारी का प्रदर्शन किया जाए तथा दोनों हाथों को नृत्य-प्रयोग के अनुसार रखे तो 'अपक्रान्त' करण कहते हैं ॥ १३९–१४० ॥

वृश्चिकं चरणं[1] कृत्वा रेचितौ च तथा करौ ॥ १४० ॥

तथा त्रिकं विवृत्तं च मयूरललितं भवेत् ।

यदि 'वृश्चिक' करण को प्रदर्शित कर, दोनों हाथों को 'रेचित' तथा त्रिक को (भ्रमरी चारी के लक्षणानुसार) एक गोल घुमाव दे तो 'मयूरललित' करण जानो ॥ १४०–१४१ ॥

आञ्चितापसृतौ[2] पादौ शिरश्च परिवाहितम् ॥ १४१ ॥

रेचितौ च तथा[3] हस्तौ तत्सर्पितमुदाहृतम् ।

यदि 'अंचित' दशा में दोनों पैरों को हटाया जाए, मस्तक 'परिवाहित' मुद्रा में तथा दोनों हाथ 'रेचित' मुद्रा में रखे तो 'सर्पित' करण कहलाता है ॥

नूपुरं चरणं कृत्वा दण्डपादं प्रसारयेत् ॥ १४२ ॥

क्षिप्राविद्धकरं[4] चैव दण्डपादं तदुच्यते ।

यदि चरण 'नूपुर' चारी के बाद 'दण्डपाद' चारी का प्रदर्शन करे, हाथ को शीघ्रता से 'आविद्ध' में प्रदर्शित करता चले तो 'दण्डपाद' करण कहलाता है ॥ १४२–१४३ ॥

अतिक्रान्तक्रमं[5] कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत्[6] ॥ १४३ ॥

जङ्घाञ्चितोपरि क्षिप्ता तद्विद्याद्धरिणप्लुतम् ।

यदि अतिक्रान्त चारी को प्रदर्शित कर एक उछाल ले फिर ठहर

---

१ करण—ग० । २ अन्तरापसृतो—क०, ख० ।
३ करौ यत्र—घ० । ४. क्षिप्तविद्ध—ख०, क्षिप्रविद्ध—ग०, घ० ।
५ अतिक्रान्त क्रम—घ० । ६ निवर्तयेत्—ग० ।

जाए और फिर एक जघा सिकुडा (अचित) कर ऊपर उछाली जाए तो उसे 'हरिणप्लुत' करण कहते हैं ॥ १४३–१४४ ॥

दोलापादक्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत् ॥ १४४ ॥
परिवृत्तं त्रिकं चैव[1] तत्प्रेङ्खोलितमुच्यते ।

यदि दोलापाद चारी का प्रदर्शन कर एक उछाल लेकर चरण को नीचे पटके और त्रिक को एक घुमाव (भ्रमरी चारी के लक्षणानुसार) दे दे और फिर स्थिर हो जाए तो 'प्रेंखोलित' करण कहते हैं ॥ १४४–१४५ ॥

भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ हस्तौ चाभिमुखाङ्गुली ॥ १४५ ॥
बद्धा चारी तथा चैव नितम्बे करणे भवेत् ।

यदि दोनों भुजाओं को सिर के ऊपर उठाए और हाथों की अगुलियों को सामने की ओर रखते हुए 'बद्धा' चारी को पैरों से प्रदर्शित करे तो 'नितम्ब' करण जानो ॥ १४५–१४६ ॥

दोलापादक्रमं कृत्वा हस्तौ तदनुगावुभौ ॥ १४६ ॥
रेचितौ घूर्णितौ वापि स्खलितं करणं भवेत् ।

यदि पैरों से 'दोलापाद' चारी का प्रदर्शन कर 'रेचित' मुद्रावाले हाथों को नाट्यप्रयोग के अनुसार चारों ओर घुमा दे तो 'स्खलित' करण कहते हैं ॥

एको[2] वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः ॥ १४७ ॥
अञ्चितश्चरणश्चैव प्रयोज्यः करिहस्तके ।

यदि बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर (और) दूसरे (दाहिने) हाथ की हथेली प्रोद्वेष्टित (क्रिया वाली) हो तथा पैर 'अंचित' मुद्रा में रखा जाए तो वह करण 'करिहस्त' कहलाता है ॥ १४७–१४८ ॥

एकस्तु रेचितो हस्तो लताख्यस्तु[3] तथा परः ॥ १४८ ॥
प्रसर्पिततलौ[4] पादौ प्रसर्पितकमेव तत् ।

यदि एक हाथ रेचित दूसरा लता मुद्रा में और पैर तलस चर

१ चैतत तत्प्रेङ्खो—घ० ।   २ वामो वक्ष स्थितो—ग० ।
३ लतास्यस्त—घ० ।   ४ ससर्पिततलौ—ग० ।

यदि हाथ को आवृत्त (व्यावर्तित) दशा में रखे फिर उसे झुका कर ऊरु के पृष्ठभाग पर रखे और जंघा को 'अंचित' तथा 'उद्वृत्त' (मुद्रा तथा गति में) रखे तो 'उद्वृत्त' करण कहते हैं ॥ १५८–१५९ ॥

करौ प्रलम्बितौ कार्यौ शिरश्च परिवाहितम् ॥ १५९ ॥

पादौ च वलिताविद्धौ मदस्खलितके द्विजाः ।

यदि दोनों हाथों को नीचे की ओर हिलाते हुए रखे, मस्तक को 'परिवाहित' मुद्रा में और सीधे तथा बायें पैर 'वलित' हो 'आविद्ध' चारी को प्रदर्शित करे तो उसे 'मदस्खलितक' नामक करण कहते है ।

पुरः प्रसारितः[1] पादः कुञ्चितो गगनोन्मुखः[2] ॥ १६० ॥

करौ च रेचितौ यत्र विष्णुक्रान्तं तदुच्यते ।

यदि पैर आगे की ओर फैलाकर ऊपर ले जाते हुए सिकुड़ाए तथा दोनों हाथों को रेचित मुद्रा में रखे तो वह करण 'विष्णुक्रान्त' कहलाता है ॥ १६०–१६१ ॥

करमावर्तितं कृत्वा ह्यूरुपृष्ठे निकुञ्चयेत् ॥ १६१ ॥

ऊरुश्चैव तथाविद्धः सम्भ्रान्तं करणं तु तत् ।

यदि हाथ को व्यावर्तित (आवर्तित) मुद्रा (या गति) के साथ ऊरू पर सिकुडाते हुए रखे तथा ऊरू को आविद्धा चारी से युक्त रखे तो उसे 'सम्भ्रान्त' करण कहते हैं ॥ १६१–१६२ ॥

अपविद्धः करः सूच्या पादश्चैव निकुट्टितः ॥ १६२ ॥

वक्षःस्थश्च करो वामो विष्कम्भे करणे भवेत् ।

यदि हाथ 'अपविद्ध' मुद्रा में और पैर सूची चारी से युक्त होकर 'निकुट्टित' (झुकी हुई) दशा को प्रदर्शित करे और बायाँ हाथ छाती पर रखे तो वह 'विष्कम्भ' करण कहलाता है ॥ १६२–१६३ ॥

पादावुद्घट्टितौ कार्यौ तलसङ्घट्टितौ करौ ॥ १६३ ॥

नतश्च[3] पार्श्वं कर्तव्यं बुधैरुद्घट्टिते सदा ।

---

१ प्रसर्पित —ख० । २ गमनोन्मुख —ख० ।

३. नितम्बपार्श्वे—ख०, नितम्बपार्श्वं—ग० ।

यदि दोनों पैरों को 'उद्घट्टिता' चारी तथा हाथों को 'तलसंघट्टित' मुद्रा में रख कर (दोनों ओर रखे) कोख को झुका ले तो 'उद्घट्टित' करण होता है ॥ १६३–१६४ ॥

प्रयुज्यालातकं पूर्वं[1] हस्तौ चापि हि रेचयेत् ॥ १६४ ॥
कुञ्चिताञ्चितौ चैव वृषभक्रीडिते सदा[2] ।

यदि 'अलात' चारी को प्रदर्शित कर फिर दोनों हाथों को रेचित मुद्रा में रखे फिर इन्हें (क्रमशः) 'कुचित' और 'अंचित' मुद्रा में रखे तो 'वृषभक्रीडित' करण कहलाता है ॥ १६४–१६५ ॥

रेचिताञ्चितौ हस्तौ लोलितं वर्त्तितं शिरः ॥ १६५ ॥
उभयोः पार्श्वयोर्यत्र[3] तल्लोलितमुदाहृतम् ।

यदि दोनों हाथ अचित हाथ (दोनों ओर) 'रेचित' मुद्रा में रखे जाएँ तथा मस्तक को 'लोलित' और 'वर्तित' मुद्रा में तो इसे 'लोलित' करण जानो ॥ १६५–१६६ ॥

स्वस्तिकापसृतौ[4] पादौ शिरश्च परिवाहितम् ॥ १६६ ॥
रेचितौ[5] च तथा हस्तौ स्यातां नागापसर्पिते ।

यदि दोनों पैरों को स्वतिक दशा में पीछे की ओर हटाया जाए, मस्तक 'परिवाहित' मुद्रा में तथा हाथ रेचित मुद्रा में रहें तो 'नागसर्पित' करण होता है ॥ १६६–१६७ ॥

निषण्णाङ्गस्तु चरणं प्रसार्य तलसञ्चरम् ॥ १६७ ॥
उद्वाहितमुरः[6] कृत्वा शकटास्यं प्रयोजयेत् ।

यदि स्थिर बैठकर तलसचर चारी में पैर को फैलाए तथा वक्षस्थल को 'उद्वाहित' दशा में रखे तो उसे 'शकटास्य' करण कहते हैं ॥

---

१. पाद हस्तौ द्वावपि रेचितौ—ग०, घ० । २. स्मृतौ—ग० ।
३ ज्ञेयं लोलितकं बुधैः —ग०, घ० ।
४ स्खलितासर्पितौ पादौ तथा हस्तौ च रेचितौ—ग०, घ० ।
५. परिवाहित शिरश्चैव कुर्यान्नागापसर्पिते—ग० । ६. उद्घाटित —ख० ।

ऊर्ध्वाङ्गुलितलौ[1] पादौ त्रिपताकावधोमुखौ ॥ १६८ ॥
हस्तौ शिरस्सन्नतञ्च गङ्गावतरणन्त्विति[2] ।

यदि दोनों पैर अपने तले और उङ्गलियों को ऊपर की ओर उठाते हुए रखे जाएँ, दोनों हाथों को पृथ्वी पर त्रिपताक मुद्रा में नीचे की ओर पजे टिकाकर रखे तथा मस्तक को 'सन्नत' मुद्रा वाला रखे (जिसमें कमर बिलकुल मुड़ जाय) तो उस करण को 'गंगावतरण' कहते हैं ॥१६८-१६९॥

अष्टोत्तरशतं ह्येतत् करणानां मयोदितम् ॥ १६९ ॥

इस प्रकार मैंने (इन) एक सौ आठ करणों को बतलाया ॥ १६९ ॥

अंगहारों[1] के लक्षण—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्यङ्गहारविकल्पनम् ।

अब मैं अंगहारों के लक्षण कहता हूँ ।

स्थिरहस्त—

प्रसार्योत्क्षिप्य च करौ समपादं प्रयोजयेत् ॥ १७० ॥
व्यंसितापसृतं सव्यं हस्तमूर्ध्वं[3] प्रसारयेत् ।
प्रत्यालीढं ततः[4] कुर्यात्तथैव निकुट्टकम् ॥ १७१ ॥
ऊरूद्वृत्तं ततः कुर्यादाक्षिप्तं स्वस्तिकं ततः ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं च योगतः ॥ १७२ ॥
स्थिरहस्तो भवेदेष ह्यङ्गहारो हरप्रियः ।

दोनों हाथों को ऊपर की ओर फैला कर उत्क्षिप्त करे तथा 'समपाद' स्थान का प्रदर्शन करे, बायें हाथ को ऊपर की ओर 'व्यंसित' तथा 'अपव्यसित' अवस्था में फैलाए (अर्थात् उसे कँधे से ऊपर तक ले आए) फिर प्रत्या-

---

१ अगहार मुख्यत करणो के समूहो से बनता है ।

---

१. तल. पाद —घ० । २ रगावतरण-क०, गगावतरणञ्च तत्—ग० ।
३. ऊर्ध्वं हस्त—ग० । ४. कृत्वा तथैव च निकु० घ० ।
५. करिहस्तञ्च—ग० । ६. तथैव च—ग० ।

लीढ में स्थित होकर निकुट्टित, उरूद्वृत्त, आक्षिप्त, स्वस्तिक, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को (क्रमश.) प्रदर्शित करे तो 'स्थिरहस्त' नामक अगहार बन जाता है। यह भगवान शिव को बड़ा प्रिय है ॥ १७०-१७२ ॥

पर्यस्तक—

तलपुष्पापविद्धे[1] द्वे वर्तितं सन्निकुट्टकम् ॥ १७३ ॥

[प्रत्यालीढं ततः कृत्वा तथैव च निकुट्टकम्]

ऊरूद्वृत्तं[2] तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव च ।

नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं ततैव च ॥ १७४ ॥

एष पर्यस्तको नाम ह्यङ्गहारो हरोद्भवः ।

यदि तलपुष्पपुट, अपविद्ध तथा वर्तित एवं निकुट्टित करणों को क्रमशः प्रदर्शित कर फिर (प्रत्यालीढ तथा निकुट्टक का तथा) ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'पर्यस्तक' नामक अगहार बन जाता है। यह भगवान शङ्कर से उत्पन्न हुआ है ॥ १७३-१७५ ॥

सूचीविद्ध—

अलपल्लवसूची च कृत्वा विक्षिप्तमेव च ॥ १७५ ॥

आवर्तितं ततः कुर्यात्तथैव च निकुट्टकम् ।

ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव[4] च ॥ १७६ ॥

करिहस्तं कटिच्छिन्नं सूचीविद्धो भवेदयम् ।

हाथों से अलपल्लव तथा सूची (मुख) मुद्राओं के प्रदर्शन के उपरान्त—जो कि क्रमशः की जाती हों—फिर विक्षिप्त, आवर्तित, निकुट्टक, ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों के क्रमशः प्रदर्शन करने पर 'सूचीविद्ध' अगहार होता है ॥ १७५-१७७ ॥

---

१ तलपुष्पापविद्धे च वर्तितं सम्प्रसारयेत्—ग०, घ० ।

२ एतत्पद्यार्धं क० ग० पुस्तकयो नास्ति ।

३ एतत् पद्य ग०—पुस्तके नास्ति । ४ उरोमण्डलकं तथा—ग० ।

अपविद्ध—

अपविद्धं तु करणं सूचीविद्धं तथैव[1] च ॥ १७७ ॥
उद्वेष्टितेन हस्तेन त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
उरोमण्डलकौ हस्तौ कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ १७८ ॥
अपविद्धोऽङ्गहारश्च[2] विज्ञेयोऽयं प्रयोक्तृभिः ।

(सर्वप्रथम) अपविद्ध तथा सूचीविद्ध करणों का प्रदर्शन कर फिर हाथों से उद्वेष्टित करण का प्रदर्शन करे जो हाथों तथा त्रिक को एक घुमाव देते हुए हो फिर उरोमण्डल मुद्रा में 'हस्तों' को स्थित कर कटिच्छिन्न करण का प्रदर्शन करे तो 'अपविद्ध' नामक अंगहार होता है। (इसे नाट्य-प्रयोक्ताजन समझें) ॥ १७७–१७९ ॥

आक्षिप्तक—

करणं नूपुरं कृत्वा विक्षिप्तालातके पुनः ॥ १७९ ॥
पुनराक्षिप्तकं[3] कुर्यादुरोमण्डलकं तथा ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ १८० ॥
आक्षिप्तकः[4] स विज्ञेयो ह्यङ्गहारः प्रयोक्तृभिः ।

(सर्वप्रथम) 'नूपुर' करण का प्रदर्शन करे फिर विक्षिप्त, अलातक, आक्षिप्त, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का क्रमशः प्रदर्शन करे तो 'आक्षिप्तक' अंगहार होता है ॥ १७९–१८१ ॥

उद्घट्टित—

उद्वेष्टितापविद्धस्तु करः पादो निकुट्टितः ॥ १८१ ॥
पुनस्तेनैव योगेन वामपार्श्वे भवेदथ ।
उरोमण्डलकौ हस्तौ नितम्बं करिहस्तकम्[5] ॥ १८२ ॥

---

१. पुनर्भवेत्—ग० ।
२. अपविद्धाङ्गहारस्तु विज्ञेयस्तत्प्रयोक्तृभिः—ग० घ० ।
३. पुरा विक्षिप्तक—क० । ४. आक्षिप्तकस्तु—ग० ।
५. नितम्बं करिहस्तक—ग० घ० ।

'कर्तव्यं स–कटिच्छिन्नं नृत्ते तूद्धट्टिते सदा[1] ॥ १८३ ॥

यदि दाहिने हाथ को उद्वेष्टित तथा अपविद्ध हस्त मुद्राओं में दाहिने पैर को 'निकुट्टक' (मुद्रा) में बायें, दायें प्रदर्शित करते हुए दोनों हाथों को उरोमण्डल मुद्रा में रखे—फिर नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का (क्रमशः) प्रदर्शन करे तो 'उद्धट्टित' अगहार कहलाता है ॥१८१–१८३॥

विष्कम्भ—

पर्यायोद्वेष्टितौ[3] हस्तौ पादौ चैव निकुट्टितौ ॥ १८४ ॥
कुञ्चितावञ्चितौ चैव ऊरूद्वृत्तं तथैव च ।
चतुरस्रं करं कृत्वा पादेन च निकुट्टिकम् ॥ १८५ ॥
भुजङ्गत्रासितं[4] चैव करं चोद्वेष्टितं पुनः ।
परिच्छिन्नं च कर्तव्यं त्रिकं भ्रमरकेण तु ॥ १८६ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं विष्कम्भे[5] परिकीर्तितम् ।

यदि दोनों हाथ क्रमशः उद्वेष्टित और पैर निकुट्टक मुद्रा में रखकर फिर सिकुड़ा और घुमा लिये जाएँ, (फिर) ऊरूद्वृत्त करण का प्रदर्शन करते हुए हाथों को चतुरस्र और पैरों को निकुट्टक मुद्रा में रखे, (फिर) भुजगत्रासित करण हाथों को उद्वेष्टित मुद्रा में रखे। तब 'छिन्न' और 'भ्रमरक' करणों का प्रदर्शन करते हुए त्रिक को घुमाए और फिर करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'विष्कम्भ' नामक अगहार होता है ॥ १८४–१८६ ॥

अपराजित—

दण्डपादं करञ्चैव विक्षिप्याक्षिप्य चैव हि ॥ १८७ ॥
व्यंसितं वामहस्तञ्च सह पादेन सर्पयेत् ।

१ कर्तव्य स कटिच्छेदो—ग० । २ वुधै—ग० ।
३ पर्यायाद्वेष्टितौ—ख० । ४ भजङ्गत्रासक—ग०, घ० ।
५ विष्कम्भ परिकीर्तित—ग० ।

निकुट्टकद्वयं[1] कार्यमाक्षिप्तं मण्डलोरसि[2] ॥ १८८ ॥
करिहस्तं[3] कटिच्छिन्नं कर्तव्यमपराजिते ।

यदि 'दण्डपाद' करण के प्रदर्शन के बाद हाथों को विक्षिप्त और आक्षिप्त क्रिया से युक्त रखे। फिर व्याक्षिप्त (व्यंसित) करण का प्रदर्शन करे जिसमें बायाँ हाथ पैर के अनुसार (साथ साथ) गतिशील रहे। (फिर भुजंगत्रासित करण का प्रदर्शन करे और हाथ उद्वेष्टित मुद्रा में रखे) फिर चातुर्यपूर्ण दो निकुट्टक (निकुट्टकों तथा अर्धनिकुट्टक), आक्षिप्त, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का क्रमशः प्रदर्शन करे तो इसे 'अपराजित' अंगहार जानो ॥ १८७–१८९ ॥

विष्कम्भापसृत—

कुट्टितं करणं[4] कृत्वा भुजङ्गत्रासितं तथा ॥ १८९ ॥
रेचितेन तु हस्तेन पताकं[5] हस्तमादिशेत् ।
आक्षिप्तकं प्रयुञ्जीत उरो-मण्डलकं तथा ॥ १९० ॥
लताख्यं सकटिच्छिन्नं[6] विष्कम्भापसृते भवेत् ।

यदि कुट्टित और भुजगत्रासित करणों को प्रदर्शित कर फिर रेचित हस्त के द्वारा 'पताक' मुद्रा का प्रदर्शन करे। फिर क्रमशः आक्षिप्तक, उरोमण्डल करणों का तथा लताहस्त में कटिच्छिन्न करण का प्रदर्शन करे तो 'विष्कम्भापसृत' अंगहार होता है ॥ १८९–१९१ ॥

मत्ताक्रीड—

त्रिकं सुवलितं[7] कृत्वा नूपुरं[8] करणं तथा ॥ १९१ ॥
भुजङ्गत्रासितं सव्यं तथा[9] वैशाखरेचितम् ।

---

१. अनयोर्मध्ये—चतुरश्रं करं कृत्वा पादेन च निकुट्टकम् । भुजङ्गत्रासितञ्चैव करं चोद्वेष्टितं पुन. ॥ इति पद्यमधिकं च—पुस्तके ।
२. मण्डलोरसा—ग० । ३. करिहस्तः कटिच्छेद. कर्तव्यस्त्वपराजिते—ग०
४ करणे—घ० । ५. पताकाहस्त—ग०, घ० ।
६. सकटिच्छेदं—ग० घ० । ७. तु वलित—ग० ।
८. चरण तथा—घ० । ९. करणञ्चैव रेचितम—ग० ।

आक्षिप्तकं ततः कृत्वा परिच्छिन्नं तथैव च ॥ १९२ ॥
बाह्यभ्रमरकं कुर्यादुरोमण्डलमेव च।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥
मत्ताक्रीडो भवेदेष ह्यङ्गहारो हरप्रिय[1]।

यदि त्रिक को एक सुन्दर घुमाव देते हुए 'नूपुर' करण का प्रदर्शन करे (फिर) भुजगत्रासित तथा वैशाखरेचित करणों का प्रदर्शन करे। फिर क्रमश ध्यानपूर्वक (या चतुराई से) आक्षिप्त, छिन्न, बाह्यभ्रमरक, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को 'प्रदर्शित' करे तो भगवान् शिव को प्रिय लगने वाला 'मत्ताक्रीड' नामक अगहार होता है ॥ १९१–१९४ ॥

स्वस्तिकरेचित—

रेचितं हस्तपादं च कृत्वा वृश्चिकमेव च ॥ १९४ ॥
पुनस्तेनैव योगेन वृश्चिकं सम्प्रयोजयेत्।
निकुट्टकं तथा चैव सव्यासव्यकृत[2] क्रमात् ॥ १९५ ॥
लताख्य सकटिच्छेदो भवेत् स्वस्तिकरेचिते।

यदि हाथ और पैरों को रेचित मुद्रा में रखकर वृश्चिक करण का प्रदर्शन करे और इसी करण की हाथ और पैरों की क्रियाओं के योग द्वारा आवृत्ति करे। फिर निकुट्टक करण का क्रमश सीधे और बाँए अगों से प्रदर्शन करे। और फिर कटिच्छेद करण का लता हस्त के साथ प्रदर्शन करे तो 'स्वस्तिकरेचित' नामक अगहार होता है ॥ १९४–१९६ ॥

पार्श्वस्वस्तिक—

[3]पार्श्वस्वस्तिकपादौ च कार्यं त्वर्धनिकुट्टकम् ॥ १९६ ॥
द्वितीयस्य च पार्श्वस्य विधि [4]स्यादयमेव हि।

---

१ हरिप्रिय क भवेत् प्रिय —ग०, भवप्रिय —घ०।

२ कृतं क्रमं —ग०। ३ पार्श्वे तु स्वस्तिक बुद्धा कार्यं त्वथ निकुट्टकम्। ४ स्यादेष एव हि—ग०।

ततश्च करमावर्त्य[1] ह्यूरुपृष्ठे निपातयेत् ॥ १९७ ॥
उरूद्वृत्तं ततः कुर्यादाक्षिप्तं पुनरेव हि ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ १९८ ॥
पार्श्वस्वस्तिक इत्येष ह्यङ्गहारः प्रकीर्तितः ।

यदि एक पार्श्व से 'दिक् स्वस्तिक' और फिर अर्धनिकुट्टक का प्रदर्शन कर इन्हें ही दूसरे पार्श्व से पुनः आवृत्त करे। फिर हाथ को आवृत्त (व्यावृत्त) मुद्रा में रखकर कटि प्रदेश पर स्थापित करे और क्रमशः उरूद्वृत्त, आक्षिप्त, नितम्ब, करिहस्त और कटिछिन्न करणों का प्रदर्शन (तत्परता पूर्वक) करे तो 'पार्श्वस्वस्तिक अंगहार होता है ॥१९६-१९९॥

वृश्चिकापसृत—

वृश्चिकं करणं कृत्वा लताख्यं हस्तमेव च ॥ १९९ ॥
तमेव च करं भूयो नासाग्रे सन्निकुञ्चयेत्[2] ।
तमेवोद्वेष्टितं कृत्वा नितम्बं परिवर्तयेत्[3] ॥ २०० ॥
करिहस्तं [4]कटिछिन्नं वृश्चिकापसृते भवेत् ।

यदि वृश्चिक करण का प्रदर्शन कर हाथ को लता मुद्रा में रखे फिर उसी मुद्रा (से युक्त हाथ) को नासिका के बराबर ले जाकर झुका ले (सिकुड़ा ले) फिर वही हाथ उद्वेष्टित मुद्रा में (अर्थात् हिलते हुए 'उद्वेष्टित' प्रकार में) रखकर कमर का गोल घुमाव ले। फिर क्रमशः (तत्परतापूर्वक) करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'वृश्चिकापसृत' करण होता है ॥ १९९-२०१ ॥

भ्रमर—

कृत्वा नूपुरपादं तु तथाक्षिप्तकमेव च ॥ २०१ ॥
[5]कटिच्छिन्नं च कर्तव्यं सूचीपादं तथैव च ।

---

१ मावृत्य—ग० । २ सन्निवेशयेत्—ग० । ३ मथ वर्तयेत्—ग० ।
४ कटिच्छेदं वृश्चिके सम्प्रयोजयेत्—ग० । ५ परिच्छिन्न—ग० ।

नितम्बं[1] करिहस्तं चाप्युरोमण्डलकं तथा ॥ २०२ ॥
कटिछिन्नं[2] ततश्चैव भ्रमरः स तु संज्ञितः ।

यदि नूपुरपाद चारी के बाद आक्षिप्तक, कटिच्छिन्न, सूचीपाद, नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों का क्रमशः प्रदर्शन करे तो यह अंगहार 'भ्रमर' कहलाता है ॥ २०१–२०२ ॥

मत्तस्खलितक—

मत्तल्लिकरणं कृत्वा करमावर्त्य[3] दक्षिणम् ॥ २०३ ॥
कपोलस्य प्रदेशे तु कार्यं[4] सम्यङ्निकुञ्चितम् ।
अपविद्धं द्रुतं[5] चैव तलसंस्फोटसंयुतम्[6] ॥ २०४ ॥
करिहस्तं[7] कटिच्छिन्नं मत्तस्खलितके भवेत् ।

यदि मत्तल्लि करण को प्रदर्शित कर दाहिने हाथ को एक गोल घुमाव देकर तथा फिर उसे झुका कर कपोल प्रदेश के बराबर रख दे । फिर क्रमशः अपविद्ध, तलसंस्फोटित, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो वह 'मत्तस्खलितक' अंगहार होता ॥ २०३–२०५ ॥

मदविलसित—

दोलैः करैः प्रचलितैः स्वस्तिकापसृतैः पदैः ॥ २०५ ॥
अञ्चितैर्वलितैर्हस्तैस्तलसङ्घट्टितैस्तथा ।
निकुट्टितं च कर्तव्यमूरूद्वृत्तं तथैव च ॥ २०६ ॥
करिहस्त कटिच्छिन्नं मदाद्विलसिते भवेत् ।

यदि हिलते हुए दोनों हाथों को दोला मुद्रा में और पैरों को स्वस्तिकापसृत करे तथा हाथों को अञ्चित, वलित और तलसंघट्टित मुद्रा में स्थित करे। फिर तत्परतापूर्वक क्रमशः निकुट्टक, उरूद्वृत्त, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'मदविलसित' नामक अंगहार होता है ॥२०५–२०७॥

---

१ नितम्ब करिहस्तश्च उरो—ग० । २ कटिच्छेद—ग० ।
३ मावृत्य—घ० । ४ कर्तव्य तु निकुञ्चितम्—ग० ।
५ तथा—ग० । ६ स्फोटित तथा—ग० ।
७ करिहस्त कटिच्छेदो—ग० ।

गतिमण्डल—

मण्डलं[1] स्थानकं कृत्वा तथा हस्तौ च रेचितौ ॥ २०७ ॥
उद्घट्टितेन पादेन मत्तल्लिकरणं[2] भवेत्।
आक्षिप्तं करणं चैव ह्युरोमण्डलमेव च ॥ २०८ ॥
कटिच्छिन्नं[3] तथा चैव भवेत् गतिमण्डले।

यदि मण्डलस्थान का प्रदर्शन कर दोनों हाथों को रेचित मुद्रा में और पैरों को उद्घट्टित मुद्रा में रखे। फिर क्रमशः मत्तल्लि, आक्षिप्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'गतिमण्डल' नामक अंगहार होता है ॥ २०७–२०९ ॥

परिच्छिन्न—

समपादं प्रयुज्याथ परिच्छिन्नं[4] त्वनन्तरम् ॥ २०९ ॥
आविद्धेन तु पादेन बाह्यभ्रमरकं तथा।
[6]वामसूच्या त्वतिक्रान्तं भुजङ्गत्रासितं तथा[5] ॥ २१० ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं परिच्छिन्ने विधीयते।

यदि समपाद स्थान को प्रदर्शित कर फिर 'परिच्छिन्न' करण का प्रदर्शन करे और फिर आविद्ध पैर के द्वारा बाह्यभ्रमरक (भ्रमरी, (घुमाव) या चारी) का प्रदर्शन करें और बायें पैर से सूची चारी के द्वारा अर्धसूची करण का फिर क्रमशः अतिक्रान्त, भुजगत्रासित, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'परिच्छिन्न' नामक अंगहार होता है ॥ २०९–२११ ॥

परिवृत्तक-रेचित—

शिरसस्तूपरि स्थाप्यौ स्वस्तिकौ विच्युतौ[7] करौ ॥ २११ ॥
ततः सव्यं करं चापि गात्रमानम्य रेचयेत्।

---

१ मण्डलस्थानक—ख०। २ मत्तल्ली—ग०। ३ कटिच्छेद—ग०।
४ परिच्छिन्नस्त्वन—ग०। ५ वाम—ग०।
६ इत प्रभृति श्लोकत्रय ग०—पुस्तके नास्ति। ७. विधुतौ—ख०।

पुनरुत्थापयेत्तत्र गात्रमुन्नम्य [1]रेचितम् ॥ २१२ ॥
लताख्यौ च करौ कृत्वा वृश्चिकं सम्प्रयोजयेत् ।
रेचितं करिहस्तं च भुजङ्गत्रासितं तथा ॥ २१३ ॥
आक्षिप्तकं प्रयुञ्जीत स्वस्तिकं पादमेव[2] च ।
[3]पराङ्मुखविधिर्भूय[4] एवमेव भवेदिह ॥ २१४ ॥
करिहस्तं[5] कटिच्छिन्नं परिवृत्तकरेचिते ।

दोनों हाथों को मस्तक पर स्वस्तिक मुद्रा में ढीले रखते हुए स्थापित करे, फिर बायाँ हाथ रेचित करते हुए शरीर को झुका ले, फिर शरीर को ऊपर की ओर तान कर हाथ को रेचित मुद्रा में रखे और पुनः दोनों हाथों के द्वारा लता मुद्रा का प्रदर्शन करे। फिर क्रमशः वृश्चिक, रेचित, करिहस्त, भुजङ्गत्रासित और आक्षिप्तक करणों का प्रदर्शन करे। फिर स्वस्तिक पाद को रखते हुए उक्त विधान को पुनः उलटे घुमाव के साथ आवृत्त करे। और अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'परिवृत्तक-रेचित' नामक अगहार होता है ॥ २११–२१५ ॥

वैशाखरेचित—

रेचितौ सहगात्रेण ह्यपविद्धौ करौ यदा[6] ॥ २१५ ॥
पुनस्तेनैव देशेन गात्रमुन्नम्य रेचयेत् ।
कुर्यान्नूपुरपादश्च[7] भुजङ्गत्रासितं तथा ॥ २१६ ॥
रेचितं मण्डलञ्चैव बाहुशीर्षे[8] निकुञ्चयेत् ।
ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव च ॥ २१७ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं कुर्याद्वैशाखरेचिते ।

यदि शरीर के साथ दोनों हाथों को रेचित कर 'अपविद्ध' मुद्रा में रखे फिर शरीर को झुकाते हुए उसी प्रकार पुनः आवृत्त कर दे फिर 'नूपुर

१ रेचयेत्—ख० । २. पदमेव—ग० । ३. पराङ्मुखौ विधि—घ० ।
४. भूयादेव—ग० । ५. करिहस्त कटिच्छेद.—ग०; कटिच्छेदं—घ० ।
६ तथा—घ० । ७. कार्य—ग० । ८. बाहुशीर्ष—ग० ।

तथा भुजङ्गत्रासित रेचित एवं मण्डलस्वस्तिक करणों का प्रदर्शन करे और बाहु तथा मस्तक को सिकुड़ाने के पश्चात् ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्तक, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'वैशाखरेचित' नामक अंगहार होता है ॥ २१५–२१८ ॥

परावृत्त—

आद्यं तु जनितं कृत्वा पादमेकं प्रसारयेत् ॥ २१८ ॥
तथैवालातकं[1] कुर्यात् त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
अञ्चितं वामहस्तं च गण्डदेशे निकुट्टयेत् ॥ २१९ ॥
कटिच्छिन्नं तथा चैव परावृत्ते[2] प्रयोजयेत् ।

सर्वप्रथम 'जनित' करण को प्रदर्शित कर एक पैर को आगे बढाए (या फैलाए), फिर 'अलात' करण का प्रदर्शन कर त्रिक को (भ्रमरी चारी में) घुमा दे, फिर बाएँ हाथ को झुकाकर गण्डस्थल पर कुट्टन करे और कटिच्छिन्न करण का प्रदर्शन करे तो 'परावृत्त' नामक अंगहार होता है ॥ २१८–२२० ॥

अलातक—

स्वस्तिकं करणं कृत्वा व्यंसितौ च करौ पुनः[3] ॥ २२० ॥
अलातकं प्रयुञ्जीत ह्यूर्ध्वजानु निकुञ्चितम् ।
अर्धसूची[4] च विक्षिप्तमुद्वृत्ताक्षिप्तके तथा ॥ २२१ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नमङ्गहारे ह्यलातके ।

यदि 'स्वस्तिक' करण को प्रदर्शित कर दोनों हाथों को व्यंसित (अर्थात् दोनों हाथों को रेचित) रखे फिर क्रमशः अलातक, ऊर्ध्वजानु, निकुंचित, अर्धसूची, विक्षिप्त, उद्वृत्त, आक्षिप्त, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'अलातक' नामक अंगहार होता है ॥ २२०–२२२ ॥

---

१. तथैवालातक—ग० । २. परावृत्त—ग० ।
३. तत—ग० । ४. अर्धसूचीव—ग० ।

पार्श्वच्छेद—

निकुट्य वक्षसि करावूर्ध्वजानु प्रयोजयेत् ॥ २२२ ॥
आक्षिप्तं[1] स्वस्तिकं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत्।
उरोमण्डलकौ हस्तौ नितम्बं[2] करिहस्तकम् ॥ २२३ ॥
कटिच्छिन्नं[3] तथा चैव पार्श्वच्छेदे विधीयते।

यदि 'निकुट्टित' मुद्रा वाले हाथों को वक्षःस्थल पर रखे तथा ऊर्ध्वजानु, आक्षिप्त तथा स्वस्तिक करणों को प्रदर्शित कर त्रिक को एक घुमाव दे दें (भ्रमरी चारी को प्रदर्शित करे) और फिर क्रमशः उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणा को प्रदर्शित करे तो 'पार्श्वच्छेद' नामक अंगहार होता है ॥ २२२-२२४ ॥

विद्युद्भ्रान्त—

[4]सूचीवामपदं दद्याद्विद्युद्भ्रान्तं च दक्षिणम् ॥ २२४ ॥
दक्षिणेन पुनः सूची विद्युद्भ्रान्तं च वामतः।
परिच्छिन्नं तथा चैव त्रिकञ्च[5] परिवर्तयेत् ॥ २२५ ॥
लताख्यं सकटिच्छिन्नं[6] विद्युद्भ्रान्तश्च स स्मृतः।

पहिले बाएँ पैर द्वारा 'सूची' चारी का प्रदर्शन कर दाहिने पैर द्वारा 'विद्युद्भ्रान्त' करण का प्रदर्शन करे फिर दाहिने पैर द्वारा 'सूची' चारी और बायें पैर द्वारा 'विद्युभ्रान्त' करण को प्रदर्शित करे। फिर 'छिन्न' करण को प्रदर्शित कर त्रिक को घुमाव दे दे और इसके पश्चात् तलाहस्त के साथ लतावृश्चिक और बाद में कटिच्छिन्न करण को प्रदर्शित करे तो 'विद्युद्-भ्रान्त' नामक अंगहार होता है ॥

उद्वृत्तक—

कृत्वा नूपुरपादं तु सव्यवामौ प्रलम्बितौ ॥ २२६ ॥
करौ पार्श्वे ततस्ताभ्यां विक्षिप्तं सम्प्रयोजयेत्।

---

१ आक्षिप्तस्वस्तिक—क०। २. नितम्बकरिहस्तक —ग०।
३ कटिच्छेद —ग०। ४. सूची—ग०।
५. ह्यतिक्रान्तञ्च वामकम्—क०। ६ सकटिच्छेद—ग०।

ताभ्यां सूची तथा चैव त्रिकं तु परिवर्तयेत् ॥ २२७ ॥
लताख्यं सकटिच्छिन्नं[1] कुर्यादुद्वृत्तके सदा।

यदि 'नूपुरपाद' चारी को दाहिने और बाएँ हाथ को (क्रमशः) झुलाते हुए प्रदर्शित करे, फिर दोनों हाथों को वैसे ही प्रदर्शित कर 'निक्षित' करण को प्रदर्शित करे, फिर वैसे ही हाथों से 'सूची' करण को प्रदर्शित करे और त्रिक को एक घुमाव दे दे (अर्थात् 'भ्रमरी' चारी का प्रदर्शन करे) फिर लता (लतावृश्चिक) तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'उद्वृत्तक' नामक अंगहार होता है ॥ २२६-२२८ ॥

आलीढ—

आलीढव्यंसितौ हस्तौ बाहुशीर्षे निकुट्टयेत् ॥ २२९ ॥
नूपुरश्चरणो वामस्त्वालातश्च दक्षिणः।
तेनैवाक्षिप्तकं कुर्यादुरोमण्डलकौ करौ ॥ २२९ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नमालीढे सम्प्रयोजयेत्।

यदि 'आलीढ' स्थान के साथ 'व्यंसित' करण को प्रदर्शित करते हुए दोनों हाथों को बाहुओं के कोनों पर पीटे (या फटकारे), फिर बायें पैर से 'नूपुर' करण को तथा दाहिने से 'अलात' करण को प्रदर्शित करे और उसी के द्वारा फिर 'आक्षिप्तक' करण भी प्रदर्शित किया जाए। तत्पश्चात् दोनों हाथों द्वारा 'उरोमण्डल' मुद्राओं को प्रदर्शित करते हुए करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'आलीढ' नामक अंगहार होता है।

रेचित—

हस्तं तु रेचितं कृत्वा पार्श्वमानस्य रेचयेत् ॥ २३० ॥
पुनस्तेनैव योगेन गात्रमानम्य[3] रेचयेत्।
रेचितं[4] करणं [5]कार्यमुरोमण्डलमेव च ॥ २३१ ॥

१ सकटिच्छेद—ग०। २ कटिच्छेद—ग०। ३ मुन्नम्य—ग०।
४ अनयोर्मध्ये—कार्यं नूपुरपादस्य भुजङ्गत्रासितं तथा—इति पद्यार्धमधिकं ग०—पुस्तके। ५ कुर्यादुरोमण्डल—घ०।

कटिच्छिन्नं[1] तु कर्तव्यमङ्गहारे तु रेचिते ।

यदि 'रेचित' हस्त को (किसी एक) बाजू में ले जाकर 'रेचित' अवस्था में नमाए फिर उसी 'रेचित' अवस्था में सारे शरीर को नमाते हुए प्रदर्शित करे और (नूपुरपाद, भुजगत्रासित, रेचित, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे—पाठान्तर के अनुसार अर्थ) फिर रेचित, उरोमण्डल तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'रेचित' नामक अंगहार होता है ॥ २३०–२३२ ॥

आच्छुरित—

नूपुरं चरणं[2] कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ॥ २३२ ॥
व्यंसितेन तु हस्तेन त्रिकमेव[3] [4]विवर्तयेत् ।
पदं[5] चालातकं कृत्वा सूचीमथैव[6] योजयेत् ॥ २३३ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं[7] कुर्यादाच्छुरिते सदा ।

यदि 'नूपुर' करण को प्रदर्शित कर त्रिक को एक घुमाव दे दे और फिर 'व्यंसित' करण का प्रदर्शन कर त्रिक को एक चक्कर दे, फिर बाएँ पैर से 'अलातक' करण को प्रदर्शित कर सूची, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'आच्छुरित' नामक अंगहार होता है ॥ २३२–२३४ ॥

आक्षिप्तरेचित—

रेचितौ स्वस्तिकौ पादौ रेचितौ स्वस्तिकौ करौ ॥ २३४ ॥
कृत्वा विश्लेपमेवं तु तेनैव विधिना पुनः ।
पुनरुत्क्षेपणं चैव रेचितैरेव कारयेत् ॥ २३५ ॥
उद्वृत्ताक्षिप्तके चैव ह्युरोमण्डलमेव च ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ २३६ ॥

---

१ कटिच्छेद—ग० ।   २ करण—ग० ।   ३ त्रिकञ्चैव—ग० ।
४ निवर्तयेत्—ग० ।   ५ वाम—ग० ।   ६ तत्रैव—ग० ।
[illegible] कटिच्छेद—ग० ।   ८ तथा—ग० ।

ना० शा० प्र०

आक्षिप्तरेचितो[1] ह्येष करणानां विधिः स्मृतः ।

यदि दोनों स्वस्तिक पाद 'रेचित' हो तथा इसी प्रकार स्वस्तिक हाथ भी (रेचित) रहे और फिर वे 'रेचित' किया के द्वारा ही पृथक् हों और फिर रेचित किया के द्वारा उन्हें ऊपर की ओर उछाला जाए; फिर उद्वृत्त, आक्षिप्तक, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को क्रमशः प्रदर्शित करे तो 'आक्षिप्तरेचित' नामक अंगहार होता है ॥ २३४–२३७ ॥

सम्भ्रान्त—

विक्षिप्तं[2] करणं कृत्वा हस्तपादं मुखानुगम् ॥ २३७ ॥
वामसूचीसहकृतं[3] विक्षिपेद्वामकं करम् ।
वक्षःस्थाने[4] भवेत्सव्यो वलितं त्रिकमेव च ॥ २३८ ॥
नूपुराक्षिप्तके चैव ह्यर्धस्वस्तिकमेव च ।
नितम्बं करिहस्तं च [5]ह्युरोमण्डलकं तथा ॥ २३९ ॥
कटिच्छिन्नं[6] च कर्तव्यं सम्भ्रान्ते नृत्तयोक्तृभिः ।

यदि विक्षिप्त करण को प्रदर्शित कर दोनों हाथ और पैरों को मुख की अनुगामिनी स्थित में रखते हुए बाएँ हाथ को 'सूची' मुद्रा में विक्षिप्त करे तथा दाहिने हाथ को वक्षःस्थल पर रख ले फिर त्रिक को (भ्रमरीचारी में) एक घुमाव दे । फिर क्रमशः नूपुर, आक्षिप्तक, अर्धस्वस्तिक, नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो 'सम्भ्रान्त' नामक अंगहार होता है ॥ २३७–२४० ॥

अपसर्पितक—

अपक्रान्तकमं कृत्वा व्यंसितं हस्तमेव च ॥ २४० ॥
कुर्यादुद्वेष्टितं चैव ह्यर्धसूचीं तथैव च ।

---

१. रेचकेष्वेष —ग० । २. विक्षिप्तकरण—ख० ।
३. सूचीकर—ख० । ४ वक्षस्य च—ग० ।
५ स्यादुरोमण्डल तथा—ग० । ६ कटिच्छेदश्च कर्तव्यः—ग० ।

विक्षिप्तं सकटिच्छिन्न¹मुद्वृत्ताक्षिप्तके तथा ॥ २४१ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं कर्तव्यमपसर्पिते।

यदि 'अपक्रान्त' करण को प्रदर्शित करते हुए 'व्यंसित' करण को केवल हाथों से प्रदर्शित करे तथा हाथों को 'उद्वेष्टित' मुद्रा में कम्पित करते हुए फिर 'अर्धसूची' विक्षिप्त, कटिच्छिन्न, उद्वृत्त, आक्षिप्तक, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'अपसर्पितक' (अपसर्पतिकं) नामक अंगहार होता है ॥ २४०–२४२ ॥

अर्धनिकुट्टक—

कृत्वा नूपुरपादं च द्रुतमाक्षिप्य च क्रमम् ॥ २४२ ॥
पादस्य चानुगौ हस्तौ त्रिकं च परिवर्तयेत्।
निकुट्य करपादं चाप्युरोमण्डलकं पुनः ॥ २४३ ॥
करिहस्तं² कटिच्छिन्नं कार्यमर्धनिकुट्टके।
द्वात्रिंशदेते सम्प्रोक्ता ह्यङ्गहारा³ द्विजोत्तमाः ॥ २४४ ॥

यदि 'नूपुरपाद' चारी को शीघ्रता से (वेग से) प्रदर्शित करे और हाथों को पैर की गति के अनुसार रखते हुए त्रिक को (भ्रमरी चारी में) घुमाव दे दे, फिर हाथों और पैरों को 'निकुट्टन' क्रिया से युक्त रखकर क्रमशः उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करे तो 'अर्धनिकुट्टक' नामक अंगहार होता है। हे मुनियों, इस प्रकार मैंने ये बत्तीस अंगहार आपको बतलाए ॥ २४२–२४४ ॥

रेचक—

चतुरो रेचकांश्चापि⁴ गदतो मे निबोधत।
पादरेचक एकः स्यात् द्वितीयः कटिरेचकः ॥ २४५ ॥
कररेचकस्तृतीयस्तु चतुर्थः कण्ठरेचकः।

---

१ सकटिच्छेद—ग०। २. करिहस्त कटिच्छेदः कार्यस्त्वर्धनिकुट्टके–ग०।
३. स्त्वङ्गहारा—घ०। ४. श्चैव—घ०।

अब मैं आपको चार रेचक बतलाता हूँ। इन्हें भी आप मुझसे जानिये। इन रेचकों में प्रथम पादरेचक, द्वितीय कटिरेचक, तृतीय हस्तरेचक तथा चतुर्थ ग्रीवारेचक कहलाता है ॥ २४५-२४६ ॥

रेचिताख्यः पृथग्भावे वलने चाभिधीयते ॥ २४६ ॥

उद्वाहनात्पृथग्भावाद् वलनाच्चापि[1] रेचकः।

यह 'रेचक' पृथक्-पृथक् (या स्वतन्त्र रूप में) एक गोल घुमाव लेने के अर्थ में प्रयुक्त (या अभिहित) होता है। या इसे 'रेचक' इसलिए भी कहते हैं कि यह ऊपर की ओर (उठाव लेकर) गतिशील होता है या पृथक्-पृथक् चाल से गतिशील रहता है ॥ २४६-२४७ ॥

पादरेचक—

पार्श्वात्पार्श्वे तु गमनं स्खलितैश्चलितैः पदैः ॥ २४७ ॥

विविधैश्चैव पादस्य पादरेचक उच्यते।

यदि स्खलित गति वाले या दो भिन्न गतियाँ वाले पैरों को एक बाजू से दूसरी बाजू की ओर विभिन्न गतियों द्वारा चलाया जाए तो इसे 'पादरेचक' जानिये ॥ २४७-२४८ ॥

कटिरेचक—

त्रिकस्योद्वर्तनं चैव कटीवलनमेव[2] च ॥ २४८ ॥

तथाऽपसर्पणं चैव कटिरेचक उच्यते।

यदि त्रिक को ऊपर की ओर उठाया जाए या कटि को एक चक्कर दे दिया जाए और फिर उसे पीछे की ओर हटा दिया जाए तो इसे 'कटिरेचक' जानिये ॥ २४८ ॥

हस्तरेचक—

उद्वर्तनं[3] परिक्षेपो विक्षेपः[4] परिवर्तनम् ॥ २४९ ॥

विसर्पणं च हस्तस्य हस्तरेचक उच्यते।

१. चलनाच्चापि—ख०, घ०। २ कटीचलनमे—ग०।
३. उद्वर्तन —ख०। ४ विक्षेपपरिवर्तनम्—घ०।

हाथों का ऊपर की ओर उठाना, फेंकना (परिक्षेपः), सम्मुख करना, गोल चक्करदार घुमाव लेना तथा पीछे की ओर हटाना (विसर्पणम्) 'हस्तरेचक' कहलाता है ॥ २४९–२५० ॥

ग्रीवारेचक—

उद्वाहनं सन्नमनं तथा पार्श्वस्य[1] सन्नतिः ॥ २५० ॥
भ्रमणं चापि विज्ञेयो ग्रीवाया रेचको बुधैः ।

ग्रीवा का ऊपर की ओर तानना, (या उठाना) झुकाना, या उसे बाजू से झुका लेना, घुमाव लेना (या गतिशील होना—भ्रमणं) 'ग्रीवारेचक' कहलाता है ॥ २५०–२५१ ॥

रेचकैरङ्गहारैश्च नृत्यन्तं वीक्ष्य शङ्करम् ॥ २५१ ॥
सुकुमारप्रयोगेण नृत्यतीदम्[2] च पार्वती ।
मृदङ्गभेरीपटहै[3]र्भाण्डडिण्डिमगोमुखैः ॥ २५२ ॥
पणवैर्दर्दुरैश्चैव[4] सर्वातोद्यैः प्रवादितैः[5] ।
दक्षयज्ञे विनिहते सन्ध्याकाले महेश्वरः ॥ २५३ ॥
नानाङ्गहारैः प्रानृत्यल्लयतालवशानुगैः[6] ।

इन रेचक तथा अंगहारों से युक्त शिव को नृत्य करते देख पार्वती ने भी सुकुमार प्रयोगों से युक्त एक नृत्य किया। और इस नृत्य की मृदग भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिम, गोमुख, पणव तथा दर्दुर नामक वाद्यों द्वारा संगत की गई। ऐसा होने पर दक्ष के यज्ञ के ध्वंस के पश्चात् किसी सन्ध्या में भगवान शिव ने अनेक लय तथा ताल के अनुसार (गतिशील अनेक) अंगहारों से युक्त होकर नृत्य किया ॥ २५१–२५४ ॥

पिण्डीबन्धांस्ततो[7] दृष्ट्वा नन्दिभद्रमुखा गणाः ॥ २५४ ॥

---

१. पार्श्वञ्च—ख० । २. नृत्यन्ती चैव पार्वतीम्—ख० ।
३. शङ्खा—ख० । ४. दर्दुराद्यैश्च नानातोद्यैः—ध० ।
५. प्रमादितं —ख० । ६ तालवशानुगम्—ख० ।
७. डिण्डिमभ्रान्तितो—ग० ।

चक्रुस्ते[1] नाम पिण्डीनां बन्धमासां[2] सलक्षणम् ।

तब नन्दी तथा भद्रमुख प्रभृति गणों ने पिण्डीबन्धों को (जो कि इस प्रकार के नृत्य में विद्यमान थे) देखकर उनके लक्षण तथा नाम रख लिये।

पिण्डीबन्ध-नाम तथा स्वरूप—

ईश्वरस्येश्वरी[3] पिण्डी नन्दिनश्चापि पट्टसी[4] ॥ २५५ ॥
चण्डिकाया भवेत्पिण्डी तथा वै सिंहवाहिनी ।
तार्क्ष्यपिण्डी भवेद्विष्णोः पद्मपिण्डी स्वयंभुव ॥ २५६ ॥
शक्रस्यैरावती पिण्डी झषपिण्डी[5] तु मान्मथी ।
शिखिपिण्डी कुमारस्य रूपपिण्डी[6] भवेच्छ्रियः ॥ २५७ ॥
धारापिण्डी च जाह्नव्याः पाशपिण्डी यमस्य च ।
वारुणी च नदीपिण्डी याक्षी स्याद्धनदस्य तु ॥ २५८ ॥
हलपिण्डी बलस्यापि सर्पपिण्डी तु भोगिनाम् ।
गाणेश्वरी महापिण्डी दक्षयज्ञविमर्दिनी ॥ २५९ ॥
त्रिशूलाकृतिसंस्थाना रौद्री स्यादन्धकद्विषः[7] ।
एवमन्यास्वपि तथा दैवतासु तथाक्रमम् ॥ २६० ॥
ध्वजभूताः[8] प्रयोक्तव्या पिण्डीबन्धा सुचिह्निता ।

ये पिण्डीबन्ध—जिनके नाम विभिन्न देवगण तथा देवियों के नाम पर रखे गए—इस प्रकार हैं—ईश्वर की पिण्डी का नाम ईश्वरी, नन्दी की पट्टसी चण्डिका की (पिण्डी) सिंहवाहिनी, विष्णु की तार्क्ष्य, स्वयंभू (ब्रह्मा) की पद्म, शक्र की ऐरावती, मन्मथ (काम) की झष, कुमार (स्कन्द) की शिखी, श्री की रूप (उलूक ?), जाह्नवी की धारा, यम की पाश, वरुण

---

१ चक्रुर्नामानि—घ० । २ बन्धाश्चैव सलक्षणान्—ग० ।
३ ऐश्वरी वृषपिण्डी च—ग० । ४ पादसी—ग० ।
५ झषा स्यान्मन्मथस्य तु—ख, उरुपिण्डी तु मान्मथी—ग० ।
६ उलूपिण्डी—घ० । ७ अन्तकद्विप —ग० । ८. वज्रभूता —घ० ।

की नदी, कुबेर की याक्षी, बलराम की हली (हलपिण्डी); भोगियों की सर्प, गणों की दक्षयज्ञविमर्दिनी नामक महापिण्डी तथा भगवान शंकर की जिनके द्वारा अन्धकासुर का विनाश किया गया—उनके त्रिशूल की आकृति (या चिह्न) से अंकित रौद्री नामक पिण्डी होती है। इसी प्रकार अन्य (अवशिष्ट) देवों तथा देवियों की पिण्डियाँ भी उनके अपने चिह्नों से चिह्नित एवं उनके नाम के अनुसार रहना चाहिए ॥ २५६–२६१ ॥

ताण्डव का उद्भव—

> रेचका अङ्गहाराश्च पिण्डीबन्धास्तथैव च ॥ २६१ ॥
> सृष्ट्वा भगवता दत्तास्तण्डवे[1] मुनये तदा।
> तेनापि हि ततः सम्यग्गानभाण्डसमन्वितः ॥ २६२ ॥
> [2]नृत्तप्रयोगः सृष्टो यः स ताण्डव इति स्मृतः।

इस प्रकार भगवान शिव ने रेचक, अंगहार तथा पिण्डीबन्धों के सृजन कार्य को पूर्ण करने के पश्चात् उन्हें तण्डु मुनि को प्रदान कर दिया। तब उन तण्डु मुनि ने (उन्हें) गान तथा भाण्डवाद्य, (वाद्य तथा गीत) से (ठीक प्रकार से) संयुक्त कर जिस नृत्त प्रयोग की सर्जना की वह 'ताण्डव' नाम से प्रसिद्ध हुआ (तण्डु के द्वारा उद्भावित होने के कारण उसकी प्रसिद्धि ताण्डव नाम से हुई) ॥ २६१–२६३ ॥

नृत्त का स्वरूप तथा उपयोगिता—

ऋषय ऊचुः–यदा प्राप्त्यर्थमर्थानां तज्ज्ञैरभिनयः कृतः ॥ २६३ ॥
> [3]कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतत्कं स्वभावमपेक्षते।
> न गीतकार्थसम्बद्धं[4] न चाप्यर्थस्य भावकम् ॥ २६४ ॥
> कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतद्गीतेष्वासारितेषु च।

ऋषिगण का प्रश्न—

जब अर्थों के (गीत तथा संवाद के—जो कि रूपक में अवस्थित रहते

१ स्ताण्डवे—ग०। २. नृत्य—ग०।
३. तस्मान्नृत्त—ख०, तस्मान्नृत्तं कृते—ग०। ४. सम्बद्धो—ग०।

हैं) उपयोग के लिए (तज्ञ) विद्वानों ने 'अभिनय' की सृष्टि (या स्थापना कर दी तो इस 'नृत्य' की सर्जना किस उद्देश्य की, पूर्ति के लिए की गई ? तथा इसकी प्रकृति (स्वरूप, स्थिति या लक्षण) किस प्रकार की रखी गई ?

इस नृत्त की 'आसारित' गीतों से सम्बद्ध करते हुए रचना क्यों की गई ? क्योंकि यह न तो गीतों से तथा न ही उनके प्रतिपाद्य अर्थों (संवादों) से ही सम्बद्ध है ॥ २६३–२६५ ॥

भरत उवाच—

अत्रोच्यते न खल्वर्थं कंचिन्नृत्तमपेक्षते ॥ २६५ ॥
किं तु शोभां प्रजनयेदिति[1] नृत्तं प्रवर्तितम् ।

प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः ॥ २६६ ॥
मङ्गल्यमिति कृत्वा च नृत्तमेतत्प्रकीर्तितम् ।

विवाहप्रसवावाहप्रमोदाभ्युदयादिषु ॥ २६७ ॥
विनोदकरणं[2] चेति नृत्तमेतत्प्रवर्तितम्[3] ।

भरत मुनि ने (प्रश्नों के उत्तर में) कहा—इस विषय में जो आशंकाएँ हैं उनके विषय में बतलाया जा रहा है । यह जो कहा गया कि 'नृत्त' किसी अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति की उपयोगिता से रहित है—यह ठीक है; किन्तु इसे शोभा की सृष्टि के हेतु भी संयोजित किया जाता है ।

प्रायः सभी मनुष्य की स्वाभाविक तौर पर 'नृत्त' इष्ट है तथा यह मंगलप्रद भी है इसीलिए इसका कथन (सृजन) किया है ।

यह 'नृत्त' विवाह, पुत्रजन्म, जामाता की बारात में उपस्थिति के अवसर पर और विजयप्राप्ति के उपलक्ष में किये जाने वाले आमोद-प्रमोद के लिये ही बनाया गया है ॥ २६५–२६८ ॥

---

१ जनयतीत्यतो नृत्तमिदं स्मृतम्—ग० । २ कारण—ख० ।
३ प्रकीर्तितम्—ग० ।

अतश्चैव प्रतिक्षेपाद्भूतसङ्घैः प्रवर्तिताः[2] ॥ २६८ ॥
ये गीतकादौ युज्यन्ते सम्यङ्नृत्तविभागकाः।

अतएव भूत गण (के समुदाय) ने संयोजित (इसमें) प्रतिक्षेपों[1] की प्रशंसा की (या प्रवर्तना की)—जो नृत्त का ठीक प्रकार से विभाजन कर गीत के प्रारंभ में—प्रयुक्त किये जाते हैं ॥ २६८–२६९ ॥

देवेन चापि[3] सम्प्रोक्तस्तण्डुस्ताण्डवपूर्वकम् ॥ २६९ ॥
गीतप्रयोगमाश्रित्य नृत्तमेतत्प्रवर्त्यताम्[4]।
प्रायेण ताण्डवविधिर्देवस्तुत्याश्रयो भवेत् ॥ २७० ॥
सुकुमारप्रयोगश्च शृङ्गाररससम्भवः।

भगवान शंकर ने भी इस ताण्डव को तण्डु को बतलाते हुए कहा कि इसका गीतों से सम्बद्ध करते हुए ही प्रयोग किया जाए।

प्रायः ताण्डव (नृत्त) देवताओं की वन्दना हेतु ही किया जाता है परन्तु यह शृंगाररस से युक्त तथा उससे उद्भूत सुकुमार भावों के प्रयोग से सम्बद्ध (भी) हो सकता है ॥ २६९–२७१ ॥

ताण्डव की वर्धमानक के साथ योजना (एवं प्रयोग विधि)

तस्य [5]तण्डुप्रयुक्तस्य ताण्डवस्य विधिक्रियाम् ॥ २७१ ॥

---

१ प्रतिक्षेप का लक्षण नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता। आचार्य अभि० ने बतलाया है कि अतिशय स्तुति से युक्त गीत विशेष का नाम ही प्रतिक्षेप है। अन्य आचार्यों का मत है कि गीत की समाप्ति पर प्रयुक्त किये जाने वाले 'छन्दक' आदि की नृत्त में विचित्रता उत्पन्न करने के लिये यथारुचि प्रतिक्षिप्ति (स्थापना) की जाने (इसी कारण अंगभूत होने) से प्रतिक्षेप कहलाते हैं।

(प्रचुरस्तुतियुक्तो गीतिविशेष ,प्रतिक्षेप । अन्ये तु गीतान्ते प्रयोज्यच्छन्दकादय एव नृत्तवैचित्र्याश्रया यथारुचि प्रतिक्षिप्यमानाङ्गका प्रतिक्षेपा । (अभि० भारती) पृ० १८२, Vol. I., G O S. Baroda Edi)

---

१. भुजासङ्घैं —ख०, प्रतिक्षेपभूतसङ्घैं —घ०। २ प्रकीर्तिता —ग०।
३ वापि—ग०। ४ प्रनृत्यताम्—ग०। ५ ताण्डवप्रयु—ग०।

वर्धमानकमासाद्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।
कलानां वृद्धिमासाद्य ह्यक्षराणां च वर्धनात् ॥ २७२ ॥
लयस्य[1] वर्धनाच्चापि वर्धमानकमुच्यते ।

अब मैं तण्डुमुनि द्वारा अभिहित ताण्डव की, वर्धमानक के (लक्षण के) साथ सयोजन विधि या लक्षण बतलाता हूँ । (क्योंकि) यह कला, (मात्रा) लय तथा अक्षरों की वृद्धि करता है इसी कारण यह 'वर्धमानक' कहलाता है ॥ २७१–२७३ ॥

आसारित—

कृत्वा कुतपविन्यासं यथावद् द्विजसत्तमाः ॥ २७३ ॥
आसारितप्रयोगस्तु ततः कार्यः प्रयोक्तृभिः ।
तत्र तूपोहनं[2] कृत्वा तन्त्रीगान[3]समन्वितम् ॥ २७४ ॥
कार्यः प्रवेशो नर्तक्या भाण्डवाद्यसमन्वितः ।

हे मुनियों, यथोपयुक्त संगीत वाद्यों (कुतपों) की स्थापना करने (व्यावस्था करने) के पश्चात् (सूत्रधार) 'आसारित' का प्रयोग करे ।

तब वीणा तथा गीत से युक्त उपोहन का प्रयोग करने के उपरान्त—नर्तकी को रंगमंच पर प्रवेश करना चाहिए जो भाण्ड (अवनद्ध) वाद्य के वादन के साथ (ताल से युक्त) हो ॥ २७३–२७५ ॥

विशुद्धकरणायां तु जात्यां वाद्यं प्रयोजयेत् ॥ २७५ ॥
गत्या[4] वाद्यानुसारिण्यां[5] तस्याश्चारीं प्रयोजयेत् ।
वैशाखस्थान[6]केनेह सर्वरेचकचारिणी ॥ २७६ ॥

इस समय प्रयुक्त संगीत विशुद्ध करणों और जातियों से युक्त हो तथा

१. वर्धनान्नर्तकीनाञ्च—ख; लयस्य बन्धनाच्चापि—ग० ।
२ चोपोहन—ग० । ३. तन्त्रीभाण्ड—ग० । ४. गीत्या—ग० ।
५ वाद्यानुसर्पिण्या—ग० । ६. वैशाखस्तालकेनेह—ग० ।

साथ में वाद्य का वादन भी किया जाए। फिर वाद्य (ताल) के अनुसार गति प्रदर्शित करते हुए (वह) नर्तकी चारी को प्रदर्शित करे (प्रयुक्त करे)।

(वह) नर्तकी 'वैशाखस्थान' के द्वारा सभी (चारों प्रकार के) रेचकों से युक्त गति को प्रदर्शित करती हुई अंजलि में पुष्पों को धारण कर मंच पर प्रवेश करे ॥ २७५–२७६ ॥

पुष्पाञ्जलिधरा भूत्वा प्रविशेद्रङ्गमण्डपम्।
पुष्पाञ्जलिं विसृज्याथ रङ्गपीठं परीत्य च ॥ २७७ ॥
प्रणम्य देवताभ्यश्च ततोऽभिनयमाचरेत्।

(देवगण हेतु) और गोल चक्कर लगाते हुए अपने हाथों से उसे रंगमंच पर विकीर्ण कर देवताओं को प्रणाम करे और फिर विभिन्न गीत एवं मुद्राओं के प्रदर्शन के साथ अभिनय प्रारम्भ करे ॥ २७७–२७८ ॥

यत्राभिनेयं गीतं स्यात्तत्र वाद्यं न योजयेत्[1] ॥ २७८ ॥
अङ्गहारप्रयोगे तु भाण्डवाद्यं विधीयते।

जब अभिनय को किसी गीत के अनुसार प्रदर्शित किया जा रहा हो तब उसके साथ वाद्य (संगीत) की योजना (संगत) नहीं की जानी चाहिए, किन्तु अंगहारों के प्रयोग की दशा में भाण्डवाद्य (आनद्धवाद्य, मृदंग या भाण्ड) की योजना (आरम्भ) की जाए ॥ २७८–२७९ ॥

समं रक्तं विभक्तं च स्फुटं शुद्धप्रहारजम् ॥ २७९ ॥
नृत्ताङ्गग्राहि वाद्यज्ञैर्वाद्यं योज्यं तु ताण्डवे।

ताण्डव में जिस वाद्य की योजना की जाए वह वाद्य सम, रक्त, विभक्त तथा स्फुट हो और स्पष्ट प्रहारों के कारण शुद्ध ताल को उत्पन्न करते हुए नृत्त के विभागों को यथोचित रूप से बतलाता हो ॥ २७९–२८० ॥

प्रयुज्य गीतवाद्ये[2] तु निष्क्रामेन्नर्तकी ततः ॥ २८० ॥
अनेनैव विधानेन प्रविशन्त्यपराः पृथक्[3]।

---

१ प्रयोजयेद्—ग०। २ गीतमथ—ग०। ३ पुनः—ग०।

अन्याश्चानुक्रमेणाथ पिण्डीं बध्नन्ति या[1] स्त्रियः ॥ २८१ ॥
तावत्पर्यस्तकः[2] कार्यो यावत् पिण्डी न बध्यते ।
पिण्डीं बध्वा ततः सर्वा निष्क्रामेयुः स्त्रियस्तु ताः ॥ २८२ ॥

इस प्रकार गीत या वाद्यों के साथ प्रदर्शन कर नर्तकी रंगमंच से निष्क्रमण करे और फिर इसी प्रकार अन्य (उसी के समान) नर्तकियाँ मंच पर प्रविष्ट हों।

ये नर्तकियाँ क्रमशः (इसी) विधान के अनुसार तब तक 'पिण्डीबन्ध' की रचना (या प्रदर्शन) न करें जब तक सभी (क्रमशः) अपना प्रदर्शन (पूरा) नहीं करतीं। इसके पश्चात् वे 'पर्यस्तक' को प्रदर्शित करना प्रारंभ कर दें और 'पिण्डीबन्ध' के (प्रयोग के) पूर्ण हो जाने के उपरान्त ये नर्तकियाँ भी मंच से निष्क्रमण करें ॥ २८०–२८२ ॥

पिण्डीबन्धेषु वाद्यं तु कर्तव्यमिह वादकैः ।
पर्यस्तकप्रमाणेन चित्रौघकरणान्वितम् ॥ २८३ ॥

तत्रोपवहनं[3] भूयः कार्यं पूर्ववदेव हि ।
ततश्चासारितं भूयो गायनं तु प्रयोजयेत् ॥ २८४ ॥

पूर्वेणैव विधानेन प्रविशेच्चापि नर्तकी ।
गीतकार्थं[4] स्वभिनयेद् द्वितीयासारितस्य तु ॥ २८५ ॥
तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत् ।

इन पिण्डीबन्धों के मंच पर प्रदर्शन के अवसर पर वादकों द्वारा वाद्यों का ऐसा वादन किया जाए जो अनेक या विचित्र ओघ तथा करणों से युक्त हो और जो 'पर्यस्तक' के समय प्रयुक्त वाद्य वादन जैसा (स्वरूपवाला) रहता हो।

तब पुनः पूर्ववत् 'उपोहन' का प्रयोग किया जाए और पुनः 'आसारित'

---

१ ता —ग० । २ पयस्तत —ग०
३ अथोपवहन—ग० । ४ गीतकार्थप्रयोगश्च—ग०, गीतकार्थं प्रयोजयेत्—घ० ।

का भी (प्रयोग हो) । एक 'गीत' की भी पुनः योजना की जाए और एक नर्तकी पूर्ववत् मच पर प्रविष्ट हो और वह उस गाए जाने वाले गीत की विषय वस्तु को—जो द्वितीय आसारित प्रयोग के अवसर पर गायी गयी थी—उपर्युक्त नृत्य (की मुद्राओं) के (प्रदर्शन) द्वारा अभिनीत करे ।

आसारिते[1] समासे तु निष्क्रामेन्नर्तकी ततः ॥ २८६ ॥
पूर्ववत्प्रविशन्त्यन्याः[2] प्रयोगः स्यात्स एव हि ।
एवं पदे पदे कार्यो विधिरासारितस्य तु ॥ २८७ ॥
भाण्डवाद्यकृते[3] चैव तथा गानकृतेऽपि[4] च ।
[5]एका तु प्रथमं योज्या द्वे द्वितीयं तथैव च ॥ २८८ ॥
तिस्रो वस्तु तृतीयं तु चतस्रस्तु चतुर्थकम् ।

इस प्रकार 'आसारित' विधि को पूर्ण कर वह नर्तकी मच से चली जाए ।

तब पूर्ववत् अन्यनर्तकियाँ मच पर प्रविष्ट हों और इसी प्रकार यही 'नृत्त प्रयोग' पुनः प्रदर्शित करें ।

इस प्रकार प्रत्येक पद-गति पर 'आसारित' प्रयोग की विधि का अनुसरण किया जाए । (भाण्ड) वाद्य के वादक तथा गीत के गायक भी इसी का अनुसरण करें । पहिले गीत का एक पाद एक बार गाया जाए । दूसरा पाद (पदवस्तु) दो बार, तीसरा तीन बार तथा चौथा चार बार गाया जाए ॥ २८६–२८८ ॥

पिण्डीनां विधयश्चैव चत्वारः सम्प्रकीर्तिताः ॥ २८९ ॥
पिण्डी शृङ्खलिकाचैव[6] लताबन्धोऽथ भेद्यकः ।

'पिण्डी' के चार प्रकार होते हैं—यथा—पिण्डी, शृङ्खलिका, लताबन्ध तथा भेद्यक ॥ २८९ ॥

---

१ आसारितसमाप्तौ च—घ० । २. प्रविशेच्चान्या.—ग० ।
३ वाद्यकृतश्चैव—ग० । ४. गानकृतोऽपि च—ग० ।
५ एकान्तु प्रथमं कुर्याद् द्वे द्वितीयन्तु वस्तुकम्—ग० ।
६ शृखलिता—ग० ।

पिण्डीबन्धस्तु पिण्डत्वाद्गुल्मः शृङ्खलिका भवेत् ॥ २९० ॥
[1]जालोपनद्धा च लता सनृत्तो भेद्यकः स्मृतः ।

इसका 'पिण्डी' या पिण्डीबन्ध' नाम (इसके) पिण्डीभूत होने के कारण (अर्थानुसारी रखा गया) है। गुल्म (गुच्छा समूह) होने से, 'शृंखलिका' परस्पर जाल जैसा गूँथा होने से 'लताबन्ध' तथा 'भेद्यक' नृत्त से युक्त वह प्रकार है जिसमें सभी नर्तकियाँ एक दूसरे से पृथक् हो जाएँ।

पिण्डीबन्धः कनिष्ठे तु शृङ्खला तु लयान्तरे ॥ २९१ ॥
मध्यमे च लताबन्धो ज्येष्ठे चैवाथ भेद्यकः ।

पिण्डीबन्ध का प्रयोग कनिष्ठ (प्रथम या छोटे) आसारित में, शृङ्खला का प्रयोग लय के मध्य में, लताबन्ध का प्रयोग मध्य स्थिति या मध्यम आसारित में और 'भेद्यक' का प्रयोग ज्येष्ठ आसारित में किया जाए ॥२९१॥

पिण्डीनां द्विविधा योनिर्यन्त्रं[2] भद्रासनं तथा ॥ २९२ ॥
शिक्षायोगस्तथा[3] चैव प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः[4] ।
एवं प्रयोगः कर्तव्यो वर्धमाने तपोधनाः ॥ २९३ ॥

'पिण्डी' का मूल उद्भव दो प्रकार से है—एक यन्त्र तथा दूसरा भद्रासन। इनकी (प्रयोक्तागण द्वारा) विधिवत् शिक्षा ली जानी चाहिए और तब (इनका) प्रयोग करना चाहिए।

हे मुनियों, 'वर्धमानक' का भी प्रयोक्ताजन इसी प्रकार (शिक्षण लेकर प्रयोग) करें ॥ २९२–२९३ ॥

छन्दक गीत-विधि तथा लक्षण—

गीतानां छन्दकानाञ्च भूयो वक्ष्याम्यहं विधिम् ।
यानि वस्तुनिबद्धानि यानि चाङ्गकृतानि तु ॥ २९४ ॥

गीतानि तेषां वक्ष्यामि प्रयोगं नृत्यवाद्ययोः[5] ।
तत्रावतरणं कार्यं नर्तक्याः सार्वभाण्डिकम् ॥ २९५ ॥

---

१. तालोपनद्धा—ग० । २. यन्त्र—ग० ।
३. शिक्षा कार्यास्तथा—ग० । ४. प्रयोक्तृभि—ग० । ५. नृत्त—ग० ।

क्षेपप्रतिक्षेपकृतं[1] भाण्डोपोहनसंस्कृतम्[2]।
प्रथमं त्वभिनेयं स्याद् गीतके सर्ववस्तुकम्[3] ॥ २९६ ॥
नदेय च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत्।

अब मैं पुनः गीत तथा छन्दकों की लक्षण विधियाँ कहता हूँ। इस विधि में जो गीत विषय वस्तु से ठीक प्रकार से आबद्ध है और जो अगों से भी आबद्ध हैं (अब) उनका नृत्त तथा वाद्यों के साथ होने वाला प्रयोग बतलाता हूँ। (इन) गीत के प्रयोग के समय नर्तकी का प्रवेश करवाना चाहिये और (तब) सभी वाद्यों (भाण्ड आदि अवनद्ध वाद्यो) का वादन हो और (सभी) तन्तुवाद्य क्षेप तथा प्रति-क्षेप से युक्त रखते हुए बजाए जाएँ। सर्वप्रथम गीत की समग्र विषयवस्तु को मुद्राओं द्वारा अभिनीत किया जाए और फिर वही (गीत की) विषय विषय वस्तु नृत्त के माध्यम द्वारा प्रदर्शित की जाए।

यो विधि पूर्वमुक्तस्तु [4]नृत्ताभिनयवादिते ॥ २९७ ॥
आसारितविधौ स स्याद् गीतानां वस्तुकेष्वपि।
[5]एवं वस्तुनिबद्धानां गीतकानां विधिः स्मृतः ॥ २९८ ॥

नृत्त, अभिनय, संगीत तथा वाद्य वादन की जो विधि पहिले बतलाई गई है वही आसारित विधि गीतों तथा विषयवस्तु के प्रयोग में भी लागू होगी। इस प्रकार मैंने विषय वस्तु से निबद्ध गीतों की विधि का निरूपण किया।

शृणुताङ्गनिबद्धानां गीतानामपि लक्षणम्।
य एव [6]वास्तुकविधिर्नृत्ताभिनयवादिते ॥ २९९ ॥
[7]तमेवाङ्गनिबद्धेषु च्छन्दकेष्वपि योजयेत्।

अब अंगों में ग्रथित गीत का विधान सुनिये। जो (लक्षण या) विधियाँ (नियम) विषय वस्तु के साथ नृत्त, अभिनय तथा वादन में प्रयुक्त हुई उन्हें ही अगों में निबद्ध च्छन्दकों में भी संयोजित करना चाहिए।

---

१ छेदप्रति—ग०। २ तन्त्रीगानसमन्वितम्—ख०।
३ सर्ववस्तु तत्—घ०। ४ वृत्ताभिनय—ग०। ५ एष—ग०।
६ वस्तुषु विधि —ख०।
७ स एव सर्व कर्तव्य छन्दकेषु प्रयोक्तृभि —ग०।

वाद्यं गुर्वक्षरकृतं तथाल्पाक्षरमेव च ॥ ३०० ॥

मुखे[1] सोपोहनं कुर्याद् वर्णाना विप्रकर्षतः[2] ।

मुख तथा उपोहन (क्रिया) में 'वाद्यवादन' गुरु तथा लघु अक्षरों के भेद को पृथक् निर्दशित करने वाला रहे । जिससे वर्णों का व्यवधान स्पष्ट परिलक्षित हो । (अथवा जैसे वर्णों के व्यवधान द्वारा अल्प तथा गुरु अक्षरों के भेद स्पष्ट दिखाई दें इस प्रकार वाद्यवादन किया जाए) ।

यदा गीतिवशादङ्ग[3] भूयो भूयो निवर्तते ॥ ३०१ ॥

तत्राद्यमभिनेयं स्याच्छेषं नृत्तेन योजयेत् ।

जब गीत के प्रयोग के कारण उसके कुछ अगों की बार-बार आवृत्ति हो तो उसके प्रथम (अभिहित) भाग को मुद्राओं के द्वारा अभिनीत करे और शेष भाग को नृत्त के माध्यम द्वारा (अनुदर्शित या) प्रदर्शित करे ।

[4]यदा गीतिवशादङ्गं भूयो भूयो निवर्तते ॥ ३०२ ॥

त्रिपाणिलयसंयुक्तं तत्र वाद्यं प्रयोजयेत् ।

यथा लयस्तथा वाद्यं कर्तव्यमिह[5] वादकैः ॥ ३०३ ॥

और जब गीत के प्रयोग के समय कुछ अगों की आवृत्ति हो तो उसकी वाद्य सगीत के द्वारा भी सगत की जाए—जो कि तीन प्रकार के पाणि (सम, अर्ध तथा उपरिपाणि) तथा त्रिविधलय (द्रुत, मध्य तथा विलम्बित) की विधियों के अनुसार संयोजित हो तथा वादकों के द्वारा वाद्यों को लयानुसारी रखना चाहिए ॥ ३०२–३०३ ॥

तत्त्वश्चानुगतश्चापि ओघश्च करणान्वितम् ।

स्थिरे तत्त्वं प्रयोक्तव्यं मध्ये चानुगतं भवेत् ॥ ३०४ ॥

भूयश्चौघः[6] प्रयोक्तव्यस्त्वेष वाद्यगतो विधिः ।

छन्दोगीतकमासाद्य त्वङ्गानि परिवर्तयेत् ॥ ३०५ ॥

---

१ मुखे सोपोहने—ग० । २ विप्रकर्षक —ग० ।
३ गीतवशा—ग० । ४ एतत्पद्यार्धं ग०—पुस्तकेऽधिकम् ।
५ कर्तव्यन्त्वङ्गसंश्रयम्—ख० । ६ द्रुते चौघ —ग० ।

एष कार्यो विधिर्नित्यं[1] नृत्ताभिनयवादिते।
यानि वस्तुनिबद्धानि तेषामन्ते ग्रहो भवेत् ॥ ३०६ ॥

अङ्गानान्तु परावृत्तावादावेव ग्रहो मतः।
एवमेष विधिः कार्यो गीतेष्वासारितेष्वपि ॥ ३०७ ॥

(वाद्यसगीत में) तत्त्व, अनुगत तथा ओघ करणों से युक्त रखे जाते हैं। इनमें तत्त्व का प्रयोग विलम्बित (स्थिर) लय में, अनुगत का मध्यलय में तथा ओघ का द्रुतलय में करना चाहिए। यहाँ यही वाद्यों का नियम है जिसे प्रयुक्त करना चाहिए। जब गीत के (विभिन्न) अंग छन्दक की अवस्था में हो तो उनको कई बार दुहराया जाय। यह आवर्तन का नियम नृत्त, अभिनय तथा वादन में समान रूप से रहता है। यदि गीत एक (ही) वस्तु (पद्य) में निबद्ध हो तो उनके अन्त में ग्रह (वाद्यों का (विशिष्ट) वादन) का सयोजन (आवश्यक रूप में) रखा जाए; परन्तु अगों की (बडे गीतो के अवयवों की) आवृत्ति क होने की स्थिति में यह ग्रह उनकी आवृत्ति के प्रारंभिक भाग में ही रहना चाहिए। और इसी प्रकार यही नियम आसारित गीतों में भी प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ३०४–३०७ ॥

सुकुमार नृत्त स्वरूप एव विधि—

देवस्तुत्याश्रयं ह्येतत् सुकुमारं निबोधत।
स्त्रीपुंसयोस्तु संलापो यस्तु कामसमुद्भवः।
तज्ज्ञेयं सुकुमारं[2] हि शृङ्गाररससम्भवम् ॥ ३०८ ॥

अब देवताओं की वन्दना से सम्बद्ध 'सुकुमार' नृत्त को बतलाता हूँ। सुकुमार नृत्त शृङ्गार रस से युक्त होता है, उसमें स्त्रियों तथा पुरुषों (नायक तथा नायिका) के प्रणयाभिभूत अवस्था वाले ऐसे कथोपकथन रहते हैं जो कि स्मर-प्रेरित दशा में उद्भूत होते हों ॥ ३०८ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां नृत्तं योज्यं प्रयोक्तृभिः।
तत्सर्वं[3] सम्प्रवक्ष्यामि तच्च मे शृणुत द्विजाः ॥ ३०९ ॥

१. नृत्यनृत्ताभिनय–ग०। २. स्वकृतारम्भि–ग०। ३. सर्वगीतकसम्बद्ध–ग०।

हे मुनियों, अब मैं आपको उन अवसर तथा स्थितियों को बतलाता हूँ जहाँ (प्रयोक्ता गण द्वारा) की गीत के साथ योजना की जाती है।

नृत्त के अवसर—

अङ्गवस्तुनिवृत्तौ तु तथा वर्णनिवृत्तिषु।
तथा चाभ्युदयस्थाने नृत्तं तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥ ३१० ॥

नाट्यवेत्ताजन जब गीत की या वर्णों[1] की विषय वस्तु के अंगों में अत्यन्त समीपतर स्थिति हो या किसी पात्र के अभ्युदय का (रूपकों की कथावस्तु में) अवसर हो तो (इन अवसरों पर) 'नृत्त' की योजना की जाए ॥३१०॥

यत्तु सन्दृश्यते किञ्चिद्दम्पत्योर्मदनाश्रयम्।
नृत्तं तत्र[1] प्रयोक्तव्यं प्रहर्षार्थं[2]गुणोद्भवम् ॥ ३११ ॥

तथा जहाँ नायक–नायिका (दम्पति) का प्रणयाश्रित सामीप्य हो तो उनके अतिशय हर्ष (आनन्द) को प्रस्तुत करने के लिये (या उनके आनन्दार्थ) 'नृत्त' की योजना की जाए ॥ ३११ ॥

यत्र सन्निहिते दृश्ये ऋतुकालादिदर्शनम्।
गीतकार्थाभिसम्बद्धं नृत्तं तत्रापि चेष्यते ॥ ३१२ ॥

रूपक के उस दृश्य में जहाँ नायक नायिका के समीप हो, मन भावन ऋतु या अनुकूल समय दिखाई दे (जो कि आह्लादप्रद हो) तब गीत के अर्थ के प्रदर्शक (या अर्थ से सम्बद्ध) 'नृत्त' की योजना करना चाहिये ॥ ३१२ ॥

नृत्तों के निषिद्ध प्रदेश—

खण्डिता विप्रलब्धा वा कलहान्तरितापि वा।
यस्मिन्नङ्गे तु युवतिर्न नृत्तं तत्र योजयेत् ॥ ३१३ ॥

जिस अंग में (रूपक के विभाग या प्रदेश में जहाँ खण्डिता,[2]

---

१. वर्ण तथा गीत का स्वरूप नाट्यशास्त्र के २९ वें अध्याय में (२९–३२) दिया गया है।

२. खण्डिता आदि नायिकाओं का निरूपण नाट्यशास्त्र के २४ वें अध्याय में है।

---

१. यत्र—ग०। २. पुरुषार्थं—ग०।

विप्रलब्धा या कलहान्तरिता नायिका, नायक से नियुक्त हो गई हो तब 'नृत्त' की योजना नहीं करनी चाहिए ॥ ३१३ ॥

[1]सखीप्रवृत्ते संलापे तथासन्निहिते प्रिये।
नहि नृत्तं प्रयोक्तव्यं यस्या वा प्रोषितः प्रियः ॥ ३१४ ॥

यदि दो सखियों का संवाद चल रहा हो, नायिका के समीप प्रियतम न हो या प्रोषित हो तो 'नृत्त' की योजना नहीं की जानी चाहिए ॥ ३१४ ॥

दूत्याश्रयं यदा तु स्याद् ऋतुकालादिदर्शनम्।
औत्सुक्यचिन्तासम्बद्धं न[2] नृत्तं तत्र योजयेत् ॥ ३१५ ॥

यदि दूती के द्वारा ऋतु या समय का वर्णन किया जा रहा हो और औत्सुक्य या चिन्ता युक्त अवस्था का (इन वर्णनों से) अनुभव किया जा रहा हो तो 'नृत्त' की योजना नहीं करनी चाहिए ॥ ३१५ ॥

नृत्त की योजना के (उपयुक्त) अवसर एवं प्रदेश—

यस्मिन्नङ्गे प्रसादं[3] तु गृह्णीयान्नायिका क्रमात्।
ततः प्रभृति नृत्तं तु शेषेष्वङ्गेषु योजयेत् ॥ ३१६ ॥

किन्तु रूपक के किसी विभाग (कथा वस्तु के विभाग से तात्पर्य है) में नायिका को हर्ष की उपलब्धि हो तो (उस प्रसंग में) 'नृत्त' की योजना की जाए जो कि उस स्थिति की पूर्णता तक प्रदर्शित होता रहे ॥ ३१६ ॥

देवस्तुत्याश्रयकृतं यदङ्गं तु भवेदथ[4]।
महेश्वरैरङ्गहारैरुद्धतैस्तत्प्रयोजयेत् ॥ ३१७ ॥

यदि रूपक का कोई विभाग देवताओं की प्रार्थना से संबद्ध हो तो वहाँ महेश्वर द्वारा निदर्शित उद्धत या आवेगपूर्ण अंगहारों से युक्त 'नृत्त' का संयोजन किया जाए ॥ ३१७ ॥

---

१ सम्प्रवृत्तेऽथ—ग० । २ नृत्त तत्र प्रयोजयेत्—ग० ।
३. प्रयोग—क० । ४. भवेदिह—ग० ।

इस प्रकार महेश्वर शिव के द्वारा निर्मित इस 'ताण्डव' का जो प्रयोग करता है वह सभी पापों से रहित (शुद्ध) हो शिव लोक प्राप्त करता है।

एवमेष विधिः सृष्टस्ताण्डवस्य प्रयोगतः।
भूयः किं कथ्यतामन्य[1]न्नाट्यवेदविधिं प्रति ॥ ३२६ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे ताण्डवलक्षणं नाम चतुर्थोऽध्यायः।



'ताण्डव' की यही प्रयोग विधि है जो भगवान शिव के द्वारा निर्मित हुआ है। हे मुनियों, अब आपको नाट्यवेद के और किन प्रकारों को बतलाऊँ ॥ ३२८ ॥

भरतनाट्यशास्त्र की प्रदीप-व्याख्या का 'ताण्डव लक्षण' नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त।



१. कथ्यतां विप्रा —ग०।

पञ्चमोऽध्यायः

पूर्वरंग विधान

(भरत से) मुनि जन का पूर्वरंग के विषय में प्रश्न—

भरतस्य वचः श्रुत्वा नाट्यसन्तानकारणम् ।
पुनरेवाब्रुवन्वाक्यमृषयो हृष्टमानसाः ॥ १ ॥
यथा नाट्यस्य जन्मेदं[1] जर्जरस्य च सम्भव ।
विघ्नानां शमनं चैव देवतानां च पूजनम् ॥ २ ॥
तदस्माभिः[2] श्रुतं सर्वं गृहीत्वा चावधारितम् ।
निखिलेन यथातत्त्वमिच्छामो वेदितुं पुनः ॥ ३ ॥
पूर्वरङ्गं महातेजः[3] सर्वलक्षणसंयुतम् ।
यथा बुद्ध्यामहे ब्रह्मंस्तथा व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

नाट्य विषयक वर्णन को जारी रखने वाले आचार्य भरत से पुनः प्रसन्नमन ऋषि (गण) बोले—हे मुनि, हमने आप से नाट्य का उद्भव, जर्जर की उत्पत्ति, नाट्य-विघ्नों का शमन तथा देवताओं की (रंगमंच पर होने वाली) पूजा का विधान सुना तथा समझा। अब हम पूर्वरंग का उसके समस्त भेद-प्रभेद तथा लक्षणों से युक्त स्वरूप जानना चाहते हैं। कृपया अब आप हमें सुगमतापूर्वक उसे इस प्रकार समझाएँ जिससे हमें उसका ज्ञान हो जाए ॥ १-४ ॥

मुनि का प्रत्युत्तर—

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनि ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं[4] पूर्वरङ्गविधिं प्रति ॥ ५ ॥

---

१ वै जन्म—घ० । २. त्वत्त श्रुत गृहीतश्च—ग० ।
३ महातेजा —क० । ४. ततो वाक्य—क० ।

पूर्वरङ्गं महाभागा गदतो मे निबोधत।
पादभागाः कलाश्चैव परिवर्तास्तथैव च ॥ ६ ॥

मुनियों के वचन सुन भरत-मुनि 'पूर्वरंग विधान' के विषय में बोले— हे महाभाग, मैं आपको पूर्वरंग तथा उससे सम्बद्ध पादभाग[1] कलाएँ[2] तथा पादपरिवर्तों[3] (पैरों का गोल चक्कर में गतिशील रखना) को भी बतलाता हूं। आप इन सभी को अब सुनिये ॥ ५–६ ॥

पूर्वरंग—लक्षण—

यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः ॥ ७ ॥

---

१ पादभाग मात्राओं के संयोग से निर्मित होता है। संगीतरत्नाकर ने चित्र, वार्तिक, दक्षिण तथा ध्रुव मार्ग में क्रमश एक, दो, चार तथा आठ मात्राओं से एक पादभाग का निर्माण बतलाया है। (द्र० स० रत्ना० ताला०) पदभाग का विशेष विवरण ना० शा० अध्या० ३१–३०८, ३०९ पर भी द्रष्टव्य।

२ कला—पाँच निमेष के बराबर समय 'कला' कहलाता है। (एक निमेष के बराबर समय को नाट्यप्रयोग में 'कला' नहीं माना जाता, वह केवल ज्योतिष आदि शास्त्रों में मान्य है) कला का लक्षण ना० शा० अ० ३१।४, ५ पर द्रष्टव्य। अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि यहाँ कला शब्द से निष्कामादि सात भेदों वाले 'ताल' को कला समझना चाहिए। अर्थात् ताल का मात्राकाल 'कला' है। गीत, वाद्य, एवं नृत्य को लघु, गुरु, प्लुत से युक्त सशब्द एवं निश्शब्द क्रिया द्वारा परिमित करने वाला समय 'ताल' कहलाता है। इसे ही 'कला' कहते हैं। ('अत्र कलाशब्देन सप्तविधा तालकला निष्कामादिरुच्यते। तया समस्तो मानात्मकस्तालमार्गो गृहीत'। (अ० भा० Vol I पृ० २०९)

३ परिवर्त—पादभाग आदि से युक्त ताल की आवृत्ति या उसका बार-बार दुहराते हुए प्रयोग करना 'परिवर्त' कहलाता है। (परिवर्त का लक्षण इसी अध्याय में ५।२३, २४ तथा ६५–८६ पर भी देखिये।)

---

१ रङ्गप्रयोगोऽयं—ग०।

क्योंकि यह रंगमंच (रंग) पर नाट्य प्रयोग के समय सर्वप्रथम किया जाता है अतएव इसे पूर्वरंग कहते हैं ॥ ७ ॥

पूर्वरंग[1] के विभाग (अंग)—

अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूर्वशः ।
तन्त्रीभाण्डसमायोगे पाठ्ययोगकृतैस्तथा ॥ ८ ॥
प्रत्याहारोऽवतरणं तथा ह्यारम्भ एव च ।
आश्रावणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघट्टना ॥ ९ ॥
सङ्घोटना ततः कार्या मार्गासारितमेव च ।
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तथैवासारितानि च ॥ १० ॥
एतानि तु बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः ।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च ॥ ११ ॥

विधिवत् प्रयुक्त किये जाने वाले पूर्वरंग के अंग वीणा (तन्त्री)

---

१ पूर्वरंग शब्द की व्युत्पत्ति को पूर्वो रंगे इति पूर्वरंग ऐसा या तो सुप्सुपा समास करना चाहिए या राजदन्तादिवत् परनिपात । नाट्य प्रयोग के पूर्व ही उसके सफलतापूर्वक पूर्ण होने के लिये किये जाने वाले सम्पूर्णकार्य कलाप पूर्वरंग में समाविष्ट है । जैसे तन्तु तुरी वेमा के बिना पट का निर्माण नहीं होता वैसे ही प्रत्याहारादि अंगो के पूर्ण प्रयोग से गायन आदि सम्पूर्ण साधन जुटने पर नाट्यप्रयोग सफल हो सकता है । इसलिए पूर्वरंग का अर्थ है—प्रयोग के पूर्व होने वाले आवश्यक कार्य । श्री हर्ष के मत में रंग शब्द का अर्थ तौर्यत्रिक है और नाट्यांग प्रयोग का वही पूर्व अंग होने से पूर्वश्चासौ रंग ऐसा समास उचित है । पर अभिनवगुप्ताचार्य ने इस व्याख्या पर आपत्ति करते हुए कहा कि यह कोई मंडप के एक देश जैसा भाग नहीं किन्तु धूप आदि के लगाने से देवतातुष्टि के समान लौकिक अलौकिक फलशाली कार्य होने से यहां पूर्वो रंगे इति पूर्वरङ्ग इस प्रकार के व्याख्यान का ही औचित्य है । (अभि० भा०)

१ मार्गासारित—ग० ।
२ ज्येष्ठ मध्यक निष्ठा च तथैवासारितक्रिया —ग० ।

भाण्ड (मृदंग) तथा संवाद (पाठ्य) के साथ क्रमशः प्रयुक्त किये जाने चाहिए। वे अंग हैं—प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रावणा वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना, मार्गासारित तथा ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ आसारित। ये 'बहिर्गीत' यवनिका के पीछे स्थित पुरुषों के द्वारा (नाट्य प्रयोग के अवसर पर) वीणा तथा भाण्डवाद्य की संगत के साथ प्रस्तुत किये जाएँ ॥ ८-११ ॥

ततः[1] सर्वैस्तु कुतुपैः संयुक्तानीह कारयेत्।
विघट्य[2] वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥ १२ ॥

गीतानां[3] मद्रकादीनामेकं योज्यं तु गीतकम्।
वर्द्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते ॥ १३ ॥

ततश्चोत्थापनं कार्यं परिवर्तनमेव[4] च।
नान्दी शुष्कावकृष्टा[5] च रङ्गद्वारं तथैव च ॥ १४ ॥

चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च।
त्रिकं[6] प्ररोचना चापि पूर्वरङ्गे भवन्ति हि ॥ १५ ॥

फिर 'यवनिका' को हटा कर नृत्त तथा पाठ्य (संवादों) का संयुक्त प्रयोग वाद्यों के वादन के साथ किया जाए 'मद्रक'[2] (लक्षण के) गीतों में से एक गीत का या जब 'ताण्डव' की योजना की जाए तो 'वर्धमानक'

---

१. बहिर्गीत—नाट्यप्रयोग में यवनिका को हटाने के बाद जिनके गायक दृश्य न हों वे गीत अथवा नाट्यवस्तु के अन्तर्गत न आनेवाले 'गीत' 'बहिर्गीत' कहलाते हैं।

२. मद्रक तथा वर्धमानक के लक्षण ना० शा० अध्याय २९ तथा ३१ में देखिये। मद्रक—(एक) गीत विशेष। वर्धमानक—वह गीत जो नृत्य के साथ गाया जाता है।

---

१ ततश्च सर्वकुतपैर्युक्तान्यन्यानि कारयेत्—ग०, घ०।
२. विपाट्य—ग०। ३ मुद्रका—ग०।
४. परिवर्तक—ग०। ५ शुष्कापकृष्टा—ग०।
६ त्रिगत प्ररोचना—क०।

(जाति के) गीतों में एक गीत का संयोजन किया जाए और फिर क्रमशः (पूर्वरंग में) उत्थापन[1], परिवर्तन, नान्दी, शुष्कापकृष्टा, रंगद्वार, चारी, महाचारी, त्रिक तथा प्ररोचना का प्रयोग किया जाए ॥ १२–१५ ॥

> एतान्यङ्गानि कार्याणि पूर्वरङ्गविधौ द्विजाः[1]।
> एतेषां[2] लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ १६ ॥

'पूर्वरंग' में इन अंगों का अवश्य प्रयोग करना चाहिए। अब मैं क्रमशः इनके लक्षण बतलाता हूँ ॥ १६ ॥

> कुतपस्य च विन्यासः प्रत्याहार इति स्मृतः।

प्रत्याहार[2]—वाद्य यन्त्रों का उचित या निर्धारित स्थान पर व्यवस्थित स्थापन 'प्रत्याहार' कहलाता है।

> तथावतरणं प्रोक्तं गायकानां निवेशनम् ॥ १७ ॥

---

१ उत्थापन आदि के स्वरूप इसी अध्याय में बतलाये हैं (द्र० ना० शा० ५।२२–२७)।

२ प्रत्याहार—वाद्ययन्त्रों की उचित स्थान पर योजना (व्यवस्था) करना। अभिनवगुप्तपादाचार्य के अनुसार गायक वादकों को अपने वाद्यों के साथ बिठाने की व्यवस्था करवाना, उनको उचित या निर्धारित स्थान पर आसीन करवाना। इसका क्रम यह है कि नेपथ्यगृह के द्वार पर पूर्व की ओर मुँह करके मृदङ्गवादक (मार्दङ्गिक), उसकी बायीं ओर दो पणव (ढोल जैसे वाद्य के) वादक, रंगपीठ के दाहिनी ओर उत्तर की ओर मुँह किये हुए गायक तथा इसी के आगे दक्षिण की ओर मुँह किये हुए गायिकाएँ बैठती हैं। गायकों के बायीं ओर बाँसुरी वादक (वैणिक) बैठता है। इस प्रकार वाद्यवादकों का निर्धारित स्थान ग्रहण करना 'प्रत्याहार' है। 'प्रत्याहार' तथा 'अवतरण' में विभेद यह है कि प्रत्याहार में केवल वाद्यवादक स्थान ग्रहण करते हैं तथा 'अवतरण' में गायक और गायिकाएँ अपना निर्धारित स्थान ग्रहण करते हैं। कुछ आचार्यों के मत में उपवेशन का अर्थ बैठना न मानकर स्थान और स्वरों का परिग्रह (संयोग या मेल मिलाप) ही 'अवतरण' है।

---

१. पूर्वरङ्गे द्विजोत्तमा—क०। २ तेषान्तु—क०।

अवतरण—गायक तथा गायिकाओं को अपने निर्धारित स्थान पर बैठाना 'अवतरण' कहलाता है ॥ १७ ॥

परिगीतक्रियारम्भः आरम्भ इति कीर्तितः ।

आरम्भ[1]—गान क्रिया (के) हेतु कण्ठ द्वारा (आलाप आदि का) आरम्भ करना 'आरम्भ' कहलाता है ।

आतोद्यरञ्जनार्थस्तु भवेदाश्रावणाविधिः ॥ १८ ॥

आश्रावणा[2]—वादन के पूर्व वाद्यों की (वादन हेतु उचित) व्यवस्थापूर्वक (स्थिति के अनुसार) एकरूपता लाना 'आश्रावण' कहलाता है ॥ १८ ॥

वाद्यवृत्तिविभागार्थं वक्त्रपाणिर्विधीयते ॥ १८ ॥

वक्त्रपाणि[3]—वाद्यों का विभिन्न वृत्तियों (या स्थितियों) का वादन

---

१. आरम्भ—परिगीत प्रक्रिया अर्थात् आलाप का आरम्भ करना। अभिनव का कथन है कि बिना आलाप के निसाम आदि वाद्यों का प्रयोग कैसे सम्भव होगा इस आशंका का उत्तर यह है कि यहां विभिन्न अंगों का जो विवेचन है उसे क्रमिक न माना जाय। ये अंग दृष्टान्त के लिये ही दिये गये हैं। अतएव पहिले रञ्जकवर्ग (अर्थात् स्वरों) को आलाप रूप में प्रस्तुत करने के बाद ही उपरञ्जक (गीत) की प्रधानता होती है। अतएव स्वरों का और गीत में बिम्ब भाव होता है। इसी का अनुसन्धान करना (अर्थात् स्वरों का निश्चित क्रम में आलाप) आरम्भ है। आलाप में कण्ठ स्वरों का प्रयोग होता है।

२. आश्रावणा—आलाप के साथ वाद्ययन्त्रों के स्वरों को एकरूपता लाना अर्थात् आलाप की वाद्यों से संगत 'आश्रावणा' है। अभिनवगुप्ताचार्य ने वाद्यमन्त्रों की ध्वनियों में ताल-लय के विषय या सम्बन्ध में मान (प्रमाण, कालमान) की दृष्टि से अवलोकन करना या सामञ्जस्य स्थापित करना आश्रावणा माना है। आशय यह है कि गान के आलापस्वरों की संगत करते हुए वाद्ययन्त्रों की ध्वनियों की परीक्षा करना कि वे गाये जाने वाले गीत के अनुसार उचित स्थान पर मिल कर संगत कर रहे हैं या नहीं ? ऐसा करने से (कण्ठ तथा वाद्यों के) स्वरों में सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

३. वक्त्रपाणि—वक्त्र का अर्थ है आरम्भ तथा पाणि का अर्थ है हाथ की अंगुलियां। अर्थात् जिसमें हाथ की उंगलियों का वाद्यों के वादनार्थ संचालन

की दशा में ध्यान से पुनः (विभाग ज्ञान हेतु) सुनना 'वक्त्रपाणि' कहलाता है।

तन्त्योज.[1] करणार्थं तु भवेच्च परिघट्टना ॥ १९ ॥

[1]परिघट्टना—वीणा आदि तन्तुवाद्यों का वादन हेतु आस्फालन (या सारणा) 'परिघट्टना' कहलाता है ॥ १९ ॥

तथा पाणिविभागार्थं भवेत् संघोटनाविधिः।

[2]संघोटना—हाथों से वाद्यों (तालवाद्यों अवनद्ध वाद्यों या भाण्डादि) पर प्रहार कर उन्हें फिर से (ठीक करने पर) सुनना 'संघोटना' कहलाता है।

तन्त्रीभाण्डसमायोगान्मार्गासारितमिष्यते ॥ २० ॥

होता है वह 'वक्त्रपाणि'। अभिनव के अनुसार मुखज श्वास से बजने वाले वेणु आदि (सुषिर) वाद्यो से सगत करते हुए उनके स्वरूप का अनुसन्धान कर दक्षिण आदि वृत्तियो के विभाग को ध्यान से सुनना या उनका अन्वेषण कर परीक्षा करना 'वक्त्रपाणि' है।

१ परिघट्टना—तन्त्रीवाद्य की ज्या के घट्टन या वर्णन के द्वारा वृत्तियो के विभागों मे शुष्क अक्षर प्रयोग (गत या धुन) का अन्वेषण या सारणा करना 'परिघट्टना' है। अर्थात् स्वरो का वह प्रयोग जो अर्थहीन या शुष्काक्षर प्रयोग है या शुद्धस्वरमूलक प्रयोग करना भी 'शुष्काक्षर' कहलाता है। तन्त्री को स्वर मे बजाने के लिये उँगलियो का घटन या चालन आवश्यक है तथा उसे गतिशाली (ओजपूर्ण) बनाने के लिये इस चालन क्रिया को और तीव्र कर देना 'परिघट्टना' है।

२ संघोटना—वीणा वाद्य मे अवनद्ध जैसे तालात्मक अन्य वाद्यो के साथ सगत बैठाने या उस पर निर्भर होने के लिये सवादी स्वरो के अनुसधान आदि के द्वारा पचप्रहारो का योग करते हुए सुनना। (पचप्रहारो आदि के प्रयोग का विवरण नाट्यशास्त्र अध्याय २९ तथा ३३ मे द्रष्टव्य)।

---

१ तन्त्रेज कर—ग०। २. मार्गोत्सारित—ग०।

नान्दी पाठ के अवसर पर उसके पादों के मध्य में चित्रपूर्वरंग हो तो 'वर्धमानक' का प्रयोग करना चाहिए जिसका लक्षण बतलाया जा चुका है। कुछ आचार्य गीतक के प्रयोग के पश्चात् शुद्ध तथा चित्र पूर्वरंग में 'वर्धमानक' का प्रयोग करने के पक्ष में है।

[1]शुष्कावकृष्टा ध्रुवा—

अत्र[1] शुष्काक्षरैरेव ह्यवकृष्टा ध्रुवा यतः।
तस्माच्छुष्कावकृष्टेयं जर्जरश्लोकदर्शिका॥ २५॥

जब 'अवकृष्टा' ध्रुवा का अर्थहीन ध्वनि में (अक्षरमात्र के प्रतिध्वनन या कर्पण द्वारा) संयोजन किया जाता है तो इसे 'शुष्कावकृष्टा ध्रुवा' कहते हैं। यह जर्जर श्लोक के अवसर पर प्रस्तुत की जाती है। (अथवा इसका जर्जरश्लोक पाठ के अवसर पर प्रयोग किया जाता है)॥ २५॥

यस्मादभिनयस्त्वत्र प्रथमं ह्यवतार्यते।
रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम्॥ २६॥

[2]रंगद्वार—क्योंकि सर्वप्रथम वाचिक व आंगिक अभिनय की अवतारणा यहीं से (प्रारंभ) होती है, अतएव शब्द तथा अंगों के

---

१. शुष्कावकृष्टध्रुवा का स्वरूप ना० शा० ३२।११३–११५ पर दिया गया है। जब अवकृष्टा ध्रुवा में शुष्काक्षरों अर्थात् अक्षरमात्र या अर्थहीन ध्वनियों की योजना की जाती है तो इससे ताल मात्रा आदि की पूर्ति हो जाती है। इस ध्रुवा में जर्जरश्लोक का निर्देश प्राप्त होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अन्य विद्वानों के मतानुसार एक ही ध्रुवा में शुष्क तथा अवकृष्ट धर्मों के एक साथ गुण आ जाने से इसे 'शुष्कावकृष्टा' होना बतलाया। परन्तु दूसरे आचार्यों के मत से इसमें दोनों धर्मों का अन्तर्भाव होना ही 'शुष्कावकृष्टा' बनना है। कारिका के 'अत्र' तथा 'इय' पद से 'शुष्का' तथा 'अवकृष्टा' के लक्षणों का संकेत किया गया है।

२ रंगद्वार में नाट्यकथावस्तु के अभिनय का प्रारंभ होता है और जिस रूपक का अभिनय इष्ट है उस रूपक के द्वार अर्थात् प्रारंभिक अंग के समान संक्षिप्त रूप में रूपक के प्रयोजन का पाठ्यरूप में अभिनय किया जाता है

---

१ यत्र—ग०।

(वाचिक तथा आंगिक) अभिनय से संयुक्त इस अंग को 'रंगद्वार' कहते हैं ॥ २६ ॥

शृङ्गारस्य प्रचरणाच्चारी सम्परिकीर्तिता ।
रौद्रप्रचरणाच्चापि महाचारीति कीर्तिता ॥ २७ ॥

[1]चारी तथा महाचारी—शृङ्गार रस के भावों को गति द्वारा प्रदर्शित करना 'चारी' तथा रौद्ररस के भावों को गति द्वारा प्रस्तुत करना 'महाचारी' कहलाता है ॥ २७ ॥

विदूषकः सूत्रधारस्तथा वै पारिपार्श्वकः ।
यत्र कुर्वन्ति सञ्जल्पं तच्चापि[1] त्रिगतं मतम्[2] ॥ २८ ॥

[2]त्रिगत—(तीन पात्रों का समापण) जहाँ सूत्रधार, पारिपार्श्विक तथा विदूषक का पारस्परिक 'आलाप' हो वह 'त्रिगत' कहलाता है ॥ २८ ॥

उपक्षेपेण काव्यस्य हेतुयुक्तिसमाश्रया[3] ।
सिद्धेनामन्त्रणा या तु विज्ञेया सा प्ररोचना ॥ २९ ॥

जो आगे प्रस्तुत होने वाले रूपक का द्वार या आरंभ जैसा होने से 'रंगद्वार' कहलाता है (अभि० भा० Vol. I. पृ० २१६)

१ चारी-महाचारी—जिन कोमल अंगहारों तथा चारियों के प्रयोग से भगवती पार्वती के साथ शंकर के शृङ्गारप्रधान चरित्र की अभिव्यक्ति होती हो उसे 'चारी' कहा जाता है। इसमें शृङ्गारात्मक स्तुति की प्रमुखता रहती है। इसी प्रकार त्रिपुरवध से सम्बद्ध रौद्ररसप्रधान चरित्र का जब काव्यात्मक गान होता है और उद्धत अंगहारों के द्वारा उसी की अभिव्यक्ति की जाती है तो उसे 'महाचारी' समझना चाहिए। (अभि० भा०)

२ त्रिगत—तीन पात्रों का पारस्परिक संवाद, जिसमें भविष्य में घटित होने वाले विषयों का संकेत रहता है। ये विषय या सूचना देने की विधियाँ अनेक हो सकती हैं, इसी तथ्य को 'त्रि' शब्द से संकेतित करते हुए तीन पात्रों के अधीन बतलाया गया है। (अभि० भा०)

---

१ तत्रापि—ग०। २ स्मृतम्—ग०। ३ व्युपक्रिया—ख०।

'प्ररोचना—यदि सूत्रधार या नाट्यविशेषज्ञ द्वारा रूपक के कार्यों का हेतु तथा युक्ति की सहायता लेकर सिद्धसदृश कथन किया जाय तो (उसे) 'प्ररोचना' कहते हैं ॥ २९ ॥

बहिर्गीत (लक्षण, उत्पत्ति तथा कारण)—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्याश्रावणविधिक्रियाम् ।
बहिर्गीतविधौ सम्यगुत्पत्तिं कारणं[1] तथा ॥ ३० ॥

अब मैं 'आश्रावण' (विधि) के विषय में बतलाता हूँ जो (कि) 'बहिर्गीतविधि' में होती है, साथ ही मैं इसकी उत्पत्ति तथा कारण भी बतलाता हूँ ॥ ३० ॥

चित्रदक्षिणवृत्ते[2] तु सप्तरूपे प्रकीर्तिता[3] ।
सोपोहने सनिर्गीते देवस्तुत्यभिनन्दिते ॥ ३१ ॥
नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैः सभायां देवदानवाः ।
निर्गीतं श्राविताः सम्यग्लयतालसमन्वितम् ॥ ३२ ॥

जब नारद मुनि आदि वाद्यविशारदों और गन्धर्वों के द्वारा चित्र[2] और दक्षिणमार्ग से युक्त, सप्तरूप समन्वित उपोहन क्रिया और निर्गीत के साथ देवताओं की स्तुतियों से प्रशस्त स्वरूप वाले तथा लय और

---

१. प्ररोचना—अभिनव के अनुसार नाट्यवस्तु के फलरूप में जो सिद्ध करना इष्ट है उसको उद्देश्य के साथ व्यंजित करना 'प्ररोचना' है। यह मुख्यवस्तु को स्थापित करने से सामाजिकों के मन में कौतूहल तथा आकर्षण (प्रीति) को उत्पन्न करती है। प्ररोचना का विवरण ना० शा० ४।१४१–१४२ पर भी द्रष्टव्य।

२. चित्र, दक्षिण तथा वार्तिक ये तीन मार्ग हैं। यहाँ सप्तरूप का आशय है मद्रक आदि सात गीतों का विधान। निर्गीत अर्थात् बहिर्गीत। उपोहन से गीत की प्रवृत्ति होती है तथा वह स्थायी स्वराश्रित बनता है। इस विषय का विस्तार ना० शा० अध्याय ३१ पर पुनः द्रष्टव्य है।

---

१. करण—ग०, घ०। २. चित्तदक्षिणवृत्तौ—ग०, घ०।
३. प्रवर्तिते—ग०, घ०।

ताल के उचित मेल से युक्त उस निर्गीत (गीत की धुन) को देवता और दानवों की सभा में सुनाया गया ॥ ३१–३२ ॥

दैत्य तथा राक्षसों का क्षोभ—

> तच्छ्रुत्वा तु सुखं[1] गानं देवस्तुत्यभिनन्दितम् ।
> अभवन्क्षुभिताः सर्वे मात्सर्याद्दैत्यराक्षसाः ॥ ३३ ॥

तब इस सुखप्रद तथा देवों की स्तुति और अभिनन्दन से युक्त गीत को सुनकर सभी दैत्य तथा राक्षसगण क्षुब्ध हो गए ॥ ३३ ॥

> सम्प्रधार्य च तेऽन्योन्यमित्यचोचन्नवस्थिताः ।
> निर्गीतं तु सवादित्रमिदं गृह्णीमहे वयम् ॥ ३४ ॥
> सप्तरूपेण सन्तुष्टा देवाः कर्मानुकीर्तनम् ।
> वयं[2] गृह्णीम निर्गीतं तुष्यामोऽनेैव सर्वदा[3] ॥ ३५ ॥
> ते तत्र तुष्टा दैत्यास्तु साधयन्ति पुनः पुनः ।

तब दैत्य गण परस्पर विचार करते हुए बोले—हम वाद्यों से समन्वित इस 'निर्गीत'[1] से प्रसन्न हैं तथा इसे ही ग्रहण करेंगे । जो सप्तरूपों[2] से युक्त 'गीत' हैं और इन देवगणों के कर्मों के अनुवादक हैं—उनसे देवगण ही प्रसन्न हों व उन्हें श्रवण करते रहें । हम इस 'निर्गीत' को ही ले लेते हैं और इसी से सतुष्ट हैं । इस प्रकार तुष्ट दैत्यों ने निर्गीत को ले लिया और इसकी 'साधना' (एव प्रयोग) करने लगे ॥ ३३–३६ ॥

---

१ निर्गीत मे सार्थक शब्द नही होते परन्तु ताल आदि से युक्त धुन के होने से देवगण ने इसमे अपनी प्रशसा की कल्पना की तथा प्रसन्न हो गये और देवगण के प्रतिद्वन्द्वी होने से राक्षस क्षुब्ध हो गये (यह आशय है) ।

२ *सप्तरूप—सप्तरूप है विस्तार, व्यञ्जना, आविद्ध, करण, सक्षा, धातु* तथा वाद्य । ये (तालो के) सात प्रभेद ही सप्तरूप है । इनका स्वरूप ना० शा० अ० ३१ पर पर भी द्रष्टव्य ।

---

१. सम—ग०, शुभ—घ० । २. एव—ग० । ३. वै वयम्—ग० ।

निर्गीत[1] के *निवारणार्थ देवताओं की नारद से भेंट—*

> रुष्टाश्चापि ततो देवाः प्रत्यभाषन्त नारदम् ॥ ३६ ॥
> एते तुष्यन्ति निर्गीते दानवाः सह राक्षसैः ।
> प्रणश्यतु प्रयोगोऽयं कथं वा[1] मन्यते भवान् ॥ ३७ ॥

तब देवगण इस बात से रुष्ट हो पुनः नारद मुनि से बोले—हे मुने, ये दानव तथा राक्षसगण केवल निर्गीत से ही सन्तुष्ट हैं तथा अन्य वस्तु (जैसे कि 'गीत', आदि) को नहीं चाहते। अतएव हम इस निर्गीत-प्रयोग को नष्ट करना चाहते हैं। आपका इसमें क्या विचार है ॥ ३६–३७ ॥

नारद द्वारा देवगण को आश्वासन—

> देवानां वचनं श्रुत्वा नारदो वाक्यमब्रवीत् ।
> धातुवाद्याश्रयकृतं निर्गीतं मा प्रणश्यतु ॥ ३८ ॥
> किन्तूपोहनसंयुक्तं धातुवाद्यविभूषितम् ।
> भविष्यतीदं निर्गीतं सप्तरू[2]पविधानतः ॥ ३९ ॥
> निर्गीतेनावबद्धाश्च[3] दैत्यदानवराक्षसाः ।
> न क्षोभं न विघातञ्च करिष्यन्तीह तोषिताः ॥ ४० ॥

देवताओं के इन वचनों को सुन नारद बोले—'निर्गीत' जो कि (विस्तार आदि) धातुवाद्यों के आश्रित हैं, नष्ट नहीं होना चाहिए। किन्तु यही उपोहन (क्रिया) तथा धातु वाद्यों से युक्त होकर सप्तरूपों को विधिवत् धारण करेगा और दैत्य तथा दानव गण इस 'निर्गीत' (के आकर्षण) से आवद्ध रहने के कारण क्षोभ तथा विघात को (नाट्य-प्रयोग के अवसर पर) नहीं करने पायेंगे[2] *॥ ३८–४० ॥*

१. निर्गीत—जो केवल वाद्यों की धुन (Tuning) हो।

२. यह निर्गीत के धातुवाद्याश्रित प्रयोग को देवगण के प्रिय गीत के सप्तरूप विधान से संयुक्त कर 'बहिर्गीत' की संज्ञा दी गयी। इस प्रकार नारदमुनि ने निर्गीत तथा सप्तरूप गीतों के मिश्रण से दोनों पक्षों को प्रसन्न करने का उपक्रम किया यही प्रतीत होता है।

१. वै—घ०। २. सप्तरूपे—ख०। ३. बद्धास्तु—ग०।

एवं निर्गीतमेतत्तु[1] दैत्यानां स्पर्द्धया द्विजाः।

देवानां बहुमानेन [2]बहिर्गीतमिति स्मृतम् ॥ ४१ ॥

हे मुनिजन, इस प्रकार यही 'निर्गीत' जो दैत्यों के वृथाभिमान की शान्ति हेतु निर्मित किया गया जब देवगण द्वारा सम्मान अर्जित करेगा तो 'बहीर्गीत' कहलाने लगेगा ॥ ४१ ॥

धातुभिश्चित्रवीणायां गुरुलघ्वक्षरान्वितम् ।

वर्णालङ्कारसंयुक्तं प्रयोक्तव्यं बुधैरथ ॥ ४२ ॥

इस (निर्गीत) का धातुतन्तुओं से युक्त [1]चित्रवीणा पर निपुण वादकों द्वारा वर्ण, अलकारा तथा गुरु एव लघु वर्णों (अक्षरों) से युक्त प्रयोग किया जाए ॥ ४२ ॥

निर्गीतं गीयते यस्मादपदं वर्णयोजनात् ।

असूयया च देवानां बहिर्गीतमिदं स्मृतम् ॥ ४३ ॥

यह शब्द या पद रहित केवल निरर्थक वर्णों की योजना से गाये जाने के कारण 'निर्गीत' कहलाता है और यही देवगणों की असन्तुष्टि के कारण 'बहिर्गीत' भी कहलाता है ॥ ४३ ॥

निर्गीत (या बहिर्गीत) से देवगण आदि का सन्तुष्ट होना—

निर्गीतं यन्मया प्रोक्तं सप्तरूपसमन्वितम् ।

उत्थापनादिकं यच्च तस्य कारणमुच्यते ॥ ४४ ॥

जो 'निर्गीत' का स्वरूप सप्त रूपों से युक्त मैंने बतलाया तथा उत्थापनादि का जो मैंने अभिधान किया, अब मैं उसका कारण बतलाता हूँ ॥ ४४ ॥

---

१ चित्रवीणा—'नाट्योपरञ्जनार्था या वीणा सा' (अभि० भा०) अर्थात् जो सातनन्त्री की तथा नाट्यप्रयोग के अवसर पर परमोपयोगी हो ऐसी वीणा आजकल प्रचलित 'विचित्रवीणा' (जिसका दक्षिण मे बहुत प्रचार है) इसके योग्य प्राचीन स्वरूप को लिए हुए नही होगी, यह सहज ही कल्पना होती है। चित्रवीणा का स्वर गम्भीर होता था तथा पर्याप्त अभ्यास द्वारा ही उसमे दक्षता अर्जित की जा सकती है। क्योकि यह अगुली द्वारा बजायी जाती थी। जो एक तम्बूरे जैसा ही होना लगती है।

---

१ भवन्तु—ग०। २. बहु—ग०। ३ मिद्—ग०।

जिसमें सभी देवगण की पूजा की जाती है ऐसी पूर्वरंग की यह विधि प्रेक्षकों तथा नाट्यप्रयोक्ताओं को धर्म, यश तथा दीर्घायु को देने वाली (होती) है ॥ ५५ ॥

दैत्यदानवतुष्टयर्थं सर्वेषाञ्च दिवौकसाम् ।
निर्गीतानि सगीतानि पूर्वरङ्गकृतानि तु ॥ ५६ ॥

इस पूर्वरंग में विहित निर्गीत तथा सगीत का प्रयोग दैत्यों को जितना प्रसन्न करते हैं देवगण भी उससे उतने ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥५६॥

या[1] विद्या यानि शिल्पानि या गतिर्यञ्च चेष्टितम् ।
लोकालोकस्य जगतस्तदस्मिन्नाटकाश्रये ॥ ५७ ॥

इस जगत में जो विद्याएँ, शिल्प, गतियाँ तथा चेष्टाएँ हैं तथा जो भी प्राणियों के तथा जड़-प्रकृति के स्वरूप हैं वे सभी नाट्याश्रित होकर (इस) पूर्वरंग में स्थित (रहते) हैं ॥ ५७ ॥

निर्गीतानां सगीतानां वर्धमानस्य चैव हि ।
ध्रुवाविधाने वक्ष्यामि लक्षणं कर्म चैव हि ॥ ५८ ॥

आपको मैं इसमें आये हुए निर्गीत, सगीत तथा वर्धमानक के लक्षण तथा प्रयोग को ध्रुवाविधान के (अ० २९, ३१ में) समय (ध्रुवाध्याय ३२ में नहीं) बतलाऊँगा ॥ ५८ ॥

शुद्धपूर्वरंग में गीत-विधान—

प्रयुज्य गीतकविधिं वर्धमानमथापि[2] च ।
गीतकान्ते ततश्चापि कार्या ह्युत्थापनी ध्रुवा ॥ ५९ ॥

[1]गीतों की विधि तथा वर्धमानक के प्रयोग पश्चात् 'उत्थापनी' ध्रुवा का प्रयोग किया जाए ॥ ५९ ॥

---

१. गीत तथा वर्धमानक आदि ध्रुवा विधान के अन्तर्गत आते हैं जिनका विशद विवेचन ना० शा० अ० ३१ तथा ३२ में किया गया है।

---

१. पद्यमेतत् ख०—पुस्तके नास्ति । २. तथैव च—ग० ।

[1]उत्थापनी ध्रुवा—

> आदौ द्वे च चतुर्थञ्चाप्यष्टमैकादशे तथा।
> गुर्वक्षराणि जानीयात्पादे ह्येकादशाक्षरे ॥ ६० ॥
> चतुष्पदा भवेत्सा तु चतुरस्रा[1] तथैव च।
> चतुर्भिस्सन्निपातैश्च त्रिलया त्रियतिस्तथा ॥ ६१ ॥
> परिवर्तांश्च चत्वारः पाणयस्त्रय एव च।
> ज्ञात्वा[2] चैव हि विश्लोकास्तांश्च तालेन योजयेत् ॥ ६२ ॥

इस ध्रुवा[2] के पाद में एकादश अक्षर होते हैं (और) उसमें आदि के दो, चौथा तथा ग्यारहवाँ अक्षर गुरु होता है। इसके चार पाद होते हैं तथा इसकी चतुरस्र[3] ताल (चौताल) होती है। इसमें चार सन्निपात तथा तीन प्रकार की (द्रुत, मध्य तथा विलम्बित) लय होती है। यह तीन यतियों (समा, स्रोतोवहा व गोपुच्छा) से युक्त होती है। इसमें चार [4]परिवर्त (पादभागादि युक्त ताल का दुहराना) और तीन पाणि[5] (सम, अवर तथा उपरि पाणि) होते हैं। इसमें जातिवृत्त (मात्रावृत्त)

---

१ उत्थापनी ध्रुवा का उल्लेख तथा विवरण पूर्वरंग में उपयोगी होने से उसका लक्षण भी यही दे दिया गया है। इसका विशेष विवरण ध्रुवाध्याय (ना० अ० ३२) में नहीं है।

२ इस ध्रुवा का लक्षणानुसार क्रम इस प्रकार है—ऽऽ। ऽ।। ।ऽ ।।ऽ।

३ चतुरस्रताल अर्थात् चच्चत्पुट ताल में। सन्निपात सशब्दा क्रिया का एक भेद है जिसमें दोनों हाथों से ताली बजाकर ताल दी जाती है। ताल क्रिया के बीच में रखा गया विश्राम लय कहलाता है। लय के तीन प्रकार होते हैं–द्रुत, मध्य तथा विलम्बित। लय के प्रयोग के नियम को यति कहते हैं। यति भी तीन है—समा, स्रोतोवहा तथा गोपुच्छा। इनका विशेष विवरण तथा लक्षण ना० शा० अ० ३१।३८, ३६, ३१।४, ३१।५३२–५३७ तथा ३२।१४२ पर द्रष्टव्य।

४ परिवर्त कहते हैं गानक्रिया की (पादभाग आदि से युक्त ताल की) *आवृत्ति या दुहराने को, इसके चार प्रकार होते हैं।*

५ ताल के साथ तीन ग्रह या पाणि का प्रयोग होता है जिनके नाम हैं समपाणि (समग्रह), अवरपाणि (अतीतग्रह) तथा उपरिपाणि (अनागतग्रह।

---

१. चतुरस्रे—भ०। २. ज्ञात्वा—भ०।

में विश्लोक[1] छन्द होता है और उसी प्रकार का चतुरस्र ताल (चौताल) प्रयुक्त किया जाता है ॥ ५९–६२ ॥

शम्या[1] तु द्विकला कार्या तालो द्विकल एव च ।
पुनश्चैककला शम्या सन्निपातः कलात्रयम् ॥ ६३ ॥

इसमें होने वाली ताल[2] की (यथाक्रम) जो योजना है उसमें दो कला की प्रमाणवाली शम्या, फिर दो कला की ताल, फिर एक कला की शम्या तथा अंत में तीन कला का सन्निपात होता है ॥ ६३ ॥

प्रथम परिवर्त—

एवमष्टकलः कार्यः सन्निपातो विचक्षणैः ।
चत्वारः सन्निपाताश्च परिवर्तस्य[2] उच्यते ॥ ६४ ॥

इस प्रकार विज्ञातागण (एक) सन्निपात को आठ कलाओं वाला जानें तथा इन चार सन्निपातों से एक 'परिवर्त' बनता है ॥ ६४ ॥

पूर्वं स्थितलयः[3] कार्यः परिवर्तो विचक्षणैः ।
तृतीये सन्निपाते तु तस्य भाण्डग्रहो भवेत् ॥ ६५ ॥

नाट्यवेत्ताजन इस प्रथम परिवर्तक (जो कि पूर्वरंग में होता है) को विलम्बित लय तथा (स्थितलय) में प्रयुक्त करें तथा तीसरे सन्निपात के समय इस परिवर्त में भाण्डवाद्य (अवनद्धवाद्य संभवतः मृदंग) का ग्रहण (वादन या आरम्भ) किया जाए ॥ ६५ ॥

द्वितीय परिवर्त—

एकस्मिन्परिवर्ते तु गते प्राप्ते द्वितीयके ।
कार्यं मध्यलये[4] तज्ज्ञैः सूत्रधारप्रवेशनम् ॥ ६६ ॥

---

१. विश्लोका वृत्त का लक्षण ना० शा० ३२।१४९ पर द्रष्टव्य ।

२. ताल, कला, सन्निपात तथा शम्या के लक्षण ना० शा० अध्याय ३१। ९–११, ३८, ३९, तथा ४० पर भी द्रष्टव्य ।

---

१. शम्पा—क० । २. परिवर्तः स—ख । ३. स्थितिलय —ग० ।
४ मध्यलय—ग० ।

प्रथम 'परिवर्त' के हो चुकने तथा द्वितीय परिवर्तन के प्रदर्शन के प्रारम्भ (काल) में लय को मध्यगति में प्रयुक्त करें (तथा) उसी समय मञ्च पर सूत्रधार का अपने दो[1] पारिपार्श्विकों के साथ प्रवेश करवाया जाय ॥

पुष्पाञ्जलिं[1] समादाय रक्षामङ्गलसंस्कृताः ।
शुद्धवस्त्राः सुमनसस्तथा चाद्‌भुतदृष्टयः ॥ ६७ ॥

स्थानन्तु वैष्णवं कृत्वा सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ।
दीक्षिताः शुचयश्चैव प्रविशेयुः समं त्रयः ॥ ६८ ॥

ये तीनों रंगमंच पर एक साथ ही प्रवेश करें। इनकी हस्ताञ्जलियाँ पुष्पों से आपूरित हों—ये विघ्नों की समाप्ति तथा आत्मरक्षार्थ रक्षासूत्र, मंगलसूत्र तथा शुद्धवस्त्रों को धारण किये हों। उनके वस्त्र शुद्ध श्वेतवर्ण के हों। वे पुष्पों से युक्त अंजलि, अद्भुत-दृष्टि (ना० शा० अ० ८।४८) तथा वैष्णवस्थान (ना० ११।५०-५२) से युक्त हों, उनका शरीर 'सौष्ठव' शाली हो और वे (नाट्य कर्मरूपी पुण्यानुष्ठान हेतु) दीक्षित हों ॥

भृङ्गारजर्जरधरौ भवेतां पारिपार्श्विकौ[2] ।
मध्ये तु सूत्रभृत्ताभ्यां वृत्त पञ्चपदीं व्रजेत् ॥ ६९ ॥

पदानि पञ्च गच्छेयुर्ब्रह्मणो यजनेच्छया ।
पादानाञ्चापि विक्षेपं व्याख्यास्यामि यथाक्रमम् ॥ ७० ॥

इन दो पारिपार्श्विकों में से एक भृङ्गार (सोने की सुराही) तथा दूसरा [2]जर्जर को लिए हुए हो और इन दोनों के मध्य 'सूत्रधार' हो जो इन दोनों के साथ पाँच डग भरते हुए आगे बढे।

---

१ इन दो मे एक पात्र विदूषक की भूमिका का 'त्रिगत' मे निर्वाह करता है। (देखिये आगे ५।१३७–१४१ पर भी)

२ जर्जर का विवरण ना० शा० ३।७३ पर भी द्रष्टव्य।

---

१ पुष्पाञ्जली—ग०।   २ पारिपार्श्वकौ—ख०।

३ ख पुस्तके श्लोकार्धस्यास्य स्थाने—'सूची वामपदं दद्याद् विक्षेपं दक्षिणस्य च' इति वर्तते।

पाँच डग भरकर आगे आना महादेव के पूजनार्थ किया जाता है। अब इन पाँचों डगों के क्रमशः स्थापन का विधान बतलाता हूँ ॥६९-७०॥

[1]त्रितालान्तरविष्कम्भमुत्क्षिपेच्चरणं शनैः।
पार्श्वोत्थानोत्थितं चैव तन्मध्ये पातयेत्पुनः ॥ ७१ ॥

वे अपने पैर तीन[1] ताल के अन्तर से धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाएँ—जो कि प्रत्येक की अपने दिशा की ओर (बगल की ओर) हो—तथा उन्हें (इस प्रकार उठाने के बाद) फिर उसी अन्तर से भूमि पर टिकाए ॥ ७१ ॥

एवं पञ्चपदी[2] कृत्वा[3] सूत्रधारः सहेतरैः[4]।
सूचीं वामपदं दद्याद्विक्षेपं दक्षिणेन च ॥ ७२ ॥

(कथित विधानानुसार) इस प्रकार पाँच डगों को भरकर अपने साथियों सहित सूत्रधार 'सूची' चारी का प्रदर्शन करे जो कि बाएँ पैर से हो, फिर दाहिने पैर द्वारा 'विक्षेप' का प्रदर्शन करें ॥ ७२ ॥

पुष्पाञ्जल्यपवर्गश्च कार्यो ब्राह्मेऽथ मण्डले।
रङ्गपीठस्य[5] मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७३ ॥

(फिर) सूत्रधार 'ब्राह्ममंडल' (ब्रह्मा द्वारा अधिष्ठित प्रदेश या रंगमंच के मध्यभाग) पर पुष्पाञ्जलि अर्पित करे। क्योंकि रंगपीठ के मध्यभाग में स्वयं महादेव स्थित रहते हैं ॥ ७३ ॥

ततः सललितैर्हस्तैरभिवन्द्य[6] पितामहम्।
वन्दनान्यथ[7] कार्याणि त्रीणि हस्तेन भूतले ॥ ७४ ॥
कालप्रकर्षहेतोश्च पातानां प्रविभागतः।

---

१ ताल—एक कालविभाग। ताल का विशेष विवरण ३१ वें अध्याय मे देखिये। ताल दूरी को भी कहते हैं जिसका प्रमाण है मध्यमा उंगली की नोक से कलाई तक की लंबाई की जो एक बालिश्त होता है।

---

१ त्रिताला—घ०। २ विष्णुपदीं—ख०। ३ गत्वा—ग०।
४ सहेतर—ख०। ५. श्लोकार्धमेतत् क० पुस्तके नास्ति।
६. अभिवन्द्य पितामह—घ०।
७. अभिवादनानि कार्याणि—घ०।

फिर वह ब्रह्मा की विनीत भाव व ललित[1] हस्त मुद्रा से वन्दना करे। यह वन्दना पृथ्वी पर हाथों को तीन बार स्पर्श करते हुए की जाए और इस समय (उसके) पाद-विक्षेप[2] काल का विभाग बतलाते हुए रखे जाएँ ॥

सूत्रधारप्रवेशाद्यो वन्दनाभिनयानुगः ॥ ७५ ॥

द्वितीयः परिवर्तस्तु कार्यो मध्यलयाश्रितः।

इस प्रकार (इस) द्वितीय परिवर्त को मध्यमलय में प्रयुक्त करे जो सूत्रधार के प्रवेश से आरंभ होता है तथा ब्रह्म-देव की वन्दना पर समाप्त होता है। (तथा जिसमें वन्दना तथा ललित मुद्रा का उपयोग किया गया है) ॥

तृतीय परिवर्त—

ततः[1] परं तृतीये तु मण्डलस्य[2] प्रदक्षिणम् ॥ ७६ ॥

भवेदाचमनं चैव जर्जरग्रहणं तथा।

उत्थाय मण्डलात्तूर्णं दक्षिणं पदमुद्धरेत् ॥ ७७ ॥

वैधं[3] तेनैव कुर्वीत विक्षेपं वामकेन च।

पुनश्च दक्षिणं पादं पार्श्वसंस्थं समुद्धरेत् ॥ ७८ ॥

ततश्च वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च।

इत्यनेन प्रकारेण[4] सम्यक्कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ७९ ॥

भृङ्गारभृतमाहूय[5] शौचञ्चापि समाचरेत्।

यथान्यायं तु कर्तव्या तेन ह्याचमनक्रिया ॥ ८० ॥

आत्मप्रोक्षणमेवाद्भिः कर्तव्यं तु यथाक्रमम्।

---

१ ललित हस्तचेष्टा नृत्तहस्त का प्रकार है जिसमें दो अलपल्लव हाथ को मस्तक पर सचालित किया जाता है। (ललित का लक्षण ना० शा० ९।२०९ पर भी द्रष्टव्य।)

२ पादविक्षेप=चरण का रखना, गिराना या झुकाना। अर्थात् सूत्रधार के द्वारा पृथ्वी पर अपने चरणों को तालमात्रा के प्रमाण से विभाजित करते हुए रखना।

१ अत —ग०। २ मण्डपस्य—घ०। ३ तेनैव वेध—ग०।
४ विधानेन—घ०। ५. भृङ्गारधार—ग०, घ०।

फिर तीसरे परिवर्त में सूत्रधार 'ब्राह्ममण्डल' की प्रदक्षिणा करे, आचमन करे और 'जर्जर' का ग्रहण करे। (जिसका विधान इस प्रकार है) सर्वप्रथम वह ब्रह्मा के मण्डल से शीघ्रता से उठकर अपने दाहिने पैर को उठाए, उसी से सूची का[1] (वेध) प्रदर्शन करे तथा बाएँ पैर से 'विक्षेप' का, फिर दाहिने पैर को (अपनी) कोख की ओर [2]उठाए और बाएँ पैर से सूची प्रदर्शन करे और फिर दाहिने पैर द्वारा 'विक्षेप' का। इस प्रकार विधानानुसार कर चुकने पर सूत्रधार भृङ्गार धारण करने वाले एक पारिपार्श्वक को[3] बुलाकर उस भृङ्गार (पात्र) के जल से (हाथ पैरों को स्पर्श करते हुए) स्वयं को पवित्र करे और फिर विधानानुसार आचमन कर उसी जल का अपने ऊपर प्रोक्षण करे ॥ ७६–८० ॥

प्रयत्नकृतशौचेन सूत्रधारेण यत्नतः ॥ ८१ ॥
सन्निपातसमं[1] ग्राह्यो जर्जरो विघ्नजर्जरः।
प्रदक्षिणाद्यो विज्ञेयो जर्जरग्रहणान्तकः ॥ ८२ ॥
तृतीयः परिवर्तस्तु विज्ञेयो वै द्रुते लये।

इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक पवित्र होकर सूत्रधार प्रयत्न पूर्वक उस

---

१. यहाँ वामवेध का अर्थ 'सूची' चारी किया गया है। सूचीचारी का लक्षण ना० शा० ११।३४ पर द्रष्टव्य। वेध का अर्थ अभिनवगुप्ताचार्य ने दूसरे पैर को एड़ी के पीछे पटकना लिया है (वेधमिति द्वितीयपादपार्ष्णिपृष्ठे पातनम् अ० भा० Vol I. पृ० २३१)।

२ दाहिने पैर को कोख की ओर उठाना पार्श्वक्रान्ता चारी ही जाता है। पार्श्वक्रान्ता का लक्षण ना० शा० ११।३२ पर है जिसके अनुसार पैर ऊपर उठाया जाकर जानु को वक्ष स्थल के बराबर रखते हैं और फिर उसे एक पार्श्व में एड़ी पर पटकते हैं।

३ आचार्य अभिनगुप्त का मत है कि भृंगारधारी पारिपार्श्विक को प्रदक्षिणा के अवसर पर तथा परिवर्त के अवसर पर चुपचाप (तूष्णीभावेन) स्थित रहना चाहिये।

---

१ सन्निपाते सम—ख०।

'जर्जर' का ग्रहण करे जो कि विघ्नों को जर्जरित कर देता है। यह 'जर्जर' ग्रहण तृतीय परिवर्त के अन्तिम सन्निपात[1] के प्रारंभ में ही कर लेना चाहिए। सूत्रधार द्वारा (वाद्यमण्डल की) प्रदक्षिणा से प्रारंभ होकर जर्जर ग्रहण तक किया जाने वाला यह तृतीय परिवर्त 'द्रुतलय' में किया जाए ॥ ८१–८२ ॥

चतुर्थ परिवर्त—

गृहीत्वा जर्जरं त्वष्टौ[1] कला जप्यं प्रयोजयेत् ॥ ८३ ॥
वामवेधं ततः कुर्याद् विक्षेपं दक्षिणस्य च।
ततः पञ्चपदोऽत्रैव गच्छेत्तु कुतपोन्मुखः ॥ ८४ ॥
[वामवेधस्तु[2] तत्रापि विक्षेपो दक्षिणस्य तु।]
जर्जरग्रहणाद्योऽयं कुतपाभिमुखान्तकः ॥ ८५ ॥
चतुर्थः परिवर्तस्तु कार्यो[3] द्रुतलये पुनः।

जर्जर ग्रहण करने के पश्चात् वह आठ कला[2] तक (मन्त्र का) जप करे और फिर बाएँ पैर को आगे चढाकर 'सूची' (चारी) का प्रदर्शन करे और (इसके पश्चात्) दाहिने पैर से वही विक्षेप प्रदर्शित करे (अथवा दाहिने पैर द्वारा विक्षेप का प्रदर्शन करे) फिर संगीत-वाद्यों के स्थान की ओर पाँच डग चले और इसके पश्चात् [वह पुनः बाएँ पैर से सूची और दाहिने से विक्षेप को प्रदर्शित करे।] यह चतुर्थ परिवर्त जर्जर-ग्रहण से प्ररभ होकर कुतपों के अभिमुख जाने तक किया जाता है तथा इसमें 'द्रुतलय' रहती है ॥ ८३–८५ ॥

---

१ अर्थात् जिस समय सूत्रधार तृतीय परिवर्त को सम्पन्न करे उस समय उसी के साथ उत्थापनी ध्रुवा का (तीसरा परिवर्त) गान चलता है जिसे द्रुतलय मे करना चाहिए और इस तीसरे परिवर्त का अन्तिम सन्निपात जर्जर-ग्रहण के समय चलना चाहिये।

२. कला—तालमान के अनुसार पाँच निमेष का काल लघु या एक मात्रा के बराबर होता है और दो लघु या मात्राओं की एक 'कला' होती है।

---

१ चाष्टौ—ख०, ग०। २ पद्यार्धमेतत्—ख पु० गपुस्तके च नास्ति।
३ विज्ञेयो वै द्रुते लये—घ०।

करपादनिपातास्तु भवन्त्यत्र तु षोडश ॥ ८६ ॥
ऽयश्रे द्वादशपातास्तु[1] भवन्ति करपादयोः[2] ।
वन्दनान्यथ कार्याणि त्रीणि हस्तेन भूतले ॥ ८७ ॥
आत्मप्रोक्षणमद्भिश्च ऽयश्रेणैव विधीयते ।
एवमुत्थापनं कार्यं ततस्तु परिवर्तनम् ॥ ८८ ॥

इस चतुरर्थ परिवर्त में हाथ तथा पैरों का हलन-चलन सोलह निपात का होता है तथा त्र्यश्र के हलन-चलन में बारह निपात माने गये हैं। फिर वह पृथ्वी का स्पर्श करते हुए तीन बार वंदना करें। इसके (तृतीय परिवर्त के) पूर्व में यह (प्रोक्षणादि) कार्य नहीं किया जाता है। इस प्रकार 'उत्थापना' ध्रुवा हो जाने पर फिर 'परिवर्तनी' ध्रुवा का आरंभ करना चाहिए ॥८६-८८॥

परिवर्तनी ध्रुवा—

चतुरश्रे[3] लये मध्ये सन्निपातैरथाष्टभिः ।
यस्यां लघूनि सर्वाणि केवलं नैधनं[4] गुरु ॥ ८८ ॥
भवेदतिजगत्यान्तु सा ध्रुवा परिवर्तनी ।
वार्तिकेन[5] तु मार्गेण वाद्येनानुगतेन च ॥ ८९ ॥
ललितैः पादविन्यासैर्वन्द्याद्देवान्[6] यथादिशम् ।
द्विकलं पादपतनं पादचार्यां[7] गतं भवेत् ॥ ९० ॥
एकैकस्यां दिशि तथा सन्निपातद्वयं भवेत् ।
वामपादेन वेधस्तु कर्तव्यो नृत्तयोक्तृभिः ।
द्वितालान्तरविष्कम्भो[8] विक्षेपो दक्षिणस्य च ॥ ९१ ॥

यह परिवर्तनी ध्रुवा चतुरस्रताल, मध्यलय तथा आठ सन्निपातों से युक्त होती है। इसमें अतिजगती-जाति (एकादशाक्षर जाति का छन्द)

---

१ तु द्वादशपदा—ग० । २. करपादजाः—ग० । ३ चतुरस्रे—ग० ।
४ निधन—ग० । ५. वामकेन—ग० । ६ वन्द्या देवा—ग० ।
७ पादचर्या विधीयते—ग० । ८. विष्टम्भो—ग० ।

रहती है, अन्तिम वर्ण गुरु होता है तथा चारों पादों में शेष सभी वर्ण लघु रहते हैं।

(इस परिवर्तनी ध्रुवा की गान-वेला में) सूत्रधार वार्तिक-मार्ग[1] से वाद्य ध्वनि तथा ताल के अनुसार ललित-पाद विन्यास करते हुए यथाक्रम दिशाओं को नमस्कार करे।

इस उपर्युक्त पादविन्यास (पादचारी) में सूत्रधार का प्रत्येक डग दो कला के प्रमाण वाला होना चाहिए तथा प्रत्येक दिशा की ओर रखा गया गति का समय दो सन्निपात का (प्रमाणवाला) होता है। नृत्त के संयोजक विद्वान् इसके पश्चात् बाएँ पैर द्वारा सूची का प्रयोग करे तथा दाहिने पैर से विक्षेप का जो कि दो ताल के अन्तर रखी जानी चाहिए ॥ ८८–९१ ॥

दिग्वन्दन—

ततः पञ्चपदीं गच्छेदतिक्रान्तैः पदैरथ।
ततोऽभिवादनं कुर्याद्दैवतानां यथादिशम् ॥ ९२ ॥
वन्देत प्रथमं पूर्वां दिशं शक्राधिदैवताम्।
द्वितीयां दक्षिणामाशां वन्देत यमदैवताम् ॥ ९३ ॥
वन्देत पश्चिमामाशां ततो वरुणदैवताम्।
चतुर्थीमुत्तरामाशां वन्देत धनदाश्रयाम् ॥ ९४ ॥

(वह) फिर 'अतिक्रान्ता'[2] चारी में पाँच डग भरे और यथा-क्रम दिशाओं के अनुसार देवगण का अभिवादन करे। वह सर्वप्रथम इन्द्र से अधिष्ठित पूर्व दिशा का अभिवादन करे फिर दूसरी दिशा (दक्षिण) का—जो कि यमदेव के द्वारा अधिष्ठित है—अभिवादन करे।

इसके पश्चात् वह वरुण देव की दिशा (पश्चिम) का अभिवादन करे तथा चौथी बार कुबेर से अधिष्ठित उत्तर दिशा की वन्दना करे ॥९२–९४॥

---

१. वार्तिकमार्ग—तीन मार्गों मे अन्यतम मार्ग जिससे एक पदभाग (कला) का चार मात्राओ से निर्माण होता हो [परिवर्तिनी ध्रुवा के सम्पादन काल मे वाद्यवादन के साथ सूत्रधार को डग भरना होता है यह इस विवरण स स्पष्ट ही है।

२ अतिक्रान्ताचारी—का स्वरूप ना० शा० १०।३० पर द्रष्टव्य।

दिशां तु वन्दनं कृत्वा वामवेधं प्रयोजयेत् ।
दक्षिणेन च कर्तव्यं विक्षेपपरिवर्तनम् ॥ ९५ ॥

दिशाओं की वन्दना के पश्चात् वह बाएँ पैर से सूची (वेध) का तथा दाहिने से विक्षेप का प्रदर्शन करे और फिर उसी पैर से एक परिवर्तन (गोल घुमाव) ले ले ॥ ९५ ॥

प्राङ्मुखस्तु ततः कुर्यात्पुरुषस्त्रीनपुंसकैः ।
त्रिपद्या[1] सूत्रभृद्[2]ब्रह्मोपेन्द्रशाभिवादनम्[3] ॥ ९६ ॥

फिर वह पूर्व दिशा की ओर मुख करे और पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक लक्षणों वाले चरणों से क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की वन्दना करे ॥९६॥

दक्षिणं तु पदं पुंसो वामं स्त्रीणां[4] प्रकीर्तितम् ।
पुनर्दक्षिणमेव[5] स्याद्यान्युरिक्षप्तं नपुंसकम् ॥ ९७ ॥

वन्देत पौरुषेणेशं स्त्रीपदेन जनार्दनम् ।
नपुंसकपदेनापि तथैवाम्बुजसम्भवम् ॥ ९८ ॥

दाहिना पैर पुरुष-पाद, बायाँ हाथ स्त्री-पाद तथा जो पैर अधिक ऊँचा न उठाया जाए वह दाहिना पैर नपुंसक-पाद कहलाता है ॥ ९७ ॥

पुरुष-पाद द्वारा शिव को, स्त्री पाद से विष्णु की और नपुंसकपाद से ब्रह्मा की वन्दना की जाती है ॥ ९८ ॥

[[6]यस्यां लघूनि कार्याणि केवलं त्वेकमं गुरु ।
पादे त्वतिजगत्यां हि सा ध्रुवा परिवर्तनी ॥]

[जिस अतिजगती छन्द के पाद में केवल अन्त गुरु और शेष लघु रहे उसे परिवर्तनी ध्रुवा समझना चाहिये]

---

१ त्रिपाद्या—ग०, त्रिपदे —घ० । २ सूत्रधृक्—ग० ।
३ वन्दनम्—ग० । ४ स्त्रीपदमुच्यते—ख ।
५ दक्षिणन्तु पद ज्ञेय—ग० । ६ पद्यमेतत् क पुस्तके नास्ति ।

चतुर्थपात्र प्रवेश—

परिवर्तनमेवं स्यात्तस्यान्ते प्रविशेत्ततः ।
चतुर्थकारः[1] पुष्पाणि प्रगृह्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

'परिवर्तिनी ध्रुवा' इसी प्रकार सम्पन्न की जाए तथा उसके समाप्त हो जाने पर फिर एक चौथा-पात्र (चतुर्थकारः) पुष्पांजलि लिए हुए मंच पर प्रवेश करे ॥ ९९ ॥

यथावत्तेन कर्तव्यं पूजनं जर्जरस्य तु ।
कुतपस्य[2] च सर्वस्य सूत्रधारस्य चैव हि ॥ १०० ॥

(फिर) वह जर्जर का विधिवत् पूजन करे तथा सभी वाद्य और सूत्रधार का भी पूजन करे ॥ १०० ॥

तस्य भाण्डसमः[3] कार्यस्तज्ज्ञैः गति[4]परिक्रमः ।
न तत्र गानं कर्तव्यं तत्र स्तोम-क्रिया भवेत् ॥ १०१ ॥

पूजा के समय इसकी वाद्यानुसारी गति रखी जाए । (अवनद्ध वाद्या-नुसारी का तात्पर्य यह है कि वह ताल के अनुसार गति रखे) । इस समय किसी गीत का गान न किया जाए केवल वाद्यवादन ही रहे और गान भी केवल अर्थहीन अक्षरों ([1]स्तोमाक्षरों) का ही (यथा थिल्लाना आदि का) होना चाहिए ॥ १०१ ॥

अवकृष्टा ध्रुवा-गान—

चतुर्थकारः[5] पूजान्तु स कृत्वान्तर्हितो भवेत् ।
ततो गेयावकृष्टा तु चतुरस्रा स्थिता ध्रुवा ॥ १०२ ॥

इस प्रकार पूजा सम्पन्न कर चुकने पर वह चतुर्थपात्र रंगमंच से

१. स्तोमाक्षर या स्तोमक्रिया का अर्थ होता है शुष्काक्षरों का गान ।

१. चतुष्प्रकार—ग० । २. भाण्डस्येव—ग० ।
३. गत—ग० । ४. गीति—ग० ।
५. चतुष्प्रकारपूजा तु निष्क्रामेत् सम्प्रयुज्य हि—ग० ।

प्रस्थान करे। तदन्तर 'अवकृष्टा'[1] ध्रुवा का चतुरस्रताल तथा विलम्बित (स्थित) लय में गान किया जावे ॥ १०२ ॥

गुरुप्राया तु सा कार्या तथा चैवावपाणिका।
स्थायिवर्णाश्रयोपेता कलाष्टक विनिर्मिता ॥ १०३ ॥

इस 'अवकृष्टा' ध्रुवा में सभी वर्ण गुरु होते हैं तथा यह स्थायी[2] वर्णों (स्थिर तथा सम स्वर का स्थायी वर्ण अभिधान है जो ना० शा० २९।१९ पर बतलाया गया है) पर आश्रित रहती है। यह आठ कलाओं (द्विकला तथा चचत्पुट (२ + ६ = ८) से निर्मित तथा अवपाणिक[3] ताल से युक्त होती है ॥ १०३ ॥

चतुर्थं[1] पञ्चमञ्चैव सप्तमं चाष्टमं तथा।
लघूनि पादे पङ्क्त्यान्तु सावकृष्टा ध्रुवा स्मृता ॥ १०४ ॥

अवकृष्टा ध्रुवा गीत चार पादों तथा दस अक्षरों वाली (पंक्ति जाति की) होती हैं, जिसमें चतुर्थ, पंचम, सप्तम तथा अष्टम वर्ण लघु होता है ॥ १०४ ॥

नान्दी—

सूत्रधार पठेत्तत्र[2] मध्यमं स्वरमाश्रितः।
नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलङ्कृताम् ॥ १०५ ॥

इसके पश्चात् सूत्रधार मध्यम स्वर में नान्दी पाठ करे। यह नान्दी आठ या बारह पद[4] वाली होनी चाहिए ॥ १०५ ॥

---

१ ध्रुवाओं का विशेष स्वरूप ना० शा० ३२।१५४–१५६ पर देखिये।

२ स्थायीवर्ण का लक्षण ना० शा० २९।१६ पर भी देखिये।

३ अवपाणि या अवरपाणि ताल का एक प्रकार होता है।

४ नान्दी के 'पद' के विषय में अनेक व्याख्याएँ हैं जिनमें कुछ विद्वान् श्लोक या पद्य के अवयव सुबन्त या तिङन्त को, दूसरे श्लोक पाद को तथा अन्य विद्वान उसके अवान्तर स्वरूप वाक्य को पाद शब्द से अभिहित करते हैं।

---

१ श्लोकोऽयं ग—पुस्तके नास्ति। २ पठेन्नान्दी—ग०।

नान्दी का उदाहरण :—

नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्यः शुभं तथा।
जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं[1] गोब्राह्मणाय च ॥ १०६ ॥

देवताओं को नमस्कार हो, ब्राह्मणों का कल्याण हो, सोम (रूप) राजा की विजय हो तथा गो ब्राह्मणों का शुभ हो।

ब्रह्मोत्तरं तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विषस्तथा।
प्रशास्त्विमां महाराजः पृथिवीं च ससागराम् ॥ १०७ ॥

ब्राह्मणों की निरन्तर (विद्याओं में) उन्नति हो, ब्राह्मणों के शत्रुओं का क्षय हो तथा हमारे महाराज सागरों से घिरी पृथ्वी पर शासन करें ॥ १०७ ॥

राष्ट्रं[2] प्रवर्धतां चैव रङ्गस्याशा[3] समृद्ध्यतु।
प्रेक्षाकर्तुर्महान्धर्मो भवतु ब्रह्मभाषितः ॥ १०८ ॥

यह राज्य सदा फले फूले और उन्नति करे, इस रंगमंच की आशाओं को (सम्भावनाओं, योजनाओं, प्रयोगों इत्यादि की) समृद्धि हो तथा इस प्रेक्षा-कारक[1] (अपनी ओर से समस्त व्यय कर जनरंजनार्थ नाट्य का आयोजन करने वाले) सज्जन को वेदों में वर्णित धर्म की प्राप्ति हो ॥१०८॥

काव्यकर्तुर्यशश्चास्तु धर्मश्चापि[४] प्रवर्धताम्।
इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति ॥ १०९ ॥

---

१ प्रेक्षाकार या प्रेक्षाकर्तृ शब्द का अर्थ है अर्थपति जो खेल या नाटक पर होने वाली सारी अर्थव्यवस्था को वहन कर सामान्य जनता के मनोरञ्जनार्थ नाटक करवाते हैं। यह अर्थपति ही कर सकते हैं अतएव उनका भी यहाँ निवेश मंगलकामना हेतु किया गया है। प्रेक्षाकर्तृ का दूसरा अर्थ है 'प्रेक्षा करोति कारयति अथवा प्रेक्षाया कारं कर्तृ वा' तदनुसार नाट्यप्रदर्शन को निर्देशन आदि द्वारा प्रस्तुत करने वाला सूत्रधार भी प्रेक्षाकार हो सकता है जिसकी यहाँ मंगलकामना इष्ट है।

---

१ आरोग्य भोग एव च०—ग०। २. राज्य—ग०।
३ रङ्गश्चाय समृध्यताम्—ग०।

इस नाटक (आदि दृश्यकाव्य) के निर्माता कवि को यश मिले तथा उसका धर्म भी (गुण, अदृष्ट पुण्य) विस्तृत हो और इस काव्यात्मक यज्ञ के अनुष्ठान से सदा देवगण भी प्रसन्न होते रहें ॥ १०९ ॥

नान्दीपदान्तरेष्वेषु ह्येवमस्त्विति नित्यशः ।
वदेतां[1] सम्यगुक्ताभिर्वाग्भिर्नौ पारिपार्श्विकौ ॥ ११० ॥

इस प्रकार के विषयवाली किसी एक (सलक्षणा) नान्दी के पद्य पाठ के अनन्तर दोनों पारिपार्श्विक स्पष्ट तथा उच्च स्वर से (उक्त भावना के अनुमोदन हेतु) 'ऐसा ही हो' शब्द का उच्चारण करें ॥ ११० ॥

शुष्कावकृष्टा ध्रुवा—

एवं नान्दी विधातव्या यथावल्लक्षणान्विता[2] ।
ततश्शुष्कावकृष्टा स्याज्जर्जरश्लोक दर्शिका ॥ १११ ॥

इसी प्रकार लक्षणानुसार 'नान्दी' का प्रयोग करना चाहिए और फिर जर्जर की स्तुति को निदर्शित करने वाली 'शुष्कावकृष्टा' ध्रुवा का गान किया जाए ॥ १११ ॥

नव गुर्वक्षराण्यादौ षड्लघूनि गुरुत्रयम् ।
[3]शुष्कावकृष्टा तु भवेत्कला ह्यष्टौ प्रमाणतः ॥ ११२ ॥

इस 'शुष्कावकृष्टा' ध्रुवा में आदि के ९ वर्ण गुरु फिर ६ वर्ण लघु तथा अन्तिम ३ वर्ण गुरु होते हैं। इसका आठ कला का (समयगत) परिमाण होता है ॥ ११२ ॥

शुष्कावकृष्टा[1] का उदाहरण—

दिग्ले दिग्ले[4] झण्टु झण्टु ।
जम्बुकपलितक ते ते चाम् ॥ ११३ ॥

---

१ शुष्कावकृष्टा का इसी अध्याय में प्रयोग निर्देश (५।१४) दिया जा चुका है। यहाँ इसका स्वरूप तथा उदाहरण दिया गया है। इसका स्वरूप इस प्रकार होगा SSSSSSSSSIIIIIISSS (दिग्ले दिग्ले झण्टु झण्टु जम्बुकपलितक ते ते चाम्।)
S S S S S S S S S I I I I I I S S S

---

१ दन्देता—ख० ।   २. यथोक्ता लक्षणैर्मया—ग० ।
३ कलाश्चाष्टौ प्रमाणेन पादे ह्यष्टादशाक्षरे—क, पादेह्यष्टादशाक्षरे—ग० ।
४ झण्डे झण्डे दिग्ले—ग० ।

रंगद्वार—

कृत्वा शुष्कावकृष्टां तु यथावद्द्विजसत्तमाः।
ततः श्लोकं पठेदेकं गम्भीरस्वरसंयुतम् ॥ ११४ ॥
देवस्तोत्रं पुरस्कृत्य यस्य पूजा प्रवर्तते।
राज्ञो[1] वा यत्रभक्तिः स्यादथवा ब्राह्मणस्तवम्[2] ॥ ११५ ॥

हे श्रेष्ठमुनिजन, शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के गान के पश्चात् वह (सूत्रधार) गम्भीर स्वर से एक श्लोक का पाठ करे। यह श्लोक किसी देवता की स्तुति वाला, या जिसके उपलक्ष में नाट्य प्रदर्शन का संयोजन हो उस देव से सम्बन्धित हो या फिर जिस राजा के प्रति प्रजा का अनुराग हो उसकी ओर या फिर ब्राह्मणों की स्तुति का संकेत करने वाला होना चाहिए ॥ ११४-११५ ॥

वदित्वा[3] जर्जरश्लोकं रङ्गद्वारे च यत्स्मृतम्।
पठेदन्यं पुनः श्लोकं जर्जरस्य प्रकाशनम्[4] ॥ ११६ ॥

रंगद्वार के अन्तर्गत इस प्रकार जर्जर श्लोक के पाठ के पश्चात् वह पुनः जर्जर के यश प्रकाशक एक दूसरे श्लोक का पाठ करे ॥ ११६ ॥

चारी—

जर्जरं नमयित्वा[5] तु ततश्चारीं प्रयोजयेत्।
पारिपार्श्विकयोश्च स्यात्पश्चिमेनापसर्पणम् ॥ ११७ ॥

इसके उपरान्त जर्जर को प्रणाम किया जाए और फिर 'चारी' का

'शुष्कावकृष्टा' ध्रुवा का जर्जर को लक्ष्य कर उसकी कीर्ति विस्तार हेतु गाना होता है। भरत ने इन ध्रुवाओं की छन्दशास्त्र तथा संगीत दोनों की दृष्टि से व्याख्या की है। प्रथम छन्द शास्त्र के अनुसार गुरु, लघु का निर्देश किया गया है तथा बाद में संगीत के अनुसार कला का प्रमाण बतलाया है।

---

१. राज्ञो भक्तिश्च यत्र। २. ब्राह्मणस्तव —ख०, ग०।
३. नान्दित्वा—ग०। ४. विनाशनम्—क०, विनामनम्—घ०।
५. मानयित्वा—ग०।

प्रदर्शन शुरु करे। तभी पश्चिम की ओर से दोनों पारिपार्श्विक रंगमंच से निष्क्रमण कर जाएँ ॥ ११७ ॥

[1]*अड्डिता ध्रुवा—*

अड्डिता चात्र[1] कर्तव्या ध्रुवा मध्यलयान्विता[2]।
चतुर्भिः सन्निपातैश्च चतुरश्रा[3] प्रमाणतः ॥ ११८ ॥

इसके उपरान्त 'अड्डिता' ध्रुवा का मध्यलय, चतुरस्रताल (चौताल) तथा चार सन्निपातों से युक्त गान (प्रयोग) आरम्भ हो जाए ॥ ११८ ॥

आद्यमन्त्यं चतुर्थं पञ्चमं च तथा गुरु।
[4]यस्यां ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वड्डिता बुधैः ॥ ११९ ॥

इस [2]अड्डिता ध्रुवा में प्रथम, पंचम तथा अन्तिम वर्ण गुरु तथा शेष वर्ण ह्रस्व होते हैं तथा इसके चारों पादों में बारह वर्ण होते हैं ॥ ११९ ॥

---

१. अड्डिता ध्रुवा का लक्षण नाट्य शा० ५।१२१ मे तथा ३।१० ३।७५ पर भी देखिये।

२ अड्डिता—अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग चारी के साथ होता है। अभिनव गुप्त ने बतलाया कि इसका प्रयोग कुछ आचार्य रंगद्वार मे चारी के साथ मानते हैं और अन्य रंगद्वार के सान्निध्य के कारण रंगद्वार मे 'अवकृष्टा' का प्रयोग मान्य करते हैं (अड्डिता का नही या अड्डिता को भी अवकृष्टा ही मानते है)। तीसरे विद्वान् रंगद्वार मे ध्रुवा का प्रयोग ही स्वीकार नही करते है। (अभि० भा Vol I पृ० २३१) अड्डिता का अन्य स्वरूप अभिनवगुप्त ने इस प्रकार बतलाया —

'आद्य चतुर्थं दशममष्टमैकादशे तथा।
गुरूणि दोधके यत्र स्यादड्डिता नाम सा स्मृता ॥ इति।

अर्थात् दोधकवृत्त से पाद मे जब प्रथम चतुर्थ, अष्टम, दशम और एकादश संख्या के अक्षर गुरु तथा शेष अक्षर लघु रहे तो उसे 'अड्डिता' ध्रुवा समझना चाहिए। (यह लक्षण भरत से भिन्न है। यहाँ भिन्नता यह है कि भरत के मत से 'अड्डिता' जाति है तथा अन्य आचार्य के मत से (जो अभिनव ने उद्धृत किया है) वह 'वृत्त' होती है।

---

१ चानुकर्तव्या—ग०। २ मध्यलयान्विता—ग०। ३ चतुरस्र—ग०।
४ यस्या तु जागते पादे सा भवेदड्डिता ध्रुवा—ग०, घ०।

अस्या प्रयोगं वक्ष्यामि यथा पूर्वं महेश्वरः ।
सहोमया क्रीडितवान्नानाभावविचेष्टितैः ॥ १२० ॥

और प्राचीन काल में भगवान शिव ने पार्वती के साथ क्रीडा करते हुए-जिस प्रकार अनेक भाव तथा चेष्टाओं की सृष्टि के द्वारा इस ध्रुवा का प्रयोग किया था अब मैं उसे बतलाता हूँ ॥ १२० ॥

कृत्वाऽवहित्थं स्थानं तु वामं चाधोमुखं भुजम् ।
[1]चतुरस्रमुरः कार्यमञ्चितश्चापि मस्तकः ॥ १२१ ॥

नाभिप्रदेशे विन्यस्य जर्जरं च तुलाधृतम्[2] ।
वामपल्लवहस्तेन पादैस्तालान्तरस्थितैः[3] ॥ १२२ ॥

गच्छेत्पञ्चपदीं चैव सविलासाङ्गचेष्टितैः ।
वामवेधस्तु कर्तव्यो विक्षेपो दक्षिणस्य[4] च ॥ १२३ ॥

शृङ्गाररससंयुक्तां पठेदार्यां विचक्षणः ।
चारीश्लोकं पठित्वा[5] तु कृत्वा च परिवर्तनम् ॥ १२४ ॥

तैरेव च पदैः कार्यं [6]पश्चिमेनापसर्पणम् ।
[7]पारिपार्श्विकहस्ते तु न्यस्य जर्जरमुत्तमम् ॥ १२५ ॥
महाचारीं ततश्चैव प्रयुञ्जीत यथाविधि ।

सर्व प्रथम सूत्रधार 'अवहित्थ'[1] स्थान को प्रदर्शित करे और बायीं भुजा को नीचे की ओर झुका कर वक्षस्थल को चतुरस्र तथा मस्तक को अञ्चित

---

१ अवहित्थस्थान—यह स्थान स्त्रीस्थानक माना जाता है। इसका लक्षण ना० शा० १३।१६४, १६५ पर द्रष्टव्य । अवहित्थस्थान में लताहस्त का अधोमुख स्थापन नाभिप्रदेश पर जर्जर को सन्तुलित करना है। जैसा कि यहाँ विवरण से स्पष्ट है।

---

१. एतत्पद्यार्धं—ग० पुस्तके नास्ति । २ तुलाघृतम्—ख०, ग० ।
३. पादान्तरोत्थितै —क० । ४. दक्षिणेन तु—ग० ।
५. गदित्वा—ग० । ६. प्राङ्मुखेना—ग० । ७. पारिपार्श्विकयोर्हस्ते—ग० ।

चेष्टा में रखे और नाभि स्थान पर संतुलित जर्जर को लिये हुए पाँच कदम आगे चले। वह अपने बाएँ हाथ से 'पल्लव' मुद्रा का प्रदर्शन करे, चलने के समय प्रत्येक कदम एक ताल के अन्तर से रखता जाए तथा अपने अवयवों को विलासयुक्त गति या चेष्टा में रखे। फिर वह बाएँ पैर द्वारा सूची (वेध) का तथा दाहिने पैर द्वारा विक्षेप का प्रदर्शन करे। तदुपरान्त विचक्षण सूत्रधार (एक) आर्या का पाठ करे जो शृङ्गार रस को प्रकट करती हो। पुनः वह चारी श्लोक का पाठ करे और एक परिवर्तन (गोल घुमाव) लेने के उपरान्त उन्हीं पूर्व वर्णित प्रकारों से जैसे वह यहाँ तक आया था (पश्चिमाभिमुख होकर) पीछे की ओर उसी तरह लौट जाए। फिर पारिपार्श्विक के हाथ में (उस श्रेष्ठ) 'जर्जर' को देकर वह यथाविधि 'महाचारी' का प्रयोग करे ॥ १२१–१२६ ॥

महाचारी—

चतुरश्रा ध्रुवा तत्र द्रुतलयान्विता[1] ॥ १२६ ॥
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च कला ह्यष्टौ प्रमाणतः।
आद्यं चतुर्थमन्त्यं च सप्तमं दशमं गुरु ॥ १२७ ॥
लघु शेषं ध्रुवा[2] योगे त्रैष्टुभे चरणे तथा।

इस चारी में ध्रुवा गीत चतुरस्र ताल तथा द्रुतलय से युक्त होता है। इसमें चार सन्निपात और आठ कलाएँ होती हैं। इस ध्रुवा का प्रत्येक पाद एकादशाक्षर का होता है जिसमें प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु होता है; एवं शेष वर्ण लघु होते हैं ॥ १२६–१२८ ॥

चतुरस्रा ध्रुवा का उदाहरण—

[1]पादतलाहतिपातितशैलं
क्षोभितभूतसमग्रसमुद्रम्।

---

१. यह चतुरस्रा ध्रुवा का उदाहरण है। इसके एकादशाक्षरपाद का क्रम इस प्रकार होगा :—पादतलाहतिपातितशैलम्।
S I I S I I S I I SS

---

१ द्रुतलयाश्रया—ग०। २. ध्रुवापादे चतुर्विंशतिके भवेत्—क०।
३ पादतलाहत—ध०।

ताण्डवनृत्तमिदं प्रलयान्ते
पातु[1] जगत्सुखदायि हरस्य ॥ १२९ ॥

प्रलय काल के पश्चात् संसार को सुखप्रदाता भगवान शिव का वह 'ताण्डव नृत्य'—जिसमें पैर के तले की ठोकर से पर्वत विच्छिन्न होकर लुढक गये हैं और सम्पूर्ण समुद्र तथा उसमें स्थित प्राणियों को जिसने विक्षुब्ध कर दिया है—आपकी रक्षा करे ॥ १२९ ॥

भाण्डोन्मुखेन कर्त्तव्यं पादविक्षेपणं ततः।
सूचीं कृत्वा[2] पुनः कुर्याद्विक्षेपपरिवर्त्तनम् ॥ १३० ॥

तब वह अपने कदम भरता हुआ भाण्डवाद्य तक जाए और फिर सूची[1] (चारी) का प्रदर्शन करे तथा पुनः 'विक्षेप' के द्वारा परिवर्तित हो जाए ॥ १३० ॥

अतिक्रान्तैः सललितैः पादैर्द्रुतलयान्वितैः[3]।
त्रितालान्तरमुत्क्षेपैर्गच्छेत्पञ्चपदीं ततः ॥ १३१ ॥
तत्रापि[4] वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च।
तैरेव[5] च पदैः कार्यं प्राङ्मुखेनापसर्पणम् ॥ १३२ ॥
पुनः पदानि त्रीण्येव गच्छेत्प्राङ्मुख एव तु।
ततश्च वामवेधः स्याद्विक्षेपो दक्षिणस्य च ॥ १३३ ॥

फिर वह अतिक्रान्ता-चारी में ललित गति से चलते हुए द्रुत लय में तीन ताल के अन्तर से उठाये जाने वाले पैरों से पाँच कदम चले और पुनः वह 'सूची (वेध) चारी' का बाएँ पैर से प्रथम और दाहिने से बाद में प्रदर्शन करे, फिर इन्हीं पैरों की गतियों (जो कि ऊपर

---

१. वाद्ययन्त्र तथा उनके वादक पीछे की ओर स्थित रहते हैं अतः सूत्रधार को पीछे की ओर हटना पड़ता है और फिर सूची चारी का प्रयोग कर पैरों को विक्षेप मुद्रा से आगे बढ़ाते हुए घूमने का यहाँ आशय प्रकट किया गया है।

---

१. पातु हरस्य सदा सुखदायि—घ०।
२ दत्वा—ग०। ३. लयाश्रितैः—ग०।
४. पद्यार्धमिदं प्रक्षिप्त ख—पु०। ५. तत्रैव—ख०।

वर्णित हैं) से सामने की ओर (पूर्व की ओर) मुख रखते हुए पीछे की ओर हटे पुनः सम्मुख तीन कदम आगे बढ़े और फिर वह 'सूची' चारी का बाएँ पैर द्वारा तथा 'विक्षेप' का दाहिने पैर द्वारा प्रदर्शन करे ॥

ततो रौद्ररसं श्लोकं पादसंहरणं[1] पठेत् ।
तस्यान्ते तु त्रिपद्याथ व्याहरेत्पारिपार्श्विकौ ॥ १३४ ॥
तयोरागमने कार्यं गानं नर्कुटकं बुधैः ।
[तत्रापि[2] वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च ।]

वह पुनः एक रौद्र-रस प्रचुर श्लोक का पाठ करे जिसमें समास (प्रयोग) के कारण पाद[1] (परस्पर) सम्मिलित हो गए हों। इसके पश्चात् तीन कदम आगे बढते हुए वह अपने दो पारिपार्श्विकों को बुलाए। जब ये दोनों पारिपार्श्विक आ रहे हों उस समय 'नर्कुटक'[2] ध्रुवा का गान किया जाए (तथा इस ध्रुवागान के समय वह बाएँ पैर से सूची (चारी) तथा दाहिने से विक्षेप का प्रदर्शन करे) ॥ १३४–१३५ ॥

त्रिगत—

तथा च भारतीभेदे त्रिगतं सम्प्रयोजयेत् ॥ १३५ ॥
विदूषकस्त्वेकपदे सूत्रधारस्मितावहाम् ।
असम्बद्धकथामायां कुर्यात्कथनिकां ततः[3] ॥ १३६ ॥

---

१. पादसंहरण मूल में 'रौद्ररस' का विशेषण है जैसा कि अभि० गु० ने भी माना है—'यथा पादानां च संहरणं समासयोजनयैव यत्रेत्योज प्रधानत्व दर्शितम्' (अ० भा० पृ० २४४)। श्री म० म० घोष इसका अर्थ करते हैं—पैर को एक साथ उठाते हुए जो यहाँ असगत लगता है।

२. नर्कुटक ध्रुवा का लक्षण ना० शा० ३२।२८० पर द्रष्टव्य। यह नर्कुटक ध्रुवा तीनों मिलकर गाते हैं या तीनों के साथ २ आने के समय गान-मण्डली द्वारा भी गायी जा सकती है।

---

१. पदसंहरण—ब०। २ पद्यार्धमेतत्—क०, ख० पुस्तके च नास्ति।
३ तथा—ग०।

इसके उपरान्त भारती वृत्ति में 'त्रिगत' (तीन पात्रों के संभाषण) की सयोजना करे। इस (त्रिगत) में अकस्मात् आकर विदूषक सूत्रधार को मुस्कराहट पैदा कर देने वाली असम्बद्ध बातों में संभाषण करे (कथनिका)॥

वितण्डां गण्डसंयुक्तां नालिकांश्च[1] प्रयोजयेत्।

कस्तिष्ठति जितं केनेत्यादिकाव्यप्ररूपिणीम्॥ १३७॥

इस संभाषण में वह कुछ विवादात्मक ([1]वितण्डा) विषय पर—जो एक तुरतुरापन लिए हो (गण्ड या आकस्मिक रूप में विहित) या जो किसी

---

१ वितण्डा—नालिका तथा गण्ड के लक्षण वीथ्यग के अन्तर्गत असत्प्र-लाप' नालिका तथा गण्ड हैं।

असत्प्रलाप का लक्षण है—'हितावह वचन का कथनमात्र जिसे सुनकर भी उसका आशय मूर्खतावश मध्यस्थ श्रोता ग्रहण न करे।' जैसे —

सर्वदा योऽक्षविजयी सुरासेवनतत्पर।

तस्यार्थाना सुखानाञ्च समृद्धि करगामिनी। (अभि० Vol 11 पृ० ४५६)

इसका अर्थ होगा—

जो सदा जुए के पासो से विजय प्राप्त करता है, सुरा-सेवन मे व्यस्त है उसे धन तथा सुखों की सम्पन्नता हाथ मे स्थित रहती है (क्योंकि वह पासो से विजय हस्तकौशल द्वारा ही प्राप्त करता है)।

किन्तु इसका दूसरा प्रतिपाद्य अर्थ है—'कि जो अपनी इन्द्रियो पर सयम रखता है (अक्षविजयी) देवताओ की भक्ति मे तत्पर है उसे अर्थ और सुखो की प्राप्ति एव वृद्धि सदा प्राप्य है।

नलिका का स्वरूप है—'ऐसी प्रपञ्चपूर्ण वचनावली का परिहासपूर्ण भाव से अभिधान करना जो प्रहेलिका के समान गूढ अर्थ भी अपने मे समाविष्ट करे। जैसे—

हस्ते कर्णस्य का शक्ति कासमध्यगतोऽस्ति क।
परै किमधितिष्ठतो न वाच्या शत्रिणो हता॥

अर्थ—कर्ण के हाथ मे कौन शक्ति है? (उत्तर—वासवदत्ता) 'क्ष' और 'स' के बीच कौन है? (उत्तर—'ह' कार) कहाँ शत्रुओ द्वारा मारे जाने पर भी

---

१ नालिका—ग०।

प्रहेलिका (नालिका) में इस प्रकार के प्रश्न करता हो —'कौन है ? किसने जीता ?' आदि—नाटक की कथावस्तु को आगे बढाने वाले प्रश्नों का प्रयोग करे । (पर इसमें अरोचक एवं अनपेक्षित विषयों का समावेश नहीं किया जाए) ॥ १३७ ॥

पारिपार्श्विकसञ्जल्पो[1] विदूषकविरूपित.[2] ।
स्थापितः सूत्रधारेण त्रिगतं[3] सम्प्रयुज्यते ॥ १३९ ॥

इस त्रिगत में पारिपार्श्विक की ठीक बातें विदूषक द्वारा सदोष बतलाई जाएँ तथा उसका (पारिपार्श्विक का) सूत्रधार भी समर्थन करे ॥ १३८ ॥

प्ररोचना—

प्ररोचना च कर्तव्या सिद्धेनोपनिमन्त्रणा[4] ।
रङ्गसिद्धौ पुनः कार्यं काव्यवस्तुनिरूपणम् ॥ १३९ ॥

योद्धा निन्दनीय नहीं होते ? (उत्तर—'रण') में इस प्रकार इस पद्य के द्वारा वासवदत्ताहरण' नामक रूपक या घटना की सूचना देने मे 'नालिका' है ।

गण्ड का स्वरूप है—एक व्यक्ति के द्वारा एक पक्ष मे प्रयुक्त वचन का अन्य व्यक्ति के द्वारा अन्यार्थ में ले लेना । यह गण्ड उक्तिगण्ड, द्वयर्थगण्ड वाक्यगण्ड तथा लेशगण्ड के प्रभेद से अनेक प्रकार का होता है । जैसे—

जातोऽन्यत्र च योऽन्यत्र वर्द्धितो मधुसम्भव ।
परपुष्ट स कृष्णोऽयं मारयत्यनिवारित ॥

अर्थ—जो एक स्थान मे उत्पन्न होकर दूसरे स्थान मे पोषित हुआ है, जो मधु (वसन्त) मे उत्पन्न [माधव] है, जिसका वर्ण काला है [कृष्ण] और जो परपुष्ट (कोकिल, दूसरे के द्वारा पालित] है वह न रोकने पर मारक [काम के समान] होता है ।

यहाँ उत्कण्ठिता नायिका के द्वारा कोकिल को सम्बोधित कर कहे गये वचन हैं जिसका कस ने दूसरा ही आशय समझा । अतएव यह गण्ड का उदाहरण है । (गण्ड के अन्य प्रभेदो के लक्षण तथा उदाहरण नाटकलक्षणरत्नकोश मे द्रष्टव्य) । वितण्डा, नालिका गण्ड आदि का वचनविन्यास कूट होता है जिसमे व्यङ्ग्य के साथ नाटकीय कथा वस्तु की योजना का सकेत भी मिल जाता है ।

---

१ पद्यमेतद् ग—पुस्तके नास्ति । २ विदूषकविदूषित —घ० ।
३ त्रिगते । ४ सिद्धेनोपनिमन्त्रणम—क०, ख० ।

इसके पश्चात् सूत्रधार प्रेक्षकगण को आमन्त्रित करते हुए प्ररोचना को प्रस्तुत करे तथा प्रयोग की सिद्धि-हेतु (खेले जाने वाले) नाटक आदि की विषय वस्तु का निरूपण करे ॥ १३९ ॥

सर्वमेव विधिं कृत्वा सूचीवेधकृतैरथ।
पादैरनाविद्धगतैर्निष्क्रामेयुः समं त्रयः ॥ १४० ॥

इन सभी विधानों के (विधिवत्) पूर्ण हो जाने पर तीनों पात्र सूची चारी का प्रदर्शन करें और फिर 'आविद्ध' चारी के अतिरिक्त किसी भी चारी (के लक्षणवाली चाल) में रंगमंच से निष्क्रमण कर जाएं ॥ १४० ॥

एवमेव[1] प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधि।
चतुरश्रो द्विजश्रेष्ठास्त्र्यश्रं[2] चापि निबोधत ॥ १४१ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, इस प्रकार विधिवत् इस चतुरस्र पूर्वरंग का प्रयोग करना चाहिए। अब मैं त्र्यस्र पूर्वरंग बतलाता हूँ ॥ १४१ ॥

त्र्यस्रपूर्वरङ्ग—

अयमेव प्रयोगः स्यादङ्गान्येतानि चैव हि।
तालप्रमाणं[3] संक्षिप्तं केवलं तु विशेषकृत् ॥ १४२ ॥

इस त्र्यस्र पूर्वरंग को भी चतुरस्र के (प्रयोग के) समान ही जानो, इसके भी उतने ही अंग होते हैं केवल इसकी विशेषता ताल के प्रमाणों का संक्षेप करना ही है ॥ १४२ ॥

शम्या[4] तु द्विकला कार्या तालो ह्येककलस्तथा।
पुनश्चैककला शम्या सन्निपातः कलाद्वयम् ॥ १४३ ॥

---

१ मेव—ग०। २ त्र्यस्रश्चापि—ग०, त्र्यस्र वा विनिबोधत—ख०।
३ विक्षिप्त—ग०। ४ शम्याकृद्विकल कार्यं—ग०।

इसमें शम्या[1] दो कला की तथा ताल[2] एक कला की, पुनः शम्या एक कला की तथा सन्निपात[3] दो कला के प्रमाण वाला होता है ॥ १४३ ॥

अनेन हि प्रमाणेन कलाताललयान्वितः ।
कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु त्र्यश्रोऽप्युत्थापनादिकः ॥ १४४ ॥

कला ताल तथा लय युक्त काल-प्रमाण के द्वारा 'त्र्यस्र पूर्वरंग' का इसी प्रकार प्रयोग करना चाहिए जिसमें उत्थापना आदि अंग वैसे ही (चतुरस्र के समान) रखे गए हों ॥ १४४ ॥

आद्यं चतुर्थं दशममष्टमं नैधनं गुरु ।
यस्यास्तु[1] जागते पादे सा त्र्यश्रोत्थापिनी ध्रुवा ॥ १४५ ॥

'त्र्यस्र' पूर्वरंग में होने वाली 'उत्थापना' ध्रुवा में 'जगती' छन्द के पाद में (द्वादशाक्षर पाद में) प्रथम, चतुर्थ, अष्टम, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु होता है ॥ १४५ ॥

वाद्यं गतिप्रचारश्च ध्रुवा तालस्तथैव च ।
संक्षिप्तान्यत्र[2] कार्याणि त्र्यश्रे[3] नृत्तप्रवेदिभिः ॥ १४६ ॥

नृत्त के विज्ञातागण इस त्र्यस्र पूर्वरंग में वाद्य, गतिप्रचार, ध्रुवागीत तथा तालों का संक्षेप में ही प्रयोग करें ॥ १४६ ॥

---

१ शम्या कहते हैं दाहिने हाथ से ताली बजाना । इसमें दो कला समय लगता है तथा यह शब्दा क्रिया के अन्तर्गत मानी जाती है । यह एक हाथ से होने वाली क्रिया कहलाती है तथा इसका काल दो गुरु मात्रा या २० निमेष होता है ।

२ कला—गुरु मात्रा के काल में होने वाली सशब्द क्रिया । भरत ने पांच निमेष का काल लघु ताल और दो लघु ताल का एक गुरु ताल माना है । अतः कला १० निमेष की होती है ।

३ सन्निपात—दोनों हाथों से ताली बजाना सन्निपात कहलाता है । इसका समय भी कला (आदि) से नियमित होता है । इसका विशेष विवरण ना० शा० अ० २६ तथा ३१ पर द्रष्टव्य ।

---

१ जाग्रत—ग० । २ न्येव—ग० । ३ त्र्यश्रनृत्त—क० ।

वाद्यगीतप्रमाणेन कुर्यादङ्गविचेष्टितम्[1]।
विस्तीर्णमथ सङ्क्षिप्तं द्विप्रमाणविनिर्मितम् ॥ १४७ ॥

और वाद्य तथा गीत के अनुसार अंगों का अभिनय बतलाना चाहिए जो संक्षिप्त तथा विस्तीर्ण दोनों प्रकार का हो ॥ १४७ ॥

हस्तपादप्रचारस्तु द्विकलः परिकीर्तितः।
चतुरस्रे परिक्रान्ते पाताः स्युः षोडशैव तु ॥ १४८ ॥

त्र्यस्रे द्वादश पातास्तु भवन्ति करपादयोः[2]।
एतत्प्रमाणं विज्ञेयमुभयोः पूर्वरङ्गयोः ॥ १४९ ॥

इसमें हाथ और पैरों की हलचल का समय दो कलाओं (के प्रमाण) का होता है। चतुरस्रपूर्वरंग के प्रत्येक परिवर्त में हाथ तथा पैरों का परिवर्तन सोलह बार होता है जब कि त्र्यस्रपूर्वरंग में यह परिवर्त बारह बार किया जाता है। इस प्रकार दोनों पूर्वरंगों में स्थित परिवर्त की संख्या—जो कि हस्त तथा पादों की होती है—बतलाई गई ॥१४८-१४९॥

केवले परिवर्ते तु गमने त्रिपदी भवेत्।
दिग्वन्दने पञ्चपदीं चतुरस्रे विधीयते ॥ १५० ॥

किन्तु (त्र्यस्र पूर्वरंग) 'परिवर्त की दशा में पैरों को तीन कदम आगे बढ़ाया जाता है जब कि चतुरस्र के दिग्वन्दन में पाँच कदम आगे बढ़ाया जाता है (तथा यही चतुरस्र पूर्वरंग से त्र्यस्र की विशेषता है) ॥ १५० ॥

आचार्यबुद्ध्या कर्तव्यस्त्र्यस्रस्तालप्रमाणतः[3]।
तस्मान्न लक्षणं प्रोक्तं पुनरुक्तं भवेद्यतः ॥ १५१ ॥

---

१. परिवर्त—चारो दिशाओ मे घूम घूम कर प्रत्येक दिशा के अधिपति (लोकपालो) की वन्दना करना परिवर्त कहलाता है। (ना० शा० ५।२३)

---

१. कृतिविचे—ग० गतिविचे—घ०। २. करपादजा.—ग०।
३. त्र्यस्रस्तज्ज्ञैः प्रमा—ख०।

त्र्यस्र पूर्वरंग ताल के कालप्रमाणानुसार तथा आचार्य बुद्धि द्वारा अनुमोदित स्वरूप में रहना चाहिए। पृथक् से इसका लक्षण इसलिए नहीं दिया गया है क्योंकि ऐसा करने पर पुनरुक्ति होती ॥ १५१ ॥

एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो द्विजोत्तमाः।
त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च शुद्धो भारत्युपाश्रयः॥ १५२ ॥

हे मुनिजन, इस प्रकार मैंने आपको भारती[1] वृत्ति के आश्रित रहने पर त्र्यस्र तथा चतुरस्र के शुद्ध पूर्वरंग का प्रयोग बतलाया। इसका इसी (वर्णित) विधि से प्रयोग करना चाहिए ॥ १५२ ॥

चित्रपूर्वरंग—

एवं तावदयं शुद्धः पूर्वरङ्गो प्रयोदितः।
चित्रयमस्य वक्ष्यामि यथाकार्यं प्रयोक्तृभिः॥ १५३ ॥

इस प्रकार मैंने यहाँ तक शुद्ध पूर्वरंग का विधान बतलाया अब इसी को 'चित्र' स्वरूप में (इनमें से किसी एक को) प्रयोग करने का उपाय बतलाता हूँ ॥ १५३ ॥

वृत्ते[1] ह्युत्थापने विप्राः कृते च परिवर्तने।
[2]चतुर्थकारदत्ताभिः सुमनोभिरलङ्कृते ॥ १५४ ॥
उदात्तगानैर्गन्धर्वैः परिगीते[3] प्रमाणतः।
देवदुन्दुभयश्चैव निनदेयुर्भृशं ततः॥ १५५ ॥

'उत्थापनी' ध्रुवा के प्रदर्शित हो जाने, 'परिवर्तन' में 'चतुर्थपात्र' के (मंच पर) प्रविष्ट होकर पुष्पों को प्रदान कर चुकने और संगीत निपुण

---

१ त्र्यस्र तथा चतुरस्र पूर्वरङ्ग भारतीवृत्ति के आश्रित होने पर शुद्ध होते हैं। भारती शब्द वृत्ति है अतः उसका सम्बन्ध वाचिक अभिनय से रहता है। पूर्वरंग में भारतीवृत्ति का उपयोग प्ररोचना, वीथि आदि में किया जाता है इसी कारण यहाँ पूर्वरंग को केवल भारतीवृत्ति के आश्रित होने पर शुद्ध कहा गया है।

---

१ नृत्ये—ख०। २ चतुष्प्रकार—ग०। ३ परिगीतं—ग०

गन्धर्व जन द्वारा लक्षणयुक्त उदात्तगीतों के गाये जाने पर बार बार देव-दुन्दुभियों का नाद करना चाहिए ॥ १५४–१५५ ॥

शुद्धाः[1] कुसुममालाभिर्विकिरेयुः समन्ततः ।
अङ्गहारैश्च देव्यस्ता उपनृत्येयुरग्रत ॥ १५६ ॥

(और इस प्रकार चित्र पूर्वरंग के प्रारंभ हो जाने पर) फिर श्वेत वर्ण की कुसुममालाओं को रंगमञ्च पर चारों ओर बिखेरते हुए देवियों का वेश धारण किये हुए नर्तकियाँ प्रवेश करें जो अंगहारों को प्रदर्शित करती हुई सामने नृत्य करें ॥ १५६ ॥

यस्ताण्डवविधिः प्रोक्तो नृत्ते पिण्डीसमन्वितः[2] ।
रेचकैरङ्गहारैश्च न्यासोपन्याससंयुतः ॥ १५७ ॥

नान्दीपदानां मध्ये तु एकैकस्मिन्पृथक्पृथक् ।
प्रयोक्तव्यो विधिः[3] सम्यक् चित्रभावमभीप्सुभिः ॥ १५८ ॥

नृत्त प्रकरण में पिण्डीबन्ध, रेचक तथा अङ्गहारों के न्यास[1] तथा अपन्यास[2] के प्रयोग सहित जो ताण्डवविधि बतलाई गयी है उसका चित्रपूर्व रङ्ग के रूप में विधान करने की इच्छा वाले कुशलनाट्याचार्य नान्दी के एक एक पदों के मध्य में पृथक् पृथक् ठीक प्रयोग करें ॥ १५७–१५८ ॥

एवं कृत्वा यथान्यायं शुद्धं चित्रं प्रयत्नतः ।
ततः परं प्रयुञ्जीत नाटकं लक्षणान्वितम् ॥ १५९ ॥

इस प्रकार शुद्ध तथा चित्र पूर्वरंग का (जो भी प्रासंगिक हो) प्रयत्न पूर्वक प्रयोग करने के पश्चात् लक्षणों से युक्त नाटक का प्रयोग प्रारंभ करना चाहिए ॥ १५९ ॥

---

१. न्यास—जिस स्वर पर 'अंग' अर्थात् गीत, वाद्य या नृत्त का एक प्रबन्ध समाप्त हो जाए उसे 'न्यास' कहा जाता है ।

२ अपन्यास—वह स्वर जिस पर 'अंग' का मध्यभाग पूर्ण या समाप्त होता हो ।

---

१. सिद्धा —क, ख०   २. समन्तत —ख० ।   ३. बुधैः—क० ।

ततस्त्वन्तर्हिताः सर्वा भवेयुर्दिव्ययोषितः।
निष्क्रान्तासु च सर्वासु नर्तकीषु ततः परम् ॥ १६० ॥
पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यमङ्गजातमतः परम्।
एवं शुद्धो भवेच्चित्रः पूर्वरङ्गो विधानतः ॥ १६१ ॥

फिर ये नर्तकी देवियाँ रंगमंच से नृत्य प्रदर्शन के पश्चात् चली जाएँ। और उन देवी नर्तकियों के रंगमंच से चले जाने के बाद 'पूर्वरंग' के शेष अङ्गों का प्रयोग पूर्ण किया जाय। इस विधान से शुद्ध पूर्वरंग 'चित्र पूर्वरंग' बन जाता है ॥ १६०–१६१ ॥

कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र नृत्तगीतविधिं प्रति।
गीते वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽतिप्रसङ्गतः ॥ १६२ ॥
खेदो भवेत्प्रयोक्तॄणां प्रेक्षकाणां तथैव च।
खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते ॥ १६३ ॥
ततः शेषप्रयोगस्तु न रागजनको भवेत्।

परन्तु इन पूर्वरंगों में (जो किसी भी स्वरूप वाले हो) अधिक[1] गीत तथा नृत्य (नृत्त विधि) की योजना नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि

---

१ पूर्वरङ्ग के इन प्रकारो मे आचार्य अभिनवगुप्त ने सोलह अङ्गों का क्रम बतलाया है। यथा—उत्थापन, परिवर्तन, अवकृष्टागान, नान्दीपाठ, शुष्कावकृष्टा, जर्जरश्लोक, ध्रुवा, रङ्गद्वार, अङ्गिता, आर्यापाठ, ध्रुवा, रौद्रश्लोक पाठ, नर्कुटक, त्रिगत तथा प्ररोचना। व्यस्त मे भी ये सोलह अङ्ग रहते हैं तथा नान्दी के पदो के मध्यवर्ती समय मे नृत्त भी होता है। यदि इसके अतिरिक्त अङ्गों का प्रयोग और अधिक विलम्ब तक चले तो उससे प्रस्तुत किये जाने वाले 'नाट्य' को देखने का उत्साह दर्शकों मे घटने लगेगा अतः अधिक विस्तार नही किया जाए (तथा प्रारम्भ मे ही प्रयोग के बिगड जाने से आगे अच्छी तैयारी से भी नाट्य प्रयोग प्रस्तुत किया जाय तो भी इष्ट लाभ सरल नहीं होता।)

---

१. गीतनृत्यविधि—ग०।

ये गीत तथा नृत्य देर तक चलते रहेंगे तो प्रयोक्तागण को थकाने तथा प्रेक्षकों को उबा देने वाले होंगे, फिर खिन्न व्यक्तियों (अभिनेता तथा प्रेक्षक वर्ग) को रस तथा भावों की स्पष्टतापूर्वक प्रतिपत्ति नहीं होगी और इस प्रकार आगे प्रस्तुत किये जाने वाले नाट्य प्रयोग की रंजकता न रह पाएगी ॥ १६२–१६३ ॥

[लक्षणेन[1] विना वाह्यलक्षणाद्विस्तृतं भवेत् ॥
लोकशास्त्रानुसारेण तस्मान्नाट्यं प्रवर्तते ।]

[शास्त्रलक्षणहीन होने पर 'नाटक' लोकलक्षण मात्र से भी प्रसिद्ध हो जाता है इसलिये शास्त्र तथा लोक (दोनों) लक्षण के अनुसार 'नाट्य' का पवर्तन किया जाए।]

त्र्यस्रं वा चतुरस्रं वा शुद्धं चित्रमथापि वा ॥ १६४ ॥
प्रयुज्य रङ्गान्निष्क्रामेत् सूत्रधारः सहानुगः ।

त्र्यस्र, चतरस्र, शुद्ध तथा चित्र किसी प्रकार के पूर्वरंग का प्रयोग करने के उपरान्त सूत्रधार अपने दोनों परिपार्श्वकों के साथ रंगमंच से चला जाए ॥ १६४ ॥

आश्रावणा[1]—

देवपार्थिवरङ्गाणामाशीर्वचनसंयुताम् ॥ १६५ ॥
कवेर्नामगुणोपेतां वस्तूपक्षेपरूपिकाम् ।
लघुवर्णपदोपेतां वृत्तैश्चित्रैरलङ्कृताम् ॥ १६६ ॥
अन्तर्यवनिकासंस्थः कुर्यादाश्रावणां ततः ।
आश्रावणावसाने च नान्दीं कृत्वा स सूत्रधृत् ॥ १६७ ॥
पुनः प्रविश्य रङ्गं तु कुर्यात्प्रस्तावनां ततः ।

फिर वह सूत्रधार (स्थापक) 'आश्रावणा' का प्रयोग करे। यह आश्रावणा देवता, भूप तथा रंग के आशीर्वचन से युक्त होती है। इसमें

---

१ आश्रावणा' का यह वर्णन कुछ पुस्तकों में नहीं मिलता है।

---

१. श्लोकोऽयं ग०—पुस्तके नास्ति ।

नाटक के रचयिता कवि का नाम तथा उसके गुणों का वर्णन रहता है तथा यह कथावस्तु की प्रतीति की उत्पादक होती है। इसमें लघुवर्ण के पद रहते हैं तथा अनेक वृत्त (छन्द या घटनाएँ) रहती हैं। वह सर्वप्रथम इस आश्रावणा को यवनिका के अन्दर स्थित रहकर सम्पन्न करे और आश्रावणा के पश्चात् (सूत्रधार) पुनः नान्दी को भी सम्पन्न करे और तदनन्तर वह मंच पर आकर प्रस्तावना को प्रस्तुत करे ॥ १६५-१६७ ॥

*प्रस्तावना—

प्रयुज्य विधिनैवन्तु पूर्वरङ्गं प्रयोगतः[१] ॥ १६८ ॥

स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः ।

इस प्रकार वर्णित विधि के अनुसार 'पूर्वरंग' का प्रयोग हो चुकने पर सूत्रधार के समान गुण एवं आकृति वाला स्थापक[१] रंगमंच पर प्रवेश करे ॥ १६८ ॥

---

१ 'स्थापक' को अभिनवगुप्ताचार्य सूत्रधार ही बतलाते हैं—'सूत्रधार एव स्थापक' (अभि० भाव० अ० ५, पृ० २५०) धनंजय ने 'दशरूपक' (३।२) में बतलाया कि पूर्वरंग के विधान के बाद सूत्रधार रंगमंच से चला जाए। शारदातनय ने (भावप्रकाशन में) भी यही विवरण दिया है (दे० भा० प्र० ०२८)। साहित्यदर्पण में विश्वनाथ कविराज ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किया हैं (सा० द० ६।२६)। उपर्युक्त सभी आचार्य 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर यहाँ एक मत हैं। अति प्राचीन काल में धार्मिक अनुष्ठान के सम्पन्न करने पर सूत्रधार का प्रयोजन पूर्ण हो जाता था तथा प्रदर्शन की पूर्वपीठिका बन जाती थी। बाद में होने वाले नाट्य प्रदर्शन का कार्य अन्य सहायक व्यक्ति देखते थे जिनमें एक स्थापक भी होता था। पर यह व्यवस्था आगे नहीं चली और तब सूत्रधार या स्थापक में से किसी एक के द्वारा यह कार्य सम्पन्न होने लगा। भास अपने नाटक सूत्रधार द्वारा प्रस्तावना के उपक्रम से ही प्रारम्भ किये जो उस समय का एक नवीन आदर्श था तथा बाण ने भी अपने हर्षचरित में 'सूत्रधार-कृतारम्भैः' के द्वारा उल्लेख किया है। परन्तु कालान्तर में एक सूत्रधार ही सब कार्य सम्पन्न करने लगा था जिनका साहित्यदर्पण में उल्लेख (आता) है।

स्थानन्तु वैष्णवं कृत्वा सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ॥ १६९ ॥
प्रविश्य रङ्गं तैरेव सूत्रधारपदैर्व्रजेत्[1]।

वह वैष्णवस्थान[1] को सौष्ठव[2] युक्त शरीरावयवों से प्रदर्शित करते हुए मञ्च पर प्रवेश करे तथा (वैसी ही) सूत्रधार सदृश चारी में पाँच कदम आगे चले ॥ १६९ ॥

स्थापकस्य प्रवेशे तु कर्तव्यार्थानुगा ध्रुवा ॥ १७० ॥
त्र्यस्रा[2] वा चतुरस्रा वा तज्ज्ञैर्मध्यलयान्विता।

स्थापक के मञ्च पर प्रवेश के समय अर्थानुगामिनी ध्रुवा का गान किया जाए और यह गान त्र्यस्र या चतुरस्र ताल में मध्यलय में रखना चाहिए ॥

कुर्यादनन्तरं चारीं देवब्राह्मणशंसिनीम् ॥ १७१ ॥
सुवाक्यमधुरैः श्लोकैर्नानाभावरसान्वितैः।

इसके पश्चात् वह देवता तथा ब्राह्मणों में भक्ति की सूचक 'चारी' को अनेक भाव तथा रसों से युक्त, मधुर वाक्य वाले सुन्दर श्लोकों के द्वारा प्रस्तुत करे ॥ १७१ ॥

प्रसाद्य रङ्गं विधिवत् कवेर्नाम[3] च कीर्तयेत् ॥ १७२ ॥
प्रस्तावनां ततः कुर्यात् काव्यप्रख्यापनाश्रयाम्।

---

१. वैष्णस्थान का लक्षण ना० शा० १०।५०-५१ पर है। इसमें खड़े होने की स्थिति में दोनों पैर ढाई ताल के अन्तर से रखे जाते हैं, यहाँ एक पैर सम (सीधा) रहता है तथा दूसरा टेढा रखा जाता है।

२ सौष्ठव का लक्षण ना० शा० ११।८६ पर द्रष्टव्य। इसमें शरीर स्थिर, सीधा और समस्थिति में रहता है।

३. अभिनवगुप्त ने 'अन्तरचारी' पाठ की भी व्याख्या की है। अर्थात् अपने (स्थान के) अतिरिक्त एक अन्य 'चारी' श्लोक का पाठ करना। अर्थात् इस समय शृङ्गार या वीररस प्रधान देवस्तुति (आदि) के विषय वाले एक और श्लोक का पाठ किया जाए।

---

१. पद…ग०। २. चतुरस्राऽथवा त्र्यस्रा तज्ज्ञैर्मध्यलयान्विता–घ०।
३ नामानुकीर्तयेत्–घ०।

(इस प्रकार) रंगस्थ प्रेक्षकों का मनोरंजन कर चुकने पर वह नाटक लेखक (कवि) का नाम घोषित करे और फिर नाटक की कथावस्तु को निर्दिशित करने वाली 'प्रस्तावना' का प्रारम्भ करे ॥ १७२ ॥

उद्घात्यकादि कर्तव्यं काव्योपक्षेपणाश्रयम् ॥ १७३ ॥

दिव्ये दिव्याश्रयो भूत्वा मानुषे मानुषाश्रयः।

दिव्यमानुषसंयोगे दिव्यो वा मानुषोऽपि वा ॥ १७४ ॥

मुखबीजानुसदृशं नानामार्गसमाश्रयम्।

नानाविधैरुपक्षेपैः काव्योपक्षेपणं भवेत् ॥ १७५ ॥

प्रस्ताव्यैवं तु निष्क्रामेत् काव्यप्रस्तावको[2] द्विजः।

एवमेव प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधि ॥ १७६ ॥

दृश्य काव्य के अर्थों की सूचक उद्घात्यक आदि (प्रस्तावनाओं के विभेदों) का प्रयोग करना चाहिए। यदि नाटक का (कथावस्तु का) विषय दिव्य-चरित हो तो वह दिव्यवेश, मानव चरित हो तो मानुष-वेश तथा दिव्य एवं मानवों के संकीर्ण चरित होने पर दिव्य-मानुष-वेश में से किसी एक को धारण करे और अनेक प्रकार से (वह) नाटक के प्रतिपाद्य मुख[1] तथा बीज के सूचक अनेक मार्ग का आश्रय लेकर सूचना दे। यह कार्य (प्रस्तुत किये जाने वाले अभिनेय काव्य का संकेत) अनेक-विध उपक्षेपों (सन्दर्भों) द्वारा किया जाता है। इस प्रकार काव्य (दृश्य काव्य) की प्रस्तावना (करने) के पश्चात् वह स्थापक (द्विज) रंगमञ्च से प्रस्थान करे। इसी प्रकार विधिवत् (इस) पूर्वरंग का प्रयोग करना चाहिए ॥ १७३–१७६ ॥

---

१. मुखसन्धि, बीज तथा अर्थप्रकृति के लक्षण ना० शा० अध्याय २१।३६ तथा २१।२२ पर द्रष्टव्य। पूर्वरंग में सूत्रधार प्रस्तावना का सम्पादन कर मंच से चला जाता है पर वह सामाजिकों में मुखसन्धि का प्रयोग द्वारा बीज का आधान करते हुए उनकी अनुकूलता अर्जित करता है (तथा 'नाट्यप्रयोग' के प्रति कौतूहल की सृष्टि भी कर देता है)

---

१. पद्यार्धमेतन् ग—पुस्तके नास्ति। १. काव्यप्रास्तावकस्ततः—ख०।

पूर्वरंग का महत्त्व—

य इमं पूर्वरङ्गं तु विधिनैव प्रयोजयेत्।
नाशुभं प्राप्नुयात्किञ्चित्स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १७७ ॥

जो भी नाट्यप्रयोक्ता इस 'पूर्वरंग' का (इस वर्णित) विधान के अनुसार प्रयोग करेंगे, वे किसी भी अनिष्ट को प्राप्त नहीं करेंगे तथा (अन्त में) स्वर्गलोक को प्राप्त करेंगे ॥ १७७ ॥

यश्चापि विधिमुत्सृज्य यथेष्टं संप्रयोजयेत्।
प्राप्नोत्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ १७८ ॥

और जो नाट्य प्रयोक्ता इस विधि का अतिक्रमण कर यथेष्ट विधि से पूर्वरंग का आचरण करेगा वह अतिशय हानि प्राप्त करेगा तथा पशुयोनि में जन्म लेगा ॥ १७८ ॥

न यथाग्निः प्रदहति प्रभञ्जनसमीरितः।
यथा ह्यपप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ॥ १७९ ॥

वायु से प्रेरित अग्नि भी उतना शीघ्र फैल कर किसी वस्तु को भस्म नहीं कर सकती जितना त्रुटिपूर्ण नाट्यविधान; क्यों कि यह तो प्रयोग त्रुटि के होने पर तत्काल ही प्रयोक्ता को नष्ट[1] कर देता है ॥ १७९ ॥

इत्येषोऽवन्तिपाञ्चालदाक्षिणात्यान्ध्रमागधैः[1]।
कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु द्विप्रमाणविनिर्मितः ॥ १८० ॥

दो प्रमाण एवं विस्तार वाला (त्र्यस्र तथा चतुरस्र प्रकारों से निर्मित) यह पूर्वरंग अवन्ती, पाञ्चाल, दाक्षिणात्य, आन्ध्र तथा मगध देशवासियों द्वारा प्रयोग किया जाए ॥ १८० ॥

---

१ 'नाट्य' जैसे जटिल प्रयोग को सावधानी से करना चाहिये अन्यथा सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाएगा। यहां आशय
क हो सकती है।

---

१ इत्येवावन्तिपाञ्चालदाक्षिणात्योढ्रमागधैः—ग०।

एष वः कथितो विप्राः पूर्वरङ्गाश्रितो विधिः।
भूयः किं कथ्यतां सम्यङ्नाट्यवेदविधिं प्रति ॥ १८१ ॥

हे मुनियों, इस प्रकार मैंने आपको 'पूर्वरंग' से सम्बद्ध सभी विधियाँ बतलाईं। अब आपको इस नाट्यवेद से सम्बन्धित और कौन सा विषय बतलाऊँ ॥ १८१ ॥

पुनश्चित्रे तथा मिश्रे शुद्धे चैव प्रयोक्ष्यहम्।
यथा योज्या ध्रुवा पञ्च तथा वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ १८२ ॥

अब मैं चित्र,[1] मिश्र तथा शुद्ध पूर्वरंग में होने वाली पाँच ध्रुवाओं के संयोजन की तात्विक विधि बतलाता हूँ ॥ १८२ ॥

आदावुत्थापनी[2] कार्या परिवर्तस्तथा भवेत्।
[3]अवकृष्टाऽड्डिता चैव विक्षिप्ता चैव पञ्चमी ॥ १८३ ॥

एवं पञ्च ध्रुवा ज्ञेया उपोहनसमन्विताः।
कर्तव्यास्तु प्रयत्नेन पूर्वरङ्गे प्रयोक्तृभिः ॥ १८४ ॥

इन पाँच ध्रुवाओं में सर्व प्रथम उत्थापनी ध्रुवा होती है फिर परिवर्तिनी, अवकृष्टा, अड्डिता और विक्षिप्ता ध्रुवाएँ की जाती हैं।

'उपोहन'[2] विधान से सम्बद्ध ये ही पाँच ध्रुवाएँ हैं जिनका 'पूर्वरंग' में प्रयत्न पूर्वक प्रयोग करना चाहिए ॥ १८३–१८४ ॥

---

१ 'पुनश्चित्र' इत्यादि से अध्यायान्त तक के श्लोक भरत के नहीं हैं किन्तु अन्य आचार्यों (कोहल आदि) द्वारा विषय पूर्ति की दृष्टि से यहाँ दिए गए हैं। इसी दृष्टि से इन सभी श्लोकों का व्याख्यान दिया जा रहा है क्योंकि नाट्यशास्त्र की अनेक प्रतियों तथा संस्करणों मे यहाँ ये श्लोक प्राप्त (होते) हैं।

२ उपोहन—वस्तु या गीत (जिसे आजकल चीज, कहते हैं) के प्रयोग

---

१ इत प्रभृतिसमाप्ति यावत् श्लोक प्रक्षिप्ता।

२ उत्थापिनी तथा कार्या परिवर्ता तथा भवेत्—ग०।

३ अपकृष्टा सिता—ग०।

अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युपोहनविधिक्रियाम् ।
उत्थापनस्याष्टकलं परिवर्त्तस्य षट्कलम् ॥ १८५ ॥

अवकृष्टं[1] पुनः कार्यं कलाभिः पञ्चभिर्युतम् ।
ध्रुवायामङ्कितायाश्च चतुष्कलमथापि च ॥ १८६ ॥

क्षिप्तायाश्चैव[2] विज्ञेयं कलात्रयसमन्वितम् ।
एवं ह्युपोहनानान्तु प्रमाणं समुदाहृतम् ॥ १८७ ॥

गुरुलाघवसंयुक्तं कलातालसमन्वितम् ।
पूर्वरङ्गं सदा ज्ञेयं चित्रमार्गे[3] ह्युपोहनम् ॥ १८८ ॥

चित्रे चैका कला ज्ञेया मिश्रे वार्तिकमाश्रिताः ।
शुद्धे दक्षिणमार्गेण प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ॥ १८९ ॥

अब मैं 'उपोहन (के प्रयोग को) विधि बतलाता हूँ । उत्थापनी-ध्रुवा में आठ कला, परिवर्तनी में छः कला, अवकृष्टा में पाँच कला, अङ्किता में चार कला तथा विक्षिप्ता ध्रुवा में तीन-कला का प्रमाण उपोहन विधि में माना गया है । यह उपोहन विधान गुरु तथा लघु (अक्षरों) वाला और कला तथा ताल से युक्त होता है । 'चित्र-मार्ग में उपोहन का

के पूर्व या वस्तु और कलिका के बीच स्वर तथा कला (ताल या काल विशेष) के नियमन के लिये किया जाने वाला आलाप । यह उपोहन केवल शुष्काक्षरों के द्वारा किया जाता है अर्थात् इससे गीत के सार्थक पदों का गान नहीं होता । आचार्य भरत ने तालाध्याय में 'उपोह्यन्ते स्वरा येन यस्माद् गीतं प्रवर्तते । तस्मादुपोहनं प्रोक्तं शुष्काक्षरसमन्वितम्' । (ना० शा० ३१।१३८) अर्थात् प्रारम्भ में स्थापित स्थायीस्वर का आलाप आदि करना जिससे गीत का प्रारम्भ होता हो, तो केवल ऐसा वर्णालाप का (अक्षरों का) गान 'उपोहन' कहलाता है ।

१ चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण मार्ग के लक्षण ना० शा० के २९ तथा ३१ में विस्तार से दिये गए हैं ।

---

१. अपकृष्ट—ग० । २. विक्षिप्तञ्चैव—घ० । ३. चित्रार्गे—छ० ।

एवमुत्थापनी[1] कार्या पूर्वरङ्गप्रयोक्तृभिः[2] ।
अतोऽन्यत्परिवर्ताया लक्षणं संविधीयते ॥ १९९ ॥

पूर्वरंग के प्रस्तुत कर्ता इसी विधि से उत्थापनी ध्रुवा का प्रयोग करें । अब आगे 'परिवर्तिनी' ध्रुवा का लक्षण बतलाया जाएगा ॥ १९९ ॥

अस्यास्तूपोहनं कार्यं षट्कलं परिसङ्ख्यया ।
आदौ दिग्ले द्विरुक्तस्तु[3] अन्ते झण्टु सदा भवेत् ॥ २०० ॥

मध्ये लघ्वक्षराण्येव द्वादशैव प्रयोजयेत् ।
वस्तुनोऽत्र प्रवक्ष्यामि गुरुलघ्वक्षरक्रमम् ॥ २०१ ॥

इस परिवर्तिनी ध्रुवा में छः कलाओं की उपोहन क्रिया होती है । इसमें दो बार आदि में दिग्ले और अन्त में झण्टु होता है और मध्य में द्वादश लघु अक्षरों का निवेश किया जाता है । अब इसमें विद्यमान वस्तु[1] (गीतक) की गुरु तथा लघु अक्षरों की क्रमविधि बतलाता हूँ ॥ २००–२०१ ॥

द्वे चादौ[4] च चतुर्थं च अष्टमं दशमं तथा ।
चतुर्दशं पञ्चदशं पादे गुर्वक्षराणि तु ॥ २०२ ॥

सा ध्रुवा परिवर्ताख्या त्रिलया त्रियतिस्तथा ।
परिवर्तास्तु चत्वारः पाणयस्त्रय• पञ्च च ॥ २०३ ॥

चतुर्भिस्सन्निपातैस्तु द्वात्रिंशत्कलिकान्विता ।
पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यः परिवर्तः प्रयोक्तृभिः ॥ २०४ ॥

जिसके एक पाद में आदि के दो अक्षर तथा चतुर्थ, अष्टम, दशम, चतुर्दश एवं पञ्चदशाक्षर गुरु होते हैं तो उसे परिवर्ता ध्रुवा समझना

---

१ नाट्यप्रयोग के अतिरिक्त अपरान्तक आदि सात प्रकार की गीति वस्तु कहलाती है । वस्तु के सात प्रकार तथा उनका स्वरूप ना० शा० अध्याय ३१ में बतलाया गया है ।

---

१. एवमुक्त्वा परीकार्या—ग० । २ पूर्वरङ्गे—घ० ।
३ द्विरुक्तस्तु—ग० । ४ द्वौ पादौ—ग० ।

चाहिए। इसमें तीन[1] लय, तीन यति, चार परिवर्त और तीन पाणि होते हैं। इस परिवर्ती ध्रुवा को चार सन्निपातों के तथा बत्तीस कलाओं के साथ पूर्वरंग में प्रयुक्त करना चाहिए॥ २०२–२०४॥

यथा—

चन्द्रार्धभूषणजटं वरं[1] वृषभकेतुं[2]
कैलासपर्वतनिवासिनं[3] सुरवरिष्ठम्।
शैलाधिराजतनयाप्रियं प्रमथनाथं
मूर्ध्ना नतोऽस्मि त्रिपुरान्तकं परमयोगिनम्[4] ॥२०५॥

जैसे[2]—मैं उन परमयोगि त्रिपुरारि भगवान शिव को साष्टाग प्रणाम करता हूं जो जटा और चन्द्र के भूषण धारण करते हैं, वृषभ ही जिनका चिह्न है, कैलास पर्वत पर निवास करते हैं, देवताओं में श्रेष्ठतम हैं, पार्वती के अतिशय प्रिय हैं तथा गणों के अधिपति हैं॥ २०५॥

अवकृष्टा ध्रुवा

अवकृष्टामिदानीं[5] तु कथ्यमानां निबोधत।
अष्टाक्षरसूपोहनं कार्यं कलाभिः पञ्चभिर्युतम्॥ २०६॥
द्विके द्विके पुनश्चान्ते[6] अष्टुमस्य प्रयोजयेत्।
अष्टावेव तु कार्याणि मध्ये लघ्वक्षराणि तु॥ २०७॥
तृतीयं चैव षष्ठं तु नवमैकादशे तथा।
पादे पञ्चदशं चैव षोडशं च भवेद्गुरु॥ २०८॥

---

१. लय, यति, पाणि, तथा परिवर्त आदि के लक्षण नाट्य शा० अध्याय ३१ मे देखिये।

२ परिवर्तिनी ध्रुवा के उदाहरण मे मात्राओ की गणना इस प्रकार है—
चन्द्रार्धभूषणजट वर वृषभकेतु
S S I S I I IS I I I S S

---

१ पर—ग०। २. वृषकेतनम्—ग०। ३. निवास—ग०।
४ परमयोगिम्—घ०। ५ अपकृष्टा—ग०। ६. पुनश्चाय—ग०।

अब 'अवकृष्टा' ध्रुवा का स्वरूप सुनिये। इससे पाँच कलाओं से उपोहनविधान किया जाए। आरम्भ में दिग्ले दिग्ले तथा अन्त में ध्रुव का प्रयोग रहना चाहिए तथा मध्यवर्ती लघु अक्षरों की संख्या आठ रखनी चाहिए। इसमें (एक) पाद में तृतीय, षष्ठ, नवम, एकादश, पंचदश और षोडशाक्षर गुरु होता है ॥ २०६–२०८ ॥

अष्टषष्टिगणै.[1] [2]पातैरवकृष्टविधिर्बुधा ।
चतुर्भि सन्निपातैश्च पाणिभिस्त्रिभिरेव च ॥ २०९ ॥

इस अवकृष्टा के पादों में अड़सठ (६८) पात[1] भाग होते हैं जो चार सन्निपात तथा तीन पाणि के द्वारा किये जाते हैं ॥ २०९ ॥

यथा—

वरदं सगणं[3] त्रिपुरान्तकं[4] वृषभकेतुम् ।
गजचर्मधरं त्रिपमेक्षणं भुवननाथम् ॥
भुजगाभरणं[5] जगतां हितं भुवनयोनिम् ।
प्रणतोऽस्मि भवन्तमुमापतिं स्वसितकण्ठम् ॥ २१० ॥

जैसे[2]—मैं उन वरद गौरीपति नीलकंठ भगवान शिव को प्रणाम करता हूँ जो प्रमथगणों से युक्त हैं, त्रिपुर के संहर्ता हैं, वृषभापन तथा गजचर्म को धारण किये हैं, त्रिनेत्र और विश्वाधिपति हैं, सर्पों के भूषण धारण करते हैं, विश्व के कल्याण कर्ता एवं संसार के उत्पत्ति कर्ता हैं ॥ २१० ॥

---

१. पातभाग कला आदि का स्वरूप नाट्यशास्त्र के ३१ वें अध्याय (तालाध्याय) में देखिये। पात का अर्थ है सशब्दा क्रिया। इसी में सन्निपात तथा पाणि का प्रयोग होता है।

२ अवकृष्टा ध्रुवा में मात्राओं की गणना का निम्न क्रम है —
वरद सगण त्रिपुरान्तक वृषभकेतु
।।S ।। ■ ।।S।S ।।।SS

---

१ अष्टषष्ठगुणै ग०, अष्टषष्ठगणै —घ०। २ पादै —ग०।
३ सहगणं—ग०। ४ त्रिपुरान्तकर—ग०। ५ भुजङ्गाभरण ग०।

अड्डिता ध्रुवा—

तृतीयञ्चैव षष्ठञ्च गुरुपादे त्रयोदशम्।
चतुर्गुणसमायुक्ता सा कार्या त्वड्डिता[1] ध्रुवा ॥ २१२॥
तत्राप्युपोहनं कार्यं चतुष्कलसमन्वितम्।
अड्डितायाः प्रयोगज्ञैरन्ते झण्टु विभूषितम् ॥ २१३ ॥
दिग्ले दिग्ले ततश्चैव कार्यमन्ते[2] सदा बुधैः।
चत्वार्येव तु कार्याणि मध्ये[3] लघ्वक्षराणि तु ॥ २१४ ॥

'अड्डिता' ध्रुवा में त्रयोदशाक्षर पाद के तृतीय तथा षष्ठ अक्षर गुरु रखे जाएँ तथा यह चार[1] गुणों से युक्त हों। इसमें चार कलाओं से उपोहन-विधि की जानी चाहिए; अन्त में झण्टु तथा आरम्भ में दिग्ले दिग्ले रखा जाए तथा मध्य में चार अक्षर लघु रहने चाहिए ॥ २१२-२१४ ॥

यथा[2]—

प्रवरं वरदं प्रणमत[4] सततम्।
गजचर्मपटं मुनिजनसहितम्[5] ॥
उमया सहितं भुजगवलयिनम्।
प्रणतोऽस्मि शिवं त्रिभुवनमहितम्[6] ॥ २१५ ॥

---

१ अड्डिताध्रुवा मे चार गुण होते है। इनमे प्रथम गुण है चार कलाओ की उपोहनविधि, दूसरा है अन्त मे झण्टु अर्थात् ध्रुवकाक्षर का प्रयोग, तीसरा है (आरभ मे) दिग्ले दिग्ले अर्थात् चार गुरु अक्षरो का प्रयोग और चौथा है मध्य मे चार लघु अक्षरो का विधान। ये ही चार गुण मूल लक्षण मे वर्णित हैं।

२ अड्डिताध्रुवा मे मात्राओ का क्रम इस प्रकार है —
प्रवर वरद प्रणमत सतत
S I S I I S I I I I I I S

---

१ त्वड्डिका—ग०। २ कार्यं मान—ग०।
३ मध्यलघ्वक्षराणि तु—ग०। ४. प्रमथगणपतिम्—घ०।
५ मुनिजनमहितम्—घ०, ६ त्रिभुवनसहितम्—क०।

जैसे—मैं सदा उन शिव को प्रणाम करता हूँ जो देवाधिदेव तथा सदा प्रसन्न होकर वर देने वाले हैं, प्रथमगण के अधिपति हैं, गजचर्म (को) धारण करने वाले, मुनिजन से युक्त, पार्वती से सुशोभित, सर्पों के वलय धारी तथा त्रैलोक्यवन्दित हैं ॥ २१५ ॥

प्रयोज्या त्वङ्किता ह्येवं पूर्वरङ्गे यथार्थतः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि विक्षिप्तायास्तु लक्षणम् ॥ २१६ ॥

पूर्वरंग में अङ्किता का प्रयोग इसी विधि से किया जाए। अब मैं 'विक्षिप्ता' ध्रुवा का स्वरूप बतलाता हूँ ॥ २१६ ॥

विक्षिप्ता ध्रुवा—

तृतीयश्चैव षष्ठश्च नवमं दशमं तथा।
गुर्वक्षराणि पादे तु यस्यां विक्षिप्तका तु सा ॥ २१७ ॥
दिग्लैस्त्रिभिर्गुणैर्युक्ताः पातास्तस्य[1] भवन्ति हि ।
त्रिकलं चापि निर्दिष्टमुपोहनमतः परम् ॥ २१८ ॥
दिग्ले दिग्ले पुनः कार्यमन्ते झण्टुं प्रयोक्तृभिः ।
लघ्वक्षरैर्विहीनं तु विक्षिप्तोपोहनं भवेत् ॥ २१९ ॥

जिसके पाद में तीसरा, छठा, नवम तथा दशम अक्षर गुरु हों उसे 'विक्षिप्ता' ध्रुवा जानो। इसमें दिग्ले प्रयोग के तीन गुणों से युक्त पात होते हैं और इसमें तीन कलाएँ होती हैं। इसके बाद उपोहनविधि होती है जिसमें आरम्भ में दिग्ले दिग्ले तथा अन्त में झण्टु का प्रयोग किया जाता है और इसमें उपोहन में लघु अक्षर नहीं रखे जाते ॥

---

१. इस विक्षिप्ताध्रुवा मे तीन गुण हैं—दिग्ले का तीन बार पात अर्थात् सशब्दा क्रिया का प्रयोग, तीन कलाओ के अनन्तर उपोहन का प्रयोग, आरम्भ मे दिग्ले-दिग्ले और अन्त मे झण्टुं जैसे शुष्काक्षरो का प्रयोग तथा लघु अक्षरो के प्रयोग का निषेध।

२. 'विक्षिप्ता' ध्रुवा मे मात्राओ का क्रम इस प्रकार है —
त्रिपुरान्तकर बहुलील
I I S I I S I I S S

---

[1] पादास्तस्य—घ०।

यथा—

त्रिपुरान्तकरं बहुलीलं, उमया सहितं बहुरूपम् ।
भुजगाभरणं त्रिपुरान्तं,[1]प्रणमामि सदा परमीशम् ॥ २२० ॥

जैसे—मैं सदा उन परमेश्वर शिव को प्रणाम करता हूँ जो त्रिपुरासुर के नाशक, अनेक-विध नृत्य-गीतादिलीला के विधाता, अनेक स्वरूप धारण करने वाले, पार्वती-सहित हैं, जिसके सर्पों के आभरण हैं और जो त्रिपुर दैत्य के संहारक हैं ॥ २२० ॥

एवं सर्वा ध्रुवाः कार्या युग्मौजकृतगीतकाः[2] ।
आचार्यबुद्धया कर्तव्या पूर्वरङ्गे यथाविधि ॥ २२१ ॥

एवं वः कथितं सम्यक्पूर्वरङ्गं त्रिधा मया ।
किमन्यत्संप्रवक्ष्यामि भूयोऽभीष्टं द्विजोत्तमाः ॥ २२२ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे पूर्वरङ्गविधानं
नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

इसी कथित विधि अनुसार[1] चतुरस्र तथा त्र्यस्र ताल वाली ये ध्रुवाएँ प्रयुक्त की जानी चाहिएँ और पूर्वरंग में इनका प्रयोग आचार्य-बुद्धि के अनुसार विधिवत् रहना चाहिए ॥ २२१ ॥

हे मुनिजन, तीनों प्रकार के पूर्वरंग का स्वरूप इस प्रकार मैंने बतलाया। अब आगे किस अभीष्ट वस्तु का वर्णन लक्षण आदि से किया जाए ॥२२२॥

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र में 'पूर्वरंग-विधान' नामक
पाँचवाँ अध्याय सम्पूर्ण।



१. युग्म शब्द चतुरस्र ताल तथा ओज त्र्यस्र ताल का वाचक शब्द है। (तदनुसार ही यहाँ अर्थ किया गया है)।

१. त्रिपुरान्तक—ग०। २. गीतिका—ग०, घ०।
३. पूर्वरङ्गस्त्रिधा—ग०। ४. यद्वोऽभीष्ट—ग०।

न शक्यमस्य[1] नाट्यस्य गन्तुमन्तं कथञ्चन ।
कस्माद्बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां वाप्यनन्ततः ॥ ६ ॥
एकस्यापि न वै शक्यस्त्वन्तो ज्ञानार्णवस्य हि ।
गन्तुं किं[2] पुनरन्येषां ज्ञानानामर्थतत्त्वतः ॥ ७ ॥

हे मुनिजन, मैं आपको विस्तारपूर्वक क्रमशः संग्रह, कारिका तथा निरुक्त के विषय में बतलाता हूँ ॥ ५ ॥

इस 'नाट्य-विद्या' का किसी प्रकार अन्त (निश्चयात्मक ज्ञान) पाना संभव नहीं है, क्योंकि ज्ञान[1] तथा शिल्पों का (जो कि इस 'नाट्य' से सम्बद्ध हैं) कोई अन्त नहीं है ॥ ६ ॥

जब इनमें से किसी एक (अगभूत) विषय का ही सामग्र्येण ज्ञान सम्भव नहीं जो समुद्र के समान विस्तीर्ण है, तब फिर सभी ज्ञानों के तात्त्विक आशय तथा उनके समग्र तत्त्वों के अन्तिम छोर तक पहुँचना कैसे सम्भव हो सकता है ॥ ७ ॥

किन्त्वल्पसूत्र-ग्रन्थार्थ[3]मनुमानप्रसाधकम् ।
नाट्यस्यास्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसंग्रहम् ॥ ८ ॥

मैं आपको 'नाट्य' के रस तथा भाव के (समाहृत) संग्रह[2] को

---

१ यहाँ ज्ञान पद से व्याकरण आदि शास्त्र तथा शिल्पशब्द से चित्रकला, पुस्तकादि कला का ग्रहण है । इन ज्ञान और शिल्प का कोई अन्त नहीं है ।

२. रस तथा भाव के संग्रह अर्थात् उद्देश्य को—जिसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय को संक्षिप्त कर ग्रहण किया जाता है —यह नाममात्र के कथन से संक्षिप्त होकर उद्देश (जिसका लक्षण हो उस) के धर्मी को निश्चित करता हुआ अनुमान का प्रकृष्ट साधक होता है अर्थात् उद्देश अनुमान का महत्त्वपूर्ण साधक बन कर रहता है । इस उद्देश या संग्रह के द्वारा हेतु का आश्रय अर्थात् पक्ष का निश्चय हो जाता है और यह आश्रयासिद्धि नामक हेत्वाभास का निराकरण कर अनुमान के पक्षधर्मता रूप मुख्य अङ्ग को पुष्ट कर अनुमान का प्रकृष्ट साधक बन जाता है । (अ० भा०)

---

१. शक्यमन्त—ग०; शक्यमिह—घ० । २. किमुत सर्वेषा—घ० ।
३. गूढार्थ—ग० ।

बतलाता हूँ जो अल्प परिमाण वाला, सूत्र भूत अर्थों वाला तथा अनुमान से सिद्ध होने वाला है ॥ ८ ॥

संग्रह आदि के लक्षण—

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययो ।
निबन्धो यः समासेन सग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥ ९ ॥

सूत्र[1] तथा भाष्य के विस्तारपूर्वक निरूपित अर्थों का जो संक्षिप्त निबन्धन (ग्रथन) है, विद्वानों के मत में वही 'सग्रह' कहलाता है ॥ ९ ॥

रसा भावा ह्यभिनया. धर्मिवृत्तिप्रवृत्तयः[1] ।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥ १० ॥

रस, भाव, अभिनय, धर्मी (नाट्य तथा लोक), वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रग ये 'सग्रह'[2] कहलाते हैं ॥ १० ॥

[[2]उपचारस्तथा विप्रा मण्डपाश्चेति सर्वशः ।
त्रयोदशविधो ह्येष ह्यादिष्टो नाट्यसंग्रह. ॥ ११ ॥]

[और हे मुनियों, यह सग्रह तेरह भेदों[3] वाला कहा गया है । इसके शेष प्रकार हैं उपचार तथा मडप ।]

---

१. कारिका मे आये हुए 'सूत्र' पद का अर्थ है लक्षण और उस लक्षण की स्पष्टीकरणरूपा परीक्षा 'भाष्य' कहलाती है ।

२ 'सग्रह' के ११ अङ्ग इस कारिका मे दिये गये है । आचार्य अभिनवगुप्ताचार्य ने अपनी व्याख्या मे बतलाया कि भरताचार्य सम्मत अङ्ग केवल पाँच हैं [जिनमे आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य (तीन प्रकार का) अभिनय तथा गान और वाद्य मिलकर नाट्य के पाँच अङ्ग हो जाते हैं] एकादश अङ्ग कोहलाचार्य के मत मे (होते) हैं [भरत के मत मे नहीं] पर यहाँ कारिका मे कोहल द्वारा निर्दिष्ट क्रम को बदल दिया गया है ।

३. सग्रह के ये त्रयोदश अङ्ग किसी अन्य परम्परा से लेकर यहाँ समाविष्ट कर दिये गये प्रतीत होते हैं तथा अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों से समर्थित न होने से प्रक्षिप्त हैं ।

---

१. धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः—क० । २ पद्यमिद ग पुस्तके नास्ति ।

२१६

अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः ।
सूत्रतः सा तु विज्ञेया कारिकार्थप्रदर्शिनी[1] ॥ १२ ॥

जब किसी अर्थ का संक्षेप में परिमित शब्दों में (सूत्र रूप में) कथन किया जाए तो अर्थों की संक्षेप में बोधिका उक्ति को 'कारिका'[1] कहते हैं ॥

नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुं निगमान्वितम्[2] ।
धात्वर्थहेतुसंयुक्तं नानासिद्धान्तसाधितम् ॥ १३ ॥

जो अनेकविध संज्ञा के आश्रय से (अर्थात् सुबंतों से) उत्पन्न हो (और) कोश तथा व्याकरण के नियम के अनुकूल हो, जिसमें मूल धातु में निहित अर्थ सहेतु विद्यमान हो तथा जो अनेक प्रकार के सिद्धान्तों

---

१. अभिनवगुप्ताचार्य ने लक्षणरूप अर्थ, उस लक्षण के वाचकसूत्र तथा उसके संक्षिप्त अर्थ के विवरण स्वरूप श्लोक सभी को 'कारिका' माना है। [अर्थात् सूत्र, उसके अर्थ को प्रतिपादन करने वाले श्लोक तथा उसका प्रतिपाद्य विषय या लक्षण इन तीनों को 'कारिका' समझना चाहिये ।] पदार्थ के स्वरूप का बोध 'कारिका' के द्वारा होता है अर्थात् लक्षण को ही कारिका कहते हैं । उस लक्षणरूप तत्त्वार्थ को निदर्शन करने से उपचार के द्वारा श्लोक (पद्य) भी 'कारिका' कहलाते हैं। इस प्रकार कारिका के भेद (प्रकार) होते हैं । सूत्रात्मक तथा श्लोकात्मक । कारिका के द्वारा पद्यात्मक रूप के द्वारा सूत्ररूपेण प्राप्त लक्षणरूपी अर्थ का कथन होता है जो स्वल्पशब्दों के द्वारा निरूपित होने पर लक्षणीय अर्थ का अन्य धर्मियों से विभेद कराने वाले लक्षणरूप प्रकर्ष को प्रकाशित कराने वाला धर्म है।

इस प्रकार अभिप्राय यह हुआ कि उद्दिष्टार्थ का अन्य धर्मियों से विभेदक धर्म 'लक्षण' है । यह पहिले सूत्र के द्वारा किया जाता है फिर शङ्का समाधान के द्वारा उसी सूत्र के व्याख्यानात्मक प्रकार से श्लोकरूप कारिका के द्वारा प्रतिपादित होता है। इन दोनों [सूत्र और श्लोक] का प्रतिपाद्य विषय लक्षण होता है । यह लक्षण श्लोक के द्वारा प्रतिपादित अर्थ होकर, 'कारिका' कहलाता है । (अ० भा०)

---

१. प्रयोगिनी—ग० । २. निघण्टुनिगमान्वितम्—ख० ।

(आक्षेप तथा प्रतिसमाधानों) से (परीक्षापूर्वक) साधित हो तो उसे 'निरुक्त' समझना चाहिए ॥ १३ ॥

स्थापितोऽर्थो[1] भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः[2] ।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्तं तत्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

और जब किसी संज्ञा का अर्थ धातु के अर्थ का अनुसरण करता हो, तथा (प्रकृति प्रत्यय के संयोग द्वारा) प्रख्यात अर्थ (प्रतीत होने वाला या कथित अर्थ) संक्षेप में अपने आशय को प्रकट कर दे तो उसे (भी) 'निरुक्त'[1] कहा जाता है ॥ १४ ॥

---

१. निरुक्त का प्रयोजन है साररूप संक्षेप के द्वारा अर्थ का निश्चय करना। समास अर्थात् संक्षेप से अनेक लक्ष्यार्थों के भेद से भिन्न लक्षणीयार्थ का सूचक जो लक्षण रूप अर्थ हो वही आक्षेप प्रतिसमाधान रूप वाला [खण्डनमण्डनात्मा] (जिस वस्तु के होने पर स्थापित किया जाए वह परीक्षात्मक स्वरूप वाला) 'निरुक्त' होता है। अर्थात् आक्षेप और प्रतिसमाधान के द्वारा लक्षण की परीक्षात्मक व्याख्या करना 'निरुक्त' है।

निरुक्त के द्वारा लक्षण की स्थापना कैसे की जाती है इसका प्रतिपादन १३ वें श्लोक में है। इसमें क्रियाविशेषणों के द्वारा आक्षेप-प्रतिसमाधान प्रकार बतलाते हैं—नानाप्रकार के जो नाम (सुबन्त शब्द) उनके आश्रय से उत्पन्न अर्थात् आक्षेप-प्रतिसमाधान की जिसमें उत्पत्ति हो वह निरुक्त [अर्थात् सुबन्त पदों की इदमित्थं द्वारा परीक्षा करना] कहलाता है। प्रश्न—नाम (सुबन्त) पदों में आक्षेप और प्रतिसमाधान कैसे होता है? उत्तर—निघण्टु अर्थात् शब्दकोश के द्वारा तथा निगम (शब्द-शास्त्र) के द्वारा। शब्दकोश के द्वारा रूढि शब्दों की और निगम के द्वारा शब्दों के यौगिक या योगरूढ शब्दों की प्रकृतिप्रत्यय के विभाग द्वारा विवेचना होती है लक्षण वाक्य में (जो) धात्वर्थ अर्थात् क्रिया और क्रिया के निमित्तभूत कारकों का संयोग या विचार जहाँ स्थापना के लिये लिया जाए वह भी निरुक्त (होता) है। इसमें लक्षण-वाक्य में पहिले शब्द परीक्षा के अन्तर्गत आक्षेप (प्रश्न) किया जाता है कि यह

---

१ साधितो—क० । २ सूचकम्—ग० ।

सग्रहो यो मया प्रोक्तः समासेन द्विजोत्तमाः।
विस्तरं तस्य वक्ष्यामि सनिरुक्तं सकारिकम् ॥ १५ ॥

हे मुनिजन, मैंने सक्षेप में जो सग्रह (उद्देश) वतलाया उसे ही अब विस्तार (विभाग)[1] पूर्वक लक्षण (कारिका) तथा परीक्षा (निरुक्त) द्वारा वतलाता हूँ ॥ १५ ॥

रसों की सख्या तथा सज्ञा—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ १६ ॥

अर्थं इस विशेष अर्थ मे कैसे प्रयुक्त हुआ। फिर इस प्रकार यह शब्द इस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ ऐसा विवेचना करते हुए उत्तर देना प्रतिसमाधान कहलाता है।

निर्वचनात्मा निरुक्त चार प्रकार का होता है (१) प्रतिपादिक या नाम के द्वारा। जैसे उलूखल शब्द की 'उर्ध्वं 'खमस्योलूखल [जिसके ऊपर आकाश है वह] व्याख्या। (२) धातु के द्वारा। जैसे 'रस्यते इति रस' यहाँ रस्यते क्रिया पद स निर्वचन किया गया है। (३) नाम और धातु के द्वारा जैसे—'पिशितमश्नातीति पिशाच' [यहाँ पिशित शब्द और अश्नाति क्रिया के द्वारा निर्वचन किया गया है] तथा (४) सङ्केत के द्वारा। इस चतुर्थ प्रकार के तीन भेद हैं—(१) लौकिक शब्द जैसे भू सत्तायम। (२) वैदिक शब्द जैसे दीधीङ धातु दीप्ति और देवन (पासों से क्रीडा करना) अर्थ मे प्रयुक्त होता है। (दीधीङ् आदि पाँच धातु वेद मे ही प्रयुक्त होते हैं अत यह वैदिक सकेत है)। तथा (३) पारिभाषिक शब्द—जैसे गान्धर्ववेद मे गीतविशेष के अर्थ मे पठित 'ओवेणक' शब्द। [ऐसे शब्द प्रत्येक शास्त्र के पार्षद् या अङ्गरूप मे परिभावित सकेत होते हैं पाणिनि के वृद्ध टि टि जैसे आदि सकेत]। (अ० भा०)

१. विस्तार या विभाग के द्वारा ही सग्रह (उद्देश) वतलाया जाता है और यह विभाग उद्देश्यान्तर्गत ही (होता) है। उद्देश, लक्षण और परीक्षा या सग्रह, कारिका और निरुक्त रूप त्रिविध शास्त्रप्रवृत्ति का विभाग केवल विस्तार करता है। अतएव विभाग पृथक् नहीं है उसका अन्तर्भाव उद्देश मे ही होता है। यही आचार्य भरत तथा अभिनवगुप्ताचार्य को इष्ट है। (अ० भा०)

नाट्य[1] में स्वीकृत रस आठ हैं—(१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स तथा (८) अद्भुत ॥ १६ ॥

---

१ नट के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्षवत् प्रतीयमान, एकाग्रमन की निश्चलता के कारण अनुभव किया जाने वाला और नाटक (या काव्य) विशेष से प्रकाशित होने वाला अर्थ 'नाट्य' कहलाता है। यह नाट्य आलम्बन तथा उद्दीपन विभावो के असख्य होने के कारण अनन्त विभावादि रूप है, किन्तु समस्त विभागों के ज्ञान में पर्यवसित होने तथा उस ज्ञान का उपभोक्ता मे पर्यवसान होने से और भोक्ताओ के भोक्ता (नायक) मे पर्यसान होने से नायक की (रत्यादि रूप) स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति भी 'नाट्य' है। अर्थात् 'रस' ही 'नाट्य' है एव नाट्य की सामस्त्येण उपलब्धि रस मे ही होती है।

नाटक के अन्तर्गत प्रयुक्त प्रधानचित्तवृत्तिरूप नायक की एक चित्तवृत्ति मेरे हैं या दूसरे के हैं इस प्रकार के भाव से रहित होकर लौकिक गीतो के गेयपदादि लास्य के दस अग से युक्त और स्वीकृतलक्षणसम्पन्न गुण, अलकार, गीत वाद्य आदि के सयोग द्वारा अतिशय मनोहारित्व को प्राप्त होकर काव्य की महिमा एव नट के द्वारा अनुष्ठित प्रयोग परम्परा एव अभ्यास विशेष के प्रभाव से साधारणीकरण की भूमि प्राप्तकर नायक की अपनी चित्तवृत्ति सामाजिको को भी अपनी सीमा मे समाविष्ट करा देती है और नायक तथा सामाजिक की चित्तवृत्ति के तादात्म्य [अभेद] होने के कारण ही अनुमान, आगम रूप परीक्षात्मक एव इन्द्रिय-सन्निकर्ष के बिना ही उत्पन्न होने वाले योगिप्रत्यक्ष से उत्पन्न रसादि का अनुभव न करने वाले [तटस्थ] प्रमाता एव प्रमेय से विलक्षण एव लौकिक चित्तवृत्ति से भिन्न रूप मे प्रतीत होने वाली नायक के अपने परिमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण लौकिक अङ्गना आदि से उत्पन्न अपनी रति और शोक के समान अन्य चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने मे अक्षम होने से निर्बाध अनुभूति के विश्रान्ति स्वरूप आस्वादन नामक व्यापार के द्वारा गृहीत होने से 'रस' शब्द से अभिहित होती है।

अतएव जिस नाट्यरस की अभिव्यक्ति होती है, वह मुख्यभूत महारस है यह (१) स्फोट के समान असत्यभूत अथवा (२) अन्विताभिधान के समान उपायात्मक सत्यरूप या (३) अभिहितान्वय के समान—प्रधानरस

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।

पुनश्च भावान्वक्ष्यामि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजान् ॥ १७ ॥

समुदायरूप है। यहाँ इस प्रकार के अन्य रस प्रधानरस के अंश रूप में अवस्थित से दिखाई देते और वर्णन किये जाते हैं। (अर्थात् स्फोट सिद्धान्त के अनुसार वर्ण, पद और वाक्य अखण्ड है और वाक्य में पदों की और पदों में वर्णों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। अखण्ड पदों को 'पदस्फोट' तथा अखण्ड वाक्य को 'वाक्यस्फोट' कहा जाता है तथा यह स्फोट ही अर्थबोधक होता है। इसका आशय यही कि नाट्य में रस की प्रतीति अखण्डाभिव्यक्तिरूप में ही होती है वाक्य तथा पद के समान उसमें अवयवों की प्रतीति असत्य कल्पना होगी। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद का अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ बोध में (पदों का अभिहित होने के बाद अन्वय नहीं होता किन्तु) पदों के द्वारा अन्वित अर्थ ही अभिहित होता है। अत अन्वित पदार्थ की ही प्रतीति होने से पदार्थ ही सत्य है उनकी अलग २ स्थिति उपायमात्र है। निष्कर्ष यह कि नाट्य रस के साथ अन्य रसों की स्थिति उपायभूत सत्य के समान है। अभिहितान्वयवाद में पदार्थों का बोध पहिले होकर उनके समुदाय रूप से वाक्यार्थ का बोध होता है। इसी तरह नाट्य रस के अन्तर्गत अन्य सब रसों की स्थिति पदार्थों के समान अङ्गभूत (गौण होती) है और ये प्रधानरस का बोध समुदाय रूप में करवाते हैं)। (अ० भा०)

अभिनवगुप्त के मत में रस नौ हैं। अतएव 'बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव' ऐसा पाठ है। परन्तु नाटक में जो शान्तरस को नहीं मानते उनके मत में 'अष्टौ रस' पाठ माना गया है। भरत ने आठ रसों को नाट्य में मान्यता दी थी। नाटचशास्त्र के इस भरतोक्त क्रम का अभिनवगुप्ताचार्य ने बड़े ही सुन्दर रूप में उपपादन किया है। यथा—भरत द्वारा शृङ्गार रस को प्रथम स्थान देने का कारण है उसका जाति सकल सामान्य होना। उसके प्रति सभी का आकर्षण रहना और उसका अत्यन्त परिचित होना। इसी कारण प्राय सभी आचार्यों ने उसकी प्रधानता मानी है। शृङ्गार का अनुसर्ता होने से 'हास्य' द्वितीय स्थान पर है। शृङ्गार-निरपेक्ष तथा हास्य के प्रतिकूल होने से 'करुण'

ये आठ रस महामना ब्रह्मा के द्वारा कहे गए हैं। अब मैं आपको स्थायी[1] संचारी तथा सात्विक भावों को बतलाता हूँ ॥ १७ ॥

स्थायी भाव—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ १८ ॥

ये (आठ) स्थायी भाव हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय[2] ॥ १८ ॥

का तीसरा स्थान है। करुण से उत्पन्न (अर्थात् मूल में करुण होने) से रौद्र का चतुर्थ स्थान है। (क्योंकि यह अर्थ प्रधान है) पाचवां है वीभत्स। यह धम प्रधान है और धर्म अर्थ का मूल है। वीरो का कार्य भयातंजन को अभय प्रदान करना होता है अतएव छठाँ भयानक रस है। भय के विभावो से निर्मित बीभत्स का सातवाँ स्थान है। तथा आठवाँ अद्भुत है क्योंकि वीरता के परिणाम-भूत विस्मय (कार्य) से 'अद्भुत' प्रतीत होता ही है। इस प्रकार आठ रस त्रिवर्गात्मक हैं तथा प्रवृत्ति धर्म से सम्बद्ध हैं इसी कारण ये 'नाट्य' में उपयोगी रस हैं क्योंकि नाट्य स्वय त्रिवर्गसाधक (आचार्यगण मानते) हैं। निवृत्ति धर्म से सम्बद्ध नवाँ रस शान्त है जो उभय धर्मोपयोगी तथा मोक्षफलक होता है और इसी कारण इसका तत्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' स्थायी माना जाता है। (अ० भा०)

१. रस का अनुभव विभावादि के द्वारा होनेके कारण रस के बाद स्थायी, संचारी तथा सात्विक भावो का वर्णन [उद्देश्य रूप में कथन] यहाँ अवसर प्राप्त है। इनमे भी लौकिक रत्यादि रूप चित्तवृत्ति के परिचय के बिना कवि या अभिनेता रस के साथ सम्बद्ध विभावादि को उपस्थित करने मे असमर्थ होते है अतएव भावो के वर्णन मे सर्वप्रथम स्थायी भाव का निर्देश किया गया। (अ० भा०)

२ (शान्त रस मानने पर) स्थायीभावो के पाठ को 'जुगुप्साविस्मय-शमा' मान कर इस शान्तरस का 'शम' स्थायीभाव कुछ विद्वान् मानते है। अन्य विद्वान् शान्तरस का स्थायीभाव 'उत्साह' या 'जुगुप्सा' मानते हैं तथा कुछ विद्वान् सभी स्थायीभाव शान्त के स्थायी हो सकते हैं अतः उसके विशेष स्थायीभाव का पृथक् उल्लेख आवश्यक नही मानते। (परन्तु वास्तव

सचारी भाव—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।
आलस्यश्चैव दैन्यश्च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ १९ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ २० ॥
सुप्तं [1]विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ २१ ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ २२ ॥

तैंतीस[1] सचारी भाव (इस प्रकार) हैं । (१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शका, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति, (१३) व्रीडा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जडता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) प्रबोध, (२५) आमर्ष, (२६)

मे) तत्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' [वैराग्य] इसका स्थायी भाव है । निर्वेद मे स्थायी भाव तथा सचारी भाव के (दोनो के) धर्म रहते हैं । इसी बात को सकेतित करने के लिये व्यभिचारी भावो की गणना मे इसे प्रथम स्थान दिया है, जबकि यह अमगल स्वरूप है और इसीलिये भरत ने स्थायी भावो की सख्या की गणना मे सख्या का निर्देश नही किया । ये स्थायी भाव भिन्न रसो की व्यभिचारित्व को प्राप्त कर लेते हैं । [अर्थात् स्थायी भाव भी अन्य रसो मे सचारी भाव बन जाते हैं] [अ० भा०]

१ सचारी भाव ३३ ही होते है और ये ही व्यभिचारिभाव हैं । इसी नियम को निर्दशित करने के लिये मूलकारिका मे 'त्रयस्त्रिंशत्' तथा 'अमी' पद दिये गये हैं । नाट्य मे इन्ही भावो का प्रयोग इष्ट है ।

---

१ प्रबोधो—ग० ।

अवहित्था, (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास तथा (३३) वितर्क।

सात्विक भाव—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गो[1]ऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलयः इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ २३ ॥

स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय नामक आठ सात्विक[1] भाव है ॥ २३ ॥

नाट्याश्रित अभिनय प्रकार—

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया[2] नाट्यसंश्रयाः ॥ २४ ॥

नाट्याश्रित अभिनय के चार प्रकार हैं। (१) आंगिक[2], (२) वाचिक, (३) आहार्य तथा (४) सात्विक ॥ २४ ॥

---

१ सात्विक भावो के द्वारा सचारी या व्यभिचारी भावो की अभिव्यक्ति मे या अभिनय द्वारा उनके प्रस्तुतीकरण में सहायता प्राप्त होती है। इसी कारण सचारी भावो के उल्लेख के बाद ही सात्विक भावो का उद्देशरूप में कथन किया गया। अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार सात्विक भाव में व्यभिचारी भावो के तथा अभिनय के धर्म होते हैं इसलिये इनका अभिनय कला से सीधा सम्बन्ध होता है परन्तु ये अभिनय (आदि के (ही) भेद नही होने) से भिन्न होते हैं।

२. आङ्गिक-अभिनय का कार्य शरीर के द्वारा नाट्यशास्त्र मे अभिहित लक्षणो से कार्य सम्पादन करना है। वाचिक का कार्य है विभिन्न रसभावपूर्ण नाट्य रचना या शब्दावली का उच्चारण करना या बोलना (सवादो का पाठन)। आहार्य का कार्य है नेपथ्यरचना (साजसज्जा) करना तथा सात्विक का कार्य है चेहरे पर प्रकट होने वाले आन्तरिक भावो के अभिव्यजक स्वेद आदि का प्रस्तुतीकरण। अभिनवगुप्त का मत है इन चार अभिनयो में वेषभूषा रूप आहार्य अभिनय की साक्षात्कार बुद्धि के उपयोग में अन्तरगता

---

१ स्वरसादोऽ—ग०, घ०।

२. येषु नाट्य प्रतिष्ठितम्—क०; विज्ञेया नाट्यकर्मणि—ख०।

धर्मी—

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविध.[1] स्मृत.।

दो धर्मी होते हैं—लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी[1]।

चार वृत्तियाँ—

भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ॥ २५ ॥
चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।

तथा (१) भारती, (२) सात्वती, (३) कैशिकी और (४) आरभटी नामक चार वृत्तियाँ[2] हैं जिन पर नाट्य-प्रयोग निर्भर है।

सूचित होती है अत यह उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण (माना जाता) है। कारिका में आये हुए 'नाट्यसंश्रया' पद का अभिप्राय यह है कि लोक में सहज परिचित होने के कारण इसका चाहे उपयोग न भी हो किन्तु नाट्य-प्रयोग में यह (आहार्य अभिनय) प्राणस्वरूप होता है। (आङ्गिक अभिनय का विस्तृत विवरण ना० शा० अध्याय ८ से १२, वाचिक का विवरण ना० शा० अ० १५-१७, आहार्य अभिनय का विवरण ना० शा० अध्याय २३,२४ तथा सात्विक अभिनय का विवरण ना० शा० अ० २३, २४ मे है)।

१ धर्मी का अर्थ है स्वभाव या परम्परानुकूल कार्य। जब अभिनय लौकिक उपयोगी तथा प्रतिष्ठित सामयिक परम्पराओ [धर्मों] का अनुगमन करता है तो इस आधार पर उसे लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी कहा जाता है। अभिनय के अनुगामी होने से धर्मियो का उल्लेख अभिनय-कथन के बाद किया गया। सक्षेप में लोक के सहज जीवन का अनुकरण करने वाला अभिनय किया जाए तो उसे लोकधर्मी तथा शास्त्रीय पद्धति से जब स्त्रीपात्र पुरुष का या पुरुषपात्र स्त्रीपात्र का रूपधारण कर अभिनय करे तो उसे नाट्यधर्मी कहते हैं। लोकधर्मी और नाट्यधर्मी का लक्षण ना० शा० अध्या० १४ में (७०-७४) द्रष्टव्य। ।५

२ वृत्तियो का सम्बन्ध अभिनय की पद्धति से रहता है अभिनय अभिनेतव्य के बिना सम्भव नहीं है। रूपको के दस प्रकारों को विविध शैलियो में प्रस्तुत करने के कारण वृत्तियो का रूपको से सम्बन्ध होने से ये वृत्तियाँ रूपकों की उपकारक हैं। (अ० भा०)

---

१ धर्मी तु द्विविधा स्मृता–।

प्रवृत्तियाँ—

आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवोढ्रमागधी ॥ २६ ॥
पाञ्चाली[1] मध्यमा चेति विज्ञेयास्तु प्रवृत्तय.।

(१) आवन्ती, (२) दक्षिणात्या, (३) औढ्रमागधी, (४) पांचाली तथा (५) मध्यमा को प्रवृत्तियाँ[1] जानों।

सिद्धियाँ—

दैविकी[2] मानुषी चैव सिद्धि. स्याद् द्विविधैव तु ॥ २७ ॥

नाट्य प्रयोग में प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ[2] दो प्रकार की होती हैं (१) दैवी तथा (२) मानुषी ॥ २७ ॥

स्वर[3]—

शारीराश्चैव वैणाश्च सप्त षड्जादय स्वरा.।
[[3]निषादर्षभगान्धारमध्यपञ्चमधैवता ॥]

षड्जादि सात स्वरों के शारीर तथा वैणव भेद से दो प्रकार (वर्ग) होते हैं। (सात स्वरों के नाम हैं :—निषाद, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा षड्ज)

---

१ प्रवृत्तियाँ—देश के आधार पर होने से इनका उल्लेख वृत्तियों के पश्चात् किया गया। इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध विविध प्रदेशों से रहता है।

२ अभिनय की परिसमाप्ति सिद्धि में होने से प्रवृत्तियों के बाद सिद्धियाँ कही गयीं। (सिद्धियों का वर्णन ना० शा० अध्याय २७ पर द्रष्टव्य।)

३ पाठ्य या वाचिकअभिनय में स्वर का विवरण दिया गया है तथा इसी के गीत आदि प्रकार हैं अत स्वर का पाठ्य तथा गान में अन्तर्भाव हो सकता है परन्तु स्वरों का स्वतन्त्र ग्रहण करने का अभिप्राय है कि केवल स्वरों के प्रयोग से भी नाट्यप्रयोग में सौन्दर्य परिलक्षित हो जाता है जो अन्तरालाप के नाम से प्रसिद्ध है। अतएव अन्तरालाप के ग्रहणार्थ यहा स्वरा का उद्देश्य कथन में पृथक ग्रहण किया गया। (अ० भा०)

---

१ पाञ्चाल मध्यमा चैव ज्ञेया नाट्यप्रवृत्तय —ग०, घ०।
२. देवीति—क०। ३. एतत्पद्यार्धं ग—पुस्तके नास्ति।

आतोद्य प्रकार—

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च ॥ २८ ॥
चतुर्विधं च विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ।

आतोद्य[1] (वाद्यवृन्द) के चार प्रकार होते हैं—यथा (१) तत[2], (२) अवनद्ध, (३) घन तथा (४) सुषिर ॥ २८–२९ ॥

ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धन्तु पौष्करम् ॥ २९ ॥
घनस्तु तालो विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च ।

---

१ आतोद्य–'आतुद्यते इति आतोद्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वाद्यो को आतोद्य कहा जाता है, क्योंकि ये हाथ आदि से ताडित होते हैं । वाद्य-यन्त्रों के केवल चार ही प्रकार नही होते, वे अनन्त हो सकते हैं, परन्तु लक्षणो से युक्त वाद्यो के चार प्रकार या कोटियाँ ही होगी । लोकवाद्यो के प्रकार अनन्त होने से उन्ही से शास्त्रीय वाद्यो की चार कोटियो का यहाँ विभेद दिखलाया गया है अतएव मल्लक, पट फलक, ज्वालामुख तथा पक्षवाद्य (खजरी) जैसे अभिनय के समय प्रचलित लोकवाद्यों का शास्त्रीय वाद्यो में अन्तर्भाव नही हो सकता है । (अ० भा०) ।

स्वर तथा आतोद्यविधान का विवरण ना० शा० अध्याय २८ पर भी द्रष्टव्य ।

२ वीणा आदि में तन्तुवाद्यो के माध्यम से स्वर निकाला जाने से वे तत वाद्य कहलाते है । चर्मवेष्टित वाद्य 'अवनद्ध' कहलाते हैं । इन्हें मेघ के अनुकरण पर बजाये जाने के कारण 'पौष्कर' भी कहा जाता है । पुष्करावर्तक मेघ के देवता हैं । उनके द्वारा अधिष्ठित होनेवाला, कमल पत्र के आकार वाला चमडे से मढा हुआ (मृदग आदि) वाद्य 'पौष्कर' कहलाता है । काल की समता के लिए तालानुसारी पीटा जाने वाला वाद्य 'घन' कहलाता है, यह ताल की समता को दृष्टि से बजाया जाता है । काँसे से निर्मित घण्टा, घडियाल, झांझ आदि वाद्य ताल देने में अनुपम प्रमाण वाले माने जाते है और ये स्वर एव वर्णों के उत्पादक होते हैं, अत इन्हे 'ताल' कहा गया है । छिद्र युक्त वाद्य 'सुषिर' कहलाते हैं । काहल आदि वाद्य सुषिर वाद्य नही है यह बतलाने के लिये कारिका में 'वंश एव च' कहा गया है

तत उस वाद्य को कहते हैं जिसमें तार हो, पीटा जाने वाला तथा चारों ओर मढा हुआ पुष्कर वाद्य 'अवनद्ध' कहलाता है, तालोपयोगी मंजीरा आदि ठोंककर बजने वाले वाद्य 'घन' तथा बांसुरी आदि फूँक कर बजने वाले वाद्य 'सुषिर' कहलाते हैं।

ध्रुवागान के पाँच प्रकार—

प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम्[1] ॥ ३० ॥

गानं पञ्चविधं ज्ञेयं ध्रुवायोगसमन्वितम्।

'ध्रुवा'[1] के संयोग से होने वाला गायन पाँच प्रकार का होता है—यथा— (१) प्रवेश (२) आक्षेप (३) निष्काम (४) प्रसादिक तथा (५) आन्तर।

चतुरस्रो विकृष्टश्च रङ्गस्त्र्यस्रश्च कीर्तितः ॥ ३१ ॥

मण्डप[2] या प्रेक्षागृह के तीन प्रकार हैं—(१) चतुरस्र (२) विकृष्ट तथा (३) त्र्यस्र।

---

१. गान के पाँच प्रकारों में जो पात्रों के मञ्च पर प्रवेश करते समय उनके भाव, प्रकृति तथा अवस्था आदि का सूचक गान गाया जाए वह 'प्रवेशक' गान कहलाता है। प्रविष्ट हुए पात्र की आन्तरिक चित्तवृत्ति को सामाजिकों के प्रति प्रकट करने लिये जो गीत गाया जाता है वह 'प्रासादिक' गान कहलाता है। प्रकृत रस से भिन्न रस का आक्षेप करवाने वाला 'आक्षेप गान' कहलाता है और पात्र के रङ्गमञ्च से निष्क्रमण करते समय गाया जाने वाला 'निष्क्राम गान' कहलाता है। ध्रुवा कहते हैं गीत के आधारभूत निर्धारित पदसमूह को ['ध्रुवा गीत्याधारो नियतः पदसमूहः' अभि०]। ध्रुवा में योग अर्थात् सम्बन्ध होने के कारण (लोक) साधारण गानरूप गान्धर्व संगीत से इस गान का प्रधानतायुक्त या विशेषगान होने के कारण (ही) यहाँ स्वतः विशेष (हो जाता) है।

२. पात्रों की गतियों (आना, जाना आदि क्रियाओं) में, अभिनयों में तथा गायन और वादन में प्रेक्षागृह की उपयोगिता होती है और मण्डप अपने श्रेणी विभाग (रंगशीर्ष, रंगपीठ, नेपथ्यगृह आदि रूपों) के द्वारा पात्रों के अभिनय आदि कार्यों का उपकारक होता है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि रंग

---

१. प्रासारिकमथा परम्—ग०।

एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो निर्दिष्टो[1] नाट्यसंग्रहः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थविकल्पनम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार मैंने आपको सक्षेप में (सूत्र रूप में) समस्त 'नाट्य' विषयक सग्रह बतलाया (जो कि सक्षिप्त या सूत्रात्मक प्रकार से है) अब मैं सूत्र[1] (लक्षण) तथा ग्रन्थ (भाष्य) द्वारा विषयों का विवरण प्रारम्भ करता हूँ।

रस निरूपण—

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः ।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः[2] प्रवर्तते ।
तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

सर्वप्रथम[2] हम रसों की ही (विशेष) व्याख्या करेंगे। क्योंकि रस के बिना (अन्य नाट्याग रूप) अर्थ की प्रवृत्ति नहीं[3] होती। (इसलिए प्रथम उसे ही बतलाते हैं) विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से रस निष्पन्न होता है।

के अन्तर्गत श्रेणीविभाग (अर्थात् रगशीर्ष नेपथ्य आदि के) आ जाने से यहाँ कक्ष्याविभाग का पृथक् कथन नहीं किया गया। (तथा कक्ष्याविभाग का विषय ना० शा० अध्याय १३ में विस्तार से दिये जाने से भी यहाँ कथन नही किया गया है।)

१ सग्रह में नाट्याङ्गो का सूत्ररूप (सक्षेप) म (उद्देश्य तथा विभाग दो रूपो मे) कथन करने के बाद और कारिका के द्वारा सूत्ररूप मे कथन हो चुकने पर अब यहाँ 'सूत्र' रूप में अभिहित नाट्यांगो की लक्षण तथा भाष्य रूप मे व्याख्या की जाएगी। 'ग्रन्थ' भाष्य है उनके द्वारा होने वाला विकल्पन 'निरुक्त' है। इससे आक्षेप समाधानरूपा परीक्षा' की प्रतीज्ञा की गयी है।

२ मूल के 'तावत्' पद क्रम का सूचक है तथा 'अभिव्याख्यास्याम' का अर्थ है विभज्य (अलग अलग करके) व्याख्यान करना।

३ रस को प्रथम स्थान देने के लिये मूल म 'नहि' पद दिया गया है। क्योंकि रस के बिना विभावादि अर्थ व्याख्येय रूप से बुद्धि म नही आ (सक) ते हैं और रस से बिना आनन्दपूर्वक कृत्यो मे प्रवृत्ति तथा अकृत्यो से निवृत्ति

---

१ व्यादिष्टो—ग० । २ कश्चिदप्यर्थः —ग० ।

अभिनवभारती[1]—

एवं क्रमहेतुमभिधाय रसविषयं लक्षणसूत्रमाह—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्, अपि तु भावानामेव। येऽनुभावा

रूप उपदेश या ज्ञान रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती तथा (इस) रस के (ही) प्रति आदर बुद्धि रखने वाले और केवल रसनात्मक प्रतीति में आनन्द का अनुभव करने वाले सामाजिक रस से भिन्न भाव आदि का स्पष्टतः ग्रहण नहीं करते हैं। और क्योंकि स्थायीभाव के रूप में समस्त अचेतन वर्ग की विभावादि रूप अन्य प्रतीतियों (चित्तवृत्तियों) से उपकृत प्रधान चित्तवृत्ति के अन्तर्गत रूप से ही अचेतन विभावादि वर्ग की प्रतीति होती है तथा व्याख्याता, नट एवं सामाजिक की दृष्टि से (भी) रस की प्रधानता स्वीकृत है अतएव इन सभी कारणों से यहां रस का अभिधान सर्वप्रथम किया गया है। यहाँ रस के एकवचन में प्रयोग करने का आशय यह है कि समस्त नाटक में सूत्ररूप से स्थित रहने वाला प्रधान रस एक ही होता है और उसी के अन्तर्गत अवान्तर रस रूप विभाग होते हैं। ये विभाग उस प्रधानरस के आश्रित या मुखापेक्षी होते हैं।

रसनिष्पत्ति—

१. नाट्यशास्त्र (के मूल) में 'निष्पत्ति' तथा 'संयोग' शब्दों का स्पष्ट व्याख्यान या लक्षण नहीं दिया गया और न ही रस-लक्षण में स्थायी भाव का समावेश किया गया। इसी कारण 'नाट्य-शास्त्र' की परवर्ती व्याख्याओं को विभिन्न मत प्रस्तुत करने का अवसर मिल गया तथा इसी कारण भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्य-शास्त्र पर अपनी मान्यताओं का निर्वचन प्रस्तुत किया। 'रसनिष्पत्ति' पर इन्हीं विभिन्न आचार्यों की मान्यताओं का अपेक्षित वर्णन देने की दृष्टि से हम यहाँ अभिनव भारती के मूल अंश और उसके अविकल अनुवाद को भी दे रहे हैं।

(सम्पा०)

व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मतेह तस्य विवक्षिता। दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवदन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी [भव] त्वनुपचितः। स चोभयोरपि मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्येऽनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलात् इति।

इस प्रकार उद्देश्य में क्रम (रसने) के कारण को बतला कर अब रस विषयक लक्षण का सूत्ररूप में अभिधान करते हैं 'तत्र' इत्यादि से।

'उनमें विभाव अनुभाव तथा संचारी (व्यभिचारि) भावों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है।'

उत्पत्तिवाद—

भट्टलोल्लट आदि ने इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—विभावादि के साथ जो स्थायीभाव का संयोग होता है उसी से रसनिष्पत्ति (अर्थात् उत्पत्ति) होती है। उनमें स्थायीभाव रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में विभाव कारण होते हैं। अनुभाव शब्द से यहाँ रसजन्य कटाक्षादि स्वरूप अनुभाव नहीं लिये गये हैं क्योंकि उनकी गणना रस के कारणों में नहीं की जाती है किन्तु भावों की ही की जाती है। और जो अनुभाव और व्यभिचारिभाव चित्तवृत्ति स्वरूप होने के कारण यद्यपि (एक ही क्षण में) स्थायीभाव के साथ नहीं रह सकते किन्तु यहाँ रत्यादि स्थायीभाव के साथ वासना (संस्कार) रूप में निर्वेदादि व्यभिचारी भाव रह सकते हैं, यह स्पष्ट है।

रस के उत्पादन हेतु भरत द्वारा दिये गये दृष्टान्त में भी व्यञ्जन आदि के बीच में किसी की स्थायीभाव के समान वासनात्मक (अनुद्भूत) और कुछ की व्यभिचारिभाव के समान उद्भूत रूप में स्थिति होती है इसीलिये विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायीभाव ही रस है। केवल स्थायीभाव परिपुष्ट नहीं होता और वह दोनों [अनुकर्ता और अनुकार्य) में रहता है। मुख्यरूप से वह अनुकार्य

रामादि में तथा रामादिरूपता की प्रतीति करवाने के कारण गौण रूप में अनुकर्ता [नट] में भी अनुसन्धान के बल स अवस्थित रहता है।

चिरन्तनाना चायमेव पक्ष । तथा हि दण्डिना स्वालङ्कार लक्षणेऽभ्यधायि। 'रति शृङ्गारता गता रूपबाहुल्ययोगेने' ति (काव्यादर्श २१८१)। 'अधिरुह्य परा कोटिं कोपो रौद्रात्मता गत' (का० दर्श० २-२८३) इत्यादि च।

एतन्नेति श्रीशङ्कुक । विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनाव गत्यनुपपत्तेर्भावाना पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात्, स्थितदशाया लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्ते हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्ते, कामावस्थासु दशस्वसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तु मान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाम मर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च। तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यै कार्यैश्चानुभावात्मभि सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभि प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृ-स्थत्वेन लिङ्गबलत प्रतीयमान स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्य नुकरणरूप, अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रस ।

दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का भी यही मत है। इसीलिये दण्डी ने अपने काव्यादर्श नामक अलङ्कार ग्रन्थ म कहा है कि— 'रूपबाहुल्य (उपचय) के कारण 'रति' (स्थायीभाव) शृङ्गार रस को प्राप्त कर जाती है' तथा 'अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होने पर क्रोध [स्थायी भाव] रौद्ररसरूपता को प्राप्त करता है।' इत्यादि भी।

अनुमितिवाद —

यह सिद्धान्त [अर्थात् उपचित रत्यादि स्थायीभाव को रस मान लेना] ठीक नहीं है। श्रीशङ्कुक का कहना है कि विभावादि के योग के

विना [या उसके अभाव में] स्थायीभाव के अनुमापक हेतु के न होने के कारण स्थायीभाव की प्रतीति नहीं हो सकती और यदि शब्द से स्थायीभाव की परोक्ष प्रतीति मानें तो विभावादि के प्रयोग के पूर्व भावों को अभिधेय मानना पड़ेगा तथा विभावादि के प्रयोग के पूर्व भी रस की स्थिति [या रस की विद्यमानता] को मानें तो अन्य लक्षणों की आवश्यकता ही न रहेगी, और यदि [रत्यादि स्थायीभाव की मात्रा में न्यूनाधिक्य या तारतम्य को सम्भव मानें तो] रस में मन्द, मन्दतर, मध्यम आदि अनन्त भेद होने लगेंगे। और हास्यरस में स्थायी के तारतम्य से जो छः भेद किये गये हैं उन छः भेदों का अभाव प्राप्त होने लगेगा; और यदि स्थायी के तारतम्य से रसभेद मानें तो काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रस भाव मानने पड़ेंगे; और शोकादि स्थायीभावों में आरम्भ में शोक तीव्र होता है और बाद में क्रमशः मन्द होता जाता है तथा क्रोध, उत्साह और रति आदि स्थायी भावों में अमर्ष, स्थैर्य और सेवा आदि पोषक सामग्री के अभाव में ह्रास दिखाई देता है। इसलिये उपचय के स्थान पर उपचय रूपी विपर्यय के प्राप्त होने के कारण उपचित स्थायीभाव रस होता है यह कथन उचित नहीं है।

और इसीलिये कारण रूप विभावों, कार्य रूप अनुभावों तथा सहकारी रूप निर्वेदादि व्यभिचारिभावों के द्वारा (नट के अपने अभ्यास, शिक्षा आदि रूप में) प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम से न प्रतीत होने वाले [कारण, कार्य, सहकारीरूप विभावादि से] कारण या चिह्न की सामर्थ्य द्वारा अनुकर्ता [नट] में स्थित रूप के द्वारा अनुमान से प्रतीत होने वाला मुख्य [अनुकार्य] राम में विद्यमान रहने वाला रत्यादि स्थायीभाव का यह अनुकरणरूप होता है तथा इसी अनुकरणरूप होने के कारण ही यह स्थायीभाव उससे भिन्न नाम के द्वारा व्यवहृत होता है। यही भिन्न नाम से व्यवहार किया जाने वाला पदार्थ 'रस' है।

विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः, अनुभावाः शिक्षातः, व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्, स्थायी तु काव्यबलादपि

नानुसन्धेयः। रतिः शोक इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयी-कुर्वन्त्यभिधानत्वेन, न तु वाचिकाभिनयरूपतयावगमयन्ति।

न हि वागेव वाचिकं, अपि तु तया निर्वृत्तं, अङ्गैरिवाङ्गिकम्। तेन—

'विवृद्धात्माप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि।
वाडवेनेव जलधिः शोक क्रोधेन पीयते' इति,

तथा—

'शोकेन कृतस्तम्भः तथा स्थितो योऽनवस्थिताक्रन्दैः।
हृदयस्फुटनभयार्तै रक्षितुमभ्यर्थ्यते सचिवैः'

इत्येवमादौ न शोकोऽभिनेयोऽपि त्वभिधेयः।

'भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या बाष्पाम्बुशीकरकणौघः।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि। (रत्ना २-११)

इत्यनेन तु वाक्येन स्वार्थमभिदधतोवचनगतः सुखात्मा रति-स्थायी (यि ?) भावोऽभिनीयते न तूच्यते। अवगमनशक्तिर्ह्यभि-नयनं, वाचकत्वादन्या। अत एव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्ति-कमपि नोक्तम्। तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वञ्च युक्तम्।

विभावों का काव्य के द्वारा, अनुभावों का शिक्षा के द्वारा तथा व्यभिचारिभावों का अपने कृत्रिम अनुभावों के द्वारा अनुसन्धान (प्रतीति) होता है, परन्तु स्थायीभाव काव्य-बल से भी प्रतीत नहीं होता। रति, शोक आदि शब्द रति तथा शोक आदि विषयों का अभिधा शक्ति के द्वारा [परोक्षरूप में] कथन करते हैं, वाचिक अभिनय के रूप में उनको बोधित नहीं करते।

क्योंकि वाणी का नाम वाचिक अभिनय नहीं होता किन्तु उस वाणी

के द्वारा किया जाने वाला अभिनय वाचिक कहलाता है। जैसे अंगों से किया जाने वाला अभिनय आङ्गिक होता है। अतएव

जैसे अतिशय बढे हुए, अगाध तथा अनन्त होने पर भी समुद्र को वाडवाग्नि पी जाती है उसी प्रकार (अतिशय बढे हुए, अगाध तथा अनन्त होने पर भी) शोक को क्रोध नष्ट कर देता है।

यहाँ, तथा—

शोक के कारण चेष्टाहीन एवं निरन्तर क्रन्दन करते हुए ऐसा पड़ा हुआ है कि कहीं इसका हृदय न विदीर्ण हो जाए, इस आशंका से भयभीत मन्त्री केवल उसके संरक्षण की (ईश्वर से) प्रार्थना कर रहे हैं।

इत्यादि उपर्युक्त उदाहरणों में शोक अभिनेय नहीं है, किन्तु यहाँ वह स्वशब्द वाच्य होने से अभिधेय है। (परन्तु)—

चित्र निर्माण की वेला में उस चित्र पर उसके आँसुओं के जो कण गिरे वे उसके हस्तस्पर्श के द्वारा मेरे शरीर में आए हुए स्वेद के समान शोभित हो रहे हैं। (र० २।११)

इस पद्य से उसके वाच्यार्थ से भिन्न उदयनगत सुखस्वरूपा रति स्थायीभाव का यहाँ अभिनय किया जा रहा है, शब्द से अभिहित मात्र नहीं किया जा रहा। शब्द की वाचकशक्ति से भिन्न बोध करवाने वाली अन्य शक्ति अभिनय है। इसीलिये स्थायीभाव की प्रतीति अभिनय के द्वारा होने से विभाव-अनुभाव आदि के साथ सूत्र में स्थायीभाव का भिन्नविभक्ति में भी प्रयोग नहीं किया गया है [आशय यह कि उपचित स्थायीभाव रस नहीं होता, अनुक्रियमाण स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त करता है] और इसीलिये अनुक्रियमाण रति ही शृङ्गाररस होती है। अतएव उसका स्थायीभावरूप (तदात्मकत्व) और स्थायीभावमूलक (दोनों) होना (तत्प्रभवत्व) उचित है।

अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा—

'मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाभिधावतोः।

मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति' इति।

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति, न चाप्ययं न सुखीति, नापि रामः स्याद्वा न वायमिति, न

चापि तत्सदृश इति। किन्तु सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन यः सुखी रामः, असावयमिति प्रतीतिरस्तीति। तदाह—

'प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसंप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥' इति।

तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः। तथा हि— अनुकरणरूपो रस इति यदुच्यते तत्किं सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण, उत नटाभिप्रायेण। किं वा वस्तुवृत्तिविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन, यथाहुर्व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्तीति'। अथ भरतमुनिवचनानुसारेण?

मिथ्याज्ञान से भी (रसास्वादादि रूप) अर्थ को व्यक्त करने वाली क्रिया या फल-प्राप्ति देखी जा सकती है। (जैसे—)

मणि और प्रदीप के समान प्रभा को देखकर और उसे मणि समझ कर लेने के लिये दौड़ने वाले दो व्यक्तियों में मिथ्याज्ञान के समान होने पर भी फलप्राप्ति [अर्थक्रिया] में भेद पाया जाता है।

और यहाँ नर्तक ही सुखी है यह प्रतीति नहीं होती और न यही राम है इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होती, न यह सुखी नहीं है यह प्रतीति होती है और नहीं यह राम है या नहीं इस प्रकार की और नहीं यह उसके समान है इस प्रकार की प्रतीति होती है। किन्तु सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य (इन) रूप समस्त प्रतीतियों से विलक्षण (भिन्न प्रकार की) 'जो सुखी राम है वह यह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। जैसा कि निम्न दो कारिकाओं में बतलाया भी गया है :—

न सन्देह की प्रतीति होती है, न यथार्थ स्थिति की और न भ्रान्ति की प्रतीति होती है। यही वह है ऐसी बुद्धि भी नहीं होती और यह

तब श्रीशङ्कुकपक्ष की ओर से यदि यह कहा जाए कि नटगत रत्यादि चित्तवृत्ति ही प्रतीत या ग्रहण होने पर रति का अनुकरणरूप शृङ्गार रस है तो उपाध्याय-पक्ष पूछता है कि किस रूप में उसकी प्रतीति स्वीकार की जाएगी इसका यहाँ विचार करना होगा।

और यदि यह कहा जाए कि प्रमदादि विभावरूप कारणों, कटाक्षादि अनुभावरूप कार्यों तथा धृति आदि व्यभिचारिभावरूप सहकारियों के चिह्नों [हेतुओं] से विभावादि कारणों से कार्यरूप, अनुभावादि कार्यों से कारणरूप तथा व्यभिचारीभाव के सहकारीरूप से जो लौकिक चित्तवृत्ति साक्षात्कार की योग्यता ले लेती है उसी रूप में नट की चित्तवृत्ति प्रेक्षकों को प्रतीत या प्रतिभासित होती है [और यही रत्यादि-प्रतीति रस है]। [यदि यही माना जाए तो] ऐसी स्थिति में रतिरूप में (ही) उसकी गृहीति न मान कर रति की अनुकृति के रूप में उसकी स्वीकृति का कथन कहाँ तक उपयुक्त होगा यही दुःख की बात है।

अच्छा, अनुकार्य में जो आलम्बन—उद्दीपन आदि विभाव उपस्थित होते हैं वे वास्तविक हैं किन्तु यहाँ प्रयोगकर्त्ता नट [अनुकर्त्ता] में वैसे (वास्तविक विभावादि) प्रतीत नहीं होते यही दोनों में भेद या वैशेष्य है। और यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो वे विभाव आदि उस नटगत रति के विभाव [कारण], अनुभाव [कार्य] तथा व्यभिचारिभाव [सहकारी] न होते हुए भी काव्य तथा शिक्षा आदि से उपकल्पित होने के कारण वास्तविक विभावादि की अपेक्षा कृत्रिम होने पर सामाजिकों के द्वारा विभावादि के रूप में प्रतीत होते हैं अथवा नहीं? और यदि सामाजिक के द्वारा वे कृत्रिमरूप से ही ग्रहण किये जाते हैं तो उसे कृत्रिम साधनों से वास्तविक रति का उद्बोध कैसे हो सकता है?

नन्वत एव प्रतीयमाना रतिरनुकरणबुद्धेः कारणम्। तन्न। कारणान्तरप्रभवेषु हि कार्येषु सुशिक्षितेन तथा ज्ञाने वस्त्वन्तरस्यानुमानं तावद्युक्तम्। असुशिक्षितेन तु तस्यैव प्रसिद्धस्य कारणस्य। यथा वृश्चिकविशेषाद् गोमयस्यैवानुमानम्। तत्परं मिथ्याज्ञानम्।

यत्रापि लिङ्गज्ञानं मिथ्या तत्रापि न तदाभासानुमानमयुक्तम्। नहि बाष्पाद्‌धूमत्वेन ज्ञातादनुकारप्रतिभासमानादपि लिङ्गात् तदनुकारानुमानं युक्तम्। धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहाराज्ञाग्न्यनुकारा जपापुष्पप्रतीतिर्दृष्टा।

(और शङ्कुकपक्ष की ओर से पुनः कहा जा सकता है कि) इसलिये तो कृत्रिम साधनों से ज्ञात रति अनुकरणात्मक रत्यादि की बुद्धि का कारण होती है। [यह अनुकरणात्मक रति आदि की प्रतीति ही रस मानी जा सकती है]। यह ठीक नहीं है। (प्रसिद्ध कारणों से भिन्न) कारणों से उत्पन्न कार्यों में उनका ज्ञान होने पर उस विषय के विशेषज्ञ व्यक्ति के द्वारा दूसरी वस्तु का प्रसिद्ध कारणों को छोडकर ठीक अनुमान करना उचित हो सकता है। पर साधारणपुरुष के द्वारा तो उसी प्रसिद्ध कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे किसी विशेष बिच्छू को देखकर उसके कारणभूत विशेष गोबर का अनुमान करना। ऐसा करना सामान्य पुरुष के लिये मिथ्याज्ञान होगा।

और जहाँ धूलिपटल में धूमादि लिङ्ग का मिथ्याज्ञान होता है वहाँ भी अन्य वस्तु (अग्नि) का आभास मानना उचित नहीं। क्योंकि बाष्प के धूम के समान ज्ञात होने पर भी ज्ञात वस्तु से अनुकरण में समान लगने वाली वस्तु से उसके समान बनावटी वस्तु का अनुमान किया जाए तो यह अनुचित होगा। अथवा धूम के समान प्रतीत होने वाले कुहरे से अग्नि के समान आकार रहने के कारण अग्निवत् प्रतीत होने वाले जपापुष्प की प्रतीति अनुमिति हो जाए [तो यह भी अनुचित होगा]

नन्वक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव प्रतिभाति। सत्यम्। क्रुद्धेन सादृश्यं च भ्रुकुट्यादिभिः, गौरिव गवयेन मुखादिभिरिति। नैतावतानुकारः कश्चित्। चापि सामाजिकानां सादृश्यमतिरस्ति। सामाजिकानां च न भावशून्या नर्तके प्रतिपत्तिरित्युच्यते, अथ च तदनुकारप्रतिभास इति रिक्ता वाचोयुक्तिः।

यच्चोक्तं रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्तिस्तदपि यदि तदात्वेति

निश्चितं तदुत्तरकालभाविबाधकवैधुर्याभावे कथं न तत्त्वज्ञानं स्यात्। बाधकसद्भावे वा कथं न मिथ्याज्ञानम्। वास्तवेन च वृत्तेन बाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञानमेव स्यात्। तेन विरुद्धबुद्धि (द्वय) संभेदादिरयसत् नर्तकान्तरेऽपि च रामोऽयमिति प्रतिपत्तिरस्ति। ततश्च रामत्वं सामान्यरूपमित्यायातम्।

यच्चोच्यते विभावाः काव्यादनुसन्धीयन्ते, तदपि न विद्म। न हि ममेयं सीता काचिदिति स्वात्मीयत्वेन प्रतिपत्तिर्नटस्य। अथ सामाजिकस्य तथा प्रतीतियोग्याः क्रियन्त इत्येतदेवानुसन्धानमुच्यते, तर्हि स्थायिनि सुतरामनुसन्धानं स्यात्। नस्यैव हि मुख्यत्वेनास्मिन्नयमिति सामाजिकानां प्रतिपत्तिः।

*(**पूर्व पक्ष**) क्रुद्ध न होने पर भी अभिनेता क्रुद्ध सा प्रतीत होता है। [अर्थात् वह स्वय क्रुद्ध न होकर क्रुद्ध पुरुष के क्रोध का अनुकरण कर रहा है। इसीलिये रत्यादि के अनुकरण को रस माना जाता है]* (**उत्तर पक्ष**) ठीक है। वह क्रुद्ध के सदृश प्रतीत होता है और यह सादृश्य भ्रुकुटि आदि के द्वारा होता है; जैसे गो का नीलगाय के साथ मुखादि के द्वारा सादृश्य होता है। *[परन्तु इस सादृश्य से अनुकरणात्मकत्व सिद्ध कैसे होगा?]* और सामाजिक को राम के सादृश्य की वास्तव में प्रतीति (ही) नहीं होती है। *परन्तु उनकी नट के विषय में भावावेश रहित प्रतीति नहीं मानी जा सकती है तो फिर उस रत्यादि के अनुकरण के प्रतिभास (प्रतीति) का अभिधान सारहीन है।*

यदि यह कहा जाए कि 'यह राम है' ऐसी नट को देख कर प्रतीति होती है तो इस प्रतिपत्ति के उत्तरकाल में बाधक का अभाव होने से उसकी तात्त्विक प्रतीति क्यों नही मानी जाए? और बाध होने पर उसे मिथ्या ज्ञान क्यों नहीं माना जाए। इसके अतिरिक्त वास्तविक दृष्टि से आख्यान वस्तु में बाधक के अनुपस्थित होने पर भी मिथ्या ज्ञान होगा। अतएव दो विरुद्ध बुद्धियों के सम्बन्ध के कारण यह कहना भी असगत होगा। अन्य अभिनेता में भी 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतिपत्ति होती है; अतः

रामत्व एक सामान्य रूप है यही सिद्ध होता है। [आशय यह है कि जैसे ब्राह्मणत्व एक सामान्यधर्म है और उससे युक्त सभी ब्राह्मण होते हैं इसी प्रकार 'रामत्व' विशिष्ट या वैयक्तिक धर्म होकर भी आदर्श-व्यक्तित्व के कारण सामान्य धर्म हो जाने से अनेक अभिनेताओं में 'रामत्व' की प्रतिपत्ति या भान हो सकता है।]

और जो यह कहा जाता है कि 'काव्य के द्वारा विभावों का (उपस्थापन या) अनुसन्धान किया जाता है यह भी प्रतीत नहीं होता। क्योंकि 'यह मेरी सीता है' ऐसी किसी नट को प्रतीति नहीं होती। यदि 'काव्य के द्वारा विभावादि सामाजिक की प्रतीति के योग्य बनाए जाते हैं और ऐसा करना ही अनुसन्धान होता है' ऐसा माना जाए तो उनकी अपेक्षा स्थायीभाव के विषय में वह अनुसन्धान और अधिक उचित होगा। क्योंकि इस स्थायीभाव के ही मुख्य होने से 'इस राम में यह रत्यादि स्थायीभाव हैं' ऐसी ही सामाजिकों को प्रतिपत्ति होती है [अतः रत्यादि को ही रस मानना उचित होगा इनके अनुकरण को नहीं।]

यत्तु वाग्वाचिकमित्यादिना भेदाभिधानसंरम्भगर्भमहीयान-भिनयरूपताविवेकः कृतः स उत्तरत्र स्वावसरे (अ० १४) चर्चयिष्यते। तस्मात्सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरणं रस इत्यसत्।

न चापि नटस्येत्थं प्रतिपत्तिः 'रामं तच्चित्तवृत्तिं वानुकरोमी'ति। सदृशकरणं हि तावदनुकरणमनुपलब्धप्रकृतिना न शक्यं कर्तुम्। अथ पश्चात्करणमनुकरणम्, तल्लोकेऽप्यनुकरणात्मतातिप्रसक्ता।

अथ न नियतस्य कस्यचिदनुकारः, अपि तूत्तमप्रकृतेः शोक-मनुकरोति। तर्हि केनेति चिन्त्यं न तावच्छोकेन, तस्य तदभावात्।

न चाश्रुपातादिना शोकस्यानुकारः तद्वैलक्षण्यादित्युक्तम्।

इयत्तु स्यात्–उत्तमप्रकृतेर्ये शोकानुभावाःताननुकरोमीति। तत्रापि कस्योत्तमप्रकृतेः यस्य कस्य चिदिति चेत्सोऽपि विशिष्टतां

विना कथं वुद्धावारोपयितुं शक्यः। य एवं रोदितीति चेत्स्वारमापि मध्ये नटस्यानुप्रविष्ट इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृभावः।

और श्रीशङ्कुक महोदय ने जो वाग् और वाचिक का भेद प्रदर्शित करते हुए अपनी अभिनय की विशेषज्ञता को प्रस्तुत किया है उसकी हम आगे (अध्याय १४ में) यथावसर विवेचना करेंगें। अतएव सामाजिक की प्रतीति के अनुसार 'स्थायीभाव का अनुकरण रस कहलाता है' यह मानना ठीक नहीं है।

और न नट को इस प्रकार की प्रतिपत्ति (अनुभव, बोध) ही होती है कि मैं राम की चित्तवृत्तियों का अनुकरण कर रहा हूँ यदि सदृश करण अनुकरण है तो जिसे प्रकृति (अनुकार्य) का ज्ञान नहीं है वह उसका अनुकरण नहीं कर सकता। और यदि पश्चात् करण अनुकरण है तो लोक में वैसी अनुरणात्मकता अतिव्याप्ति-दोषग्रस्त हो जाएगी [अर्थात् लौकिक इत्यादि के अनुकरण को देखने पर भी रस की अनुभूति मानी जाने लगेगी]

और यदि यह कहा जाए कि अनुकरण किसी विशेष (नियत) व्यक्ति का न हो कर सामान्यतः उत्तम प्रकृति का होता है और नट अपने शोक से उत्तम प्रकृति के शोक का अनुकरण करता है तो यह किस साधन से अनुकरण करता है यह विचारणीय है। यदि यह कहा जाए कि नट शोक से अनुकरण करता है तो उसे वास्तव में कोई शोक नहीं होता [अनुकर्त्ता में शोक का अभाव है]। और वह अश्रुपात आदि से शोक का अनुकरण करता है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुकरण का स्वरूप विलक्षण होता है [अर्थात् शोक मानस चित्तवृत्ति भूत है और अश्रुपातादि दैहिक व्यापार है अतएव अश्रुपातादि से शोक भिन्न हो जाने से यहाँ स्वरूप गत विलक्षणता है]

केवल इतना कहा जा सकता है कि जो उत्तम प्रकृति के शोकगत अनुभाव हैं उनका 'मैं (नट) अनुकरण करता हूँ' ऐसी अभिनेता कल्पना कर सकता है। किन्तु इसमें भी वह किस उत्तम प्रकृति के शोक का अनुकरण करता है [यह निश्चित नहीं है] और 'जिस किसी के' ऐसा

कहा जाय तो यह भी विशेष के बिना समझना कठिन है। और यदि 'जो मुझ नट की तरह रोता है उसका मैं अनुकरण करता हूँ' ऐसा कहा जाए तो अनुकार्य की प्रतीति में नट का अपना स्वरूप भी समाविष्ट हो जाने से अनुकार्य और अनुकर्त्ता का भाव समाप्त होकर व्यर्थता प्राप्त कर लेता है।

किञ्च नटः शिक्षावशात्स्वविभावस्मरणाच्चित्तवृत्तिसाधारणीभावेन हृदयसंवादात्केवलमनुभावान्प्रदर्शयन् काव्यमुपचितकाकुप्रभृत्युपस्कारेण पठंश्चेष्टत इत्येतावन्मात्रेऽस्य प्रतीतिर्न त्वनुकारं वेदयते। कान्तवेषानुकारवद्धि न रामचेष्टितस्यानुकारः। एतच्च प्रथमाध्यायेऽपि दर्शितमस्माभि।

नापि वस्तुवृत्तत्वानुसारेण तदनुकारत्वमनुसंवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्तेः। यच्च वस्तुवृत्तं तद्दर्शयिष्यामः।

न च मुनिवचनमेवंविधमस्ति क्वचित्स्थाय्यनुकरणं रस इति। नापि लिङ्गमत्रार्थे मुनेरुपलभ्यते प्रत्युत ध्रुवागानतालवैचित्र्य लास्याङ्गोपजीवननिरूपणादिविपर्यये लिङ्गमिति सन्ध्यङ्गाध्यायान्ते वितनिष्यामः। 'सप्तद्वीपानुकरणम्' (ना० शा० १।११७) इत्यादि त्वन्यथापि शक्यगमनिकमिति। तदनुकारेऽपि च क नामान्तरं कान्तवेषाद्यनुकरणादौ।

और नट शिक्षा के तथा अपने विभावों के स्मरण द्वारा चित्तवृत्ति के साधारणीभाव के कारण हृदय की संवाद या एकरूपता से केवल अनुभावों का प्रदर्शन करता हुआ काव्य को अनुभावरूप उचित कण्ठध्वनि (काकु) के द्वारा उच्चारित करते हुए तदनुरूप चेष्टा करता है। केवल इतने अंश में यह प्रतीति सम्भव होती है पर यह प्रतीति अनुकरण का बोध तो नहीं करवाती। क्योंकि स्त्री के वेष के अनुकरण के समान राम की चेष्टाओं का अनुकरण नहीं हो सकता यह हमने प्रथमाध्याय में भी बतलाया है।

और न वस्तुवृत्त के अनुसार उन स्थायीभावों का अनुकरण हो सकता है। क्योंकि बाद में प्रतीत होने वाले स्थायीभावों का वृस्तुवृत्तत्व सिद्ध कैसे होगा ? जो वास्तव में वस्तुवृत्तत्व है उसे हम आगे दिखलाएँगें।

और न भरतमुनि के द्वारा ऐसा कहीं कहा गया कि 'स्थायीभाव का अनुकरण रस है'। और भरत द्वारा इस विषय में निर्दिष्ट आधार भी नहीं दिया गया जिसके आधार पर अनुमान किया जासके कि मुनि स्थायीभाव के अनुकरण को ही रस मानते हैं। इसके बजाय अभिनय के परिपोष के लिये ध्रुवा, गान, तालवैचित्र्य और लास्यांगों का निरूपण विपरीत पक्ष के समर्थन का अनुमापक बन जाता है इस बात को हम सन्ध्यङ्गों के अध्याय (ना० शा० अ० २१) के अन्त में विस्तार से दिखलाएँगे। प्रथम अध्याय में नाट्य को जो सप्तद्वीप का अनुकरण बतलाया है। उस अनुकरण की व्याख्या दूसरे प्रकार से होती है [स्थायीभाव के अनुकरण रूप में नहीं] और स्थायीभाव का अनुकरण मानने पर भी कान्ता आदि के वेश अथवा गति आदि के अनुकरण में नामान्तर की आवश्यक्ता कहाँ होगी [अर्थात् स्थायीभाव का अनुकरण मानने पर उसके लिये 'रस' इस दूसरे नाम का उपयोग कहाँ तक उचित होगा।]

यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभिः संयुज्यमान एव गौरित्यादि। तत्र यद्यभिव्यज्यमान इत्यर्थोऽभिप्रेतस्तदसत्। न हि सिन्दूरादिभिः पारमार्थिको गौरभिव्यज्यते प्रदीपादिभिरिव, किन्तु तत्सदृशः समूहविशेषो निर्वर्त्यते। अतएव हि सिन्दूराद्यो गवावयवसन्निवेशसदृशेन सन्निवेशविशेषेणावस्थिता गोसदृगिति प्रतिभासस्य विषय। नैवं विभावादिसमूहो रतिसदृशताप्रतिपत्तिग्राह्यः। तस्माद् भावानुकरणं रस इत्यसत्।

येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव। साङ्ख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः। तस्याश्च सामग्र्यां दलस्थानीया विभावाः। संस्कारका अनुभावव्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति।

और जो यह कहा जाय कि जैसे चित्र में हरिताल आदि रंगों के तूलिका द्वारा सम्मिश्रण से गौ आदि की प्रतीति होती है उसी प्रकार विभावादि के मिश्रण या संयोग से रस की उत्पत्ति हो जाती है। और विभावादिक से भिन्न उसका 'रस' यह नया नाम भी हो जाता है। इसमें यदि अभिव्यज्यमान अर्थ अभिप्रेत हो तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि सिन्दूर आदि रंगों से वास्तविक गौ की अभिव्यक्ति नहीं होती। जैसी प्रदीप के प्रकाश में वास्तविक गाय व्यक्त हो जाती है वैसी सिन्दूर आदि रंगों से उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती केवल गाय सदृश अंगों की रचना स्पष्ट होती है। और इसलिये चित्र में सिन्दूर आदि गाय के अवयवों के सन्निवेश के समान सन्निवेशविशेष के रूप में स्थित होकर 'यह आकृति गौ जैसी है' ऐसा भान (या प्रतीति का विषय) होता है। किन्तु इस प्रकार विभावादि-समूह रति के सदृश हैं यह ग्राह्य नहीं है [या इस ज्ञान से गृहीत नहीं होते हैं] अतएव इत्यादि स्थायीभावों का रस अनुकरण होता है यह मत ठीक नहीं।

और जो यह स्वीकार करता है कि सुख, दुःख मोह को उत्पन्न करने वाली शक्ति से युक्त विषय-सामग्री बाह्य ही होती है। सांख्य दर्शन के इस सिद्धान्तानुसार संसार के सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होने से रस भी सुख, दुःख, मोह स्वभाव वाला [त्रिगुणात्मक] माना जाए। और उस सामग्री में दाल के स्थानीय विभाव और उनके संस्कार करने वाले छौंक के समान अनुभाव और व्यभिचारिभाव हैं और विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि सामग्री से उत्पन्न आन्तरिक सुख दुःख एवं मोहरूप (रत्यादि) स्थायीभाव हैं।

तेन 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' इत्यादावुपचारमङ्गीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्ख्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते। यत्त्वन्यत् प्रतीतिवैरूप्यप्रसङ्गादि तत् कियदत्रोच्यताम्।

और उससे 'स्थायी भावों को रसत्व प्राप्त करवाएँगे' इत्यादि मुनिवचन में उपचार [लक्षणा] मान कर रसग्रन्थ के साथ अपने विरोध

को स्वयं जान कर हमारे समान प्रामाणिकपुरुषों को दोषप्रदर्शन की मूर्खता से बचा लिया इसलिये उसे कितना धन्यवाद दें। और रसप्रतीति को सुख-दुःखमोहात्मक (त्रिगुण) मानने पर एक ही ज्ञान में विरुद्ध प्रतीतियों का मिश्रण हो जाने से प्रतीतिवैषम्यादि दोष (भी) होंगें। इसलिये रस को त्रिगुणात्मक मानने के विषय में और कितना अनौचित्य दिखलायें।

भट्टनायकस्त्वाह-रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता सीतादेरविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात्।

न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता युक्ता प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलावभासे हि प्रत्युतलज्जा जुगुप्सा स्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदयः व्यग्रतयाकाशरसत्वमपि स्यात्। तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता।

उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगतपरगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम्।

तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसङ्कटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुति विस्तार विकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिविलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

भुक्ति-वाद—

भरत के एक अन्य व्याख्याता भट्टनायक रससूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि–रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। स्वगत रूप से [अर्थात् सामाजिक द्वारा अपने में] रस की प्रतीति मानने पर करुणरस में सामाजिक को दुःख की प्रतीति होना चाहिये किन्तु यह प्रतीति उचित नहीं है। [दुःख के मूल कारण वास्तविक] सीता आदि के विभाव रूप में उपस्थित न होने के कारण, अपनी पत्नी आदि की नाट्य-प्रसंग में स्मृति न होने के कारण, देवता आदि के विभाव होने पर उनके साधारणीकरण के अयोग्य होने के कारण और हनुमान आदि के समान विभावों के द्वारा किये गये समुद्रलंघन आदि का साधारणीकरण असंभव होने से सामाजिक को स्वगत रूप में रस प्रतीति नहीं होती।

और उस रत्यादि से युक्त राम आदि विभावों की स्मृति ही होती है क्योंकि रत्यादियुक्त राम पूर्व में उपलब्ध नहीं है। शब्द और अनुमान प्रमाणों से उस (रस) की प्रतीति मानने पर प्रत्यक्षज्ञान के जैसी सरसता नहीं रहेगी। इसलिये शब्द या अनुमानप्रमाण से रस का ज्ञान नहीं होता] और प्रत्यक्ष रूप से सम्भोगादि में रत नायक-नायिका के युगल को देखने पर रस के स्थान पर लज्जा, जुगुप्सा, स्पृहा आदि दूसरे प्रकार की चित्तवृत्तियों का उदय हो जाने से अव्यग्रता या तन्मयता न होगी और ऐसा होने पर रस प्रतीति का आकाशरस (आकाशपुष्प) के समान अभाव हो जायगा। अतएव अनुभव, स्मृति आदि के रूप में रस की प्रतीति मानना ठीक नहीं।

और रस की उत्पत्ति मानने में भी ये सब दोष समान ही हैं [इस लिये रस की स्वगत या परगत उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती]। शक्तिरूप में पूर्वस्थित रस की विभाव-अनुभाव आदि के द्वारा बाद में अभिव्यक्ति मानने पर विषयों की वृद्धि आदि से रसानुभूति में न्यूनाधिक रूप तारतम्य होने लगेगा। और फिर पहले पक्ष के समान पुनः यह विचारणीय हो जायेगा कि, रसाभिव्यक्ति सामाजिक को स्वगत रूप से होती है अथवा परगत रूप से।

अतएव काव्य में दोषाभाव तथा गुणालंकारमयत्व लक्षण के कारण और नाटक में चारप्रकार के अभिनय सामाजिक के अपने अन्तःस्थित समस्त मोह तथा संकट का निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप अभिधा शक्ति के पश्चात् द्वितीय अंश पर होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान [साधारणीकृत] होकर अनुभव तथा स्मृति आदि से भिन्न (विलक्षण) प्रकार के रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण (अनुवेध) के वैचित्र्य बल के कारण वृद्धि, (द्रुति) विकास तथा विस्तार स्वरूप सत्त्वगुण के प्राधान्य द्वारा प्रकाशमान् आनन्दमय साक्षात्कार में विश्रान्त स्वरूप वाला एवं परब्रह्म के आस्वादन सदृश होकर यह रस भोजकत्व व्यापार के द्वारा [भोग] किया जाता है।

तत्र पूर्वपक्षोऽयं भट्टलोल्लट-पक्षानभ्युपगमादेव नाभ्युपगत इति तद्दूषणमनुत्थानोपहतमेव। प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः। रसनेति चेत्, सापि प्रतिपत्तिरेव। केवलमुपायवैलक्षण्यान्नामान्तरं प्रतिपद्यताम्। दर्शनानुमितिश्रुत्युपमितिप्रतिभानादिनामान्तरवत्।

निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वा असद्वा रस इति तृतीया गतिः स्यात्। चाप्रतीतं वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम्।

अथोच्यते—प्रतीतिरस्य भोगीकरणं तच्च रत्यादिस्वरूपं, तदस्तु तथापि न तावन्मात्रम्। यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसना (रसा ?) त्मनः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः। सत्त्वादिगुणानां चाङ्गाङ्गिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति का त्रित्वेनेयत्ता—'

भट्टनायक का यह मत पहले किये गये भट्टलोल्लट के पक्ष के खण्डन से ही खण्डित हो जाता है अतएव उनके मत के प्रत्याख्यान (खण्डन, निराकरण) की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त प्रतीति,

उत्पत्ति, अभिव्यक्ति के अतिरिक्त (भिन्न) संसार में भोग कौन पदार्थ हो सकता है [अर्थात् विषयवस्तु की प्रतीति अथवा उसके अनुभव को भोग कहते हैं परन्तु भट्टनायक जब रस की प्रतीति नहीं मानते तो उसका 'भोग' किस पदार्थ को माना जायेगा] यदि रसन (आस्वादन) ही भोग पद का अभिप्राय है तो यह रसना भी प्रतीति रूप ही है। केवल उपाय की विलक्षणता के कारण इसका भिन्न नाम रखा जा सकता है यह दूसरी बात है। जैसे साधन तथा प्रमाण भेद के कारण एक ही ज्ञान के प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान तथा प्रतिभान आदि भिन्न नाम दिये जा सकते हैं। और रस की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति दोनों ही न मानने पर वह नित्य होगा अथवा असत्। इसके अतिरिक्त उसकी अन्य गति (तीसरी स्थिति) नहीं है, क्योंकि जिसकी प्रतीति न होती हो ऐसी कोई वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं होती।

यदि यह कहा जाय कि रस की आन्तर प्रतीति ही भोगीकरण रूप है [उसका बाह्यरूप मान्य नहीं] और वह रत्यादि रूपा है। तो ऐसा मान लेने पर भी केवल यह नाट्यसम्बन्धी एक दोष ही तो रह नहीं जाता है [न तावन्मात्रम्]। जितने शृङ्गारकरुण आदि रस हैं उतने ही प्रकार की आस्वादन स्वभाववाली भोगात्मक प्रतीतियाँ हैं और उनके भी सत्त्व, रज, तम आदि के प्रधान-अप्रधानभागवत जो वैचित्र्य है उनके कारण रस के अनन्त भेद या व्यापारों की कल्पना करनी पड़ेगी तब अभिधा; भावकत्व तथा भोजकत्व रूप तीन व्यापारमात्र ही कैसे स्वीकार किये जा सकेंगे [या तीन व्यापार की सीमा कैसे रह पायेगी !]

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः ॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमन्नरः[1] ॥ १ ॥

यत् 'काव्येन भाव्यन्ते रसा' इत्युच्यते, तत्र विभावादिजनित-

१. सिद्धिमान्नरः इति ख पुस्तके पाठः।

चर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव। यदुक्तम्—

> "संवेदनाख्यया व्यङ्ग्य (स्व)परसंवित्तिगोचरः।
> आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥" इति

तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते। अनुभवेन च तद्विषय इति मन्तव्यम्।

एक अभिधा, दूसरी भावना और तीसरी भोगीकृतरूपा शक्ति [अर्थात् भोजकत्व] ये तीन शब्द के व्यापार माने गये हैं। उनसे पहले शब्दार्थ और अलंकार अभिधा के विषय वाच्य रूप में उपस्थित हो जाते हैं। इसके बाद दूसरे (भावना नामक) व्यापार से साधारणीकरण द्वारा जो भावित होता है वह शृङ्गारादि-समूह भी भोगीकृत रूप में भावुक सामाजिक द्वारा विशेष रूप से अनुभव किया जाता है (आप्यते) या आस्वादित होता है।

यह जो कहा जाता है कि 'काव्य में रसों की भावना की जाती है।' उसमें यदि विभावादि से उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद रूप प्रतीति को विषय बनाना ही यदि भावना है तो यह हमें भी स्वीकार्य है (पर इस प्रकार भावकत्व व्यापार की सिद्धि नहीं होती)। और जो यह कहा गया है कि :—

"संवेदनात्मक व्यङ्ग्य पर (प्रधान) संवित्ति (दूसरे व्यक्ति की प्रत्यक्ष प्रतीति) का विषय और आस्वादनरूप में साक्षात्कृत (अनुभव किया जाने वाला) रस काव्य का प्रयोजन है।"

इनमें व्यज्यमान रूप से व्यङ्ग्य का बोध होता है और अनुभव पद से (रस या व्यङ्ग्य का अनुभव या अर्थव्यञ्जनारूप से) उसी का विषय रस है यह बोध होता है (अतएव व्यञ्जना शक्ति के अतिरिक्त भोजकत्व व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं।)

*अभिव्यक्तिवाद—

नन्वेवं कथं रसमास्ताम्। किं कुर्मः ?

तो फिर ऐसी स्थिति में रसतत्त्व कहाँ रहेगा ? (कैसे सिद्ध होगा ?)। (और इस प्रकार खण्डन होने पर रसतत्त्व तथैव विद्यमान ही रहे तो फिर) हम क्या कर सकते हैं !

क्योंकि :—

आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत् संविद्विकासेऽधिगतागमित्वम् ।
इत्थं स्वयं ग्राह्यमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः ॥ [क]

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥ [ख]

चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबन्धपुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय ॥ [ग]

तस्मात्सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥ [घ]

यह शास्त्रसिद्ध (आम्नायसिद्ध) विषय की विवेचना के विषय में कोई नयी बात नहीं है (क्योंकि वैदिकसिद्धान्त का खण्डन करने से नित्य सिद्धान्तों का खण्डन तो नहीं होता किन्तु) बुद्धि का विकास होकर (प्रतिपाद्य) वस्तु का स्वरूप अधिकाधिक प्रामाणिक और स्पष्ट होता है। अन्यथा तर्क-वितर्क से विषय का स्पष्टीकरण न हो तो जो स्वतःप्रमाण रूप बहुमूल्य रस है उसके सम्बन्ध में विरोध करने से क्या लौकिक प्रमाण दूषित नहीं होगा ? [आशय यह कि स्वतःप्रमाण वेद का विरोधी प्रमाण ही शब्दात्मक स्वतःप्रमाण वेद के सामने बाधित या दूषित हो जायेगा ।] [क]

विवेचक विद्वानों की बुद्धि अधिकाधिक ऊँचे प्रदेशों पर आरोहण करने पर भी श्रान्ति का अनुभव नहीं करते हुए जिस अर्थतत्त्व का अन्वेषण करती है वही मुख्य है। और विवेक की प्रारम्भिक सीढ़ी परम्परागत रूप में (इसमें) सहायक होकर उस तत्त्व तक पहुँचाती है क्योंकि उनका ही यह परिणाम (फलम्) होता है। [ख]

यह आश्चर्य की बात है कि प्रमेय की सिद्धि में रचना का प्रथम आधार बिना किसी आलम्बन जैसा होता है; किन्तु एक बार आधार बन जाने पर ऊपर उनके पुलों की रचना या नगरों का निर्माण आश्चर्यजनक नहीं होता। [ग]

अतएव आरम्भ से ही प्राचीन आचार्यों के मतों में दूषण दिखला कर उनका खण्डन करना हमारा उद्देश्य नहीं है अपि तु विशेषपरीक्षा द्वारा उन्हें ही संशोधित किया गया है। इस प्रकार पूर्वाचार्यों द्वारा स्थापित मतों की विवेचना करने के कारण हमें भी मूलसिद्धान्त की स्थापना जैसा ही फल प्राप्त होता है। [अर्थात् पूर्वाचार्यों के व्याख्यान में रस-निष्पत्ति का सोपानवत् क्रमिक-विकास दृष्टिगत होने से उनका निदर्शन तथा विवेचन दोनों ही रस सिद्धान्त की मौलिक स्थापना के आधार है।] [घ]

तद्वुच्यतां परिशुद्धतरचम्। उक्तमेव मुनिना न त्वपूर्वं किञ्चित्। तथाह्याह "काव्यार्थान् भावयन्ती" ति (अ-७) तत्काव्यार्थो रसः। तथा हि 'सन्नमासत' 'तामन्नौ मादादि' त्याद्यर्थितादि लक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्राश्तितीवप्रचोचितात्प्रथमप्रवृत्ता-दनन्तरमधिकेचोपात्तकालतिरस्कारेणैवास्ते प्रददातीत्यादिरूपासंक्रमणादिस्वभावा यथादर्शनंप्रति भावनाविधिनियोगादिभापामिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः।

अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय.। तस्य च "ग्रीवाभङ्गाभिराम"मिति (शाकु-अ-१।७) "उमापि नीलालके" ति (कुमा ३-६२) 'हरस्तु किञ्चि' (कुमा-३ ६७) दित्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकापहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितं तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वेत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतभानादिबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्मात्यन्तं तिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः। एवं परोऽपि।

प्रश्न—तब फिर रस का परिशुद्ध या निर्दुष्ट तत्त्व (स्वरूप) क्या है ? उत्तर—यह तो भरतमुनि ने कह दिया है और वह कोई अपूर्व या नयी बात नहीं है जो कही जाय। जैसा कि भरतमुनि ने कहा भी है—'काव्य के अर्थों को (जो) प्रकाशित करते हैं।' और ये काव्यार्थ ही रस हैं।

जैसा कि ब्राह्मणग्रन्थों के 'वनस्पतयः सत्रमासत' 'प्रजापतिः आत्मनो वपामुदाखिदत् तामग्नौ प्रादात (तै० ब्रा० ।') ['वनस्पतियाँ आदि यज्ञ में बैठीं' तथा 'प्रजापति ने अपनी चर्बी निकाली और उसे अग्नि में हवन कर डाला'] इत्यादि अर्थवाद वाक्यों में सामर्थ्यादि से लक्षित अधिकारी को मन्त्रों का आह्वान करते समय पहले तो अत्यन्त प्रशंसित सामान्य अर्थ की प्रतीति मात्र होती है पर उसके बाद वर्णित भूतकाल की उपेक्षा कर प्रत्यक्ष या वर्तमान अनुभव रूप में सङ्क्रान्त होने वाली विधि नियोग आदि शब्दों के द्वारा व्यवहृत होने वाली भावना ही अधिक प्रतीत होती है। इसी प्रकार काव्यात्मक वाक्य से भी अधिकारी सहृदय सामाजिक को प्रत्यक्ष सामान्य वाक्यार्थज्ञान मात्र से रसात्मक व्यङ्ग्यार्थ का अधिक या अतिरिक्त बोध हो जाता है।

(काव्यादि के प्रदेश में) निर्मल प्रतिभाशील हृदय वाला सामाजिक व्यक्ति अधिकारी माना जाता है। और उसे (शाकुन्तल के) 'ग्रीवा-भङ्गाभिरामम्' और (कुमारसंभव के) 'उमापि नीलालक' तथा 'हरस्तु किञ्चित्' इत्यादि काव्यवाक्यों द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद उक्त प्रकार

के वाक्यों में गृहीत कालादि (देश-कालादि) के विभाग की उपेक्षा करने वाली मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है। और उस प्रतीति में मृगशावक आदि का जो विषयरूप में भान होता है उसके साधारणीकरण हो जाने के कारण विशेषरूप के अभाव हो जाने से 'यह भीत है' ऐसी प्रतीति होती है और भय के उत्पादक (दुष्यन्तादि) के अवास्तविक होने से भय की देश-काल से असम्बद्ध प्रतीति होती है। और इसीलिये 'मैं भीत हूँ, यह भीत है अथवा यह शत्रु, मित्र या मध्यस्थ भीत है।' इत्यादि सुख-दुःख आदि की प्रतीति से नियमतः अन्य प्रतीति को उत्पन्न करने वाले विघ्नबहुल (लौकिक) ज्ञानों से भिन्न, निर्विघ्न बोध के द्वारा हृदय में साक्षात् प्रविष्ट होता हुआ सा और नेत्रों के सामने घूमता हुआ सा 'भयानकरस' आ जाता है। इस प्रकार के भय में सामाजिक की आत्मा न अत्यन्त उपेक्षित ही होती है और न विशेष रूप से उल्लिखित [अर्थात् ससक्त] ही रहती है [कि उनके भावावेश में चलने लगे] इसी प्रकार शृङ्गार के अन्य उदाहरण भी समझना चाहिए।

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततं, व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री, यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतियन्त्रबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतैव प्रतिपत्तेः सुतरां रसपरिपोषाय सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित्, चमत्कारस्तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिर्विकारश्चमत्कारः। यथा—

सज्जवि हरिणो चमक्कइकराइं ण मंदरेण कलिआइं।
चंदकलाकंदलसच्छहाइं लच्छिए अंगाइं॥
[अद्यापि हरेः चमत्कृतिकराणि न मन्दरेण कलितानि।
चन्द्रकला कन्दलसच्छायानि लक्ष्म्या अङ्गानि॥]

और फिर (विभावादि का उसी देश-काल में) साधारणीकरण परिमित नहीं होता अपि तु विस्तृत होता है। धूम और अग्नि के व्याप्तिग्रह (साहचर्य नियम) के समान भय और कम्प आदि के व्याप्तिग्रह समान विस्तार लिये होते हैं। और यहाँ साक्षात्कारात्मक रूप से नटादि सामग्री पोषण करने वाली होती है। जिसमें काव्यवस्तु में निबद्ध देश, काल तथा प्रमाता आदि को वास्तविक देश, काल आदि के नियामक कारणों के पारस्परिक बन्धन से अत्यन्त अलग कर देने पर साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। और इसीलिये अनादि वासना से चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिक सहृदयों की समान वासना हो जाने के कारण सभी को समान रस-प्रतीति होती है। यह विघ्नों से सर्वथा रहित आनन्दपरक चमत्कारात्मक प्रतीति होती है और उससे उत्पन्न होने वाले कम्प, रोमाञ्च तथा शरीर को उछाल कर कम्पित करना (उल्लुकसनम्) आदि अनुभावात्मक विकार भी चमत्कार कहलाते हैं। जैसे :—

आज भी मन्दराचल ने अपने स्पर्श से श्रीविष्णु के शरीर में चमत्कार उत्पन्न करने वाले चन्द्र की कला के समान लक्ष्मी के सुन्दर अंगों को नहीं पहचाना जान पड़ता है।

तथा हि स·वातृप्तिव्यतिरेकेणाच्छिन्नो भा (भो ?) गावेश इत्युच्यते। भुञ्जानस्याद्भुतभोगात्मस्पन्दाविष्टस्य च मनः करणं चमत्कार इति। स च साक्षात्कारभावो मनसाऽध्यवसायो वा सङ्कल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरस्त्य (न ?) स्ति (स्तु ?)। यदाह—

यहाँ चमत्कार शब्द पुलकादि के लिये प्रयुक्त किया गया है और इससे निर्विघ्न बोध रूप अतृप्ति से भिन्न (अर्थात् पूर्णतृप्ति रूप) भावावेश [भोगावेश ?] उत्पन्न होता है। इस प्रकार भोगात्मक व्यापार में संलग्न मन का भोग करने वाले के अद्भुत व्यापार से (आविष्ट मन का) चमत्कृत हो उठना ही 'चमत्कार' है [जो सामान्य से भिन्न असाधारणात्मा होता है।] और चमत्कृत मानस की यह साक्षात्कारात्मक (रस) अनुभूति अध्यवसाय, संकल्प या स्मृति के रूप में प्रतीत होती है। जैसा कि निम्न पद्य में (कालिदास ने) कहा भी है :—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि" (शाकु० ५।२)

इत्यादि, अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किक प्रसिद्धा पूर्वंभेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात् । अपि तु प्रतिभानापरपर्याय साक्षात्कारस्वभावेयमिति । सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरा स्वादात्मा, यस्या रतिरेव भाति । तत एव विशेषान्तरानुपहित त्वात्सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या न तदारोपादिरूपा ।

तथैव चोपचयावस्थासु देशाद्यनियन्त्रणादनुकारोऽ[प्यस्तु भावा]नुगामितया कारणाद् विषयसामग्र्यपि या भवतु विज्ञानवादाय लब्धमात् सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस ।

रमणीय पदार्थों को देख अथवा मधुर शब्दों को सुनकर सुखी व्यक्ति भी उत्कण्ठित हो उठता है (जैसे किसी प्रिय जन से उसका विछोह हो गया हो) अत यह निश्चय ही वासना रूप से अन्त करण म स्थित अज्ञातपूर्व पिछले ज म के परिचय या मैत्री वाले अपने किसी सुहृद्जन का स्मरण करता है । (अभि० शा० अ० ५।२)

यहा कवि ने जिस स्मृति को 'स्मरति' पद से प्रदर्शित किया है वह नैयायिकों की 'ज्ञातविषय ज्ञानं स्मृति (अर्थात् पूर्वानुभवज य सस्कार से बोधित ज्ञान का स्मरण होना) नहीं है । क्योंकि पहले से इस अथ का अनुभव नहीं हुआ है [अत मनोवैज्ञानिक स्मृति सम्भव नहीं ।] किन्तु यहा स्मरण शब्द प्रतिभान नामवाले प्रसिद्ध साक्षात्कारात्मक स्वभाव रूप अर्थ को ही प्रतीत करवाता है । और आस्वादन स्वरूपा यह ऐसी प्रतीति है जिसमें निर्विघ्न रूप से रति आदि भावों का ही भान होता है । अतएव अन्य

विशेष भेदक धर्मों से उपहित न होने के कारण आस्वादन के योग्य होकर भी वह न लौकिक, न मिथ्या, न अनिर्वचनीय और न लौकिक सदृश या उसके आरोपादि के रूप में यह काव्यात्मक अनुभव नहीं समझा जा सकता है।

इस प्रकार [विभावादि से उपचित स्थायीभाव को रस मानने वाले भट्टलोल्लट के मतानुसार] रत्यादि की उपचयावस्था में देशादि के अनियन्त्रित होने से अनुकरण भी भावानुगामी रूप में वैसा ही देशकाल से अनालिङ्गित होता है। तथा विज्ञानवाद का अवलम्बन करने से बाह्य विषय सामग्री [विभावानुभावादि] भी वैसो ही [देश काल से अस्पष्ट] हो जाती है। प्रत्येक अवस्था में आस्वादनात्मा एवं निर्बाध प्रतीति से ग्रहण किया हुआ भाव ही रस है।

तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। तथा हि—लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिः। एवं चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। विघ्नाश्चास्यां (सप्त)। (१) प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहो नाम, (२) स्वगत परगतत्व नियमेन देशकालविशेषावेशः, (३) निजसुखादिविवशीभावः, (४) प्रतीत्युपायवैकल्यम्, (५) स्फुटत्वाभाव, (६) अप्रधानता (७) संशययोगश्च।

इस प्रसङ्ग में विघ्नों को दूर करने वाले विभाव आदि होते हैं। जैसे लोक में विघ्नों से रहित जो प्रतीतियाँ हैं उन्हें चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय तथा विश्रान्ति शब्दों से जाना जाता [कहा जाता है] है। इन रस प्रतीति में (ये) सात विघ्न होते हैं :— (१) ज्ञान या प्रतिपत्ति के अयोग्य होना अर्थात् (रस की) सम्भावना का अभाव, (२) स्वगत या परगत रूप से देशकाल विशेष का आवेश [सम्बन्ध], (३) अपने निजी सुख-दुःखादि का वशवर्ती हो जाना, (४) प्रतीति के उपायों का अभाव, (५) स्पष्ट (स्फुट) प्रतीति का न होना, (६) अप्रधानता तथा (७) संशय का योग।

तथाहि—(१) संवेद्यमसम्भावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव न (यो) शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः। तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः। अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहः [चोपायः]। अतएव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि नियमेन निरूप्यते न तु प्रहसनादौ। तच्च स्वावसर एव वक्ष्याम इत्यास्तां तावत्।

(१) प्रतिपत्त्ययोग्यता—

जैसे कि—ज्ञान के विषय को असम्भव समझने वाला व्यक्ति उस विषय में अपनी प्रतीति को निश्चित नहीं कर पाता है और बिना इस निश्चय के विश्रान्ति (आनन्दानुभूति) की सम्भावना कहाँ हो सकती है। इसलिये रसास्वाद का यह प्रथम विघ्न है।

उसके निराकरण का उपाय अन्य सामाजिकों के साथ लौकिक सामान्य वस्तुओं के विषय में हृदय का तादात्म्य है। (समुद्रबन्धनादि) लोकोत्तर व्यापारों में [असम्भावना के निराकरण हेतु] परम्परागत प्रसिद्धि से होने वाले (बद्धमूल) विश्वास को परिपुष्ट करने वाले प्रख्यात आदि का अभिनेता में ग्रहण करना। इसीलिए लोकोत्तर उत्कर्ष के प्रदर्शन के द्वारा उपदेश तथा ज्ञान का प्रयोजन रखने वाले नाटकादि में नियमपूर्वक प्रख्यात विषय [नायक तथा वस्तु] आदि का निरूपण रखा जाता है [क्योंकि इन नाटकों में रसात्मक माध्यम से आदर्श की प्रतिष्ठा करना इष्ट होता है] इसके विपरीत प्रहसन आदि में प्रख्यात वस्तु या नायक ग्रहण न करके लोक सामान्य में प्रचलित कथानकों को प्रस्तुत किया जाता है। इनका निरूपण हम नाटक, प्रहसन आदि के लक्षणों के व्याख्यान स्थल (ना० शा० अ० २०) पर करेंगे अतएव यहाँ इसका विस्तार अपेक्षित है।

(२) स्वैकगतत्वाच्च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासम्भवं तदपगमभीरुतया वा, तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा, तत्सदृशार्जिजीविषया

चा, तज्जिहासया वा, तत्प्रचिख्यापयिषया वा, तद्गोपनेच्छया वा, प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः।

(२) स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः—

जब सामाजिक अपने निजी-दुःख का अनुभव (आस्वादन) करने लगता है तो कभी उसके नष्ट होने के भय से, और कभी उसकी रक्षा के लिए व्यग्र होने से उसी की स्थिति जैसी स्थिति (जीवनेच्छा) प्रकट करता है। अथवा उसके (दुःख के) परित्याग की इच्छा से, अथवा उसे प्रकट करने की या छिपाने की इच्छा से अथवा अन्य किसी प्रकार से अन्य ज्ञानों (संवेदान्तर) के उत्पन्न होने से रसास्वाद में अतिशय विघ्न होता है। [अर्थात् ये विविध भावात्मक दशाएँ रसानुभूति में विघ्न उत्पन्न करती हैं]।

परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसम्भावनादवश्यम्भावी विघ्नः। तदपाकरणे 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र' (ना० शा० ५-१५८) इत्यादिना 'पूर्वरङ्गविधिं प्रति' इति पूर्वरङ्गनिगूहनेन 'नटी विदूषको वापि' (भा० शा० २२।३०) इति लक्षितप्रस्तावनावलोकनेन च यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सरः प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः, अलौकिकभाषादि-भेद-लास्याङ्ग-रङ्गपीठ-मण्डप-कक्ष्यादिपरिग्रह-नाट्यधर्मि-सहितः। तस्मिन् हि सति अस्यैव अत्रैव एतर्ह्येव च सुखं दुःखं चेति न भवति। प्रतीतिस्वरूपनिह्नवात्, रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्। सत्ये तदीयरूपनिह्नवमात्र एव पर्यवसानात्।

और यदि यह मान लिया जाए कि रस की स्थिति नटगत (अनुकार्यगत) है तो परगतत्व नियम से युक्त होने से उसके सुख दुःख आदि के संवेदन से सहृदय सामाजिक को भी अपने अन्दर निश्चय रूप से

सुख दुःख मोह या मध्यस्थता का ज्ञान होगा; यह अन्यज्ञानात्मक स्वरूप रसानुभूति में विघ्न है।

इन विघ्नों के निराकरण के लिए नाट्यप्रयोग के विषय में 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र' (ना० शा० ५।१५८) 'पूर्वरङ्गविधि प्रति' इत्यादि से पूर्वरङ्ग के दर्शन एवं 'नटी विदूषको वापि' (ना० शा २२।३०) इत्यादि से लक्षित प्रस्तावना के अवलोकन से जो नटस्वरूप की प्रतीति होती है उसके साथ ही अभिनेता (अनुकार्य) की वेशभूषा के अनुरूप मुकुट आदि के द्वारा अलौकिक भाषादि के प्रकार, नृत्यादि (लास्य) के अंग, रङ्गपीठ तथा मण्डप के कक्षाविभागों आदि के परिग्रह रूप नाट्यधर्मी सहित नट के स्वरूप का आच्छादन करना भी एक उपाय है। और उसके होने पर इसी को यहाँ ही और इसी के द्वारा सुख या दुःख होता है यह नहीं कहा जा सकता है। (नट की) प्रतीति के स्वरूप का (मुकुट आदि से) आच्छादन होने से आरोपित रूपान्तर का प्रतिमा से उत्पन्न ज्ञान बना रहने से, अपने स्वरूप में विश्रान्ति का अभाव होने से और स्वरूप में विश्रान्ति होने पर नट के स्वरूपाच्छादन में ही समाप्त हो जाने से विघ्नों का निराकरण हो जाता है।

तथाहि—आसीनपाठ्यपुष्पगण्डिकादि लोके न दृष्टम्। न च तत्र किञ्चित् कथञ्चित् सम्भाव्यत्वादिति स एव सर्वो मुनिना साधारणीभावसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्धः समाश्रित इति तत्रैव स्फुटीभविष्यतीति तदिह तावन्नोद्यमनीयम्। ततः स एव स्वपरनियततापिघ्नापसारणप्रकारो व्याख्यातः।

और आसीनपाठ्य तथा पुष्पगण्डिका आदि लोक में तो दिखाई नहीं देते। इससे वे नहीं होते यह बात नहीं है, क्योंकि उनकी नाट्य में किसी प्रकार सम्भावना तो हो ही सकती है। रसास्वादन के उपयोगी इन सभी कारणों को भरतमुनि ने साधारणीकरण की सिद्धि के द्वारा समहीत कर दिया है यह बात यथास्थान स्पष्ट करेंगे अतएव यहाँ उसके विचार की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार यह स्वगत परगतत्व नियम से विघ्नों के निराकरण का भेद बतलाया गया।

(३) निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः, शब्दादिविषयमयीभिः (यैः ?) आतोद्यगानविचित्रमण्डपपद्विदग्धगणिकादिभिरुपरञ्जनं समाश्रितम् येनाहृदयोऽपिहृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। उक्तं हि "दृश्यं श्रव्यं च" (ना० शा० १।१२)

(४) किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीतिभावः।

(५) अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकाङ्क्षत्वात्, यथाहुः— 'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरेति' (न्या० सू० भा० १-३)। स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्यनन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात्। अलातचक्रादौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तत्प्रमित्यवधारणादिति लौकिकस्तावदयं क्रमः। तस्मात्तदुभयविघ्नविघातेऽभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समभिषिच्यन्ते। अभिनयनं हि सशब्दलिङ्गव्यापार[वि]सदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्यामः।

(३) निजसुखादिविवशीभावः—

जो पुरुष अपने निजी सुख दुःख से आक्रान्त हो जाता है वह अन्य वस्तु में अपना ध्यान कैसे लगा सकता है ? इसलिये रसानुभूति के इस विघ्न के निराकरण के लिये (नाटक आदि में) प्रत्येक पदार्थ में साधारणीकरण के प्रभाव की स्थिति रखी जाती है जिसके प्रभाव से सब भोग्य, शब्दादि विषयों से युक्त, विविध वाद्ययन्त्रों के प्रयोग, गायन एवं आश्चर्यकारी नृत्य आदि में निपुण नर्तकी आदि के द्वारा प्रस्तुत नृत्यादि प्रयोगों का आश्रय लेकर सामाजिक के मनोरंजन का आश्रय लिया जाता है। इससे शुष्क व्यक्ति भी हृदय की निर्मलता और सरसता प्राप्त कर सहृदय बन

जाता है। अतएव कहा है कि 'दृश्य और श्रव्य' दोनों काव्य के प्रकार रसास्वाद के उपाय हैं।

(४) प्रतीत्युपायवैकल्यम् तथा (५) स्फुटत्वाभाव'—

(४) प्रतीति के उपायों के अभाव में प्रतीति कैसे हो सकेगी।

(५) और अस्पष्ट या परोक्ष प्रतीति के जनक शब्द और अनुमान के होने पर भी साक्षात्कारात्मक स्पष्ट (स्फुट) प्रतीति रूप प्रत्यक्ष की आकांक्षा होने के कारण उनसे उत्पन्न प्रतीति की विश्रान्ति नहीं होती। जैसा कि कहा भी है कि 'यह सारी प्रमिति (अनुभूति) प्रत्यक्ष परक है' (न्या० सू० १–३)। जिस वस्तु का स्वतः प्रत्यक्ष या साक्षात्कार होता है उसे सैकड़ों शब्द और अनुमान प्रमाण परिवर्तित नहीं कर सकते। और अलातचक्र आदि में प्रबल साक्षात्कारात्मक ज्ञान के कारण ही प्रतीति का लौकिक क्रम निश्चित होता है। अतएव दोनों से उत्पन्न विघ्नों के निराकरण के लिये लोकधर्मी, वृत्ति तथा प्रवृत्तियों से युक्त अभिनयों को रखा गया है। क्योंकि अभिनय शब्द तथा अनुमान प्रमाण से भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष—(जैसा) व्यापार है यह आगे निश्चय करेंगे।

(६) अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति। तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखसंप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम्।

तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद इति (एव) प्रधानम्। तद्यथा– रतिः कामतदनुषङ्गिधर्मार्थनिष्ठा। क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः, समस्तधर्मादिपर्यवसितस्तत्त्वज्ञानजनित निर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम्।

(६) अप्रधानता—

अप्रधान वस्तु में किसकी अनुभूति विश्रान्त हो सकती है? और अप्रधान (प्रतीत) प्रधान की ओर अग्रसर होकर भी अपने आप में विश्रान्त

नहीं हो सकता है। [इसलिये रस की अनुभूति में अप्रधानता विघ्न है]। यह अप्रधानत्व अचेतन विभाव, अनुभाव के समुदाय में और ज्ञान-रूप होने पर भी नियमतः स्थायीभाव का मुँह जोहने वाले व्यभिचारिभाव में भी हो सकता है; अतएव इन विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से अतिरिक्त स्थायीभाव ही चर्वणा के योग्य होता है।

उनमें पुरुषार्थ से सम्बद्ध होकर कुछेक ही रसानुभूति प्रधान हो जाती है। जैसे की रति स्थायीभाव काम-पुरुषार्थ से मुख्यरूप से तथा धर्म और अर्थ पुरुषार्थों से गौणरूप से सम्बद्ध होता है। क्रोध प्रधान रूप में अर्थ पुरुषार्थ से सम्बद्ध होता है और यद्यपि उत्साह स्थायी की परिसमाप्ति काम में होती है पर यह धर्म और अर्थ आदि सभी पुरुषार्थों से (भी) सम्बद्ध होता है। और तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद स्थायी और मुनि आदि विभावों वाले शान्त रस में मोक्ष पुरुषार्थ मुख्यरूप से सम्बद्ध होता है। इसलिये इन (रति, क्रोध, उत्साह और निर्वेद आदि) स्थायीभावों की प्रधानता होती है।

यद्यपि चैषामप्यन्योन्यं गुणभावोऽस्ति, तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्राधान्यमेषां लक्ष्यते। अदूरभागाभिनिविष्टदृशास्त्वेकस्मिन्नपि रूपके पृथक्प्राधान्यम्।

और यद्यपि इन चारो स्थायीभावों का एक दूसरे के प्रति गौणभाव भी होता है पर [अर्थात् किसी एक नाटक में विभिन्न रसों की स्थिति में चारों स्थायीभावों की संयोजना की जा सकती है और ऐसी स्थिति में] प्राधान्य की दृष्टि से जो रस रूपकों में प्रधान होगा उसी रस को वहाँ प्रधानता रहेगी [क्योंकि समग्र नाटक में एक रस ही मुख्य होता है] इसलिए रूपकों के भेदों के अनुसार उनमें प्रधान रस की स्थिति कुछ आचार्य मानते हैं पर सूक्ष्मविवेचकों के लिए एक रूपक में भी इन स्थायीभावों की अलग अलग प्रधानता भी हो सकती है।

तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथा हि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात्,

अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैर्दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्। किन्तु परञ्जकविषयवशात्तेषामपि किं नास्ति कटुकितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। एवं रत्यादीनां प्राधान्यम्।

उनमें ये सभी रस सुखप्रधान होते हैं क्योंकि स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वादस्वरूप ज्ञान आनन्दमय होता है। और शोकानुभव भी निर्विघ्न विश्रान्ति रूप अनुभूति के कारण आनन्दपरक होता है, क्योंकि मन की अविश्रान्ति ही दुःख है। इसलिये सांख्यदर्शन के आचार्यों ने दुःख को रजोगुण की वृत्ति बतला कर चञ्चलता (अविश्रान्ति को) दुःख का मूलतत्त्व (प्राण) माना है। अतएव सभी रसों में (हृदय विश्रान्ति की स्थिति होने के कारण) आनन्दरूपता ही है। प्रश्न-किन्तु कुछ रसों में वीर रस के समान उपरञ्जक (मिश्रित) स्थिति के कारण दुःख का स्पर्श क्या नहीं होता? उत्तर—पर वीर रस में क्लेशसहिष्णुतादि प्रधान होती है। इसी कारण रति आदि स्थायीभाव वाले चारों रसों (शृङ्गार, वीर, रौद्र तथा शान्त) की अन्य रसों की अपेक्षा प्रधानता (होती) है।

हासादीनां तु सातिशयं सकललोकसुलभविभावतयोपरञ्जकत्वमिति न प्राधान्यम्। अत एवानुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन न हासादयो भवन्ति। पामरप्रायः सर्वोऽपि हसति शोचति बिभेति परनिन्दामाद्रियते अल्पसुखभाषित्वेन च सर्वत्र विस्मयते। रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम्। एतद्गुणप्रधानभावाकृत एव च दशरूपकादिभेद इति वक्ष्याम।

और हास आदि (हास्य, करुण बीभत्स, भयानक तथा अद्भुत) रसों की सर्वसाधारण में पाये जाने वाले विभावों के अधिक उपरञ्जक होने के कारण अप्रधानता होती है, इसीलिए उत्तम प्रकृति के पात्रों में हास आदि अधिकता से नहीं रखे जाते। तथा निम्न प्रकृति के सभी पात्र

[विशेषरूप से] हंसते हैं, शोक करते हैं, भयभीत होते हैं, दूसरों की निन्दा (भी) करते है और थोडा सुख प्राप्त करने की प्रकृति होने से (दूसरे के अधिक वैभव या सुख को देख कर) विस्मित भी होते हैं। अतः रति आदि के अङ्ग-रूप में इनकी पुरुषार्थ के प्रति उपयोगिता हो सकती है। इन रसों के गौण मुख्य भाव से ही रूपकों के दस भेद होते हैं इसे हम आगे [अध्याय ५० में] बतलाएँगे।

स्थायित्वञ्चैतावतामेव। जात एव हि जन्तु—रियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। तथाहि—"दुःखसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादरः" इति न्यायेन सर्वो रिरंसया व्याप्तः स्वात्मन्युत्कर्षाभिमानितया परमुपहसन्नभीष्टवियोगसन्तप्तस्तद्धेतुषु कोपपरवशोऽशक्तौ च ततो भीतः किञ्चिदार्जिजीषुरप्यनुचितवस्तु-विषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्तः किञ्चिदनभीष्टतयाऽभिमन्यमानस्तत्तत्स्वकर्तव्य-दर्शन-समुदित-विस्मयः किञ्चिच्च जिहासुरेव जायते।

स्थायीभाव—

स्थायीभाव इतने ही [अर्थात् नौ ही] होते हैं, क्योंकि प्राणी उत्पत्ति के साथ इतनी ही वासनाओं से युक्त होता है। जैसा कि कहा भी है कि—'दुःख की प्राप्ति से द्वेष करने वाला और सुख के आस्वादन में लीन' इस न्याय के अनुसार—(१) प्रत्येक व्यक्ति अपने आन्तरिक उत्कर्ष से प्राप्त रमण की इच्छा रखता है (इससे रति का स्थायी भाव प्रकट होता है) (२) वह दूसरे का उपहास करता है, (इससे हास का), (३) प्रिय के वियोग से दुःखी होता है (इससे शोक का), (४) उस (वियोग) के कारणों के प्रति क्रोध करता है (इससे क्रोध का), (५) शक्ति के अभाव में उनसे डरता है- (इससे भय का) (६) किसी की प्राप्ति की इच्छा करता है (इससे उत्साह का), (७) अनुचित विषय के प्रति घृणा से भर जाता है और किसी को अनभीष्ट सा मानता है, (इससे जुगुप्सा का) (८) आश्चर्य जनक अपने तथा दूसरों के कार्य देखकर विस्मित होता है (इससे विस्मय का) तथा (९) किसी के त्याग

आदि मणियों के दोनों के समान उस (स्थायीभाव) सूत्र में अपने संस्कार गत वैचित्र्य का सन्निवेशन कराते हुए भी उस सूत्र के द्वारा किये जानेवाले अनेक उपकार के सन्दर्भ में स्वय अपने को विचित्र अर्थों में व्यक्त कर उस स्थायीभावरूपी सूत्र को अनेक रूपों में प्रकट करते हुए और बीच-बीच में कहीं-कहीं उस शुद्ध स्थायीभावात्मक सूत्र को प्रकाशित होने का अवसर देते हुए भी पूर्वापर सम्बन्ध से व्यभिचारिभावरूपी रत्नों की प्रतिच्छवि से मिश्रित रूप दिखलाते हुए से प्रतीत (प्रतिभासित) होते हैं तथा इसी कारण (वे) व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।

तथा हि—ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेन स्थायी तस्य सूच्यते। न तु राम उत्साहशक्तिमानित्यत्र हेतुप्रश्नमाहुः। अतएव—विभावास्तत्रोद्‌बोधकाः सन्तः स्वरूपोपरञ्जकत्वं विदधाना रत्युत्साहादेरुचितत्वमात्रमावहन्ति। न तु तदभावे सर्वथैव ते निरुपाख्याः, वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेनोक्तत्वात्। व्यभिचारिणां तु स्वविभावाभावे नामापि नास्तीति। वितनिष्यते चैतद्यथायोगं व्याख्यावसरे। एवमप्रधानत्वनिरासः स्थायिनिरूपणायां "स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम (ना० शा० अ० ६) इत्यनया सामान्य-लक्षण शेषभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च मुनिना कृतः।

जैसे कि—'इसे ग्लानि हो रही है' ऐसा कहने पर भी प्रश्न उठता है कि उस की ग्लानि का विषय क्या है? और हेतु विषयक ऐसे प्रश्न की उपस्थिति से ही ग्लानि की अस्थायिता सूचित होने से 'व्यभिचारिभावत्व' सङ्केतित हो जाता है। किन्तु राम उत्साह शक्ति से युक्त है' ऐसा कहने पर (पूर्ववत्) हेतु विषयक प्रश्न उपस्थित नहीं होता [अतः उत्साह की स्थिति स्थायी है, व्यभिचारी भावों की नहीं] और इसीलिए विभावादि उन उत्साहादि स्थायीभावों के उद्‌बोधक होकर उनके स्वरूप को उपरञ्जित करते हुए रति, उत्साह आदि के उचित अनुचित रूप को निर्धारित करने वाले कारण बनते हैं।

किन्तु उनके [विभावादि के] अभाव में वे रत्यादि स्थायीभाव

सर्वथा असत् या लुप्त नहीं हो जाते। (क्योंकि विभावादि से) वासनारूप में रक्षित स्थायीभाव सभी प्राणियों में रहते (हुए जाग्रत हो जाते) हैं (यह कहा जा चुका है)। व्यभिचारि भावों का अपने विभावों की अनुपस्थिति में नाम भी नहीं रहता [वे तो स्थायीभाव की भूमिका पर ही अवतरित होते और अवस्थित रहते हैं] यह हम इनकी व्याख्या के अवसर पर प्रतिपादन करेंगे। इस प्रकार स्थायी भावों के निरूपण के अवसर पर 'स्थायीभाव को रसरूपत्व प्राप्त करावेंगे' इस रस सामान्य के लक्षण के शेष भूत [अंगभूत] शृङ्गारादि रसों के विशेष लक्षणों के निरूपण द्वारा भरतमुनि ने 'अप्रधानत्व' रूप छठे विघ्न का निराकरण किया है।

(७) तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक्स्थायिनि नियमो नास्ति बाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्, व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात्, श्रमचिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वविलोकनात् एवं संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय संयोग उपात्तः। सामग्री तु न व्यभिचारिणी। तथा हि—बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभावः चिन्तादैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एवेति।

(७) संशययोगः—

स्थायीभावों के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों का अलग-अलग रहने या प्रयोग का कोई नियम नहीं है। क्योंकि करुण रस के अनुभाव आँसू निकलना आदि है पर आँसू आँख के रोग से भी उत्पन्न होते (देखे जाते) हैं। इसी प्रकार व्याघ्र आदि विभाव रौद्ररस के स्थायीभाव क्रोध तथा भयानक रस के स्थायीभाव भय के भी हेतु देखे जाते हैं [अतएव व्याघ्रादि को देखकर रौद्र या भयानक रस की उत्पत्ति में सन्देह हो जाता है।] [इसी प्रकार] श्रम, चिन्ता आदि संचारी भाव उत्साह तथा भय आदि स्थायी भावों के साथ देखे जाते हैं [अतएव श्रमादि को देखकर उत्साह या भय (स्थायी) की उत्पत्ति में सन्देह हो जाता है]। अतएव संशय के आधार पर संशययोग रूप इस सातवें विघ्न के निराकरण के लिये भरतमुनि ने रससूत्र में 'संयोग शब्द का प्रयोग (ग्रहण)

किया है। क्योंकि विभाव, अनुभाव आदि पृथक्-पृथक् तो संशय जनक हो सकते हैं किन्तु उनकी समग्रता (सामग्री) अर्थात् संयोग संशयजनक नहीं होने से व्यभिचारी (दुष्ट) नहीं है [अर्थात् संयोगात्मक स्थिति संशयजनक नहीं होती]। उदाहरण के लिये यदि विभावरूप में बन्धु विनाश हो तो विलाप, रोदन आदि अनुभाव तथा चिन्ता, दैन्य आदि के व्यभिचारिभाव के रूप में रहने पर निश्चितरूप से इनके इस प्रकार के संयोग के द्वारा 'शोक' ही है यह माना जाएगा।

रस की विलक्षणता—

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यास एव पाटवादधुना तैरेवोद्यान कटाक्षधृत्यादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावना-समुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अतएवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादिनामधे यव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिरलौ-किकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावस्तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।

लोक व्यवहार के क्षेत्र में कार्य, कारण सहचारीरूप अनुमापक हेतुओं को देखकर रत्यादि रूप स्थायी भावात्मक, अन्य व्यक्ति की चित्तवृत्ति के अनुमान के अभ्यास की तीव्रता के कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्ष विलोकन आदि अनुभावों के द्वारा जो कि नाटक के कारणत्व का परित्याग कर विभावन, अनुभावन एवं उपरञ्जकत्व के स्वरूप को प्राप्त कर अलौकिक विभावादि नामों से कहे जाने वाले, कारणादि रूप पूर्व संस्कारों पर आधारित होने को व्यक्त करने के लिये विभावादि नाम से निर्दिष्ट किये लें और भावों से सम्बन्ध अध्याय में भी जिनका विवेचन है ऐसे

प्रकारों वाले, सामाजिक सहृदय की बुद्धि या हृदय में उचित प्रकार से प्रयोग या सामजस्य प्राप्त करने के पश्चात् उसके द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न, संवेदन रूप चर्वणा का विषय बनाये जानेवाले रत्यादि रूप अर्थ जिनका चर्वणा ही एक मात्र सार है न कि विद्यमान स्वरूपवाला अर्थात् चर्वण के काल में ही विद्यमान रहनेवाला और इसके अतिरिक्त समय में न रहनेवाला और स्थायीभाव से विलक्षण स्वरूप वाला ही 'रस होता है।

न तु यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधायि, "स्थाय्येव विभावादिप्रत्याय्यो ऽस्यमानत्वाद्रस उच्यते" इति। एवं हि लौकिकेऽपि किं न रस., असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात्तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति। तेन स्थायिप्रतीतीरनुमितिरूपा वाच्या, न रस। अत एव सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसीभूत इति।

औचित्यं तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानामधुना चर्वणोपयोगितया विभावादित्वावलम्बनात्। तथा हि—लौकिकचित्तवृत्त्यनुमाने का रसता। तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदन-विलक्षण एव।

और जैसा शङ्कुक ने बतलाया कि 'विभावादि के द्वारा प्रतीत कराया हुआ स्थायीभाव ही आस्वाद्यमानता को प्राप्त करने से 'रस' कहलाता है' संगत नहीं है। ऐसा मानने पर लौकिक जीवन (के अनुभवों) में भी रस व्यवहार या अनुभूति क्यों नहीं होगी? क्योंकि जब बिना उपस्थिति के रत्यादि की रसनीयता हो जाती है तो वास्तव में [illegible] रत्यादि स्थायी विद्यमान हों वहाँ (लौकिक पुरुष में) [illegible] क्यों नहीं मानी जाएगी। इसलिये लोक में होने [illegible] जो प्रतीति अनुमिति रूप में होती है यह रस [illegible] (क्योंकि स्थायीभाव रस नहीं है) और इसी [illegible] ने रस लक्षण में स्थायीभाव' का ग्रहण [illegible]

सूत्र में ग्रहण किया जाता तो वह उलटा कष्टदायक (असङ्गत) हो जाता। केवल औचित्य निर्वाह की दृष्टि से ऐसा कहा जाता है कि 'स्थायिभाव रस हो गया है।'

उस स्थायीभाव के द्वारा कारण रूप से प्रसिद्ध और आस्वादन के समय उपयोगी होने के कारण इन विभावादि का स्थायी अवलम्बन करता है। इसी दृष्टि से स्थायीभाव के रस रूप में व्यक्त होने की स्वीकृति का औचित्य माना गया है। [अर्थात् रसास्वादन में स्थायीभाव के कारण रूप विभावादि उपकारक हैं अतः उनके संयोग से 'स्थायीभाव रस हो गया है' ऐसा औपचारिक प्रयोग किया जाता है] तब लौकिक जीवन की चित्तवृत्तियों के अनुमान द्वारा रसत्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? [या रसत्व कहाँ से आ सकता है ?]। इसलिये अलौकिक चमत्कार स्वरूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान तथा लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न (विलक्षण) ही है (यह सिद्ध होता है)।

तथा हि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृत प्रमदादिना (दि न) ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपि तु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमान—स्मृत्यादिसोपानमारुह्यैव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया। न च सा चर्वणा प्राङ्मानान्तरात् येनाधुना स्मृति स्यात्। न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापार किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोग-बलोपनतैवेयं चर्वणा। सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधत, तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात्, सकलवैषयिकोपराग शून्य शुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते। एतेषा यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयात् ताटस्थ्या-स्फुटत्व-विषयावेशवै वश्येन च सौन्दर्यविरहात्।

क्योंकि— लौकिक जगत् में अनुमान की प्रक्रिया से संस्कृत सामाजिक नाटक आदि में प्रमदादि (आलम्बन विभावादि) को [लौकिक परगत रत्यादि

के समान] तटस्थभाव से स्वीकार (ग्रहण) नहीं करता, किन्तु हृदय-संवादात्मक सहृदयता के आधार पर अखण्डरसास्वाद के अंकुर रूप से, अनुमान, स्मृति आदि सोपानों की प्रक्रिया के अधिरोहण के बिना ही भाव की तन्मयता से प्राप्त आस्वाद के प्राणभूत चर्वणा के उत्पादक रूप से प्रमदादि (आलम्बन) विभावों का अनुभव करता है। और यह चर्वणा रसानुभव के पूर्व किसी प्रमाण से स्थित नहीं होती, जिससे उसे स्मृति कहा जाय। (तथा) इसमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यापार भी नहीं होता क्योंकि अलौकिक विभावादि के संयोग से यह आस्वाद्यता वह प्राप्त करता है। और यह (रसचर्वणा) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान (आदि) लौकिक प्रमाणों से उत्पन्न रत्यादि के बोध से, तथा योगि प्रत्यक्ष से होनेवाले परसंवेदनात्मक तटस्थ ज्ञान से, और समस्त विषयों के प्रति वैराग्यसम्पन्न (असम्प्रज्ञात समाधि से स्थिति) परम-योगी म रहने वाले स्वसंवेद्य शुद्ध आत्मानन्द के अनुभव से विशिष्ट (विलक्षण) प्रकार वाला होता है। क्योंकि इनमें (प्रत्यक्षादि प्रमाणों तथा योगिप्रत्यक्षादि में) यथायोग्य अर्जनादि रूप विघ्नों के आ जाने से और ताटस्थ्य और अस्पष्टता की स्थिति में विषयावेश की विवशता के कारण आल्हादकत्व (सौन्दर्य) का अभाव हो जाता है। [और रसचर्वणा इन सभी से भिन्न (या विपरीत) प्रकार की होती है]।

अत्र तु स्वात्मैकगतत्वनियमासम्भवात् न विषयावेशवैवश्यम्। स्वात्मानुप्रवेशात् परगतत्वनियमाभावात् न ताटस्थ्यास्फुटत्वे। तद्विभावादिसाधारण्यवशसम्प्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च न विघ्नान्तरादीनां सम्भव इत्यवोचाम बहुशः। अतएव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्।

और यहां केवल अपने आप में रस के स्थित रहने के नियम के न होने से [परमयोगी के ज्ञान के समान] विषयावेष की विवशता नहीं रहती है, एवं अपनी आत्मा के सम्मिलित रहने से तथा परगतत्व का नियम न होने के कारण तटस्थता और अस्पष्ट प्रतीति भी नहीं होती, और उस रस के

विभावादि के साधारणीकरण की स्थिति में अपनी रत्यादि वासना के उचित रूप में उद्बुद्ध होने से अन्तर्वर्ती अन्य (परोक्षत्वादि) विघ्नों की सम्भावना (भी) नहीं रहती है यह बात हम अनेक बार कह (ही) चुके हैं। अतएव विभावादि रसनिष्पत्ति के कारण (कारकहेतु) नहीं है, क्योंकि उनकी प्रतीति के बीत जाने पर भी रस की सम्भावना बनी रहती है।

नापि ज्ञप्तिहेतवः येन प्रमाणमध्ये पतेयुः सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। किं तर्हीतद्धि विभावादय इति? अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः। क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेत्? भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ। पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्।

और न विभावादि रस के ज्ञापक हेतु हैं जिससे कि उन्हें प्रमाणों में गिना जाए, क्योंकि पूर्वसिद्ध घट के समान रसादि की पूर्व विद्यमान सत्ता नहीं होती। (प्रश्न) तो फिर ये विभावादि क्या हैं? (उत्तर) चर्वणा में उपयोगी रहने वाला विभावादि व्यापार अलौकिक होता है (अतः उसका लोकवत् ठीक से स्थिति निर्देश नहीं बतलाया जा सकता है)।

इस प्रकार का पदार्थ संसार में कहाँ देखा जाय जो कार्य और ज्ञाप्य न हो? यदि ऐसा प्रश्न करते हैं तो यह सासारिक पदार्थों से भिन्नता का रहना रस की अलौकिकत्वसिद्धि के लिये भूषणभूत है। और ठण्डाई जैसे पानक-द्रव्य के स्वाद की विशिष्टता उसके अङ्गभूत गुड, कालीमिर्च आदि में कैसे देखी जा सकेगी? यही बात यहाँ (रस के विषय में) भी समानता रखती है। [अर्थात् रसानुभव की विशिष्टता विभावादि की लौकिक स्थिति में नहीं देखी जा सकती है]

नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यात्? एवं युक्तं भवितुमर्हति। रस्यैकप्राणो ह्यसौ न प्रमेयादिस्वभावः। तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम्? नैवं रसस्यापि तु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोषः

तब तो यह प्रश्न उठेगा कि इस प्रकार रस प्रमेय नहीं रहता है ? (उत्तर) हाँ, यह कहना भी ठीक हो सकता है; क्योंकि इसका प्राणतत्व रसमयता है और इस रूप में यह प्रमेय स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(प्रश्न) तो फिर रससूत्र में दिये गये 'निष्पत्ति' (पद) से क्या अभिप्राय होगा ? (उत्तर) भरतसूत्र में रस की निष्पत्ति नहीं कही गयी है, किन्तु उसके विषयभूत आस्वादन (रसना) की निष्पत्ति का उल्लेख किया गया है। और उस रसना विषयक निष्पत्ति से यदि केवल रसनाश्रित रस की निष्पत्ति का (उपचार द्वारा) अभिधान हो तो भी यह असगत नहीं है।

सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः। स्वयं तु नाप्रामाणिकी स्वयं संवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव, किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव, उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य।

रस सम्बन्धी यह आस्वादन (रसना) न प्रमाणों का (अर्थात् ज्ञापक हेतु विषयक) व्यापार और न कारक हेतु विषयक व्यापार माना जा सकता है। और इसका साक्षात् अनुभव होने से स्वसंवेदनीयता हो जाने के कारण इसे असत्य या अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। आस्वादन (रसना) प्रतीति रूपा ही है किन्तु विभावादि लौकिक प्रमाणों [प्रत्यक्ष, अनुमान आदि] से विलक्षण होने से यह प्रतीति अन्य लौकिक ज्ञानों से भिन्न एवं विलक्षण है। यही आस्वादनस्वरूपरसना विभावादि के संयोग से निष्पन्न होने के कारण उस प्रकार की प्रतीति का विषय होकर लोकोत्तर अर्थ में रस्यमान होने के कारण 'रस' कहलाती है। यही 'निष्पत्ति' का तात्पर्य यहाँ स्वीकार किया जाएगा।

अयमत्र सङ्क्षेपः। मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेशकालत्यागः। रोमाञ्चा-

दयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तथापि लौकिकदेशकाला-नियमेन तत्र रतिं गमयन्ति। यस्यां स्वात्मापि तद्वासनावत्त्वादनुप्रविष्टः अत एव न तटस्थतया रत्यवगमः। न च नियतकारणतया, येनार्जनाभिष्वङ्गादिसम्भावना, न च नियतपरात्मैकगततया येन दुःखद्वेषाद्युदयस्तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरभूता रतिः शृङ्गारः। साधारणीभावना च विभावादिभिरिति।

साधारणीकरण—

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि—मुकुट तथा चेहरे मुखौटे (प्रतिशीर्षक) आदि नेपथ्य विधान के कारण पहले नट विषयिणी बुद्धि आच्छादित की जाती है। और परम्परागत पूर्वकालिक ज्ञान, तरह तथा काव्य के द्वारा बलात् रामबुद्धि उसमें [नट में] स्थिर नहीं की जा सकती है। अतः नट और रामादि से सम्बद्ध देशकालादि का परित्याग हो जाता है। और यद्यपि व्यभिचारिभाव रत्यादि की प्रतीति करवाने वाले रूप में देखे जाते हैं किन्तु फिर भी वे (व्यभिचारी भाव तथा रोमाञ्चादि अनुभाव भी) देशकालादि के नियम के बिना रत्यादि की प्रतीति करवाते हैं; जिस प्रतीति में संस्कारयुक्त होने के कारण सहृदय की अपनी आत्मा भी आ जाती है। अतएव रत्यादि की तटस्थरूप से प्रतीति नहीं होती। और न निश्चित कारणों से होती है जिससे अर्जन विषयक आवेश आदि विघ्नों की सम्भावना हो। और न निश्चित रूप से उसकी परगत (नटगत) प्रतीति होती है जिससे दुःख, द्वेषादि की उत्पत्ति हो। इसलिये (क्षणिकतावादियों (बौद्धों) की तरह) साधारणीभूत चित्तवृत्तिप्रवाह की अथवा (स्थिरतावादियों या नैयायिकादि) की तरह) एक ही ज्ञान की विषयभूत प्रत्यक्षरूपा 'रति' ही शृङ्गाररस है। यह साधारणीकरण विभावादि के द्वारा सम्पन्न होता है।

तत्र विभावप्राधान्येन साधारणीभावो यथा—

"केलीकन्दलितस्य विभ्रममधो धुर्यं वपुस्ते दृशो-
भङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।
आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारं त्वमेकाकृतिः" ॥

उनमें विभाव की प्रधानता के कारण साधारणीकरण का उदाहरण :—

हे सुन्दरी, (रति क्रीडा रूप) केलि से उत्पन्न विभ्रमरूप मधु को धारण करने वाला तुम्हारा शरीर है, तुम्हारी भौंहों का परिहास विलास विशेष भगी से टूटने वाला अनग का धनुष है और तुम्हारे मुखकमल से उत्पन्न आसव केवल सूघने के मात्र से (बिना पिये ही) विकार उत्पन्न करने वाला है । अत तुम सचमुच तीनों लोकों में सारभूता ब्रह्मा की अप्रतिम रचना हो ।

अत्र च विभावकृतं तत्सौन्दर्यं प्राधान्येन भाति । तदनुगतत्वेन केलीविभ्रमभङ्गुरनर्मवचोमहिम्ना चानुभाववर्गो, भङ्गीक्रमविकारादि शब्दबलाच्च विभावर्ग· प्रतिभातीति । अत एव नास्फुटत्वाशङ्कात्र रत्यास्वादमये शृङ्गारे विधेया ।

इसमें विभाव (नायिकारूप आलम्बन) की प्रधानता के कारण (उसका) सौन्दर्य व्यक्त हो रहा है । केलि, विभ्रम, भगुर, नर्म आदि शब्दों द्वारा अनुभाव वर्ग का और भगी, क्रम, विकार आदि शब्दों की सामर्थ्य से व्यभिचारिभाव उसी विभाव के अनुगामी रूप में प्रतीत होते हैं । [अत विभावरूप नायिका के सन्दर्भ में स्थायीभाव (रति) का सहज साधारणीकरण हो जाने के कारण] यहाँ रति आदि के आस्वाद्य शृङ्गारादि में अस्पष्टता की आशंका नहीं करना चाहिए ।

अनुभावप्राधान्यं यथा शुद्धसारस्वतप्रवाहपवित्रसकलवाङ्मय महार्णवपूर्णभावसम्पादनाद् द्विजराजस्येन्दुराजस्य—

"यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो नि स्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत् ।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निविडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः ॥" इति ।

अनुभाव की प्रधानता के कारण साधारणीभाव का उदाहरण शुद्ध सरस्वती के प्रवाह से पवित्र समस्त वाङ्मयरूपी महार्णव को अपनी कृतियों से परिपूर्ण करने वाले द्विजश्रेष्ठ उपाध्याय भट्टेन्दुराज का यह पद्य है :—

जो गोपियों की आँखे कहीं रुक कर देखने में स्थिर नहीं हो पा रही हैं एवं उनके अंग कटी हुई कमलिनी के मृणालदण्ड के समान प्रतिदिन क्षीण (और म्लान) होते जा रहे हैं और उनके कपोलों पर दूर्वा के समान जो गहरा पीलापन दिखाई दे रहा है वह सब कृष्ण के युवक होने और गोपाङ्गनाओं के युवती होने के कारण है। ऐसे समय उनके वेष की यही दशा होती है।

अत्र विश्रम्येति, बहुशः इति, प्रतिदिनमिति च पदसमर्पिता व्यभिचारिगणः कृष्ण इत्यादिपदार्पितश्च विभावो गुणत्वेन प्रतिभासते। विश्रान्तिलक्षणस्तम्भविलोकनवैचित्र्यगात्रतानवतारतम्यपुलकवैवर्ण्य-प्रभृतिस्त्वनुभावसञ्चयः प्रधानतया।

यहाँ 'विश्रम्य' 'बहुशः' तथा 'प्रतिदिन' पदों से व्यभिचारिभाव की प्रतीति होती है तथा कृष्ण पद से प्रतीति होने वाला विभाव है जो यहाँ अप्रधान रूप से व्यक्त हो रहा है। तथा विश्रान्तिरूप स्तम्भता, देखने की विचित्रता, शरीरगत कृशता का तारतम्यभाव, रोमाञ्च तथा विवर्णता आदि अनुभाव वर्ग प्रधान रूप यहाँ से प्रतीत हो रहा है।

व्यभिचारिणां तु प्राधान्यम् तद्विभावानुभावप्राधान्यकृतम्। तत्राद्यं यथा महाकवेः (अभिनव) कालिदासस्य (कलशकस्य)—

"आसमाप्तमधिकान्तमुक्षितुं कामदा शफरशङ्किनी जहौ।

अञ्जली जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम्"॥

विभावों और अनुभावों के प्राधान्य से व्यभिचारि भावों का प्राधान्य कैसे हो जाता है [अर्थात् विभाव के प्राधान्य से व्यभिचारिभाव का प्राधान्य व्यक्त होना] इसका उदाहरण है (अभिनव) कालिदास (कलशक) का निम्न पद्य :—

वह चञ्चलनयना नायिका अपने प्रियतम पर फेंकने के लिये बार-बार हाथ में लिये हुए जल को अपने नायकों की छाया पड़ने से मछली की आशंका करती हुई छोड़ देती है।

इत्यत्र सुकुमारमुग्धप्रमदाजनभूषणभूतस्य व्यभिचारिवर्गस्य वितर्कत्रासशङ्कादेः प्राधान्यं, तद्विभावानां प्राधान्यात् सौन्दर्यातिशयकृतम्। आत्तमात्तमित्याद्यर्पितानुभाववर्गस्तु तदनुयायी। एवं द्वयप्राधान्ये चोदाहार्यम्। किन्तु समप्राधान्ये एव रसास्वादयोत्कर्षः।

यहाँ नायिका का सौन्दर्यगत सौकुमार्य और भोलापन उनके आभूषणभूत वितर्क, त्रास तथा शंका आदि व्यभिचारिभावों की प्राधान्यता को व्यक्त करता है जो कि विभाव के प्राधान्य से उनके सौन्दर्यातिशय के कारण प्रतीत हो रहा है। यहाँ 'आत्तम् आत्तम्' इत्यादि पदों से सूचित अनुभाव व्यभिचारिभावों के अनुगामी प्रतीत होते हैं। [ये उदाहरण विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के पृथक् प्राधान्य के हैं] इसी प्रकार दो दो की प्रधानता के उदाहरण भी समझना चाहिए। किन्तु दोनों की तुल्यप्रधानता में ही रसास्वाद का उत्कर्ष सम्पादित होता है

तच्च प्रबन्ध एव भवति। वस्तुतस्तु दशरूपक एव। यदाह वामनः-'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः" (काव्यालं० सू० १-३-३०) "तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्" (काव्यालं० सू० १-३-३१) इति। तद्रूपसमर्पणया तु प्रबन्धे भाषा-वेष-प्रवृत्त्यौचित्यादिकल्पनात्। तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य 'ईदृगत्र वक्तास्मिन्नवसरे' इत्यादि बहुतरं पीठबन्धं रूपं विदधते।

और यह समप्राधान्य जनित रसोत्कर्ष 'प्रबन्धकाव्य' में ही होता है और (केवल) काव्य में ही क्यों, वह इसकी अपेक्षा वास्तव में दशरूपकों [नाटकादि] में ही होता है। जैसा कि वामन ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि-'प्रबन्धकाव्यों में दशरूपक ही श्रेष्ठ होते हैं' [का० सू० १-३-३०] 'क्योंकि वे चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त रहते हैं' [का० सू० १-३-३१]। प्रबन्धकाव्यों में (नाटकादि) रूपक के समान

भाषा, वेष, प्रवृत्ति के औचित्य की कल्पना द्वारा (रसानुभूति होती है) और उस प्रबन्ध-काव्य के आश्रित होने से मुक्तक-काव्यों में रसानुभूति सम्पन्न हो जाती है। क्योंकि उसमें सामाजिक (सहृदय) पुरुष मुक्तक-काव्य के सम्बन्ध में 'यह इस प्रकार का वक्ता है' इत्यादि पूर्वापर कल्पनाएँ कर के प्रसंग के अनुकूल बहुत-सी भूमिकाएँ बना डालते हैं।

तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृत्, अनपेक्षितनाट्यानामपि। तेषामपि तु नाट्ये 'निपतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः' इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। असहृदयानाञ्च तदेव नैर्मल्याधायि, यत्र पतिता गीतवाद्यगणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्योपकरणात्।

इसलिये जो सहृदय पुरुष काव्य के अभ्यास तथा पूर्वजन के संस्कार से परिमार्जित हैं उन्हें मुक्तक काव्य में सीमित (परिमित) रूप से व्यक्त विभावादि अधिक प्रत्यक्ष, स्पष्ट (व्यापक) तथा साक्षात्कारात्मक हो जाते हैं, जिससे काव्यार्थ [रस] की प्रतीति निर्बाध होती है। इसलिये नाट्य की अपेक्षा न रखने वाले सहृदयों (सामाजिकों) के लिये काव्य ही रसप्रतीति और व्युत्पत्ति का कारण [या देने वाला] होता है। और ऐसे सहृदयों के द्वारा 'दर्पण पर गिरने वाली चन्द्र किरणों से जैसे उसका प्रकाश बढ जाता है' इसी तरह नाट्य का रसानुभव और भी अधिक निर्मलरूप में ग्रहण किया जाता है। और उन असहृदयों के लिये भी (वही) नाट्य नैर्मल्य का [अर्थात् सहृदयत्व का] आधान करने वाला होता है जिन्हें नित्य प्रयोग के कारण अभ्यास रखने पर गीत, वाद्य तथा गणिका के नृत्य आदि कलाएँ व्यसन रूप नहीं बन जाती हों।

तत्र च नटो ध्यायिनामिव ध्यानपदम्। नहि तत्र 'अयमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः' इति स्मरणीयप्रतिपत्तिः, अपि तु

तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूतसङ्कल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिनां फलकृत्। तद्वन्नाट्यप्रक्रियाद्वारोदितातिस्फुटाध्यवसायविषयितो नियतदेशकालाद्यस्पष्टविधिस्थानीयोऽर्थो 'अत इदं फलम्' इति व्युत्पत्तिं वितरति। यत्र दृश्येऽभिनयादौ चित्तवृत्त्यादौ वा न बाधकोदयः। सम्यग्ज्ञानभूतमेवेदं पूर्णम्। तेन राम इत्येव प्रतीतिः, न स्वयं न रामो, अन्योऽयमिति। स्फुटीकरिष्यते चैतदग्रतः।

उस नाट्य में नट की स्थिति उसी प्रकार है जैसे ध्यान करने वालों के लिये ध्यान का स्थान (मूर्ति) होता है। यहाँ 'ये सिन्दूर आदि से युक्त वासुदेव हैं' इस रूप में स्मरणीय (इष्टदेव) की प्रतीति नहीं होती है किन्तु उस मूर्तिरूप उपाय के द्वारा देवताविषयक ध्यान स्पष्टतः संकल्प का विषय होकर फलसिद्धि का कारक होता है। इसी प्रकार नाट्य की कलात्मक प्रक्रिया के द्वारा जो ज्ञान अत्यन्त स्पष्ट रूप से उदित होता है वह निश्चयात्मक होकर देशकाल की सीमा के स्पर्श से मुक्त होकर अर्थ की व्यञ्जना के द्वारा परिणाम या फल का विधि-स्थानीय अर्थ अर्थात् 'इस कर्म का यह फल होता है' ऐसा ज्ञान करवाता है। नाट्याभिनय के देखने से सामाजिक की चित्तवृत्ति में प्रत्यक्षादि से उत्पन्न बाधाएँ नहीं आतीं, अतः यह ज्ञान पूर्ण या सम्यक् ज्ञान ही कहलाता है। अतएव यहाँ 'अभिनेता राम है' केवल इस बात की ही प्रतीति होती है 'यह राम नहीं है' या 'यह राम से अन्य (अभिनेता) है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसे हम आगे चल कर और अधिक स्पष्ट करेंगे।

(नाट्यशास्त्र गद्यांश) को[1] दृष्टान्तः। अत्राह—यथाहि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति[2]। यथा हि—गुडादि-

१. को वा दृष्टान्त इति चेत्—उच्यते—ग०।

२. तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधीभिश्च षड्रसा निवर्त्यन्ते एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति—ग० घ०।

भिर्द्रव्यजनौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता[1] अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

प्रश्न—क्या इस विषय में (कोई समानता निदर्शक) दृष्टान्त हो सकता है ? उत्तर—हाँ। जैसे गुड आदि पदार्थों, भाजियों तथा (अन्य) जीरा, हल्दी आदि औषधियों से युक्त व्यञ्जन द्वारा छः प्रकार के (लौकिक) रस निष्पन्न, (सम्पन्न आस्वादित) होते हैं। ठीक उसी तरह अनेक भावों से युक्त स्थायीभाव 'रसत्व' की प्राप्ति कर लेते हैं।

(अभिनवभारती-) तत्रालौकिकोऽयमर्थो न दृष्टान्तमन्तरेण हृदयङ्गमो भवेदित्याशयेनाह—को दृष्टान्त इति। बहूनां संयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमानः क्व दृष्ट इत्यर्थः।

रस के अलौकिकत्व को बिना दृष्टान्त के ठीक तरह से समझा नहीं जा सकता है इस आशय से भरतमुनि कहते हैं कि—इसमें क्या दृष्टान्त है इत्यादि। अभिप्राय है कि विविध पदार्थों के संयोग से रस की उत्पत्ति कहाँ देखी गयी ? [या उसकी उत्पत्ति का प्रमाण क्या है ?]

अत्र प्रश्ने भाष्येण प्रतिवचनमाह यथेत्यादिनाप्नुवन्तीत्यन्तेन। व्यञ्जनमुपसेचनद्रव्यम्। तच्च नानातिक्तमधुरशुक्तादिभेदाद् दधिकाञ्जिकादिओषधयश्चिञ्चागोधूमदलहरिद्रादय। द्रव्यं गुडादि। यथा पाकक्रमेण सम्यग्योजनारूपात्कुशलसम्पाद्यात्संयोगात् षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्यः परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्ताम्ललवणकटुकषायेभ्यो भिन्नेभ्यश्च विलक्षणः षाडवशब्दवाच्यः तत्प्रधाना बहुतर रसनयोग्याः क्रियन्ते। तथैव नानाभूतैर्विभावादिभिरुप समीपं प्रत्यक्षकल्पतां गता लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीवनं रसत्वं तत्र प्रतिपद्यन्ते।

इस प्रश्न का भरतमुनि ने अपने भाष्य [मूल में प्रस्तुत वार्तिक भूत गद्यभाग] के द्वारा उत्तर दिया है—'यथा' से लेकर 'आप्नुवन्ति' तक के भाग से। व्यञ्जन का अर्थ है उपसेचन पदार्थ। और यह पदार्थ तिक्त, मधुर, खट्टा आदि भेदों से तथा

[1] भावोपहिता—घ०।

दधि, काँजी आदि प्रकारों से अनेक प्रकार का होता है। औषधियों से तात्पर्य है इमली, गेहूँ, दाल, हल्दी आदि पदार्थ। द्रव्य हैं गुड आदि। इन सबको कुशल पाचक भली प्रकार मिलाकर 'सयोग' की स्थिति निर्माण करता है। इस तैयार किये गये (पाडव) पेय में लोकप्रसिद्ध मधुर, तिक्त, खट्टा, नमकीन, कड़वा और कसैला आदि का अलग-अलग स्वाद नहीं होता उनके मिश्रण से एक मिश्रित या भिन्न स्वाद का ग्रहण होता है और पाडवप्रधान बहुत से आस्वाद्य पदार्थ बन जाते हैं। इसी प्रकार अनेक प्रकार के विभावादि के द्वारा 'उप' समीपता को प्राप्त अर्थात् उत्पन्न होकर प्रत्यक्षकल्पता को प्राप्त हुए रूप में, लौकिक सन्दर्भ में या लौकिक भावों की अपेक्षा से जो स्थायीभाव हैं व अपने रसमयतारूप प्राणतत्त्व के साथ नाटकादि में रसत्व को प्राप्त करते हैं।

एतदुक्तं भवति। पाकरूपया सम्यग्योजनया तावदलौकिको रसो जायते। तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जनं विभावस्थानीयं चिञ्चाहरिद्राद्यनुभावप्रायम्। द्रव्याणि तु गुडादि, तदीयचुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद्व्यभिचारिकल्पं स्वात्मनि तदुपजीवनेन च परत्र च स्व रस-सङ्क्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात्।

इसका आशय यह है कि—पाचन रूप सम्यक् सयोग के द्वारा पाडवादि रूप लौकिक रस की उत्पत्ति होती है। और इस प्रकार के पदार्थों में प्रधानरूप में रस को अभिव्यञ्जक जल होता है इसलिये उपसेचन रूप व्यञ्जन के काव्य में विभाव स्थानीय मानना चाहिए। और इमली आदि औषधियों को काव्य में अनुभाव स्थानीय समझना चाहिए। गुड आदि जो द्रव्य हैं उनके साथ खट्टे आदि रस से विलक्षण (भिन्न) मधुरादि रस के योग होने से उन्हें व्यभिचारिभावों के स्थान पर समझना चाहिए। और वे (गुडादि द्रव्य) अपने आन्तरिक स्वाद के साथ अन्य द्रव्यों में अपने रस का संक्रमण द्वारा विचित्रता का आधान करने से व्यभिचारिभाव के समान माने जा सकते हैं।

अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभाव-

कल्पव्यञ्जननितो मन्तव्यः। स हि लौकिकः। अयन्तु कुशलैक निवर्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति। तेनात्रास्येत्यध्याहारो न युक्त। यथा हि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहणं शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्तं तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यैवोपादानं युक्तम्।

परन्तु यहाँ लौकिक रसों के प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि मिश्रणकाल में अलग-अलग द्रव्यादि में न रहने वाला रसविशेष विभाव सदृश व्यञ्जन से उत्पन्न समझना चाहिए। यह लौकिक रस है। यह लौकिक रस कुशल पाचकों द्वारा उत्पन्न किया जाकर उसके विज्ञाता जन के द्वारा आस्वादनीय होता है। इसलिये यहाँ 'अन्न' पद का अध्याहार करना उचित नहीं है। इस लौकिक रस की प्रक्रिया को यहाँ दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया गया है और दार्ष्टान्तिक काव्यरस की प्रक्रिया के द्वारा इसकी पुष्टि की गयी है अतएव जैसे दार्ष्टान्तिक में स्थायीभाव का ग्रहण बाधक होता है इसीलिये उसको छोड कर विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव इन तीन को ही ग्रहण किया गया है इसी प्रकार दृष्टान्त में भी अन्य को छोड कर व्यञ्जन रूप जल आदि विभावस्थानीय, इमली आ अनुभवस्थानीय तथा गुड आदि को व्यभिचारिभाव के स्थानीय ग्रहण करते हुए तीनों को ही ग्रहण करना उचित है।

(नाट्यशास्त्र-गद्यांश) अत्राह—रस इति क पदार्थः ? उच्यते—आस्वाद्यमानत्वात्। कथमास्वाद्यते[1] रसः ? यथा हि नानाव्यञ्जन संस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधि गच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायि भावानास्वादयन्ति। सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति[2] तस्मान्नाट्यरसा इति व्याख्याताः।

प्रश्न[1]—रस कौन पदार्थ है ? (अर्थात् रस को रस कहने में क्या

---

१ 'रस यह कौन पदार्थ है' इत्यादि के द्वारा यहाँ सूत्र के लक्षणपद की व्याख्या के लिये आक्षेप (प्रश्न) किया गया है। रस शब्द की प्रसिद्धि या शक्ति मधुरादि

---

१ कथमास्वाद्यो—ग०। २. अयं भाग ग—पुस्तके नास्ति।

कारण है)? उत्तर—यह आस्वाद्य (होने वाला)—पदार्थ है। प्रश्न—रस का आस्वादन कैसे किया जाता है? उत्तर—जैसे पुरुष सुसंस्कृत (शुद्धता से निर्मित) अनेक व्यञ्जनों का भोजन करते हुए मधुर आदि

रस, पारद, विषय, सार, जलसंस्कार, अभिनिवेश (आग्रह), काढा, देह धातु का सार आदि अर्थों मे है। यह इसके अतिरिक्त अर्थों मे प्रसिद्ध नहीं है पर प्रस्तुत प्रसङ्ग मे शृङ्गारादि अर्थ मे प्रयुक्त होनेवाले रस शब्द का क्या अर्थ है और उसका क्या प्रवृत्तिनिमित्त है? यहाँ यह शब्द अपने विशिष्ट अर्थ का नियमन कैसे करता है और प्रयोक्ता की इस विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करने में या उस अर्थ का ज्ञान करने मे कैसे प्रवृत्ति होती है? प्रस्तुत प्रश्न के ये सभी अभिप्राय हैं। यहाँ प्रश्नवाक्य मे प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द प्रवृत्तिनिमित्त का ग्राहक है। [अ० भा०]

१ रस शब्द की शृङ्गारादि के लिये प्रवृत्तिनिमित्तता को बतलाने के लिये भरतमुनि ने 'आस्वाद्यमानत्वात्' कहकर उत्तर दिया। इस प्रकार प्रवृत्ति के हेतु पर जो प्रश्न किया गया था उसका हेतुसूचक पञ्चमी विभक्ति के द्वारा उत्तर दिया गया है। अतएव रस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त आस्वादन किया है (यह तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है)।

आगे रस के प्रवृत्ति निमित्त पर आक्षेप करने के लिए पुन कहा गया कि 'इसका आस्वादन कैसे किया जाता है'? क्योंकि लोक मे रसनेन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान को 'आस्वादन' कहते हैं और शृङ्गार आदि का ज्ञान तो रसनेन्द्रिय से होता नही। तब उसे आस्वादन कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जाता है कि यहाँ प्रयुक्त 'यथा' शब्द इस बात का सूचक है कि यह औपचारिक क्रिया का आश्रय लेकर सादृश्य को व्यक्त करने के लिये कहा गया है।

भोग्य, भोक्ता तथा फल की स्थिति सादृश्य के अनुसार होती है। जैसे नाना व्यजन द्रव्यों से सस्कृत अन्न की आस्वाद्यता का अनुभव एकाग्रचित्त से आस्वादन करने वाले पुरुष को होता है और इस आस्वादन का फल प्रसन्नता, तृप्ति, जीवन, पुष्टि, बल आरोग्यादि प्राप्त होना है। इसी प्रकार अभिनय के द्वारा व्यक्त होने वाले रस के विषय मे जान लेना चाहिए। स्थायी भाव की रस रूप मे आस्वाद्यता, (भोग्य) एकाग्र चित्त और तन्मय हुए सामाजिक मे आस्वादयितृत्व (भोक्ता) तथा आनन्दप्रधान धर्मादि के ज्ञान

(उसमें विद्यमान) रसों का आस्वादन कर प्रसन्न होते हैं, वैसे ही अनेक भावों (संचारियों) से अभिव्यक्त, वाणी (वाचिक) से, शरीरावयव से (आंगिक) तथा सत्त्व (सात्त्विक) से युक्त 'स्थायी' भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं, तथा उसे ग्रहण कर आमोदित होते हैं। इस प्रकार 'नाट्य' में विद्यमान तथा अनुभूत रसों की व्याख्या की गयी।

अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तिविदो[1] जनाः॥ ३३॥
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा[2] बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥ ३४॥

इस विषय के निदर्शक (संग्रह-स्वरूप) परम्परा प्राप्त दो श्लोक

एवं नैपुण्य आदि की प्राप्ति को यहाँ फल कहा गया है। अतएव कर्त्ता, कर्म तथा फल के सादृश्य के कारण विभावादि से उत्पन्न प्रतीति विशेष यहाँ आस्वादन क्रिया के रूप में वर्णित है।

यहाँ कुछ व्याख्याताओं ने व्यंजनादि के आस्वादन और रसप्रतीति के सादृश्य में दोष बतलाया है। उनके मत में अन्नादि के आस्वादन में तीन अवान्तर विभाग होते हैं—(१) आत्मा [आस्वादयिता], (२) रसना [आस्वादक इन्द्रिय, आस्वादनक्रिया] तथा (३) मन। और यहाँ रस के विषय में केवल [एक] आस्वादन मात्र है। यही दोनों स्थलों में वैषम्य है। इन्हीं व्याख्याताओं ने इस विषमता के परिहारार्थ युक्ति दी है कि यहाँ आत्मा ही स्थानान्तरिक होकर मनःस्थानीय हो जाता है और मन रसस्थानीय होता है। आचार्य अभिनव का मत है कि यह तर्कणा व्यर्थ है क्योंकि यहाँ भरतमुनि को रसोत्पत्ति में उपचार या सादृश्य का प्रधानरूप से प्रतिपादन मात्र अभीष्ट है।

१ भुक्त मुक्तविदो—ग०।
२ भावाभिनयसंयुक्ता स्थायिभावास्ततो—ग०, घ०।

(आनुवश्य श्लोक[1]) भी है—जैसे भोजन के रस-वेत्ता अनेक[2] पदार्थों से युक्त व्यजनों का आस्वादन करते हैं उसी प्रकार अनेक भाव[3] तथा अभिनय से युक्त स्थायीभावों का सहृदय-जन मानस-आस्वादन करते हैं। इसीलिये ये स्थायीभाव नाट्य-रचनाओं में 'रस' कहलाते हैं ॥ ३३-३४ ॥

---

१ आनुवश्य श्लोक—भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों के वचन है जो शिष्य तथा आचार्यों की परम्परा मे चले आ रहे थे। भरत ने सूत्रार्थ—मत [संक्षेप मे अर्थ के प्रतिपादक होने से] इन श्लोको को भी 'कारिका' मान कर गृहीत किया है।

२. यहाँ 'बहुद्रव्ययुते' पद से द्रव्य के रूप मे गुडादि भेदो का ग्रहण किया गया है। बहुत से व्यजन कहने से उपसेचन द्रव्य दधि, काँजी आदि का ग्रहण हुआ है। इस प्रकार यहाँ विभावो के भेद से रसभेद की बात सूचित की गई है। 'भुञ्जाना आस्वादयन्ति' के द्वारा जिह्वा के भक्षणरूप व्यापार से अधिक मानसिक व्यापार दिखलाया गया है। यह आस्वादन रसना का व्यापार न होकर मानस व्यापार है और वह मानस व्यापार स्वरूप आस्वादन शृङ्गारादि रसो के अनुभव मे पूर्णत विद्यमान रहता है। अतएव शृङ्गारादि शब्द का प्रयोग मुख्यरूप से भी किया जा सकता है किन्तु लौकिक व्यवहार मे रसना व्यापार के बाद आस्वादन के अनुभव होने से यहाँ शृंगारादि के विषय मे आस्वादन का प्रयोग औपचारिक है।

३. प्रस्तुत कारिका में 'भाव' शब्द का प्रयोग विभाव तथा व्यभिचारिभाव के शुद्ध स्वरूप के प्रकट या ज्ञापित करवाने के लिये किया गया है। यहाँ 'अभिनय' शब्द से अनुभावो का ग्रहण है और भावो से अनुभावो को अभिनय रूप होने से प्राधान्य प्राप्त करने के कारण अलग बतलाया गया है। उनसे अच्छी तरह 'सबद्ध' अर्थात् हृदय की एकरूपता और तन्मयता प्राप्त करने वाला जो 'बुध' या प्रमाता वह अपने हृदय मे स्थायीभाव को सभी ओर से साधारणीभाव के द्वारा अभिन्न अनुभव करता है। इस कारण उसे साधारणीकरण के द्वारा अनिर्वचनीय रूप मे स्थायीभावो की निर्बाध प्रतीति होती है क्योंकि इन्द्रियो से बोध होने पर विघ्नो की सभावना हो सकती है किन्तु मानस आस्वादन के कारण बाधा की सभावना नही रहती। इस समय स्वगत या परगत भेद से शून्य प्रमाता होता है अत, स्वगतादि भेद के द्वारा होने

रस तथा भावों का सम्बन्ध

अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति। [1]उच्यते—केषांचिन्मतं परस्परसंबन्धादेषामभिनिष्पत्तिरिति[2]। तन्न। कस्मात्? दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति।

भवन्ति [3]चात्र श्लोकाः—

(वृत्ति) प्रश्न[1]—क्या रस से भावों की उत्पत्ति होती है अथवा भावों से रसों की? उत्तर—बतलाते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि ये

वाले विघ्न भी नहीं होने जिससे रसप्रतीति में विघ्न आवें। यह आस्वादन लौकिक विषय के आस्वादन और अनुभव से रहित होता है और योगिप्रत्यक्ष से भिन्न एक विलक्षण प्रकार की सुख दुखात्मक स्थिति वाला होता है। यह आस्वादन (चर्वण) अनुभूत्यात्मक विलक्षणता में आह्लादात्मक होता है तथा यह विभावादि से उद्बुद्ध स्थायीभाव से प्राप्त होता है। इसका वे ही सहृदय ('बुध') आस्वादन करते हैं–जो लौकिक प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में चेष्टा तथा चित्तवृत्तियों के सामञ्जस्य का ज्ञान रखने हों। ये ही विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों के द्वारा रस प्रतीति को ग्रहण करने के अधिकारी हैं। अतएव 'नाट्य' अर्थात् विभावादि के समुदाय रूप से व्यक्त होने वाले 'रस' अथवा नाट्यरूप रस ही 'नाट्यरस' कहलाते हैं। इसका भाव यह भी हो सकता है कि रससमुदाय रूप ही 'नाट्य' है। [अ० भा०]

१ अभिनेता में स्थित रसों से सामाजिक में भावों की उत्पत्ति माने जाने पर नट के द्वारा करुणरस के अभिनय से सामाजिक में शोक स्थायीभाव के उद्बुद्ध होने पर करुणरस की पुष्टि या प्रतीति होती है। अतः अभिनेता द्वारा प्रथम रसाभिनय के द्वारा सामाजिकगत शोकादि स्थायीभाव की और फिर सामाजिक भाव की पुष्टि से सामाजिकगत रस की उत्पत्ति होती है। इसलिये क्या रस से भाव उत्पन्न होता है अथवा भाव से रस, यह सन्देह होता है

---

१ मिति केषांचिन्मतम्—क०, अन्योन्ये—ग०। २ मभिनिर्वृत्तिरिति—ग०।
३ चापे—क, तत्र—ग०।

पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न होते हैं। परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि भावों से रसों की उत्पत्ति देखी जाती है रसों से भावों की नहीं।

(और इस सन्देह के कारण ही प्रस्तुत प्रश्न की प्रवृत्ति हुई)। इसके अतिरिक्त तीसरा पक्ष यह भी है कि कालभेद से एक की दूसरे से उत्पत्ति होती है [आशय यह कि पहिले नटगत रस के अभिनय से भाव की उत्पत्ति होती है और बाद मे सामाजिकगत भाव से सामाजिकगत रस की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार कालभेद हो जाता है]। अथवा पहिले अनुकर्त्ता (नट) मे अथवा अनुकार्य (रामादि) मे भाव की उत्पत्ति होती है और फिर इस भाव के उपचित होने पर उससे (अनुकार्य या अनुकर्त्ता मे) रस की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार रस से भाव, भाव से रस तथा एक दूसरे से परस्पर दोनों की उत्पत्ति होने से तीन मत बन जाते हैं। (इनमें उपचितरत्यादि को रस मानने वाले भट्टलोल्लट के मत का पहिले खण्डन किया जा चुका है।) यहाँ (नाट्यशास्त्र के दूसरे व्याख्याकार) श्रीशङ्कुक का कथन है कि अनुकर्त्ता के अभिनय मे सामाजिक को रसों के आस्वादन रूप मे अनुकार्यगत रत्यादि भावों की जो प्रतीति होती है वही सामाजिक मे प्रवृत्तरस को उत्पन्न करती है। अतः भरत के द्वारा मान्यसिद्धान्तों के अनुसार यह (भावों से रस की उत्पत्ति वा) दूसरा पक्ष है। इन्हीं दोनों मतों से तीसरा मत भी बन जाता है।

पर (शङ्कुक का) यह कथन दोषपूर्ण है क्योंकि सामाजिक को अनुकार्य तथा अनुकर्त्ता के विभेद का ज्ञान नहीं होता और शङ्कुक के अभिमत ('रत्यादि तथा अनुकरण रस है' इस) अनुकरणवाद का खण्डन किया जा चुका है।

अतएव इस पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार होनी है : क्या रसों मे भावों की उत्पत्ति होती है, अथवा उसका विपर्यय है, या दोनों एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं—ये तीन प्रश्न हैं। इन तीनों मे विभावादिकों से रस की उत्पत्ति होती है यह कहा जा चुका है और यह दूसरा पक्ष पहिले ही स्वीकृत हो चुका है, [अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा (व्यभिचारि) भावों से रस की उत्पत्ति होती है] जो मुख्य पक्ष है।

इस पर श्री शङ्कुक की आपत्ति है कि—यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि लोक मे विभाव, अनुभाव आदि नहीं होते, वहाँ (लोक मे) तो उन्हे केवल कारण कार्य या अवस्था रूप ही माना जाताता है। यदि यह कहो कि वे ही

इस विषय में ये (परम्परा प्राप्त) श्लोक भी (कहे गए) हैं—

नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति[1] रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ३५ ॥

नाट्यप्रयोक्ता[1] जन उन्हें 'भाव' जानें, क्योंकि ये अनेक अभिनयों से सम्बद्ध (अनेक रसों) को भावित (उनकी मूलस्थिति को धारण) करते हैं ॥

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा ।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥ ३६ ॥

जैसे[2] अनेक प्रकारों तथा प्रभूत सामग्री से व्यञ्जनों का भावन

नाट्य आदि में प्रयुक्त होन पर आस्वादन में उपयोगी होने से विभावादि रस को प्राप्त हो जाते हैं तो फिर यह मानना होगा कि रस की कृपा से ही विभावादि होते हैं। और यदि यह कहो कि उन विभावादि के प्रसाद से रस की निष्पत्ति होती है तो अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है, क्योंकि विभावादि व्यवहार रस के कारण होता है और विभावादि से रस की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार 'भावों से रस की उत्पत्ति होती है' इस स्वीकृत सिद्धान्त पर भी शङ्का के ये ही आक्षेप हैं कि एक दूसरे पर रहने वाले कार्य नहीं हो सकते। इसी के उत्तर में यहां भरतमुनि ने कहा है कि प्रमदादि विभावादि की प्रतीति ही रसास्वाद को उत्पन्न करती है अतएव रसों से भावों की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु भावों से रसोत्पत्ति होती है।

१ नानाभिनय—भावशब्द (के अर्थ) का निर्वचन करने से यही बात युक्तिसंगत लगती है कि भावों से रस की उत्पत्ति होती है। यही 'नानाभिनय' आदि कारिका से यहां कहा गया है। इस प्रकार के रसों से सम्बद्ध अर्थात् हृदयंगम होने वाले रसों को जो 'भावयन्ति' अर्थात् उत्पन्न करते हैं, अतः ये भाव हैं।

२ नानाद्रव्यैः—अनेक द्रव्यों के योग से जो व्यक्त होता है वह व्यञ्जन कहलाता है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहां अनुपान-(ठंडाई) रस का अभिप्राय व्यञ्जन शब्द से अभिप्रेत है। 'बहुविध' पद व्यञ्जन का उपलक्षण है। [अर्थात् जैसे अनेक द्रव्यों का अनुपात आस्वादन में व्यञ्जनरूप है, उसी प्रकार विविध भावों का संयोग प्रतीति रूप में रस है।] द्रव्यों का यही बहुविधत्व

---

१ सम्बन्धान्—ग० ।

(निर्माण, आस्वादन) किया जाता है वैसे ही भाव विभिन्न अभिनयों के द्वारा रसों को भावित करते हैं ॥ ३६ ॥

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।

परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥ ३७ ॥

रस[1] भावहीन नहीं होता तथा रसहीन भाव नहीं होता, इनके पारस्परिक सम्बन्ध के सहारे से अभिनय में सिद्धि दिखाई देती है ॥ ३७ ॥

व्यञ्जनौषधिसंयोगो[1] यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत् ।

एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥३८॥

जैसे[2] बिना औषधि (हल्दी, मसाला आदि) के समिश्रण के व्यञ्जन स्वादु नहीं बनता इसी प्रकार रस एवं भाव परस्पर सम्मिश्रित होकर

अथवा 'अभिनयै' का 'बहुविधै' विशेषण है, क्योंकि अभिनयों के अन्तर्गत भावों का बहुविधत्व परिलक्षित होता है, परन्तु ठडाई आदि पेय द्रव्यों मे अनेक द्रव्यों को मिलाकर एक रस बनाने के कारण 'बहुविधत्व' नहीं है इसलिये उसे व्यञ्जन का उपलक्षण कहा गया।

१. न भाव-हीनो—यह सिद्ध है कि "भाव के बिना रस नहीं होता है" क्योंकि इसीसे भरत का कथन 'भावों से रस उत्पन्न होते हैं' प्रतिपादित होता है, परन्तु यहाँ तो 'भावो रसवर्जित' भी कहा गया है। तब इसका अभिप्राय यह है कि लोक मे रस के बिना विभावादिका व्यवहार नहीं होता। और इस पर उत्तर दिया गया है कि उन दोनो के पारस्परिक योग से होनेवाली सिद्धि अभिनय मे होती है। क्योंकि अभिनय मे रस का अनुभव होने पर उसके सहायक होने से कारणादि विभाव कहलाते हैं, इसलिये इन दोनो के योग से अभिनय की सिद्धि होना उचित ही है और दोनों का सयोग प्रयोजनीय है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं रहेगा (जिसे अगले पद्य की व्याख्या में और स्पष्टत बतला रहे हैं)।

२. व्यञ्जनौषधि—प्रस्तुत प्रसग को उदाहरण के द्वारा बतलाते हैं—जैसे व्यञ्जन (काजी आदि द्रव्य) तथा औषधियों का सयोग तथा उसका व्यञ्जन रूप

---

१. सयोगो यथान्न स्वादुता नयेत्—ब० ।

मनोरंजन या आह्लाद के साधन बनते हैं (या एक दूसरे को भावित करते हैं) ॥ ३८ ॥

यथा बीजाद्भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥ ३९ ॥

जैसे[1] बीज से वृक्ष और फिर क्रमशः उससे पुष्प तथा फल उत्पन्न होते हैं; वैसे ही रस मूल है, उसी पर भावों की स्थिति अवस्थित है ॥ ३९ ॥

म आस्वादन, ये (दोनों) क्रमश: कर्ता और कर्म रूप में स्थित होकर जैसे कर्मभूत एक दूसरे को परस्पर सुस्वादु बनाते हैं, इसी प्रकार रस तथा भाव कर्त्तारूप मे स्थित होकर कर्मभूत एक दूसरे को भावित कराते हैं। अर्थात् भाव रसो को निष्पन्न या भावित करते है और रस भावो को भावित करते हैं (भाव बनाते हैं अर्थात् भावपद से कथन करने योग्य बनाते हैं)।

यहाँ इसका अभिप्राय यह है कि एक विषय मे एक क्रिया होने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है किन्तु क्रियाभेद होने पर नही, जैसे प्रस्तुत प्रसग मे दधि काजी आदि उपसेचन द्रव्य के संयोग से अन्न मे अम्लादि रस उत्पन्न होता है, पर ऐसा नही कि आधारभूत अन्न से व्यञ्जन को आस्वादन के योग्य बनाया जाता हो। इसी प्रकार भावो के द्वारा स्थायीभाव की रस्यमानता होती है और रसो के द्वारा कारणादि रूपो [सीता, रामादि] को विभाव पद से अभिहित किया जाता है (अत' यहाँ क्रियाभेद के कारण अन्योन्याश्रय नही)। जैसे पट की अपेक्षा से तन्तु 'कारण कहे जाते है और तन्तु की अपेक्षा से 'पट' कार्य कहलाता है तो अन्योन्याश्रय दोष नही होता इसी प्रकार यहाँ भी क्रियाभेद के कारण अन्योन्याश्रय दोष नही है ऐसा समझना चाहिए।

१. यथा बीजाद्—यदि भावों से उत्पन्न रसो को स्वीकार किया जाए तो आपने यह कैसे कहा कि 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' अतएव पहिले उन्हीं का कथन करना उद्देश्य है, यह कथन कैसे सिद्ध होता है—इस आशंका के समाधानार्थ प्रस्तुतपद्य 'यथा बीजाद्' इत्यादि कहा गया है। जैसे बीज वृक्ष के मूल मे कारणरूप होकर स्थित होता है इसी प्रकार रस काव्य के मूल मे स्थित रहता है, अतएव उसी के द्वारा आनन्दास्वादपूर्वक प्रवृत्ति निवृत्ति का ज्ञान होता है। इसी कारण रस का व्याख्यान सर्वप्रथम करने

चार मूल रसों से आठ रसों का उद्गम—

तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्याम। तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा—शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति। अत्र—

योग्य है। कवि के मानस में साधारणीभूत रससंवित्मूलक काव्य के द्वारा अभिनेता भी अभिनय प्रस्तुत करता है। यह कविगतसंवित् ही वास्तव में मूलभूत रस है। उसी के वशीभूत सामाजिक को अन्वयव्यतिरेक के द्वारा बाद में विभावादि की प्रतीति होती है। अतएव मूल (बीज) स्थान पर कविगत रस भावादि का कारण है। काव्यगत उद्भावना में कवि सामाजिक के समान है जिसका समर्थन ध्वन्यालोककार के निम्न कथन से होता है। शृङ्गारी चेद् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् (ध्व० ३।४२) [यदि कवि शृङ्गारी है तो सारा जगत् रसमय है] इत्यादि। बीजस्थानीय उसी रस से वृक्षस्थानीय काव्य उत्पन्न होता है जिसमें पुष्प स्थानीय अभिनयादिरूप (नट का) व्यापार है तथा फलस्थानीय (सामाजिक का) रसास्वाद है। इसीलिये सामाजिक के लिये काव्यजगत् रसमय होता है। प्रस्तुत रसप्रसंग में विज्ञानवाद, द्वैतवाद, स्फोटवाद, सत्कार्यवाद तथा अद्वैतवाद के आधार पर रस की व्याख्या करने वाले आचार्यों के सिद्धान्तों का जो वर्णन हुआ है उसे विस्तार से जानने के लिए उन्हीं ग्रन्थों में देखना चाहिए अनुपयोगी होने से उनके सिद्धान्तों की हम यहां चर्चा नहीं करना चाहते क्योंकि रस की व्याख्या में उनकी उपयोगिता नहीं है। [अर्थात् दार्शनिक मतों का प्रयोग रसनिष्पत्ति में अधिक सहायक नहीं है]।

दूसरे व्याख्याता इस श्लोक की अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं वे कहते हैं कि बीज स्थानीय भाव से रसरूप वृक्ष उत्पन्न होता है जिसमें अभिनय रूप पुष्प से सुन्दरता को प्राप्त रसरूप वृक्ष से प्रतीति रूप भाव ही फल स्थानीय भोग को प्राप्त करता है। यह व्याख्या प्रकरण के विरुद्ध है क्योंकि यहां इस प्रकार मानने पर आदि और अन्त में भाव आ जाता है जो सम्भव नहीं है।

इस प्रकार भाव से रस की उत्पत्ति ही सिद्धान्तपक्ष है परन्तु अभिप्राय वैचित्र्य की दृष्टि से किसी स्तर पर तीनों पक्ष कदाचित् संगत माने जा सकते हैं।

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥ ४० ॥

(इति) अतएव (अब) इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण, देवता (तथा इनके उदाहरणों) का वर्णन करते हैं। इन रसों की उत्पत्ति[1] के हेतु (स्रोतभूत) रस चार हैं। यथा—शृङ्गार, रौद्र वीर तथा बीभत्स।

इनमें शृङ्गार[2] से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की तथा बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है ॥ ४० ॥

---

१ उद्दिष्टलक्षण और विभक्त (कर) व्याख्या किये गये रस की परीक्षा द्वारा परिष्कृत सामान्यलक्षण को बतला कर अब उत्पत्ति आदि के द्वारा विशेष लक्षण कथन करने के लिये 'तदेषाम' इत्यादि से पुन कहते हैं —

उत्पादको [अन्य रसो को उत्पन्न करने वाले] तथा उत्पाद्यो [शृगारादि रस से उत्पन्न हास्यादि रस] का एक दूसरे से भेद होने से दोनो का विशेषलक्षण होना है। उत्पादको का उत्पादकत्व दूसरे उत्पादको से विलक्षण होता है और वह उत्पाद्य के कारण ही होता है। इसी प्रकार उत्पाद्यरसों की विशिष्टता अपने उत्पादक रसो पर आधारित है और इसी कारण इनमे अन्तर रहता है।

यहाँ 'निदर्शन' पद से शृगारादि नाम अभिप्रेत है। निश्चयेन दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार निश्चय से दर्शन का उपायत्व उत्पत्ति आदि मे सगत नही होता इसलिये उनसे भिन्न (विलक्षण) होने के कारण विभावादि का संयोग 'विशेष निदर्शन' है। रसो के जितने भी उत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्धी भेद हो सकते है, वे सब इन्ही चार प्रकारो से सूचित किये गये हैं।

२ चार मुख्य रसो से चार (गौण) रसों की उत्पत्ति का आशय है उनके विभावो द्वारा इन रसो की उत्पत्ति (या पुष्टि) होना। किन्तु यह निश्चय नही है कि इसके अतिरिक्त विभावो से (इन) रसो की उत्पत्ति नही हो सकती, वीर (तथा वात्सल्य) रस के विभाव से भी हास्यरस की उत्पत्ति हो जाती है। अतएव उत्पत्ति का विशेष अर्थ लेकर उसमे तन्मूलक शब्द जोडना चाहिए। इससे यह अर्थ होगा कि हास्य शृङ्गार मूलक होता है इत्यादि।

श्रृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु[1] प्रकीर्तितः ।
[2]रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेय करुणो रसः ॥ ४१ ॥
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तित ।
बीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः ॥ ४२ ॥

शृङ्गार[3] का अनुकरण करने वाली प्रवृत्ति (अनुकृति) 'हास्य' कही जाती है, रौद्र का कर्म करुण, वीर का कार्य अद्भुत तथा बीभत्स वस्तु या उसे देखने का कार्य भयानक 'रस' समझना चाहिए ॥ ४१–४२ ॥

अथ वर्णाः

श्यामो भवति[3] श्रृङ्गार· सितो हास्य· प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥ ४३ ॥

---

१ श्रृङ्गार की जो अनुकृति है वह हास्य है ऐसा कहा जाता है अर्थात् श्रृङ्गारानुकृति रूप विभावो वाला हास्य रस उत्पन्न होता है। जैसे शृगार प्रथमरस है तो शृगाररस से युक्त अनुकरणभूत हास्य' (द्वितीय रस) हुआ यहाँ यही अभिप्राय है। तथा रौद्ररस का जो कार्य अर्थात् वधादि रूप फल है वह करुण है। वीररस का सम्यक् अर्थात् अव्यवहित जो फल है वह 'अद्भुत' रस है। मूलस्थ 'परिकीर्तित ' का आशय है सब ओर से कीर्ति, यश, प्रताप आदि के कारण उत्पन्न होनेवाला वीररस। अर्थात् वीररस से महापुरुषो की यश, प्रताप, कीर्ति चारों ओर फैलती है जो विस्मय का कारण होती है। और 'अपि' शब्द से शृगार भी वीर का अव्यवहित फल होता है यह सूचित किया है। यहाँ जो 'बिभत्सदर्शन होता है वह भयानक होता है' कह कर बीभत्स तथा भयानक के अभेद का जो प्रयोग किया गया है वह औपचारिक है तथा इस उपचार का फल है दोनो के सहभाव का ज्ञान होना।

यहाँ श्रृङ्गारादि चार रस हास्यादि चार रसो की उत्पत्ति के कारण कहे गये हैं वे यथायोग्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय से व्याप्त हैं और सौन्दर्यातिशय के (भी) जनक हैं।

---

१. स हास्य इति सज्ञित —ग० घ० । २. रौद्रस्यापि—ग० ।
३ भवेत्तु—ग०, भवेत् स तु—घ० ।

गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव[1] भयानकः।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः॥ ४४॥

रसों के वर्ण[1]

शृङ्गार रस का श्यामवर्ण (नीला), हास्य का सफेद, करुण का कपोत (घटेरिया) रौद्र का लाल, वीर का गौर (चमकीला सफेद), भयानक का काला, बीभत्स का नीला तथा अद्भुत का पीला वर्ण होता है॥

अथाधिदैवतानि[2]

शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः करुणो यमदैवतः॥ ४५॥
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः॥ ४६॥

रसों[2] के अधिकारी देवता—

शृङ्गार रस के अधिकारी देवता विष्णु (कामदेव), हास्यरस के प्रमथ

---

१ रसो के वर्णों का कथन (उनकी) पूजा आदि के अवसर पर उसके ध्यान करने मे उपयोगी है। अन्य व्याख्याकारो का मत है कि पात्रो के मुँह रगने मे इन निर्दिष्ट वर्णों की उपयोगिता है। शान्त रस का वर्णन मूल कारिका मे नही बतलाया गया अतएव नवरसवादियो के मत मे मूल के अन्तिम चरण का पाठ 'स्वच्छपीतो शमाद्भुतौ' होगा। उनके अनुसार शान्तरस का पीतवर्ण माना गया है।

२ तत्तद् रस की सिद्धि के लिए उस उस देवता के पूजन को बतलाने के लिये रसो के अधिकारी देवताओ का निरूपण किया गया है। यहाँ विष्णु का अर्थ कामदेव है अर्थात् कामदेव रूपी विष्णु शृगाररस का अधिदेवता है। प्रमथ शिव के क्रीडा करने वाले गणो को हास्यरस का देवता माना गया है। तीनो लोकों के सहार कर्ता रुद्र रौद्ररस के देवता हैं। रुद्र की प्रेरणा से प्रेरित यम प्राणियो का वध करता है जिसके सम्पादन होने पर करुणरस उत्पन्न होता है अत करुण के यम देवता हैं। बीभत्सरस के महाकाल अधिष्ठातृ देव हैं जो बीभत्स के श्मशान, ककाल आदि विभावो का सेवन करते हैं। वीररस का

---

१. कृष्णश्चापि—ध०। २. अथ दैवतानि—ग०।

गण, रौद्ररस के रुद्रदेव, करुण रस के यम, बीभत्स रस के महाकाल, भयानक रस के काल, वीर रस के महेन्द्र तथा अद्भुत रस के ब्रह्मा हैं ॥

एवमेतेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतान्यभिव्याख्यातानि । [एषां तु] इदानीं विभावानुभावव्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । स्थायिभावांश्च रसानामनुक्रमिष्याम[1] इति ।

(वृत्ति) इस प्रकार रसों की उत्पत्ति, वर्ण तथा अधिकारी देवताओं का वर्णन किया गया । अब विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से युक्त होने पर इनके लक्षण तथा उदाहरण (सामान्य तथा विशेष) बतलाता हूँ[1] । तथा यहाँ रसों के स्थायि-भावों का भी (इस सन्दर्भ में) निदर्शन किया जायगा ।

देवता महेन्द्र है, महेन्द्र शब्द से त्रैलोक्य के स्वामी का ग्रहण होता है । अद्भुत-रस का देवता ब्रह्मा है क्योंकि ब्रह्मा अचिन्त्य प्रकारों के आश्चर्यजनक पदार्थों का रचयिता है । शान्तरस को मानने वाले आचार्यों के मत में 'बुद्ध शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' पाठ रखा जाता है । उनके मत में बुद्धदेव जो परोपकार में रत तथा ज्ञानी है वे ही शान्तरस के अधिदेवता हैं ।

१. रसों के विशेष लक्षण कहने के लिये ग्रन्थकार 'इदानीम्' इत्यादि से प्रस्ताव बनाते हैं । विशेष लक्षण सजातीय से अन्तर बतलाने के लिये होता है क्योंकि विजातीय से भिन्न हुए विना सजातीय का ज्ञान नहीं होता और 'विजातीय का स्पष्टीकरण सामान्यलक्षण के बिना सम्भव नहीं होता अतएव विभावानुभाव' इत्यादि के द्वारा सर्वोत्कृष्ट रस सामान्य-लक्षण दिया गया ।

लक्षणरूप जो निदर्शन अर्थात् विशेषलक्षण का यहाँ भरत ने जो प्रस्ताव किया है वह प्रत्येक रस के विशेषलक्षण कथनार्थ है । अथवा सामान्यलक्षण के उदाहरण विशेष लक्षण के कथनार्थ होते हैं क्योंकि प्रत्येक सामान्य का पर्यवसान किसी विशेषलक्षण में ही होता है और उसके बिना सामान्यलक्षण स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

---

१. रसांश्वमुपनेष्याम' क, ग० ।

(अथ शृङ्गाररसप्रकरणम्)

तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः। यथा—यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते[1]। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानाञ्च नाट्याश्रितानाञ्चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति। एवमेष[2] आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रस इति।

जो स्थायीभाव (लोक मे) सामान्यत चित्तवृत्तिरूप होते हैं और अनेकविध काव्य नाटच मे प्रयोजको के अनेकविध व्यापारो से बोधित होने वाले होते हैं उन्ह भी विश्रान्ति के एकान्तधाम रसत्व को प्राप्त करवाने की व्याख्या की जाएगी। क्योकि कवियो और अभिनेताओं के द्वारा स्थायीभाव यथोचित विभावो के प्रस्तुतीकरण के द्वारा रसत्व को प्राप्त करवाए जाते हैं। जैसा ध्वन्यालोककार ने निम्न पद्य मे कहा गया है —

> 'या व्यापारवती रसान् रसयितु काचित्कवीना नवा,
> दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
> ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिश निर्वर्णयन्तो वय
> श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्य सुखम ॥"

अर्थ—हे समुद्रशायिन विष्णो, रसो के आस्वादन के लिये प्रयत्नवान् कवियो की जो अपूर्व (नवीन) दृष्टि है और परिनिष्ठित अर्थ को प्रकाशित करने वाले विद्वानों की जो वैपश्चिती दृष्टि है उन दोनो के द्वारा इस विश्व को अहर्निश देखते देखते हम श्रान्त हो चुके परन्तु आपकी भक्ति जैसा सुख अन्यत्र कही भी प्राप्त नही हो पाया। (ध्व० ३।४३)

इस पद्य मे 'नवा' शब्द से कवियो की अपूर्व दृष्टि का अभिधान किया गया है। अभिनेताओ के रचनाकार कवियों के आश्रित होने से उनमे अपूर्व या नवीन दृष्टि नहीं होती जो अपूर्व अर्थ का अवलोकन या आस्वादन कर सके,

---

१ अनुमीयते—ग०। २ तदेवमेव गुर्वाचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मक—ग०।

शृंगार-रस प्रकरण[1]

(गद्य भाग) इनमें शृङ्गार रस 'रति' नामक स्थायी भाव से उत्पन्न होता है। प्रवृत्त होता है) तथा वह उज्ज्वल वेषात्मक (स्वरूप का

वह तो कवि को ही होती है। अतएव कवि तथा उन पर आश्रित अभिनेता के समान हम भी रसो के आस्वादनार्थ जिस प्रकार विभाव आदि की संयोजना कर रसत्व को प्राप्त कराते हैं वैसा ही वर्णन करेंगे। इस प्रकार लक्षणरूपग्रन्थ का फल [रसास्वाद] बतलाया गया।

१ शृगाररस-प्रकरण

इन रसो मे सर्व प्रथम काम के पुरुषार्थरूपी फल होने और समस्त प्राणिजात के हृदयस्पर्शी होने के कारण कामप्रधान शृङ्गाररस का लक्षण 'तत्र' से लेकर 'उज्ज्वलवेषात्मक' तक से बतलाते हैं। यहां तत्र पद क्रम के निर्धार्य प्रयुक्त है अथवा 'ऐसा होने पर' इस अर्थ मे रखा गया है। इस सूत्र के भाष्य से जिस लक्ष्यपद की प्रतीति होती है उसका नाम 'शृङ्गार' है। उसी की 'यत् किञ्चित्' से व्याख्या की गयी है। वस्तु के सौन्दर्य आदि से मण्डित 'शृङ्गार' होता है उसी के साथ मूलग्रन्थ मे शुचि, मेध्य आदि की समानता दर्शायी गयी है। और इसीलिये उज्ज्वलवेषात्मा के लिये शृङ्गार शब्द प्रयुक्त किया गया है। यहाँ उपमान और उपमेय [अर्थात् उज्ज्वलवेष और शृङ्गार] मे विषयगत विशेष [भेद की प्रतीति नही होने से अभेद मानकर इस प्रकार का व्यवहार होता है। अतएव आस्वादन की जाने वाली रति ही मुख्यरूप से 'शृङ्गार' शब्द का अर्थ होती है एवं रति के आस्वादक सामाजिक के द्वारा रति के उपभोग मे विशेषरूप से आसक्त नायकादि को 'शृगारी' कहा जाता है।

परन्तु उस रति के उत्पादक विभावादि मे (आसक्त) सामाजिक पुरुष (मे शृगार) की जो व्यसनिता (लगाव, आकर्षण) पायी जाती है वह रसास्वादन अवस्था लोक मे विद्यमान होकर भी चिरकाल तक स्थिर नहीं रहती है। अत आस्वाद्यमान रति शृगार शब्द से गृहीत है और उस रति के आस्वादन मे यथोचित विभावादि का उपयोग किया जाता है। शास्त्र मे अनिषिद्ध, अनिन्दित, सुस्पष्ट एव मनोहारी शब्द से शृङ्गार के अभिधान करने (का मुख्य रूप मे) और शृङ्गार से उपमा देने का (गौणरूप से) यही कारण है।

होता) है। संसार में जो शुभ, पवित्र, उज्ज्वल (तेज सम्पन्न) तथा दर्श-नीय हो वह 'शृंगार' के द्वारा निर्दिशित (उपमा दिया हुआ) होता है। उदाहरणार्थ—जो व्यक्ति उज्ज्वल (ललित) वेशधारी होता है उस शृङ्गारी कहा जाता है। जैसे गोत्र[1], कुल तथा आचार के अनुसार तथा आप्त पुरुष

और यही बात मूलग्रन्थ मे 'उपमीयते' पद से कही है। अर्थात् इन वस्तुओं की विभाव आदि रूप में रस प्रतीति के अन्तर्गत उपयोगिता बोधित या लक्षित होती है। यह लक्षित होना 'यत्तावत्' इत्यादि से दिखलाया गया है। अव-धारणार्थक 'तावत्' शब्द के द्वारा शृङ्गार का मुख्य वाच्यार्थ उज्ज्वलवेष मे गृहीत नहीं है अतएव उज्ज्वल वेषधारी शृङ्गारवान् होता है इत्यादि प्रयोगों में शृंगार शब्द का उज्ज्वलवेष मे औपचारिक प्रयोग किया गया है। मुख्यरूप से शृंगार शब्द के प्रयोग का प्रयोजन बतलाने के लिए—'यथा च' इत्यादि (भरत ने) कहा है।

१ यहाँ 'गोत्र' शब्द का अर्थ पितृकुलपरम्परा तथा 'कुल' शब्द का अर्थ मातृकुलपरम्परा है। 'आचार' का अर्थ है व्यवहार। किसी पुरुष या स्त्री का जो नाम पितृ या मातृकुल परम्परा के आधार पर या व्यवहार को दृष्टिगत करते हुए रखा जाता है वही नाम लोक-व्यवहार मे प्रसिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो गुरुजन पुरुषादि के नाम रखते हैं वे भी प्रसिद्ध होकर प्रचलित हो जाते हैं।

इसी प्रकार रस आदि के नाम प्राचीन ब्रह्मा आदि आप्त पुरुषों के द्वारा रख दिये हैं या शास्त्रवेत्ताओं के द्वारा व्यवहार मे लाये गये हैं, शृङ्गार आदि नाम भी इसी व्यवहाराश्रित प्रकार पर समझना चाहिए। और वह आचार अर्थात् व्यवहार से इसी रूप मे लोक में प्रसिद्ध है। यथा अपने उज्ज्वल वेषादि के कारण यह शब्द लौकिक प्रसंग में भी प्रयुक्त होने लगता है। शास्त्रों मे प्रयुक्त होने वाले विशिष्ट शब्द भी वृद्धजनों के द्वारा व्यवहार किये जाने पर लोक मे प्रसिद्ध होकर उपचार से भिन्न अर्थों मे (भी) प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसे—'यह सांख्य का पुरुष कुछ नहीं करता' 'उसने मेरे लिये इस पूर्वरंग की निर्मिति कर डाली' तथा 'इन दोनों मे महत्ता इसकी अधिक है' इत्यादि वाक्यों मे प्रयुक्त 'पुरुष' 'पूर्वरंग' तथा 'महत्' शब्द क्रमश सांख्य, नाट्यशास्त्र तथा वैशेषिक दर्शनशास्त्र के विशेषशब्द हैं

के उपदेश द्वारा मनुष्यों का नामकरण किया जाता है; वैसे ही रस, भाव तथा अन्य नाट्याश्रित पदार्थों के व्यवहाराश्रित एवं परम्परा प्राप्त (आप्त पुरुष द्वारा उपदिष्ट) नाम होते हैं। (अतएव) अनेक आचार व्यवहार से सम्पन्न यह रस मनोहारी तथा ललित-वेश वाला होने के कारण (आप्तोपदेश तथा व्यवहारसिद्ध दोनों रूप में) सुधार कहलाता है।

स च स्त्रीपुरुषहेतुक[1] उत्तमयुवप्रकृतिः[2]। तस्य द्वे अधिष्ठाने

परन्तु इनका लौकिक प्रयोग भी अन्यार्थ में होता है। इसी प्रकार शृङ्गारादि शब्दों का विशिष्ट प्रयोग रस के विषय में मुख्य (रूप से होता) है और हृदयहारी उज्ज्वलवेषादि रूप लौकिक अर्थ में औपचारिक है।

'शृङ्गार' शब्द की व्युत्पत्ति में मत्वर्थीय 'आरकन्' का विधान नहीं है क्योंकि 'शृङ्गबृन्दाभ्यामारकन्' वार्तिक से आरकन् प्रत्यय करने पर शृङ्गार शब्द निष्पन्न होता है वृन्दारकशब्द के समान। अतएव 'शृङ्गार' शब्द उणादि से (निष्पन्न या) निपातित है।

अब 'रतिस्थायीप्रभव' में आये हुए 'रतिस्थायी' आदि शब्द को 'स च' इत्यादि से स्पष्ट करते हैं। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर 'यह इसकी स्त्री है' इस प्रकार के वाक्य में अभिलाषा तथा सम्भोग विषयक लौकिकबुद्धि का ग्रहण होता है। यह स्थायीभावस्वरूपा रति अभिलाषा मात्र (कामावस्था में विद्यमान रहने वाली) व्यभिचारि भावस्वरूपा रति से भिन्न होती है और आरम्भ से लेकर फलाप्राप्ति की अवस्था तक रहने वाली और परिपूर्ण सुखरूपी फलप्रदायिनी रति होकर (इस) शृंगार रस का कारण मानी जाती है। कवि लौकिक रति की वासना से युक्त होकर विभावादि को इस प्रकार प्रस्तुत करता है और अभिनेता उसको इस प्रकार नाट्य में (अभिनयादि के द्वारा) अनुभव करवाता है कि रति के आस्वादन होने पर शृंगार-रस का अनुभव होने लगता है। शृङ्गार की अनुभूति में (सामाजिक) का पूर्वकालीन संस्कार उपयोगी होता है यह कहा जा चुका है। इसी आधार पर इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि परमार्थतः रतिक्रीडा की स्थिति कामियों में ही होती है, क्योंकि उन्हीं में कामसुख की धारा विश्रान्ति लेती है। अन्य सामाजिक आदि को तो कवि के द्वारा वर्णित ऋतु, माल्य आदि (उद्दीपन

---

१ स्त्रीपुंस—ग०। २. उत्तमयुवति—ग०।

सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावदृतु-माल्यानुलेपनालङ्कारे-

---

विभावों के) विषय की मानसिक उद्भावना होती है और इसी उद्भावना के द्वारा वर्णित विभावों से तादात्म्य स्थापित करते हुए अभेद रूप मे वे रसास्वाद करते हैं। अनुभूति के प्रधान होने से यह 'संवित्' (प्रतीति) ही प्रमुख है और अनुभूति के अतिरिक्त अन्य जड़ों के भोग्य होने से 'अनुभूति' ही रसरवरूपा है। जैसा कि कहा भी है 'श्वासायासविडम्बनैव वपुषि प्राणाः पुनर्जानकी' 'प्रश्वास व श्वास की आवागमन प्रक्रिया तो विडम्बना मात्र है (पर) वास्तविक प्राण तो जानकी [विषयक रति] ही है' (अर्थात् विभावादि श्वास-प्रश्वास की तरह शरीर धारण मे सहायक है परन्तु रति ही प्राणस्वरूप होने से स्थायी है)।

कुछ व्याख्याकारो ने अनुकार्य तथा सामाजिक के भिन्न व्यक्ति होने से आधार भेद हो जाने के कारण अनुकार्य के अनुभवों की सामाजिक को प्रतीति कैसे होगी? ऐसी आशका की है। यह अज्ञानमूलक है। क्योंकि दोनो में स्थित रति एक ही है और अन्योन्य अनुभव के आधार पर (अर्थात् परस्पर तादात्म्य या साधारणीकरण के द्वारा) परस्पर अभेद रहता है [अर्थात् अनुकार्य तथा सामाजिक निष्ट रति अभिन्न या एक होती है]। इसी कारण भरत ने शृंगार रस को 'उत्तमयुवप्रकृति' कहा है। यहाँ उत्तम पुरुष और उत्तम स्त्री दोनो मिलकर दो उत्तम हुए। इसी प्रकार एक युवक पुरुष और एक युवती स्त्री मिलकर दो युवक [युवानौ] हुए। 'उत्तमश्च उत्तमा च उत्तमौ तथा 'युवा च युवती च युवानौ इन द्वन्द्व समासो मे एकशेष होकर 'उत्तमौ च तौ युवानौ इति उत्तमयुवानौ तौ प्रकृतिर्यस्य इति 'उत्तमयुवप्रकृति' ऐसी व्याख्या होती है। यहाँ उत्तम युव शब्द से उन दोनो स्त्री पुरुषो की संवेदनशक्ति का सकेत दिया गया है शारीरिकसौष्ठव (उत्तमता) का नहीं, क्योंकि उत्तमत्वरूप विशेष धर्म चैतन्य का होता है (वही विशेष धर्म माना जाता है) और वह उसका यौवनावस्था सम्पन्न शरीर सर्वत्र युवक व्यवहार के अनुरूप होने से उस रति का कारण उत्तमयुवक होता है। और वही रति संवित् आस्वादन योग्य होने से शृंगाररस हो जाती है। स्त्री पुरुष के उत्तम न होने पर रति स्थिर नहीं होती तथा इसी प्रकार युवक न होने पर भी। अतएव ऐसी दशा में वह रति संवित्

एजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

नहीं कहला सकती क्योंकि उन दोनो मे वियोग की सम्भावना हो सकती है। और शृंगाररस का प्राण ही संयोग (या वियोग का अभाव) युक्त रति संवित् होती है। (अर्थात् स्थायी भाव और रसप्रतीति परस्पर एक दूसरे को अनुप्राणित करती है यही यहाँ व्याख्यान किया गया है)।

'वेद्य' उसे कहते हैं जो चित्तवृत्ति को व्याप्त करता है और अपनी प्रतीति द्वारा रसरूप मे संक्रान्त होता है वह विभाव तथा अनुभाव रूप 'वेद्य होता है और जो व्यभिचारीभाव रत्यादि स्थायीभाव मे व्याप्त हो जाते हैं वे भी 'वेद्य' हैं। उन्ही के उत्कृष्ट प्रकार के प्रयोग को यहाँ उज्ज्वल शब्द से संकेतित किया गया है।

रससूत्र मे जिन विभावादि का संकेत से निरूपण किया था अब उनकी विभाग पूर्वक व्याख्या करने के अभिप्राय से शृंगाररस की दो अवस्थाओं का 'तस्य द्वे' इत्यादि से भेद बतलाते हैं।

'अधिष्ठाने' का अर्थ है अवस्थाएँ। अवस्था शृङ्गाररूप मे अवस्थित रहती है इसलिए अवस्था' है। अतएव गौ के शाबलेयत्व [दुरगापन] और बाहुलेयत्व (बहुरगापन) के समान ये दो अवस्थाएँ दो भेद नही हैं। प्रस्तुत दोनो दशाओं मे रति का ही आस्वादन होता है और आस्वाद्यमान रूप शृङ्गाररस होता है।

जैसा कि कालिदास के (मेघदूत के) निम्न पद्य मे है —

> एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
> मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भू।
> स्नेहानाहु किमपि विरहध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
> दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशी भवन्ति॥ [मेघ० २।३५]

[हे श्यामलनयने, मेघ से दिये गये समाचारो से मैं कुशल पूर्वक हूँ ऐसा समझकर लोकप्रवाद से मेरे (जीवन के) प्रति अविश्वासिनी मत बन जाना। विरह से प्रेम का ह्रास हो जाता है यह बात लोग यो ही कहते हैं परन्तु भोग अभाव मे प्रियजन के प्रति तृष्णा बढ जाने से प्रणय और भी गहरा हो जाता है।]

तस्य नयनचातुरीभ्रूक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्या दिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य.।

यहाँ वियोगावस्था म प्रेम के विकास का कथन है।

इसीलिये सम्भोगावस्था मे विप्रलम्भ की सम्भावना से भय रहता है और विप्रलम्भ मे सम्भोग की कामना बनी रहती है। इतना ही [अर्थात् सम्भोग तथा विप्रलम्भ ही] शृङ्गाररस का क्षेत्र या स्वरूप है। विप्रलम्भ शृगार के जो अभिलाष, ईर्ष्या, प्रयास आदि पाँच प्रकार हैं उनका रति की स्थिरता के कारण (भोग के अभाव म भी) इन्ही शृङ्गार के भेदों मे अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव प्रेम होने पर तथा भोग के न होने पर भी सम्भोगशृङ्गार आदि का व्यवहार उपचार के द्वारा किया जाता है और दोनो दशाओ के मिश्रण से अतिशय चमत्कार उत्पन्न होता है। जैसा अमरुक के निम्न पद्य मे —

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तर ताम्यतो
रन्योन्य हृदयस्थितेऽप्यनुनये सरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो
र्भग्नो मानकलि सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम ॥ (अ० श० २३)

[पारस्परिक कलह के कारण एक ही शय्या पर मुँह फर कर लेटे हुए पारस्परिक उत्तर प्रत्युत्तर न देने से खि न दोनो के हृदयो मे एक दूसरे को मना लेने की इच्छा रहने पर भी अपने गौरव की रक्षा करने वाले दम्पति के धीरे धीरे कनखिया के चलाने से (दोनो की) आँखें मिल जानें पर हँसकर एक दूसरे के गले लग जाने से मान क्रीडा भग हो गयी।

प्रस्तुत उदाहरण में ईर्ष्या विप्रलम्भ और सम्भोग के मिलन से दम्पति के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के द्वारा अतिशयता के साथ शृङ्गार-रस की अनुभूति (होती) है।

अतएव श्रीशकुक आदि ने जो आशका की है कि पुरूरवा की उ मादा वस्था के समय और वत्सराज उदयन की तपस्या के समय विप्रलम्भ शृङ्गार मे भी अनुज्ज्वल वेष पाया जाता है। यह सगत होगा ? परन्तु इनकी यह शका वस्त्रालकारादि रूप भोग के रस होने से अनुचित है और जैसे स्नानादि

---

१ चातुर्य—ग०।

व्यभिचारिणश्चत्रासालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः। विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्य [मोह] मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः ॥

अवस्था उज्ज्वल होने पर भी रस नहीं होती, इसी प्रकार अनुज्ज्वल वस्त्रालङ्कारादि न रस होते और न रस में बाधक ही होते हैं। और शंकुक ने ही इस आशंका का जो यह उत्तर दिया कि उज्ज्वलवेष के न रहने पर भी उदयन आदि उत्तम रति का परित्याग नहीं करते अत वहाँ शृङ्गार रस रहता है यह भी असगत है क्योंकि इससे शका का परिहार नहीं होता यहाँ यह शंका तो नहीं है कि उज्ज्वल वेष न रहने पर शृंगार क्यों रहता है ? और यदि यह शका मान भी ली जाए तो क्या दोष है ? और यह प्रश्न करें तो आप कुछ भी कह लें किन्तु भरत मुनि ने यह कहा है कि शृंगार उज्ज्वलवेष वाला होता है, पर इसके विपरीत होने पर शृंगार नहीं होता ऐसा तो नहीं कहा [अतएव 'वेष' का तात्पर्य वस्त्रादि नहीं है]।

सम्भोग तथा विप्रलम्भ अवस्थाओं में पहिले सम्भोग दशा को 'तत्र' इत्यादि से बतलाते हैं। इसमें परस्पर स्त्री-पुरुष विभाव (अर्थात् आलम्बन विभाव) होते हैं और ऋतु आदि उनके उत्कर्षाधान में उपयोगी होने से उद्दीपन विभाव होते है क्योंकि उत्तम प्रकृति में अवसर के अनुकूल न होने पर रति का उदय नहीं होता।

ऋतु से वसन्त आदि ऋतुएँ, माल्य से कुसुम की मालाएँ, अगराग आदि अनुलेपन पदार्थ ये सभी काम के उद्दीपक हैं। अगद आदि अलङ्कार और विदूषक आदि इष्टजन से नायक नायिका की उत्तम प्रकृति के परिचायक हैं। विषय का अर्थ है गीत आदि। उनके अन्तर्गत माल्यादि का निवेश हो सकता था किन्तु इनके प्राधान्य द्योतनार्थ अलग ग्रहण किया गया है। वरभवन अर्थात् महल आदि। यह प्रदेश विशेष का उपलक्षण है। इनका उपभोग शृंगार के अन्तर्गत मान्य है। उपवन में जाना, अनुभव या श्रवण करना अथवा महल आदि में बैठकर श्रवण आदि करना यह सकल्पादि का उपलक्षण है। क्रीडा का अर्थ जलावगाहन करना आदि है। लीला अर्थात् लोकवृत्ति या चेष्टाओं का अनुकरण करना। इसके अतिरिक्त आदि ग्रहण से हंसमिथुन, चित्र एव

यह-रस उत्तम प्रकृति (उदात्तप्रकृति या स्वरूप) के नायक तथा नायिका को लेकर (पारस्परिक अनुराग द्वारा) अपने स्वरूप को प्रकट

कलाकौशल के अवलोकन आदि को लिया जा सकता है। ये सभी शृङ्गार रस के विभाव समझना चाहिए। अभिनय के अन्तर्गत इन सभी के आमार्जित होने पर पूर्ण रूप म उत्तम प्रकृति मे रति का उदय होता है।

रसनीयता को प्रत्यक्षरूप मे अभिव्यक्त करने के लिये नेत्रों के चातुर्य इत्यादि के द्वारा अभिनय करना चाहिए। क्योंकि उनके द्वारा रस को आस्वादन के योग्य बनाया जाता है। इसलिये उन नयन चातुर्य आदि को अभिनय और क्रियाओ को अनुभाव कहा जाता है। क्योंकि वे ही आभिमुख्य नयन और अनुभावन स्वरूप हैं। रस को आस्वादन में समर्थ बनाना उद्दीपन विभाव है। अतएव अनुभाव और उद्दीपन के अभाव में केवल विभावादि वर्णन के प्रमुख रूप से रहने पर (श्रव्य) काव्य मे दृश्य के समान चमत्कार की प्रतीति नही होती क्योकि उनमे नाट्य के समान आस्वादन नही होता।

यह नयन चातुर्य आदि से कान्ता दृष्टि (ना० शा० ८।४१) का तात्पर्य लक्षणा से बोधित होता है। भ्रूक्षेप से 'चतुर' नामक भ्रू अभिनय (८।१२१) का तथा नेत्रो के घुमाने से कटाक्ष के द्वारा ताराकर्म (८।१००) का बोध होता है। आङ्गिक अभिनय मे नयन चातुर्य, भौहो का कटाक्ष युक्त परिचालन और ललित अर्थात् मन्दगति से उचित अवसर पर अगों की चेष्टाएँ आती हैं और ललित तथा सुकुमार अर्थ वाले श्रवणमधुर वाक्यों का उच्चारण वाचिक अभिनयान्तर्गत है। अतएव यहाँ इन आङ्गिक और वाचिक उपाङ्गों से होनेवाले अभिनयो को सूचित किया गया है। इसी से सामान्याभिनयाध्याय (अ० २४) मे कहे गये चेष्टा तथा अलङ्कारो का भी ग्रहण हो जाता है। अतएव ललित तथा मधुर शब्दो की चेष्टा तथा अलङ्कार का वाचक मानना उचित नही है। आदि शब्द से मुखराग, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावो का समावेश होता है और मूल में नयनचेष्टा आदि को अनुभावात्मक कहकर उनको क्रियात्मक स्थिति मे स्वीकार कर उनकी तटस्थता या उदासीनता का निषेध किया गया है और आभिमुख्यनयन (रूप अभिनय) के कथन से अनुकार्य या अनुकर्त्तागत रसप्रतीति की विश्रान्ति रूप आशङ्का का परिहार किया गया है।

करता है। इसके दो (मुख्य, मूल) विभेद हैं—(१) सयोग तथा (२) विप्रलम्भ। इनमें सयोग—(सम्भोग) शृगार ऋतु, पुष्पमालाओं तथा अलङ्कारों के धारण, इष्टजन का साहचर्य, विषय या अर्थ, सुन्दर

आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा के अतिरिक्त शेष तीस व्यभिचारी भाव शृङ्गाररस मे प्रयुक्त होते हैं। मल म 'अस्य' से सभोग तथा विप्रलभ नामक दशाओ वाले 'शृगाररस' से अभिप्राय है। जुगुप्सा बीभत्सरस का स्थायीभाव है और उसके शृङ्गाररस मे निषेध के द्वारा न्यायसिद्ध स्थायीभावो का भी अन्यरसों में व्यभिचारिभावत्व सिद्ध होता है। और यहा जो आलस्य का निषेध किया गया है वह प्रमदा आदि विभावो के विषय मे रहने वाले आलस्य का निषेध है इसका आशय यह नही कि आलस्य मात्र का निषेध किया गया अतएव 'वपुरलसलसद्बाहुलक्ष्म्या (वे० स० १।२) ['अलस बाहु से युक्त लक्ष्मी का शरीर'] और 'कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षण तस्या (विक्र० व० ५।६) ['उसका शरीर कुछ दिनो तक अलसाई आँखो से युक्त रहा] इस प्रकार के वर्णनो मे जो आलस्य को स्वीकार किया गया है वह निर्दोष है। काव्य नाट्यादि मे विभावादि के पूर्वनिर्धारित क्रम का ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि प्रथमोत्पन्न वस्तु स्थिर होती है और यह स्थिरवस्तु अपने अनुभाव आदि सहायक (परिवार) का सगठन करती है, और यही (रस) प्रतीति का क्रम है।

इन निर्दिष्ट तीस व्यभिचारिभावो मे निर्वेद आदि सम्भोग शृगार मे व्यभिचारिभाव नही होने से उन्हे शृङ्गार मे व्यभिचारिभाव कैसे निर्दिष्ट किया गया ऐसी आशका नहीं करनी चाहिए, क्योकि विप्रलम्भशृङ्गार म उनका प्रयोग किया जाता है। यही बात आगे 'विप्रलम्भकृत' इत्यादि से भरतमुनि ने कही हैं यहां 'तु' शब्द सम्भोग की अपेक्षा विप्रलम्भ के विशिष्ट प्रकार की सूचना दे रहा है। और वह भेद यह है कि निर्वेदादि व्यभिचारिभावो की विप्रलम्भ के प्रतिपादक वाक्य के साथ एकवाक्यता होने से विप्रलम्भ से सम्बन्ध दु खप्रधान निर्वेदादि को और शृगार म वर्जित आलस्य की अवस्था को छोडकर अन्य सभी सुख प्रधान घृति आदि व्यभिचारियो के द्वारा सम्भोग शृङ्गार का प्रदर्शन होता है। सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृगार मे एक का दूसरे पर अशत आश्रित रहना अपरिहार्य है इसी बात को सूचित करने के मल म 'अस्य' पद का अस्पष्ट प्रयोग किया गया है।

भवन का उपभोग, उद्यानगमन विहरण तथा अनुभव करने, (प्रिय जन के दर्शन, श्रवण तथा क्रीड़ा लीला आदि (विभावों के संयोग) से उद्भूत होता है। इसका अभिनय (रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण) नयन-चातुर्य, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष सचार, मधुर तथा ललित अंगों के परिचालन, मधुर शब्दों तथा ऐसी ही अन्य वस्तु के द्वारा किया जाता है। इसमें

शृङ्गार रस के अन्तर्गत इन दोनों प्रकारों का आस्वादन मिश्रित हो जाता है जिसे (मिश्रित रसास्वाद को) कालिदास ने रघुवंश मे श्रीराम के अपने कर्म और पूर्वावस्था के वर्णन का करते हुए प्रस्तुत किया है। [आशय यह है कि रघुवंश के त्रयोदशसर्ग मे विमान से लौटते हुए श्रीराम ने गत जीवन की विविध दशाओं और प्रदेशों को श्रीसीता को बतलाते हुए जो वर्णन किये हैं उनमे सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यामिश्र प्रतीति होती है]। और निद्रा के अन्तर्गत होने पर स्वप्न को मिश्रित प्रतीति करवाने के कारण प्रधान होने से व्यभिचारिभावों मे पृथक् स्वरूप मे स्वीकृत किया है। जैसे 'क्व नीलकण्ठ व्रजसी' (कु० स० ५'५४) [हे नीलकण्ठ, तुम मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो ?] इसमे तथा "सिविणवए" इत्यादि मे और 'आहूतोऽपि सहायैं' इत्यादि उदाहरणों मे सम्भोग तथा विप्रलम्भ की मिश्रित प्रतीति ही प्राणस्वरूप है।

सम्भोग दशा मे विभावादि के समीप होने के कारण और के अभाव रूप होने से 'विबोध' भी व्यभिचारिभाव है। सम्भोग शृगार मे सुरतश्रम के कारण यद्यपि निद्रा आदि उत्पन्न होती है पर उससे रति मे कोई वैचित्र्य की स्थिति निर्माण नहीं होती अत सम्भोग मे इसेअनुभाव नहीं माना जा सकता है परन्तु विप्रलम्भ शृगार में निद्रा के आधिक्य से रति भावना विशिष्ट होने से उसे अनुभाव माना गया है।

काव्य या नाटक मे उन्माद, अपस्मार और व्याधि का अत्यन्त कुत्सित अवस्था मे प्रयोग नही दिखलाना चाहिए। प्राचीन आचार्यों का मत है कि इनकी कुत्सित दशा (मृत्यु के) सम्भव होने पर भी प्रदर्शित न की जाए। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार जीवन की इस कुत्सित अवस्था मे जहाँ जीवन निन्दनीय हो जाता है—रति की अवस्था का ही विच्छेद हो जाता है क्योंकि इसका देह द्वारा उपभोग ही सार होता है और कुत्सित दशा के

त्रास, आलस्य, उग्रता तथा जुगुप्सा नामक संचारी भावों को छोडकर शेष सभी प्रयुक्त किए जाते हैं। शृंगार के विप्रलम्भ (नामक भेद) का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विब्बोक, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य तथा मरण [मोह] आदि संचारी भावों द्वारा किया जाता है।

प्रदर्शन करने पर शृङ्गार का क्षेत्र ही समाप्त हो जाता है। अतः मरण संचारी का वर्णन इष्ट भी हो तो सम्भावना मात्र का या जिसमें शीघ्र पुनर्मिलन हो जाए ऐसे मरण का वर्णन करना चाहिए जिससे शोक की दशा को उत्पन्न होने का अवसर न मिले (अन्यथा करुणरस की अवतारणा हो जाएगी)।

अन्य व्याख्याकारों का इस विषय में यह मत है कि मरण (व्यभिचारिभाव) में जीवन की समाप्ति अभिप्रेत नहीं है, किन्तु इससे प्राणत्याग कर्तृत्व रूप चैतन्यावस्था का ही ग्रहण इष्ट है। यह भावदशा सम्बन्ध तथा अवसर के अनुसार व्यभिचारिभाव के रूप में समझना चाहिए [अर्थात् विप्रलम्भदशा में प्राणत्याग के लिये उद्यत होने के वर्णन में 'मरण' संचारी का विनियोजन हो सकता है] जिसके उदाहरण काव्यादि में अनेक मिल सकते हैं।

आदि शब्द से भरतमुनि ने दैन्य, मोह आदि का समाहार किया है। ये व्यभिचारिभाव अपने अनुभावों के द्वारा अनुभूत होकर विप्रलम्भ की प्रतीति करवाते हैं। इसीलिये मुनि ने (यहाँ) *'अनुभावैः' पद का प्रयोग किया है।*

अन्य आचार्य आदि शब्द को करुणावाचक मानकर विप्रलम्भ शृङ्गार में उसके अनुभावों को प्रधानरूप से प्रस्तुत करने का समर्थन करते हैं तो अन्य पक्ष के आचार्य आदि शब्द को 'एकशेष' मानकर दोनों पक्षों को मान्य करते हैं।

विप्रलम्भ में आशा के दूरगामी होने पर छलना स्वीकार्य रहती है पर सम्भोग शृङ्गार में उपचार से उसका विरहात्मक फल ग्रहण किया जाता है क्योंकि रतिदशा में प्रेमी-प्रेमिका परस्पर प्रवंचना नहीं करते, इसी कारण शृङ्गार में विरह के द्वारा सौन्दर्य को बतलाते हुए भरतमुनि ने यह सूचित किया है कि बिना विरह के शृंगाररस का प्रयोग न काव्य में और न नाटक में हृदयग्राही हो सकता है। इसीलिये सम्भोग शृङ्गार के अन्तर्गत मीठे स्वाद की निरन्तर एकरसता के परिहारार्थ गोत्रस्खलन आदि से उत्पन्न ईर्ष्या या अन्य कारणों से उत्पन्न (विप्रलम्भ के कारण भूत) कलह के द्वारा विषम दशा

अत्राह—यद्येवं रतिप्रभवः शृङ्गारः, कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति ? अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृङ्गार इति। वैशिकशास्त्रकारैश्च[1] दशावस्थोऽभिहितः। ताश्च[2] सामान्याभिनये वक्ष्यामः।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि शृङ्गार रति (भाव) से उद्भूत है

को कविगण सृष्टि करते हैं (जिससे एकरसता के कारण वैरस्य का परिहार होता है और चमत्कार बना रहता है) क्योंकि वात्स्यायन ने 'काम को विपरीतकारी' (का० सू० २।७।१) कहा है और भरतमुनि ने भी 'यद्वामाभिनवेशित्व' (ना० शा० २४।२०७) कहकर अपनी वात्स्यायन से सहमति दिखलायी है।

व्यभिचारिभाव अस्थिर होते हैं और बिजली के चमकने और विलुप्त होने के समान हैं और ये स्थायीभाव रूपी सूत्र की निरन्तरता से प्रकट और लुप्त होकर सौन्दर्याभिवृद्धि करते हैं। यद्यपि स्थायीभाव भी स्थिर नहीं होते फिर भी संस्काररूप से तथा धारावाही सजातीय प्रवाह रूप से स्थिर माने जाते हैं परन्तु व्यभिचारिभाव इस रूप मे कुछ देर तक भी स्थिर नही रहते और वे अपने संस्कारो को स्थायीभाव के संस्कार मे लीन कर उसी को पुष्ट करते हैं। यहाँ इसी रूप मे इनका निरूपण किया है।

१ सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रतिपादक पूर्वोक्त वाक्यो की एकवाक्यता से दोनो दशाओ मे वर्तमान शृङ्गार का जो स्वरूप बतलाया गया उसे और स्पष्ट करने के लिये भरतमुनि 'अत्राह' इत्यादि से पूर्वपक्ष उद्भावित करते हैं। (करुणरसे आश्रयण विद्यते येषा भूम्ना इति) करुण रस मे जिनका अधिकतर आश्रय रहता है ऐसा 'करुणाश्रयिण' पद का विग्रह करना चाहिए।

पूर्वपक्षी के द्वारा अप्रामाण्य की आशका के परिहारार्थ मुनि 'वैशिक' इत्यादि से काम शास्त्रकारो का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। वैशिक शब्द का विग्रह है "वेश वेश्यावर्ग करण प्रयोजन यस्य शास्त्रस्य तत् वैशिक कामशास्त्रम्" (अर्थात् वेश शब्द का अर्थ है वेश्यावर्ग और कारण का अर्थ है

---

१. वैशिकशास्त्रे —ग०। २. ताश्चावस्था.—ग०।

तो फिर इसके करुण रसाश्रित (निर्वेद, ग्लानि आदि) सञ्चारी भाव क्यों माने गये ? (उत्तर) पहिले ही बतलाया जा चुका है कि शृंगार के संयोग तथा विप्रलम्भ दो भेद होते हैं। वैशिक (वात्स्यायन आदि काम) शास्त्रकारों ने इन विप्रलम्भ की दस अवस्थाएँ बतलाई हैं जिन्हें हम सामान्याभिनय-निरूपण के अवसर पर (ना०, शा० अ० २४ में) बतलाएँगे।

सम्भोगात्मक प्रयोजन । यह जिस शास्त्र में हो उसे वैशिक या कामशास्त्र कहते हैं) इन कामशास्त्रकारों ने (भी शृङ्गाररस को अभिलाष से लेकर मरण पर्यन्त दस अवस्थाओं वाला बतलाया है । वैशिक का विस्तृत विवरण ना० शा० अध्याय २५ में स्वयं भरत ने किया है]।

अवस्थापद से विप्रलम्भ के अलग-अलग प्रकारों का निराकरण किया गया है। अतएव चिन्ता आदि को रतिस्थायी के व्यभिचारिभाव माना गया है और 'च' के प्रयोग से इस बात का संकेत दिया है कि नायक-नायिका मिलन की आस्था से युक्त होकर रतिस्थायी के अन्तर्गत विप्रलम्भशृंगार की अंगभूत दस अवस्थाओं का अनुभव करते हैं।

करुण और विप्रलम्भशृङ्गार (दोनों) में एक ही प्रकार के (समान) व्यभिचारिभावों का प्रयोग होने पर करुण का विप्रलम्भ से भेद कैसे स्पष्ट होगा इस आशंका के परिहारार्थ 'करुणस्तु' इत्यादि से भरतमुनि कहते हैं।

अधम प्रकृति के स्त्री-पुरुषों में स्थायीभाव की स्थिति नहीं होने से विप्रलम्भशृङ्गार नहीं होता और आलम्बन आदि विभावसामग्री के न होने पर भी रत्यादि स्थायीभाव की स्थिति नहीं होती (अत एव) अधम पुरुष का अपनी (प्रेयसी या) स्त्री के साथ स्थायी सम्बन्ध न रहने से वियोगावस्था में रतिस्थायी भी नहीं रहता अतः विप्रलम्भ शृंगार नहीं होता किन्तु उनमें शोक स्थायी भाव वाला करुणरस हो सकता है (अतः करुणरस विप्रलम्भ से भिन्न है)।

पर उत्तरप्रकृति के स्त्री-पुरुषों में रति के विपरीत शोक स्थायी भाव *करुणरस में होता है अतः करुण का विप्रलम्भ से भेद करने के लिये मूल में* 'निरपेक्षभाव' विशेषण दिया है। इसका आशय यह है कि बन्धुजन आदि के विषय में (विप्रलम्भ शृङ्गार में) रति (स्थायी) होने पर अपेक्षा (आशा) बनी रहती है अतः वह सापेक्ष है, परन्तु करुण में प्रिय की मृत्यु हो जाने से

करुण तथा शृंगार रस के पारस्परिक विभेद—

करुणस्तु [1]शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो[2] निरपेक्षभावः

औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति। एवमेव सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति।

आशा के न रहने से उसे 'निरपेक्षभाव' कहा है। आशा का उल्लेख महाकवि कालिदास ने भी मेघदूत में किया है। यथा—'आशाबन्ध कुसुमसदृश प्रायशो ह्यङ्गनानाम्' इत्यादि (मे० पू०। १०) (अर्थात स्त्रियो का आशा बन्धन सूत्र प्राय कुसुम के समान कोमल होता है।)

सापेक्षभाव से रहित अर्थात् निरपेक्षभाव रूप करुण-रस होता है। इस निरपेक्षभाव की उत्पत्ति शाप के कष्ट मे पडे हुए प्रियजन के विभवनाश, वध या बन्धन आदि से होती है। उत्तम प्रकृति के व्यक्तियो के द्वारा शाप की अवस्था प्राप्त करने पर उसके प्रतीकार का कोई मार्ग नहीं रहता अत उनके लिये वह केवल शोकोदय का ही कारण बनता है यह बात भी इसी से सूचित की गयी है, क्योकि प्रतीकार की सम्भावना बनी रहने पर वह उत्साह या क्रोध का विभाव बन कर वीर या रौद्ररस की उत्पत्ति का कारण हो सकता था।

और विक्रमोर्वशीय में करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ की अवस्था को रखने के लिये उर्वशी मे शापवश स्वर्ग चले जाने पर भी पुरूरवा के शोक को हटाने के लिये कालिदास ने उर्वशी को शाप प्राप्ति का पुरूरवा को पता न लगने (पाए इस प्रकार) का उल्लेख किया है। इस प्रकार करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार के विभावो तथा स्थायीभावो मे अन्तर स्पष्ट है और करुणरस मे जो निर्वेदादि व्यभिचारिभाव होते हैं वे रतिभाव से असम्बद्ध निरपेक्ष शोकस्वरूप होने से भिन्न हैं। इसलिये भी यहाँ 'करुण' को 'निरपेक्षभाव' कहा गया है।

(इस प्रकार प्रस्तुत प्रसग मे) करुण रस के स्वरूप को कहने के उपरान्त विप्रलम्भ मे उसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए 'औत्सुक्यचिन्ता' इत्यादि के

---

१ विनिपातनेष्टजनविप्रयोग—ग०। २. बन्धनसमुत्थो—ग०।

करुण रस में शाप तथा क्लेश में पड़ने से वियुक्त प्रिय या इष्ट व्यक्ति के रहने, विभव नाश, वध तथा बन्धन (के समान रूप में दोनों में) प्राप्त होने पर भी वह रति से निरपेक्ष रहता है और विप्रलम्भ शृंगार में (यही) औत्सुक्य तथा चिन्ता से उत्पन्न होकर, रति से सापेक्ष भाव रखते हुए स्थित रखते हैं। इसी कारण विप्रलम्भ रस और करुण रस एक दूसरे से पार्थक्य रहते हैं। यह शृङ्गार रस सभी (कथित) अनुभावों, भावों (आदि) से युक्त होता है।

अपि च—

सुखप्रायेष्टसम्पन्न ऋतुमाल्यादिसेवक ।
पुरुष प्रमदायुक्त शृङ्गार इति संज्ञित ॥ ४७ ॥

कहा भी है कि—शृङ्गार तभी कहलाता है जब वह सुख बहुल प्रियजनों से युक्त हो, ऋतु तथा माल्यादि उद्दीपक पदार्थों के द्वारा मनो

द्वारा उसकी योजना करते हैं। यहाँ चिन्ता शब्द निर्वेदादि समस्त व्यभिचारिभावों का उपलक्षण है। औत्सुक्यप्रधान चिन्ता आदि व्यभिचारिभावो से विप्रलम्भ की उत्पत्ति होती है। अत औत्सुक्य तथा चिन्ता के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार में रतिभाव सापेक्ष होता है और वह सापेक्षता रतिभाव में रहती है इसी कारण सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगार के विभाव तथा स्थायी भाव समान होते हैं। औत्सुक्य का अर्थ होता है विषय के प्रति उन्मुख होना और यह विषय (आलम्बन) के नष्ट हो जाने पर नहीं रह सकती है (क्योंकि आलम्बन के नाश के साथ विप्रलम्भ शृङ्गार की स्थिति कैसे रह सकेगी !) अतएव समस्त भावो से युक्त शृङ्गाररस एक ही होता है। इस प्रकार परीक्षा करके उसके फल का यहाँ उपसंहार किया गया है।

इस प्रकार परीक्षा के पश्चात् सूत्रार्थ की स्थापना कर लेने पर विवरण रूप से तथा सूत्रार्थ के विस्तृत पाठ रूप होनेसे *अपिच इत्यादि से कारिका* को दिया जा रहा है। यह कारिका केवल सूत्रार्थ कथन रूप ही नहीं है अपितु परीक्षा स्वरूपा भी है यही 'अपि च' के चकार का साकेतित अर्थ है।

सुखप्रायेष्टेति —यहाँ पुरुष शब्द से अनुभव करने वाले भोक्ता का ग्रहण

होता है। इसका अभिनय ओठ,[1] नाक तथा गले के फड़काने, दृष्टि को सिकुडाने या फैलाने, स्वेद, मुह के लाल होने तथा बगली झाकने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाय। इसमें रहने वाले सचारी भाव हैं—आलस्य, अवहित्था, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध तथा असूया (आदि)। यह (हास्य) दो प्रकार का होता है[2]—आत्मस्थ तथा परस्थ। जब मनुष्य स्वय हंसने लगे तो आत्मस्थ तथा दूसरों को हसावे तो परस्थ होता है।

अनुचित कार्यों का मुनि ने निषेध किया उनका उल्लेख या कथन करना दोष है। आदि शब्द से उन दोषो का सङ्कल्प या स्मृति करना लिया जाता है।

१ मूल के 'ओष्ठनासा' आदि शब्दो का 'स्पन्दन' शब्द से सम्बन्ध है। 'व्याकोशन' शब्द का अर्थ है आंखो का खोलना तथा बन्द करना तथा 'आकुञ्चन' का अर्थ आंखो को थोडा ब द करना है। इनकी दृष्टि के साथ योजना होती है। 'आस्यराग' का अर्थ है मुख की लालिमा। पार्श्वो के पीडन का अर्थ है उनको पकडना या दबाना। 'तन्द्रा' शब्द का अर्थ है मोह (मूर्च्छा)। ये विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव स्मित आदि आगे कहे जाने वाले प्रकारो के साथ उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति से यथायोग्य सम्बद्ध किये जाते हैं।

२ हास्यरस के दो प्रकार हैं। अपने म स्थित विकृत वेष आदि विभावों से जब विदूषक (आदि पात्र) स्वय हँसता हो तो वह आत्मस्थ हास्य होता है और यदि वह महारानी आदि अन्य पात्र को हँसाता है तो वह परस्थ हास्य हो जाता है ऐसा श्रीशकुक आदि प्राचीन आचार्यों ने माना है पर यह ग्राह्य नही है क्योंकि ऐसा मानने पर विभावो का आत्मस्थ तथा परस्थ विभाग होता है हास्यरस का नही। और स्वामी का शोक परिजनो मे भी शोक उत्पन्न करता है तो इस प्रकार शोक क प्रसङ्ग म [करुणादिरस मे] भी परस्थता मानी जानी चाहिए। और यदि महादेवी आदि अन्य व्यक्ति में व्यक्त होने वाला हास्य परस्थ माना जाए तो गम्भीर प्रकृति के स्वामी मे सेवको के अनुभावो से उत्पन्न होने वाला क्रोध [रौद्ररस] भी परस्थ होने लगेगा। अत आत्मस्थ और परस्थ की यह व्याख्या दोषपूर्ण है। तथा स्वय जिसमे विभाव हो वह हास्य आत्मस्थ तथा दूसरा जिसमें विभाव हो वह परस्थ होता है यह व्याख्या भी ठीक नहीं है। क्योंकि दूसरे का हास्य भी

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
[1]विकृतैरङ्गविकारैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥ ५० ॥
[2]विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च ।
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥ ५१ ॥

इस विषय में दो आनुवंशी आर्यायें हैं :—

विपरीत स्थान पर अलङ्कारों के धारण करने; विकृत व्यवहार, वाक्य तथा वेष के प्रदर्शन करने और विकृत अङ्गों (विकारों तथा) चेष्टाओं आदि के द्वारा हंसाने पर 'हास्य' कहलाता है ॥ ५० ॥

क्योंकि यह अपने विकृत व्यवहार,—वाक्य अंगों की क्रियाओं एवं विकृत वेष (आदि) के द्वारा मनुष्यों को हंसाता है अतएव इसे 'हास्य' कहते हैं ॥ ५१ ॥

स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः ।
षड्भेदाश्चास्य विज्ञेयास्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः ॥ ५२ ॥

यह रस (अधिकांश में) स्त्री तथा नीच प्रकृति के मनुष्यों में अधिक दिखाई देता है । इसके छः प्रकार होते हैं जिन्हें अब मैं बतलाता हूँ ॥ ५२ ॥

(उन) आत्मस्थ हास्य में विभाव होता है और [ऐसा यदि आत्मस्थ और परस्थ का विभाजन करें तो] रति आदि सभी स्थायी भावों में यह सम्भव हो सकता है ।

अतएव यहाँ दो विभागों का आशय यह है कि स्वयं विभावों को न देखने पर भी दूसरे को हँसते देखकर लोग हँसने लगते हैं ऐसा लोक व्यवहार में दृष्टिगत होता है और गम्भीर प्रकृति होने के कारण विभावादि से भी जो नहीं हँसते वे भी दूसरों को हँसता देखकर थोड़ा मुसकुरा ही देते हैं, क्योंकि मनुष्यों का ऐसा स्वभाव दृष्टिगत होता है । जैसे खट्टे-अनार (नीबू या इमली)

१ विकृतैरर्थविशेषै—ग० । २. विकृताकारै—ग० ।

हास्य भेद—

स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधमप्रकृतौ ॥ ५३ ॥

हास्य के छः भेद हैं—(१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) उपहसित, (५) अपहसित तथा (६) अतिहसित । ये प्रत्येक दो (दो) प्रकार के होकर उत्तम, मध्यम तथा अधमप्रकृति के व्यक्तियों में प्रयुक्त किये जाते हैं ॥ ५३ ॥

तत्र—

स्मितहसिते ज्येष्ठानां मध्यानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामपहसितं ह्यतिहसितं[1] चापि विज्ञेयम् ॥ ५४ ॥

का स्वरूप ही ऐसा सङ्क्रमणशील है कि उसके देखने मात्र से दर्शक के मुँह में पानी आ जाता है इसी प्रकार हास भी सङ्क्रमणशील है जो सूखी लकड़ी में अग्नि के समान शीघ्र अन्यों में फैल जाता है । अतएव स्वगतरूप हास्य आत्मस्थ और अन्यसङ्क्रान्त रूप हास्य परस्थ होता है यही समझना चाहिए ।

स्मितमथ हसितम्—ये हास्य के छः भेद हैं जो उत्तम, मध्यम तथा अधम के दो दो क्रम में रखे गये हैं । ये दो दो के क्रम विभावादि के तारतम्य के कारण न्यूनाधिक होते रहते हैं ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं पर यह उचित नहीं क्योंकि इस प्रकार तो विभाव के तारतम्य के आधार पर अनेक भेद बनाए जा सकते हैं । अतएव ये भेद सङ्क्रमण के अभिप्राय से ही यहाँ मानना चाहिए । उत्तम प्रकृति के व्यक्ति में जो 'स्मित' है वही व्यापक होने पर 'हसित' हो जाएगा । इसी प्रकार शेष द्विकों को भी समझना चाहिए । और इसी कारण हास की तीन अवस्थाएँ कही जाएगी अन्यथा छः प्रकार का हास्य हो जाता है । हास की मन्दता होने पर 'स्मित', उससे बढ़ जाने पर 'हसित', इसके बाद आगे बढ़ा हुआ 'विहसित' और उससे भी आगे बढ़कर दूसरों के समीपगत हो 'उपहसित' हो जाता है, और ऐसे ही 'अपहसित' तथा 'अतिहसित' प्रकार भी हो जाते हैं । इस प्रकार यहाँ उपसर्गों के मेल या माध्यम से सूक्ष्म अन्तर करते हुए भेदों की व्यवस्थित कल्पना की गयी है ।

---

१. तथातिहसितञ्च—ग० ।

उत्तम-प्रकृति के मनुष्यों में स्मित तथा हसित, मध्यजन में विहसित तथा उपहसित एवं अधमप्रकृति में अपहसित तथा अतिहसित प्रयुक्त किये जाते हैं ॥ ५४ ॥

अत्र श्लोकाः—

> ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
> अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥ ५५ ॥
> उत्फुल्लाननेत्रं[2] तु गण्डैर्विकसितैरथ ।
> किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते ॥ ५६ ॥

उत्तम प्रकृति के मनुष्यों में स्थित 'स्मित' (के लक्षण) में गालों का थोड़ा (हास्य के कारण) खिल जाना, नेत्रों का कटाक्ष एवं सौष्ठवयुक्त[1] होना तथा मुसकान रहने पर भी दाँतों का दिखाई न देना-होता है ५५ ॥

(तथा) 'हसित' में मुख एवं नेत्र थोड़े खिल जाते हैं, गाल फैल जाते हैं तथा मुस्कान के साथ कुछ कुछ दाँत भी दिखाई देने लगते हैं ॥ ५६ ॥

मध्यम प्रकृति के मनुष्यों का हास्य

अथ मध्यमानाम्—

> आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत्सस्वनं[3] मधुरं तथा ।
> कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत् ॥ ५७ ॥
> *उत्फुल्लनासिकं यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम्*[4] ।
> [5]निकुञ्चितांसकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत् ॥ ५८ ॥

---

१ सौष्ठव का अर्थ है उज्ज्वलता । धीर शब्द का अर्थ है धीरे-धीरे । जिससे यहाँ स्वल्पता का निर्वाह किया गया है । 'विकसितैरथ' में अथ पद का आशय है स्मित के पश्चात् सङ्क्रमण काल में । 'तत्' शब्द से यह सूचित किया है कि 'स्मित' ही आगे चलकर 'हसित' हो जाता है ।

१ विहसितं—ग० । २ नेत्रैस्तु—ग० । ३ सस्वर—ग० ।
४. निरीक्षणम्—ग० । ५ निहञ्चितामक—घ० ।

— जिसमें आँखें तथा गाल कुछ सिकुड़न लिए हों, ध्वनि अल्पता तथा मधुरता लिए हो एवं समय के अनुकूल[1] हो और जिसमें मुख प्रसन्नता के कारण लाल हो जाए तो उसे 'विहसित' हास्य जानिये। 'उपहसित' हास्य में नासिका फूल जाती है, टेढ़ीदृष्टि (जिह्म[2]) से हसना होता है और मस्तक सिकुड़ जाता है ॥ ५७–५८ ॥

अथाधमानाम्—

> अस्थानहसितं यत्तु[3] साश्रुनेत्रं तथैव च।
> उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥ ५९ ॥

अधमप्रकृति के मनुष्यों का हास्य

जिसमें[1] बेमौके हसना होता हो, आँखों में (हसते हंसते) आँसू आ जाए तथा कन्धा और मस्तक जोरों से हिलने लगे तो उसे 'अपहसित' हास्य कहते हैं ॥ ५९ ॥

> संरब्धसाश्रुनेत्रं[2] च विक्रुष्टस्वर[3]-मुद्धतम्।
> करोपगूढपार्श्वं च तच्चातिहसितं भवेत् ॥ ६० ॥

जिसमें हसते हसते आंसुओं से आँखें भर जायें, कर्णकटु (विकृष्ट[4]) और उद्धत शब्दों का उच्चारण हो और पसलियों को हाथों से दबाना पड़े तो उस हास्य को 'अतिहसित' जानिये ॥ ६० ॥

> हास्यस्थानानि[4] यानि स्युः कार्योत्पन्नानि नाटके।
> उत्तमाधममध्यानामेवं तानि प्रयोजयेत् ॥ ६१ ॥

---

१ कालागतम् – जो सभा आदि में समयगत औचित्य के अनुकूल हो।

२ जिह्मनामक दृष्टि से (अर्थात् तिरछे देखकर) भावपूर्ण निरीक्षण करते हुए। [जिह्म दृष्टि का लक्षण आगे ना० शा० ८।६१ पर द्रष्टव्य]

३ अस्थान अर्थात् अनुचित अवसर पर या शोकादि के अवसर पर।

४ विकृष्ट अर्थात् सुनने में बुरा लगने वाला।

---

१ यत्र साश्रुनेत्र—ग०   २ सास्र—ग०।

३ विक्रुष्ट—ग०।   ४ हासस्थानानि—ध०।

[1]नाटकों में कार्यवश (प्रसगवश) जो हास्य स्थान आते हों उन्हे इसी प्रकार उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों द्वारा प्रस्तुत करना चाहिये ॥ ६१ ॥

[1]इत्येष स्वसमुत्थस्तथा परसमुत्थश्च विज्ञेयः ।

द्विविधास्त्रिप्रकृतिगतस्त्र्यवस्थभावो रसो हास्यः ॥ ६२ ॥

'हास्यरस' दो प्रकार का है (१) आत्म-समुत्थ तथा (२) पर-समुत्थ जो कि (मनुष्यों की) तीन प्रकार की प्रकृति में प्रयुक्त किया जाता है और इस प्रकार (परिगणना के अनुसार कुल) छः प्रकार का हो जाता है[2] ॥ ६२ ॥

---

१ यहां नाटक शब्द से रूपकसामान्य का ग्रहण समझना चाहिए ।

२. हास्य के स्वसमुत्थ से सक्रान्त न होने वाले स्मित, विहसित तथा उपहसित प्रकारो का और परसमुत्थ से तीनो प्रकृतियों के सक्रान्त होने वाले हसित, विहसित तथा अतिहसित प्रकारों का ग्रहण समझना चाहिए । हसितादि से रूप सक्रमण के द्वारा उत्कृष्ट प्रकृति में स्मितादि होते है । रति, शोक, क्रोध आदि का अन्यत्र सक्रमण नही होता यह बात पहिले कही जा चुकी है । वहाँ उनमे (उस प्रकार की चित्तवृत्ति के व्यक्ति मे) जो विभाव विश्रान्ति को प्राप्त करता है वह विभाव हास्य के समान उस चित्तवृत्ति वाले पुरुष से अन्यत्र सक्रमण नही करवाता ।

कुछ आचार्यों ने आत्मस्थ तथा परस्थ सभी रसो के भेद माने हैं और हास्य मे इनका अभिधान उपलक्षण मात्र है ऐसा कहा है परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि हास का अन्यत्र सक्रमण होता है जो अनुभव सिद्ध है । दूसरे व्याख्याकार इस श्लोक की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'तीन प्रकार की प्रकृतियों मे, तीन अवस्था वाला हास्य विभावगत तारतम्य से दो प्रकार का होने पर छ प्रकार हो जाता है यही आत्मस्थ तथा परस्थ भेद से प्रत्येक दो भेद होकर बारह प्रकार का हो जाता है और इन भेदो मे पृथक् पृथक् विभाजन व्यापार होता है ।' यह मत अतिशय विस्तारकारी होने से स्थानाभाव के कारण हम यहाँ विवेचित नहीं कर रहे हैं ।

इति हास्यरसप्रकरणम् ।

---

१ एवमात्मसमुत्थश्च तथा परसमुत्थित । द्विविधस्त्रिप्रकृतिक षड्भेदोऽय रस स्मृत ॥ इति ग-पु० ।

करुणरस

अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः। स च शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघातव्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते। तस्याश्रुपातपरिदेवनमुखशोषणवैवर्ण्यस्रस्तगात्रतानिःश्वासस्मृतिलोपादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगभ्रममोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारत्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादयः। अत्रार्ये भवतः।

अब 'करुणरस' बतलाता हूँ जो कि शोक स्थायी भाव से उत्पन्न

अथ करुणरसप्रकरणम्

१. क्रमानुसार (अवसर उपस्थित होने पर) अब 'अथ करुणो नाम' इत्यादि के द्वारा 'करुणरस' का वर्णन करते हैं। यहाँ 'अथ' शब्द क्रमबोधन के लिये (रखा गया) है। कुछ टीकाकार ऐसा मानते हैं कि 'इस क्रम का कारण यह है कि सम्भोग शृङ्गार मे अङ्गरूप से हास्य की अपेक्षा होने से शृङ्गार के बाद हास्य का निरूपण किया गया और विप्रलम्भ शृगार तथा करुणरस मे व्यभिचारिभावो की समानता होती है इसलिए हास्य के बाद करुणरस को क्रमिक रूप से अवसर प्राप्त हुआ है।' परन्तु यह पूर्वापर विरुद्ध मत है। उद्देश्य विभाग के अवसर पर क्रम का निर्देश किया जाने से तदनुकूल क्रम प्राप्त रस का ही यहाँ वर्णन उपयुक्त है।

श्री शङ्कुक का मत है कि 'ससार मे दयायुक्त हृदय का भाव 'करुण' के नाम से प्रसिद्ध है। यह करुण अपने दृश्यमान रोदन आदि अनुभाव वाले लिङ्गों द्वारा अभिनेता में स्थित शोक को अनुभव करने वाले सामाजिक सहृदयों मे रहने से इसका 'करुण' (यह) सार्थक नाम है।' परन्तु ऐसा कथन पूर्वापर सम्बन्ध को भुला देने का परिणाम है क्योंकि इस मत मे शोक का

---

१ स्पर्शनसयोगा—ख०। २ तस्य चाश्रुपातन—ग०।
३ चिन्तौत्सुक्यावेगमोहश्रम—ग०।

होता है। यह शाप, क्लेश, पतन, प्रियजन वियोग, सम्पत्तिहानि, मृत्यु, (कारागार में) बन्धन, भगदड़, (दुर्भाग्यवश) चोट लग जाना तथा अन्य कष्टों की उपलब्धि होने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अश्रुपात, प्रलाप, मुख का सूख जाना, मुँह का उतर जाना

अनुकरण करने वाली 'करुणा' ही 'करुणरस ठहरती है पर दया तो दूसरों की रक्षा करने की भावना का नाम है और वह शोक का अनुकरण रूप कैसे होगी ? और सामाजिकों की दया किसके प्रति होकर करुणरस की जनक होगी यह स्पष्ट नहीं है अत यह मत अस्वीकार्य है।

वस्तुत पूर्वोक्त युक्ति से साधारणीकरण व्यापार द्वारा सर्वसाधारण रूप से आस्वाद्यमान शोक का नाम करुणरस है। मूल में इसी कारण भरतमुनि ने 'नाम' शब्द का प्रयोग किया है। करुणरस 'शोकप्रभव' है यह शृङ्गार के रतिप्रभव' के समान समझ लेना चाहिए।

मूल मे शाप पद का ग्रहण अशक्य प्रतीकाररूपहेतु का उपलक्षण है अर्थात् शाप कारण क्लेश मे पडे हुए इष्ट जन की जो विप्रयोग आदि दशाएँ होगी उनसे करुणरस की उत्पत्ति होती है। विप्रयोग का अर्थ है वियोग। विभवनाश सर्वविदित है। विद्रव का अर्थ है अपने देश से निर्वासन, यह निर्वासन केवल करुण म ही नहीं परन्तु विप्रलम्भ शृगार मे भी होता है, यही इस प्रसङ्ग मे विशेष उल्लेख्य है। उपघात का अर्थ है अग्नि आदि से मरण।

श्रीशङ्कुक ने जो अग्नि आदि के द्वारा होने वाली हानि को 'विद्रव' तथा चोर आदि के द्वारा किया गया सम्पत्ति नाश 'उपघात' बतलाया यह असगत है, क्योंकि ये सभी कार्य विभवनाश के अन्तर्गत आ जाते हैं। 'व्यसन' का अर्थ है मृगया या जुआ आदि अनर्थजनक कार्यों के साथ सम्बन्ध हो जाना। विभवनाश आदि होने पर भी उत्तम प्रकृति के पुरुष मे आत्मगत शोक उत्पन्न नहीं करते तथा मध्यम और अधम प्रकृति के मनुष्यो मे शोक उत्पन्न करते हैं यही बतलाने के लिए 'आदि' पद का ग्रहण किया गया है। स्वय को, भाग्य को या दूसरे को उलाहना देना 'परिदेवन' है। 'नि श्वास' पद से उसके बाद होने वाले ऊर्ध्वश्वास रूप उच्छ्वास को लक्षित किया गया गया है। 'स्मृतिलोप' शब्द से स्तम्भ तथा प्रलय का (लक्षणो के द्वारा) ग्रहण होता है।

(विवर्ण) शरीर की शिथिलता उसाँसे लेना तथा स्मृति लोप आदि अनुभावों के द्वारा किया जाय। इससे निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य अश्रु तथा स्वर भेद आदि संचारी (तथा सात्विक) भाव होते हैं। इस विषय की दो आर्याएँ हैं–

इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्र[1]वाद्वापि।
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम सम्भवति ॥ ६३ ॥
[2]सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥ ६४ ॥

प्रिय व्यक्ति की मृत्यु[1] अथवा अमंगलकारी समाचार या शब्दों के श्रवण तथा चित्त को आघात पहुँचाने वाले भावों के द्वारा करुणरस उत्पन्न होता है ॥ ६३ ॥

वैवर्ण्य, अश्रु तथा स्वरभेद आदि के सात्विक भावो मे परिगणित करने के बाद यहाँ पुन उनका उल्लेख व्यभिचारिभाव के अन्तर्गत हुआ है। ये सात्विक भाव चित्तवृत्ति रूप ही हैं परन्तु इनका बाहर से प्रकाशित होने के कारण अनुभावरूप मे ग्रहण किया गया है। जैसे कि कहा भी जाता है कि— 'इनका कण्ठ आँसुओ से भर गया है पर आँखो मे आँसू नही दिखलाई देते। इन अश्रु आदि स्थितियो मे सूक्ष्मचित्तवृत्तियो के अभिनय का प्रदर्शन करना इष्ट होने से इनका व्यभिचारि रूप मे बीच मे दो बार कथन किया गया और आगे भी किया जायगा। अतएव एक बार अनुभाव तथा दूसरी बार व्यभिचारिभाव मे कथन होने से यहाँ पुनरुक्ति नही है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए। उन्माद और अपस्मार (सामान्य) व्याधि से भिन्न होते हैं इसे आगे बतलाया जायगा।

१ यहाँ 'वध' शब्द बन्ध आदि का उपलक्षण है। विप्रिय शब्द का अर्थ है इष्टजन के वध आदि के वाक्यों का श्रवण करना [जिससे करुणरस

---

१. संश्रयाद्वा—ग०। २. श्वसनविरुदितैर्मोहोद्गमैश्च—ग०।

मंच पर इसे प्रदर्शित करते समय ज़ोर से रोना, मूर्च्छा, पश्चाताप, विलाप, देह को पटकने तथा पीटने के अनुभावों को प्रस्तुत किया जाय ॥

रौद्ररस[1]

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्य-प्रकृतिः[1] संग्रामहेतुकः। स च क्रोधाधर्षणाधिक्षेपावमानानृतवच[2]-नोपघातवाक्पारुष्याभिद्रोहमात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते[3]। तस्य च ताडनपाटनपीडनच्छेदनप्रहरणाहरण — सम्पातसम्प्रहाररुधिरा-

की उत्पत्ति हो]। अतएव इष्टजन के दृश्यमान या श्रूयमाण विभवनाश आदि को करुणरस के विभाव के रूप में कविजन अङ्कित करें यही आशय है। यहाँ भावशब्द का विभाव अर्थ है।

अनुभाव और (उनके द्वारा) व्यभिचारिभावों को लक्षित करने के लिये दूसरी आर्या दी गयी है। इसमें प्रकृति, देश, काल, दशा, हेतु आदि के भेद से अनुभावादि के अनेक प्रकार होते हैं इसे सूचित करने के लिए बहुवचन दिया गया है। 'मोह' का अर्थ जड़ता है, इससे अन्य व्यभिचारिभाव भी उपलक्षित होते हैं। देह का आयासन अर्थात् शरीर को गिराना या मरोड़ना आदि। अभिघात अर्थात् छाती (आदि) पीटना। ये अनुभाव उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति आदि भेद को दृष्टिगत रखते हुए प्रयुक्त किये जांय।

इति करुणरसप्रकरणम्।

अथ रौद्ररसप्रकरणम्

१ करुणरस के बाद 'रौद्रो नाम' इत्यादि से 'रौद्ररस' का लक्षण बतलाते हैं। यहाँ भी आरक्षशब्द का प्रयोग (मूल में) किया गया है जिसका आशय है कि प्रधानतः किसी अन्यायकारिता के प्रति क्रोध होता है। सामान्यतः लोगों के मन में अन्यायकर्ता के प्रति उग्र भावना होती है और उस आततायी के रुधिरपान तक कर डालने की भावना मन में उठती है और लोग यह कहते भी हैं कि 'यदि ऐसा आततायी पुरुष मिल जाय तो उसका रुधिरपान करने पर भी सन्तोष नहीं होगा।' महाकवि भास ने अपने नाटक में एक स्थान पर कहा भी है कि—

१ मनुष्यप्रभव —ग०   २ नानृतवचनावाक्पारुष्य —ग०।
३ समुपजायते—ग०।

कर्पणाद्यानि कर्माणि[1]। पुनश्च रक्तनयनस्वेदभ्रुकुटीकरणावष्टम्भदन्तौष्ठपीडनगण्डस्फुरणहस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः॥

[2]व्यभिचारिभावाश्चास्या[3]सम्मोहोत्साहावेगामर्षचपलतौग्र्यगर्व-[विकृतेक्षण] [4]स्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्गदादयः।

---

[1]'आज न वह त्रेतायुग है न श्रीराम की प्रियभूमि जानकी है न उनका सा कोमल मन ही। पर आज भी यदि लोग रावण को पा जायें तो उसके तिल के बराबर टुकड़े करने पर भी सन्तुष्ट नहीं होंगे।'

इस प्रकार हास्यरस के समान रौद्ररस के विभाव होने पर भी रौद्ररस का आस्वादन क्रोधमय होता है, अतएव उसके आस्वादन करने पर क्रोधात्मक रौद्ररस होता है, जिन पुरुषों में हिंसाभाव प्रधान रहता है उन्हें 'उद्धत' कहा गया है, अतः उद्धत मनुष्यों का वेष धारण करने वाले अभिनेता इस रस के आस्वादन के हेतु होने से प्रकृति माने जाते हैं।

प्राचीन व्याख्याकारों का मत है कि युद्ध के कारण उद्धत प्रकृति के भीमसेन आदि मनुष्यों में रौद्र की सम्भावना होती है और यह रुधिरपान आदि रूप में परिलक्षित होता है। [मूलस्थ 'सग्रामहेतुक' पद का यही आशय है] राक्षसों और दानवों की प्रकृति स्वभावतः रौद्र होती है [उनमें सग्राम हेतुक रौद्रता नहीं रहती]। यह मत अनुचित है। क्योंकि भीमसेन के द्वारा किया हुआ रुधिरपान युद्ध के कारण नहीं किन्तु उसके विपरीत स्वभाव के कारण किया गया है और उद्धत स्वभाव होने से क्रोध में आकर उन्होंने रुधिरपान की अनुचित प्रतिज्ञा कर डाली थी। उसके निर्वाह के लिये ही वेणीसंहार में ने कवि ने भीम पर राक्षस के आवेश की योजना की। अतः प्रकृत्या क्रोधी होने से ही ऐसा कार्य हुआ है सग्राम के कारण नहीं। और इन्हीं का अनुकरण अभिनेता भी करता है अतः उसमें रौद्ररस पाया जाता है और इसी कारण उसे मनुष्य प्रकृति भी कहा गया है। अतएव सग्राम हेतुक' का अर्थ यह है

---

१ कार्याणि—ग०। २ भ्रुटीकरदन्तौष्ठ—ग०।
३ व्यभिचारिणश्चास्य—ग०। ४ सम्मोह—ग०।
५ स्वेदवेपथु—ग०।

रौद्ररस का क्रोध स्थायीभाव होता है। इसका उद्भव राक्षस, दानव तथा उद्धत प्रकृति के मनुष्यों से संग्राम के द्वारा होता है। यह क्रोध, बलात् खींचना (आघर्षण), दुर्वचन, अपमान, असत्य वचनों द्वारा आरोप, कठोर वचन, द्रोह, मात्सर्य आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसके पीटना, फाड़ना, पीड़ा देना, छेदन, शस्त्रों का (छीनना या) लाना (प्रहरणोहरण) शस्त्रों का फेंकना, शस्त्रों से प्रहार, रुधिर निकलना और इसी प्रकार के अन्य कार्य हैं। इसका अभिनय रक्तनयन, स्वेद प्रसार, भृकुटी चढ़ाना, दाँत और ओठों का चबाना, गालों का फुलाना, हाथों का मसलना आदि अनुभावों द्वारा किया जाय। इसमें मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, स्वेद, कम्पन, रोमांच एवं गद्गद आदि संचारी भाव होते हैं।

१।

कि कवि या नट द्वारा वर्णित या प्रदर्शित संग्राम का 'क्रोध' कुत्सित हेतुक है। संग्राम का उचित हेतु क्रोध नहीं होता यही बतलाने के लिये मूल में कुत्सितार्थक क प्रत्यय लगाया गया है इसीलिए 'युद्ध में प्रधानतः वीररस प्रधान रूप को ही ग्रहण करना चाहिये। [तथा युद्ध में वीररस का उत्साह क्रोध में परिणत होकर रौद्ररस हो सकता है यह भी यहाँ संकेतित किया गया है]।

२

स्वभावतः क्रोधी व्यक्ति को उद्दीपन की अपेक्षा होती है या नहीं इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अपेक्षा होती है। यही बात मूल में 'स च' इत्यादि के द्वारा कही गयी है—क्रोध आदि दूसरों के द्वारा उत्पन्न होना है अतः उद्दीपन की स्थिति आवश्यक या सहज है। 'आघर्षण' का अर्थ है स्त्रियों आदि का अपमान करना। देश जाति, कुल, विद्या तथा कर्म आदि की निन्दा करना या उन पर आक्षेप लगाना 'अधिक्षेप' है। झूठ बात को कहना 'अनृतवचन' है। अपने घर के भृत्यों को पीड़ा देना 'उपघात' कहलाता है। वाणी की कठोरता या मारने की धमकी देना 'वाक्पारुष्य' पद का अर्थ है। 'अभिद्रोह' का अर्थ है—मारने की इच्छा। गुणों में दोष दर्शन 'मात्सर्य' है। आदि शब्द से राज्य के अपहरण आदि को लिया जाता है। उद्दीपन विभाव के रूप में कवि द्वारा प्रस्तुत इन विभावों से 'रौद्ररस' अभिव्यक्त होता है।

अत्राह—यदभिहित 'रक्षोदानवादीनां रौद्रो रस. किमन्येषां नास्ति। उच्यते—अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रस। किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्रा.। कस्मात्। बहुबाहवो बहु मुखा प्रोद्धूतविकीर्णपिङ्गलशिरोजा. रक्तोद्वृत्तविलोचना भीमासित रूपिणश्चैव। यच्च किञ्चित्समारभन्ते[2] स्वभावेन[3] चेष्टितं वागङ्गादिकं तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम्[4] शृङ्गारश्च[5] तै. प्रायशः प्रसभं सेव्यते। तेषां चानुकारिणो[6] ये पुरुषास्तेषामपि संग्रामसम्प्रहारकृतो रौद्रो रसोऽनुमन्तव्यः।

ताडन आदि इसके कार्य हैं तथा नेत्रो की रक्तता आदि अनुभाव हैं यह दोनो अनुभाव रूप होने पर भी दोनो मे भेद प्रदर्शनार्थ यहाँ उन्हे पृथक् कहा गया है। भेद यह है कि ताडन आदि अनुभावो को मच पर प्रत्यक्षत प्रदर्शित नहीं किया जाता है और इनकी केवल वर्णना या वचनमात्र से सूचना दी जाती है। जैसा कि आगे कहा भी है—

> युद्ध राज्यभ्रशो मरण नगरोपरोधनञ्चैव।
> अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकै सविधेयानि ॥ (ना० शा० २०।३८)

[युद्ध, राज्यनाश, मरण, नगर पर घेरा डालना आदि प्रत्यक्षत मच पर प्रदर्शित न किये जाने वाले कार्यों को प्रवेशको के द्वारा सूचित करना चाहिए।]

परन्तु रक्तनयन आदि जो अनुभाव हैं उन्हे मच पर प्रत्यक्षत प्रस्तुत किया जा सकता है। कुछ व्याख्याकारो के मत मे मूल में प्रहरण तथा आहरण का पाठ प्रमादवश आ गया है और इनके विभागो के पृथक् कथन का प्रयोजन महत्त्वपूर्ण नही है।

यहाँ इसका अभिप्राय यह है कि राक्षस, दानव तथा उद्धत प्रकृति के

---

१ राक्षसादीनां——च०। २ समारभन्ते—ग०।
३ स्वभाव चेष्टित—ग०। ४ रौद्रमेवेति—ग०।
५ वाक्यमेतन्नोपलक्ष्यते—ग–पु०। ६ चानुगामिनो—ग०।
७ तेषामपि सम्प्रहारकृतो—ग०।

(प्रश्न)—यदि राक्षस दानव आदि में रौद्ररस होता है तो क्या वह अन्य व्यक्तियों में नहीं होता ?

(उत्तर)—हाँ यह अन्य व्यक्तियों में भी उत्पन्न हो सकता है परन्तु राक्षस आदि को विशेष रूप से यहाँ इस रस का अधिकारी माना गया है।

मनुष्य उद्दीपक कारणों के बिना भी जो सामान्य चेष्टाएँ या कार्य करते हैं [यहाँ तक कि नर्मगोष्ठी के वार्तालाप तक उनमें ताडन आदि की प्रमुखता रहती है। यही बात आगे 'यच्च किञ्चित् समारभन्ते' इत्यादि से कही जायगी। इसी कारण ताडनादग्रस्त पुरुष में उद्दीपन के होने पर रक्तनयन आदि और अधिक हो जाते हैं यही बात 'पुनः' शब्द से कही गयी है।

शरीर के ऊपरी तले पर चोट करना 'ताडन' है। 'पाटन' का अर्थ है दो टुकड़े कर डालना। 'पीडन' का अर्थ है दबाना या मलना। 'छेदन' का अर्थ काटना और 'भेदन' का अर्थ एक दूसरे को अलग करना है। इन शब्दों में भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय किया गया है। शस्त्रों का सभी ओर से प्रहार करना 'प्रहरणाहरण' है। शस्त्रों का ऐसा प्रहार करना जिससे कोई अंग विदीर्ण न हो 'सम्प्रहार' कहलाता है और शरीर का शस्त्र प्रहार से विदीर्ण होना 'पातन' है, इससे रक्तस्राव भी होता है [अंग भंग नहीं]। राक्षस आदि परस्पर परिहास के समय भी प्रहार करते हैं पर इससे रक्त निकलता है [अङ्ग-भङ्ग नहीं होता]।

'रक्तनयन' का अर्थ है लाल आँखें हो जाना। भौंहों का नीचे से ऊपर को उठना 'भ्रुकुटी' कहलाती है। दाँत और ओठों का पीडन अर्थात् दाँतों से ओठों का दबाना 'पीडन' कहलाता है और दोनों हाथों के अगले भागों को एक दूसरे के द्वारा मसलना 'सङ्घर्ष' कहलाता है।

मूल में दिये गये 'भाव' शब्द से व्यभिचारिभाव का ग्रहण होता है। 'असम्मोह' को सम्मोह के विपरीत परिज्ञान के अर्थ में लिया गया है। यहाँ विरोध में 'नञ्' का प्रयोग है (अर्थात् 'न सम्मोहः' असम्मोहः सम्मोहविपरीत इत्यर्थः) सम्मोह में रहने वाला अर्थात् उससे असगृहीत ज्ञान या सम्यक् ज्ञान 'असम्मोह' है। यहाँ क्रोध के प्रधान रूप से अनुभव या आस्वाद्य होने के कारण (वीर रस का स्थायी भाव स्वरूप) उत्साह व्यभिचारिभाव है। विष के स्पर्श या ज्वरादि के कारण आभ्यन्तर या आन्तरिक भाव के बिना भी बाह्य स्वेद

इसका कारण यह है कि वे स्वभावतः रौद्र स्वरूपवाले हुआ करते हैं, क्योंकि उनकी अनेक भुजायें एवं अनेक मुख होते हैं, वे चारों ओर बिखरे हुए अपने पीले केशों, लाल और घूमते हुए नेत्रों तथा काले वर्ण वाले होने से भयङ्कर होते हैं। (इसके अतिरिक्त उनके जो भी कार्य, सम्भाषण तथा

आदि देखे जाने से ये व्यभिचारिभाव हैं, ये अव्यक्त होने पर आन्तर (सात्विक) भाव कहे जाकर पङ्खा आदि के ग्रहण करने आदि क्रियाओं के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। यहाँ बाह्य स्वेदादि से प्रकट रूप में दिखाई देने वाले (सात्विक-भाव) व्यभिचारिभाव के रूप में कहे गये हैं।

राक्षस आदि में ही रौद्ररस की स्थिति मानने पर (फिर) मनुष्यों में उसकी स्थिति नहीं रहनी चाहिए ऐसी आशंका से पूर्वपक्षी 'यदभिहितम' इत्यादि से अपना प्रस्तुत करता है कि जो रौद्ररस राक्षस आदि में बतलाया गया है वह क्या मनुष्यों में नहीं होता ? उत्तर में भरत ने बतलाया कि मानवादि में रौद्ररस की स्थिति होती है यही बतलाने के लिए मूल में 'अन्येषा' पद दिया गया है। 'अन्य' शब्द का आशय है कवि या अभिनेता के द्वारा राक्षस आदि के अनुकरण कर्त्ता मनुष्य (जो राक्षस आदि के कार्यों का अनुकरण कर रौद्ररस की अभिव्यक्ति करते हैं) है। 'अधिकार' शब्द का अर्थ यहाँ 'अनुवृत्ति' (प्रवृत्ति) है। स्वभाव शब्द के बाद 'एव' पद के प्रयोग से राक्षस आदि में रौद्ररस अवश्य रहता है यह भाव अयोग व्यवच्छेदक से सूचित किया गया है। 'स्वभावत' का अर्थ है उनका अपना स्वरूप (भाव) अतएव उनमें आङ्गिक रौद्ररस का वर्णन (भी) उचित होता है अन्यथा लाल आँखें इत्यादि से स्वाभाविक रौद्र का ही अभिनय होगा अनेक बाहु मुखादि के द्वारा आङ्गिक रौद्र का अभिनय नहीं होगा।

(प्रश्न) अपने सेवक आदि के प्रति राक्षस आदि सदा क्रुद्ध नहीं देखे जाते फिर उन्हें स्वभाव रौद्र क्यों कहा गया ? (उत्तर) उनका आकार लोक प्रसिद्ध मनुष्यादि के आकार से भिन्न होता है यही मूल में 'बहुबाहव' से उत्तर दिया है और 'बहुबाहव' होने का कारण कोई तपश्चर्या या कोई इष्टकर्म होता है, जिसका उद्देश्य दूसरे (शत्रु आदि) का नाश करना होता है। इसी कारण राक्षस आदि स्वाभाविक रूप में भी क्रोधात्मक आशय से युक्त प्रतीत होते हैं और उनसे सामाजिकों को रौद्ररस का ही आस्वादन होता है।

शारीरिक चेष्टायें होती हैं वे भी प्रकृत्या रौद्र (ही) होती हैं। इसलिए सरलता पूर्वक यही मानना उचित है कि जो इनके अनुकर्ता पुरुष हों उनके युद्ध तथा प्रहार आदि से विहित रौद्र-रस उत्पन्न होता है।)

और इन्हों उपर्युक्त कारणों से उनमें राग के समान क्रोध के अवसर पर जो रक्तनेत्र आदि लक्षण दिखलायी देते हैं वे सहज होने से सदैव विद्यमान रहते हैं उनके नेत्र लाल और चढ़ी हुई पुतलियों वाले होते हैं और उनका रूप भी सदा काला और अत्यन्त भयानक होता है। इस प्रकार केवल उनका शरीर ही क्रूर नहीं होता किन्तु उनके दृश्यमान कार्य भी रौद्ररस का आस्वादन करवाने वाले होते हैं इसे मूल में—'यस्वेति' इत्यादि से बतलाया गया है। 'स्वभावेन' पद से चित्त में क्रोधजन्य विकार न होने पर भी उनका वाचिक या कायिक व्यापार क्रोधात्मक का ताडन आदि प्रधान होता है और इसलिए काव्य या नाट्य में वर्णन या प्रदर्शन होने पर वह रौद्ररस के आस्वादन का कारण हो जाता है। 'वागङ्गादिक' का अर्थ है—ऐसे वाचिक तथा कायिक व्यापार जिनके कारण वाणी या शरीर हो—का रौद्ररस प्रधान हो जाना स्वाभाविक है। प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण मानस व्यापार का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया (पर वह भी रौद्ररस प्रधान होता है यह मानना चाहिए)।

यहाँ मूल में 'सर्वमिति' के द्वारा कहे गये विषय को 'शृंगारश्च' इत्यादि से स्पष्ट किया जाता है। शृङ्गार शब्द से यहाँ उसके प्रमदा, उद्यान आदि विभावों का ग्रहण होता है। उनका भी ये बलात् अर्थात् भयङ्कर आकार के द्वारा ही उपभोग करते हैं। जिस शृंगार में उग्रता का निषेध हो उसे भी जब क्रूरता या उत्तेजना वश सेवन करते हैं तो फिर दूसरों की तो बात ही क्या है यही 'च' शब्द का तात्पर्य है और 'प्रायश' शब्द से यह सूचित किया गया है कि कभी कभी अनुनय से भी ये शृङ्गार-रस का उपभोग करते हैं।

'तो फिर उद्धत पुरुषों में रौद्र आदि आवेश (विकार) कैसे उत्पन्न होते है ? क्योंकि व तो अनेक बाहु आदि से युक्त नहीं होते हैं ?) ऐसी आशङ्का के समाधानार्थ मूल में 'तेषाञ्च' इत्यादि से कहा गया है। अर्थात् उन राक्षसों के कार्य, प्रकृति आदि का अनुकरण करने वाले मनुष्य भी तामसप्रकृति के कारण उन्हीं के समान समझे जाने चाहिए।

और वे जो स्वाभाविक रूप में वाचिक या आंगिक व्यापार प्रारम्भ करते हैं वे भी रौद्र ही होते हैं। ये शृङ्गार का भी बलात्कारपूर्वक सेवन करते हैं। इनकी चाटुकारिता, सेवा या स्तुति करने वाले जो मनुष्य हों उनमें भी युद्ध तथा चोट करने की वृत्ति के सहज (कारणीभूत) होने से रौद्ररस मान लेना चाहिए।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः

[1]युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव ।
संग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः[2] सञ्जायते रौद्रः ॥ ६५ ॥
नानाप्रहरणमोक्षैः शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः[3] प्रयोक्तव्यः ॥ ६६ ॥

उनमें रौद्ररस कैसे होता है इसे 'संग्राम' आदि से कहते हैं। 'सम्प्रहार' पद से पूर्वोक्त ताडन तथा पाटन आदि का ग्रहण होता है। इसलिये बहुबाहुत्व आदि के न होने पर भी उद्धत मनुष्य क्रोध के उपयुक्त वाचिक तथा शारीरिक व्यापार से रौद्रस्वभाव ही हो जाते हैं यह सूचित किया गया है। इस प्रकार राक्षस तथा दानव आदि में रौद्ररस का अयोग व्यवच्छेद निश्चित होता है पर अश्वत्थामा, परशुराम आदि इन उद्धत प्रकृति के पुरुषों से भिन्न वीर रस प्रधान हैं। इनमें कारण विशेष से रौद्ररस के अनुकूल क्रोध पाया जाने पर भी उसका नित्य सम्बन्ध नहीं होता। और राक्षस आदि से भी विभिन्न कारणों से क्रोधाभिनय के समय में क्रोधाभिनय करने वाले हास्य, करुण आदि का भी प्रदर्शन देखा जाता है अतः इनमें केवल रौद्ररस ही रहता है यह नहीं कहा जा सकता है।

(प्रश्न) तो फिर इस प्रकार के (रूप तथा स्वभाव वाले) राक्षस आदि को देखकर सामाजिकों को क्रोधात्मक आस्वाद की प्रतीति कैसे होती है ? (उत्तर) हृदय संवाद (तादात्मक) ही आस्वाद रूप होता है तथा क्रोध में तामस प्रकृति वाले सामाजिकों का ही तादात्म्य होता है, अतः वे अन्याय करने वाले के विषय में क्रोध का (रौद्ररस के रूप में) आस्वादन करते हैं, अतएव इसमें दोष नहीं माना जायगा।

---

१ सत्वप्रहार—ग०, युद्धप्रहारपातन—ख० ।
२ सम्भ्रमोत्थै—ग० । ३. शेषैस्तस्याभि—ध० ।

इस विषय में ये अनुवंशीय आर्याएँ हैं :—

रौद्ररस युद्ध, प्रहार, चोट, विकार,[1] छेदन, विदारण, (युद्ध में) त्वरित व्यापार (अथवा घबडाहट) आदि के द्वारा प्रकट होता है ॥ ६५ ॥

इसके अभिनय में अनेक शस्त्र प्रहार, सिर, भुजायें तथा धड काटना तथा इसी प्रकार अन्य विशेष कार्यों द्वारा किया गया कार्य उपयुक्त होता है ॥ ६६ ॥

इति रौद्ररसो रौद्रवागङ्गचेष्टितः ।
[1]शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार उग्र वाचिक तथा कायिक व्यापारों से युक्त शस्त्रप्रहार की मात्रागत अधिकता लिए हुए और भयानक (कार्य और) क्रियाओं से परिपूर्ण रौद्ररस देखा जाता है ॥ ६७ ॥

---

१ 'विकृतच्छेदन' का अर्थ है अङ्गहीन करना आदि। युद्ध' पद से दूसरों के द्वारा किये गये छेदनादि व्यापार का औचित्य सूचित होता है। इसीलिये युद्ध आदि के प्रसङ्ग में अनुमित के आधार पर अन्य व्यक्तियों के क्रोधादि का विभावत्व सूचित होता है। 'संग्राम सम्भ्रम' का आशय है शस्त्र के ग्रहण करने में शीघ्रता करना।

(दूसरी आर्या में 'नाना' इत्यादि से अनुभाव को बतलाते हैं।) यहाँ 'नानाप्रहण' पद के द्वारा रौद्ररस में मारण की प्रमुखता बतलायी गयी है और क्रोधातिशय के कारण युद्धस्थल पर मृतशत्रु के मस्तक काटने आदि की सूचना से रौद्र का वीररस से भेद दिखलाया गया है, क्योंकि युद्धवीर में ऐसा कार्य नहीं होता है। रौद्ररस में मृतशरीर के शिरच्छेदन आदि कार्य को 'उप॰ कर्मक्रियात्मक' के द्वारा कहा गया है, क्योंकि रौद्ररस में क्रोधावेश में आकर उपकर्म अर्थात् शत्रु के मस्तकच्छेदन आदि भयङ्कर कार्यों से (अथात् उनकी अभिनय क्रिया से) पूर्ण 'रौद्र' रस अभिव्यक्त होता है।

इति रौद्ररसप्रकरणम् ।

१ प्रहरणसङ्कुलशिर —ग०

वीररस[1]

अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः। स चासंमोहाध्यवसाय-न'यबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य स्थैर्यधैर्यशौर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। भावाश्चास्य[2] धृति-मति-गर्वावेगौग्र्यामर्षस्मृतिरोमाञ्चप्रतिबोधादयः।

अत्रार्ये[3] [रसविचारमुखे]—

वीररस उत्तम प्रकृति के पुरुषों में अवस्थित तथा उत्साह स्थायीभाव

अथ वीररसप्रकरणम्

१. (अथ) क्रम प्राप्त वीररस का लक्षण बतलाते हैं :—

रौद्ररस के समान युद्धवीर मे भी सग्राम, सम्प्रहार आदि रहते हैं इसी कारण रौद्ररस के पश्चात् वीररस का क्रम निर्धारित किया गया है और इसी आनन्तर्य को मूल मे 'अथ' शब्द के द्वारा कहा गया है। उत्साह उत्तमजन की प्रकृति या स्वभाव होने से उत्साह स्थायीभाव वाला वीररस (भी) उत्तम प्रकृति है। अथवा काव्य या नाट्य मे स्थित उत्तम प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण इसे 'उत्तम प्रकृति' समझना चाहिये। क्योकि उत्तम वर्णों का उत्साह सर्वत्र आस्वाद्य होता है। (नाट्य व काव्य मे) चार प्रकार के नायको को धीर शब्द के अनुगत कहा गया है (जैसे 'धीरोदात्त' इत्यादि।) इन वर्णों मे प्राय सभी उत्साहवान् होते हैं किन्तु जिनका वर्णन कवि द्वारा विवक्षित नही उनके चरित्र का वर्णन नही होता।

जिनका चरित्र किसी उपदेश या आदर्श को प्रकट करने के योग्य होता है उनके उत्साह की अभिव्यक्ति उचित अवसर पर होती है, और अवसर का औचित्य असम्मोह आदि दशायें हैं इसलिए ये ही विभाव रूप मे यहाँ कही गयी हैं। 'असम्मोहाध्यवसाय' का अर्थ है, निर्भ्रान्त वस्तु के तत्व का निश्चय, जिससे मनुष्य की विचार शक्ति को प्रकट किया गया है।

---

१. नयविनयबहुल—ग०।   २ सञ्चारिभावा—ग०।

३. *अत्रानुवश्य आर्ये भवत :*

वाला होता है। यह प्रत्युत्पन्न-मतित्व, असम्मोह, अध्यवसाय, नीति(विनय), बल (सैन्य), पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग, चातुर्य आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसमें धृति; मति, गर्व, आवेग, औग्र्य, अमर्ष, स्मृति, रोमांच आदि संचारी तथा सात्त्विक भाव होते हैं।

(प्रश्न) यदि 'असम्मोहाध्यवसाय' को उत्साह का कारण माना जाय तो फिर रावणादि में असद्वस्तुविषयकआग्रह रूप सम्मोह ही उत्साह का जनक देखा गया है (अतः असम्मोहादि को उत्साह का कारण कैसे माना जा सकता है) (उत्तर) यह कथन ग्रन्थकार के शब्दों से भिन्न होने के कारण इष्ट नहीं है (क्योंकि 'असम्मोहाऽध्यवसाय' को ही उत्साह का जनक माना गया है, सम्मोह को नहीं) और जिस सम्मोह को उत्साहजनकत्व (आप) समझ रहे हैं वहाँ भी पराक्रम और नीति आदि उत्साह के जनक विद्यमान होने से वे ही विभाव हैं [अर्थात् ऐसी दशा में सम्मोह के स्थान पर पराक्रम तथा नीति आदि विभाव होते हैं]।

नीति में सन्धि आदि, छः गुणों का उचित प्रयोग 'नय' कहलाता है। इन्द्रियों का नियमन या विजय 'विनय' है। जिसमें हाथी, घोड़े तथा पैदल सैन्य सम्मिलित हो वह सेना 'बल' है। शत्रुसैन्य को आक्रमण कर पराजित कर देना 'पराक्रम' है। यहाँ 'शक्ति का अर्थ है युद्ध आदि का सामर्थ्य। शत्रु को सन्तप्त करने वाली प्रसिद्धि 'प्रताप' है। कुलमर्यादा, सम्पत्ति तथा मन्त्रि आदि की पूर्णता 'प्रभाव' कहलाता है। मूल में दिये गये 'आदि' शब्द से यश आदि को लेना चाहिये। सब मिल कर ही वीररस के जनक 'विभाव' कहलाते है। उत्तम पुरुषों में इनमें से कोई कभी अधिक या न्यून हो सकता है।

इसका वास्तविक उदाहरण श्रीराम का समग्रचरित है। जिन नाटकों में नायक अपने मन्त्रि पर आश्रित रहे तो मन्त्रि में भी ये गुण रखे (माने) जा सकते हैं और प्रतिनायक में ये गुण रहने पर भी उत्साह के व्यञ्जक हो सकते हैं। अतएव कवि को अलग अलग गुणों वाले तथा सम्मिलित गुणों वाले विभिन्न चरित्रों (चरितों वाले पात्रों) की स्वयं यथोचित कल्पना कर लेना चाहिए।

'स्थैर्य' का अर्थ है अविचल रहना। गम्भीरता के कारण अपने मानसिक भावों का आच्छादन करना 'धैर्य' है। युद्ध आदि की क्रिया 'शौर्य' और दान

उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयान्मोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ॥ ६८ ॥
[1]स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेय ॥ ६९ ॥

इस विषय में ये (दो) आनुवशीय आर्यायें हैं :—

अध्यवसाय, विषाद, विस्मय एवं मोह शून्यता, सतर्कता तथा इसी प्रकार के अन्य विशिष्ट अर्थों के द्वारा उत्साहात्मा वीररस उत्पन्न होता है ॥ ६८ ॥

देना 'त्याग' है। साम, दान आदि चारो उपायो का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना 'वैशारद्य' है।

धर्मादि रूप विभिन्न पुरुषार्थों को लक्ष्य म रखते हुए विषाद, विस्मय तथा मोह से रहित होकर अध्यवसाय रूप जो निश्चय होता है वह उत्साह का जनक होने से 'उत्साह कहलाता है और यही वीररस का स्थायीभाव माना जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि आपद्ग्रस्तता, अल्पसन्तोष तथा मिथ्याज्ञान को छोडकर जो तत्व सम्बन्धी निश्चय किया जाता है उनमे उत्साह मूलत मुख्य कारण होता है और रौद्ररस मे तमोगुण को प्रमुखता होने से, अनुचित तथा अशास्त्रीय बन्धनादि होने से वहाँ मोह तथा विस्मय की ही प्रधानता होती है यही पार्थक्य है।

'स्थिति' का अर्थ स्थिरता है। 'वीर्य' का अर्थ है शौर्य। 'गर्व' पद से वीररस के अनुभावो का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। 'उत्साह पद से निर्बल या निराश पुरुष को उत्साह देना उत्तेजित करना अभिप्रेत है, जैसे सेतुबन्ध में है। दूसरे (शत्रु) पर आक्रमण करना 'पराक्रम' है। युद्ध मे सैनिको को काय बतलाते नियोजित करना तथा सैन्यसचालन 'प्रभाव सम्पादन समझना चाहिये। शत्रु पर अन्यथा आरोप करना 'आक्षेप कहलाता है। ऐसे आक्षेपपूर्ण वचनो के कथन से भी वीररस की उत्पत्ति होती है (और इससे आक्षेप वचनो के अर्थों की गम्भीर और दुर्ज्ञेय होने की सूचना भी मिलती है।)

इति वीररसप्रकरणम्।

---

१ स्मृति धैर्यवीर्यशौर्योत्साह—

इस वीररस का अभिनय स्थिरता, धैर्य, वीर्य, गर्व, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव तथा आक्षेपपूर्ण कथोपकथन द्वारा किया जाय ॥ ६९ ॥

भयानक रस

अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः। स च विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारार[1]ण्यगमनस्वजनवधबन्धदर्शनश्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य प्रवेपितकरचरणनयनचपलपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः॥

व्यभिचारिभावाश्चास्य[2], स्तम्भस्वेदगद्गदरोमाञ्चवेपथुस्वरभेदवैवर्ण्यशङ्कामोहदैन्यावेग[3]चापलजडतात्रासापस्मारमरणादयः।

अथ भयानकरस प्रकरणम

भयभीत पुरुष को मुख्यरूप से अभयप्रदान करने वाला वीररस होता है अत उसी के बाद क्रमश भयानक रस आता है। इसका 'अथ' इत्यादि से स्वरूप बतलाते हैं —'विकृतरव' अर्थात् अट्टहासादि शब्द, सत्त्वों का अर्थात् भूत, प्रेत, पिशाच आदि का दिखलाई देना। दूसरे मे स्थित भय और घबराहट भी भयानक रस के कारण होते है। शून्य गृह या शून्यवन मे पहुँचना, अपने सम्बन्धियो का वध या बन्धन प्रत्यक्षत देखना या उसका किसी के द्वारा श्रवण करना। 'कथादि' का आशय है कि स्वजन की बीती घटनाओ के पुन श्चिन्तन या स्मरण होने आदि कारणोसे भी भयानकरस की उत्पत्ति होती है।

'प्रवेपित' का अर्थ है हाथ पैर का कांपने लगना, आदि कर्म से व्याधि आदि मे होने वाले कम्प के भिन्नत्व की सूचना द्वारा यहाँ भय की व्यञ्जकता बतलायी है। पुलक का अर्थ है रोंगटे खडे हो जाना। स्वर का भेद अर्थात् स्वर का (स्वाभाविक) परिवर्तन हो जाना भय के अनुभाव है।

प्रथम आर्या म दिये गये गुरु तथा नृत्य इत्यादि शब्दो का आशय यह है कि स्त्री, नीच तथा बालक आदि मे सहज भय होना है यह आगे कहेंगे पर

---

१ रण्यप्रवेश—घ०। २ भावाश्चास्य—ग०।
३ वेगचापलत्रासापस्मार—ग०।

आनुवंश्या अत्रार्याः भवन्ति—

भयानक रस का स्थायीभाव भय होता है। यह (अट्टहासादि) विकृत-शब्द, हिंसक-जन्तुओं के दर्शन (शब्द तथा रुदन), सियार तथा उल्लू के (या पिशाच, भूत, प्रेत आदि के) द्वारा त्रास, उद्वेग, शून्य अरण्य एवं गृह में प्रवेश, आत्मीय व्यक्ति के वध तथा बन्धन का दर्शन श्रवण तथा कथन आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय धूजते हुए हाथ पैर तथा फड़कते हुए नेत्रों, रोमांच, मुँह का उत्तर जाना तथा स्वरभेद आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसमें स्तम्भ, स्वेद, गद्‌गद हो जाना, रोमाञ्च, वेपथु, स्वरभेद, वैवर्ण्य, शङ्का, मोह, दैन्य, आवेग, जडता, त्रास, अपस्मार तथा मरण आदि सञ्चारी (तथा सात्त्विक) भाव होते हैं।

इस विषय में ये आनुवंशीय आर्याएँ हैं :—

विकृतरवसत्त्वदर्शनसंग्रामारण्यशून्यगृहगमनात्।
गुरुनृपयोरपराधात्कृतकश्च भयानको ज्ञेयः॥ ७० ॥

उत्तम तथा मध्यम प्रकृति (के पुरुषों) में यह स्वाभाविक नहीं होता, परन्तु उन्हें भी गुरु तथा राजा से भय दिखलाना पड़ता है एवं उस भय के होने पर भी उनका उत्तमत्व रहता ही है तथा राजा से भयभीत होने के द्वारा मन्त्रियों का अप्रभुत्व या विनय ही सूचित होता है। जैसे रत्नावली में—'स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तुः (र० १।७) ['स्वेच्छाचार करते हुए मुझे स्वामी से भय लगता है'] इत्यादि मन्त्री ने कहा है।

यहाँ उपर्युक्त भावना से ऐसे सुसंगत रूप से कार्य (अनुभाव) किये जाते हैं जिससे गुरु आदि को यह प्रतीति हो जाय कि यह सचमुच डर रहा है। अस्वाभाविकता रहने से इसे कृत्रिम (कृतक) भाव कहा गया है। यह भाव बहुत समय तक विद्यमान रहकर आस्वादयोग्य होने के कारण 'भयानकरस' कहलाता है। यहाँ 'भय' सञ्चारी (या व्यभिचारिभाव) नहीं है क्योंकि व्यभिचारिभाव तो तभी होगा जब वह स्वभावतः क्षणस्थायी हो (पर भय वैसा नहीं है, अतः वह व्यभिचारिभाव नहीं किन्तु स्थायी है।)

गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः।
सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम् ॥ ७१ ॥
परतस्त्वभावजं स्यात्सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्तव्यम्।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैः कार्यम् ॥ ७२ ॥

गात्रमुख इत्यादि कारिका से अब अनुभावों का उल्लेख करते हैं। गात्र का अर्थ है—मुख और दृष्टि आदि का भेद उनके रंग (कार्य) और स्थिति आदि में परिवर्तन हो जाना। 'अभिवीक्षण' का अर्थ है—भय के कारण इधर उधर देखने लगना जिसमें किसी एक स्थान पर चक्षु नहीं ठहरते हों। 'उद्वेग' का अर्थ है—विचलित हो जाना। 'साद' का अर्थ है—अंगों का सुन्न या शिथिल हो जाना। मुखशोषण का तात्पर्य है तालु का सूख जाना। 'हृदय-स्पन्दन' का अर्थ है हृदय की गति का (वेग) बढ़ जाना। 'भयम्' का सम्बन्ध वीररस की आर्या में प्रयुक्त पद 'अभिनेयम्' क्रियापद से लेकर अर्थ होगा। इसका कारण यह है कि ये आर्यायें आचार्यों ने भयानकरस के साथ वीररस के लक्षण को लिखते हुए एक साथ पढ़ी थी, जिन्हें भरतमुनि ने उचित स्थान पर समाविष्ट कर दिया। अतः 'अभिनेयम्' क्रियापद का दोनों वर्ण्य रसों के साथ अन्वय करना उचित है।

परतस्त्वभावजम्—इत्यादि। यहाँ सत्व' शब्द का अर्थ है मन की आन्तरिक दशा। उससे उत्पन्न भय 'सत्वसमुत्थ' होता है। अभिनयादि का निर्देश यहाँ केवल नट के लिए ही नहीं किन्तु दर्शक, सामाजिक आदि सभी के लिए है ऐसी शङ्कुक आदि प्राचीन टीकाकारों की व्याख्या है परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं क्योंकि यह सारा प्रकरण (तथा नाट्यशास्त्र भी) कवि तथा अभिनेताओं के शिक्षण के हेतु ही निर्मित है। और विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी आदि का व्यवहार लोक में नहीं होता अतः स्पष्ट है कि इनकी योजना रसबोध के लिए होती है और लोकजीवन में उनकी समानता नहीं मिल सकती। 'स्वाभाविक' आदि का आशय यह है कि स्वाभाविक भय राजस और तामस प्रकृति के अर्थात् नीच प्रकृति के व्यक्तियों में होता है पर जो सात्त्विक प्रकृति के व्यक्ति हैं उनमें स्वाभाविक भय नहीं रहता किन्तु मनःकल्पित या प्रयत्नकृत भय होता है। इसका अभिनय भी इन्हीं वर्णित

करचरणवेपथुस्तम्भगात्रसंकोचहृदयकम्पेन[1] ।
शुष्कोष्ठ तालु कण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेय ॥ ७३ ॥

विकृत शब्द, भयङ्कर जन्तुओं के दर्शन, युद्ध, अरण्य एवं सूने घरों में जाने तथा गुरुजन एवं राजा के अपराध आदि हो जाने के कारण भयानक रस उत्पन्न होता है ॥ ७० ॥

शरीर (हाथ (पैर आदि) के अवयवों, मुख तथा नेत्रों के परिवर्तन, पिण्डलियों के जड होने, चारों ओर देखने, उद्विग्न होने, झुके हुए मुँह के

अनुभावों के द्वारा किया जाए किन्तु चेष्टायें थोडी मृदु रहनी चाहिए क्योंकि यह 'कृत्रिम भय' है। यहाँ 'पुन' शब्द से सहज और कृत्रिम भय म भेद निर्दशित किया गया है।

(प्रश्न) शक्तिशाली होने पर भी राजा आदि गुरु आदि से कृत्रिम भय क्या दिखलाते हैं ? और भय दिखलाने पर मृदु गात्रकम्पन आदि को क्यो प्रकट करते हैं ? और केवल भयानकरस को ही कृत्रिम क्यो कहा गया जब कि इस प्रकार सभी रस कृत्रिम हो सकते हैं। जैसे कि वेश्या धन की अभिलाषा से कृत्रिम प्रेम प्रदर्शित करती है। ऐसी आशङ्काओ का एक सामान्य उत्तर यह है कि 'इसका इसी प्रकार अभिनय करना चाहिए।' क्योंकि अपने गुरु के सम्मुख भय प्रदर्शित करने पर राजा को गुरु विनयशील मानते हैं। और यह भय मृदु चेष्टाओ के द्वारा प्रस्तुत या प्रदर्शित करने पर उसे अधम प्रकृति का नही समझा जाता। कृत्रिम शृङ्गार के प्रसङ्ग म कहा गया है कि वेश्या विषयक रति से पुरुषार्थ की सिद्धि वेश्यासक्तो को नही होती। पर यहाँ उक्त प्रकार के कार्य से प्रयोजन या पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। पर जहाँ दूसरो पर अनुग्रहार्थ राजा कृत्रिम क्रोध आदि को प्रदर्शित करे वहाँ चिरकाल तक स्थित न होने के कारण वह व्यभिचारिभाव समझना चाहिए।

इसी अर्थ को बतलाने के लिए अपनी गुरु एवं वंश परम्परा मे प्रसिद्ध 'करचरण इत्यादि आर्या को भरत यहाँ प्रस्तुत करते हैं। यहाँ नृप' पद से भय क स्वाभाविक (अकृत्रिम) तथा कृत्रिम होने पर एक ही प्रकार से अभिनय किया जाने का आशय प्रकट होना है।

इति भयानकरसप्रकरणम्।

---

१ हृदयप्रकम्पेन—ग०

सूखने, हृदय के धडकने तथा रोमाच आदि से 'भय' अभिनीत होता है।

यह स्वाभाविक भय का लक्षण है। किसी हिंसक पशु के देखने से उत्पन्न भय भी ऐसा ही होता है अथवा सात्विक भावों से प्रकट होने वाला भय भी इसी प्रकार प्रकट किया जाना चाहिए तथा इन्हीं भावों से बनावटी 'भय' का प्रदर्शन भी होता है, परन्तु उसमें चेष्टाएँ थोडी हल्की (मृदु) होती हैं ॥ ७२ ॥

भयानक रस का अभिनय हाथ-पैरों के कम्पन, शरीर के स्तम्भन तथा सकोच, हृदय के कम्पन, तालु के शोषण तथा ओष्ठ और हृदय के कम्पन के द्वारा किया जाय ॥ ७३ ॥

बीभत्सरस

अथ बीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मक.। स चाहृद्या [प्रशस्ता] [1]प्रियाचोष्यानिष्टश्रवणदर्शनोद्वेजन[2] [परि] कीर्तनादिभि र्विभावैरुत्पद्यते। तस्य च [3]सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणनोल्लेखन निष्ठीवनो-द्वेजनादिभिरनुभावैरभिनय. प्रयोक्तव्य भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगा[4]-वेगमोहव्याधिमरणादयः। अत्रानुवंश्ये आर्ये भवत.—

अथ बीभत्सरस प्रकरणम्

अब अवसर प्राप्त 'बीभत्सरस का लक्षण 'अथ इत्यादि से करते हैं।

अहृद्य' का अर्थ है अग्राह्य। कोई वस्तु शुद्ध होने पर भी दूसरों के लिए स्वभाव स ही अत्यन्त अप्रिय [अग्राह्य] होती है, जैसे ब्राह्मणों के लिए लहसुन। धातुदोष अर्थात् वात, पित्त या कफ के कुपित होने पर भी कुछ वस्तुएँ अप्रिय लगती हैं। 'अचोष्य' का अर्थ है—अपने स्वरूप से दुष्ट न होने पर भी मलादि से सक्त। 'अनिष्ट' का अर्थ है—जिसक निरन्तर सेवन से अधिक सेवन की इच्छा न रहना। सर्वाङ्ग सहार अर्थात उनको एकत्र करना या सिकोडना। 'मुखविकूणन अर्थात् मुख के अवयव नाक, भौंहें आदि को सिकोडना। 'उल्लेखन' का अर्थ वमन करना है। कफ का थूकना 'निष्ठीवन' है तथा उद्वेजन का अर्थ है शरीर को हिलाना।

१ प्रियावेक्षा—ग० प्रियाचोक्षा—घ०। २ दशनपरिकीर्तनादि-ग०।
३ सर्वाङ्गहारमुखनेत्रविघूर्णन हृल्लेखनिष्ठीवन—ग०।
४ स्यापस्मारावेग—घ०।

(गद्य भाग) अब बीभत्सरस बतलाते हैं। इसका 'जुगुप्सा' स्थायी भाव होता है। यह असुन्दर एवं अप्रिय पदार्थों के अवलोकन, अनिष्ट वस्तु के दर्शन तथा कथन आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सभी अङ्गों के सङ्कोच, मुख को सिकोडने, घुमाने, ऊपर की ओर ले जाने और थूकने तथा अंगों के घुमाने आदि अनुभावों के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए। इनमें अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि तथा मरण आदि सञ्चारीभाव होते हैं।

इस विषय की प्रतिपादक भिन्न आर्याएँ हैं —

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ॥ ७४ ॥
[1]मुखनेत्रविघूर्णननयनासाप्रच्छादनावनमितास्यैः।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः[2] सम्यगभिनेयः ॥ ७५ ॥

(यह) अप्रिय घिनौने पदार्थ के दर्शन, तथा अप्रिय-गन्ध, रस, स्पर्श शब्द तथा दोषों से पूर्ण अनेक प्रकार की त्रासादायक वस्तुओं के अनुभव करने पर 'बीभत्स' रस उत्पन्न होता है ॥ ७४ ॥

मुँह[1] एवं नेत्रों को घुमाने, नाक और आँखों के बन्द करने, मुँह को झुकाने और अकस्मात् (बिना जाने) पैरों को टिकाने, उठाने आदि के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ७५ ॥

---

१ अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त स्थानों या घृणित पदार्थ देखने पर नाक का दबाना प्रायः लोक में देखा जाता है। अव्यक्तपादपतन का अर्थ है परस्पर टकराने, उठाने आदि के द्वारा पैरों का गिरना या हड्डी और कङ्कालों से भरे हुए श्मशान में घूमते हुए व्यक्ति के द्वारा अस्पष्ट अर्थात् कहीं लम्बे और कहीं छोटे डग भरना।

इति बीभत्सरसप्रकरणम्।

---

१ मुखनेत्रविकूणनया—घ०।
२ सम्यगभिनय प्रयोक्तव्य—ग०।

अद्भुतरस—

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः स च दिव्यजन दर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलाभिगमनसभा[1]विमानमायेन्द्र-[2]जालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारानिमेषप्रेक्षण-रोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवाददानप्रबन्धहाहाकारबाहुवदनचेलाङ्गुलि[3]-भ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। [4]भावाश्चास्य स्तम्भाश्रुस्वेद[5]-गद्गदरोमाञ्चावेगसम्भ्रमप्रहर्ष[6]-चपलतोन्माद-धृतिजडताप्रलयादय.। अत्रानुवंश्ये आर्ये भवत·—

(गद्य भाग) अब अद्भुतरस बतलाते हैं, जो 'विस्मय' स्थायीभावात्मक है। यह दिव्य जन के दर्शन, इष्ट मनोरथों की प्राप्ति, उद्यान तथा सभा-भवन, सतमंजिले भवन (विमान) माया तथा इन्द्रजाल के दर्शन आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका नेत्रों के विस्तार, इकटक देखना

अथ अद्भुतरसप्रकरणम्

---

१ 'सभी नाट्यप्रदर्शन के अन्त मे अद्भुतरस रखा जाता है' इस वचन के अनुसार 'अथ' इत्यादि से अब अद्भुतरस का लक्षण करते हैं —दिव्यजन का अर्थ है गन्धर्व आदि। जिसकी प्राप्ति सम्भव हो वह 'ईप्सित' तथा जिसकी प्राप्ति असम्भव हो वह 'मनोरथ' कहलाता है, इन दोनो को प्राप्त करना अर्थात् इनके समीप आ जाना। जिसने सुन्दर भवन आदि न देखे हो उनके लिये 'देवकुल' (मन्दिर) मे जाना 'अद्भुतरस' का विभाव है। एव विशेष प्रकार से निर्मित मण्डप या गृह को 'सभा' कहते है। विमान अर्थात् दिव्यरथ। रूप परिवर्तन आदि की कला 'माया' कहलाती है। मन्त्र, द्रव्य या वस्तु के रखने आदि की युक्ति से असम्भव वस्तु को प्रदर्शित करना 'इन्द्रजाल' है।

मूल मे आगे 'तस्य' पद का अर्थ है अद्भुत रस का। 'हर्ष' शब्द से

---

१ सभाप्रमानमाहेन्द्रजाल—ग०। २. जालसाधनादिभि —घ०।
३ चरणाङ्गुलि—ग०। ४ व्यभिचारिभावाश्चास्य—ग०।
५ अश्रुस्तम्भ—ग०। ६ सम्भ्रमजडताप्रलयादय —ग०।

रोमाञ्च, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान (दान प्रबन्ध) (निरन्तर) हा हा रर चिल्लाना, बाहु, मुँह अगुलि या वस्त्र के एक कोने को घुमाने आदि अनुभावो के द्वारा अभिनय करना चाहिए। इसम अश्रु, स्तम्भ, स्वेद गद्गदवाणी, रोमांच, आवेग, सम्भ्रम, हर्ष, चपलता, उन्माद, धृति, जडता तथा प्रलय आदि सचारी (तथा सात्विक) भाव है।

इस विषय म दो अनुवशीय आर्याएँ हैं :—

यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं[1] च कर्म रूपं वा।
तत्सर्वमद्भुतरसे[2] विभावरूपं हि विज्ञेयम् ॥ ७६ ॥
[3]स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥ ७७ ॥

जो भी अतिशयोक्तिपूर्ण[1] वाक्य, शिल्प, कर्म तथा रूप हों वे सभी अद्भुतरस में विभाव समझने चाहिए ॥ ७६ ॥

इसका स्पर्श, ग्रहण, शरीर को आनन्द के अतिरेक म ऊपर उछालने

अदभुत रस क अनुभावो का ग्रहण होता है। साधु साधु कहना 'साधुवाद' है तथा उसमे प्रसन्न होकर दान (पुरस्कार) आदि देना विस्मय के कार्य या अनुभाव है। विस्मयकारी या अद्भुत वस्तु को देखकर निरन्तर हा हा करना हाथ, वस्त्र या अगुली आदि का घुमाना (आदि भी) अद्भुतरस के अनुभाव है।

१ जो दूसरो का अतिक्रमण करे वह 'अतिशय' कहलाता है, जो अन्य अर्थो की अपेक्षा उत्कृष्ट हो और उसका प्रतिपादक वाक्य जो कला या उत्तम कार्य रूप हो उसे भी 'अतिशयार्थयुक्त' समझना चाहिए। कर्मरूप' पद म प्रशंसा के अर्थ मे 'रूपप' प्रत्यय किया गया है। यह सभी अद्भुत रस का विभाव होता है। 'स्पर्शग्रह' इत्यादि से आगे अद्भुतरस के विभावरूप म कहे जाने वाले अभिनय का ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि आगे कहा भी है—

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च।
तथासमण्डयो स्पशान स्पशमेव विनिर्दिशेत् ॥ (२४–८३)

---

१ शीलञ्च—ग०। २ एभिस्तर्थविशेषैं रसोद्भुतो नामचयोद्भव—ग०, रसोद्भुतो नाम विज्ञेय—घ०। ३ स्पर्शग्रहोत्कहसनैं—ग०।

उल्लुकसनम्[1]) हा हा शब्द को उच्चारण, साधुवाद, कम्पन, गद्गद वचन तथा स्वेदादि के द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ ७७ ॥

रसों के तीन प्रकार

> शृङ्गारं त्रिविधं विद्याद्वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम् ।
> अङ्गनेपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ॥ ७८ ॥
> धर्मोपघातजश्चैव तथार्थापचयोद्भवः[1] ।
> तथा शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधः स्मृतः ॥ ७९ ॥
> दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
> रसं वीरमपि प्राह[2] ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ॥ ८० ॥

[ओष्ठों को थोड़ा सिकुड़ा कर, भौंहों को ऊपर उठाकर और कपोलों को कन्धे से लगाकर 'स्पर्श' का अभिनय करना चाहिए । (ना० शा० २४-८३)

'उल्लुकसनम' का अर्थ है शरीर को प्रसन्नता से ऊपर उछालना । यहाँ 'उल्लुकसनै' आदि में बहुवचन के प्रयोग से विभिन्न पुरुषों की विविध प्रकृति के अन्तर को सूचित किया गया है ।

इति अद्भुतरसप्रकरणम् ।

'शृङ्गार' इत्यादि कारिकाओं के द्वारा रसों के त्रिभेद बतलाने के व्याज से प्रधानभूत विभाव के कारणानुरूप सांख्यदर्शन के अभिमत त्रिगुणात्मक भावों को प्रतिपादित किया गया है ।

रौद्ररस के भेदों में जिसे 'स्वभाव रौद्र' कहा गया है उसे ही यहाँ 'वाक्य-रौद्र' समझना चाहिए, क्योंकि स्वभाव के अनुसार ही 'वाक्य' रहते हैं ।

उत्तम प्रकृति के पुरुषों में 'धर्मोपघातज' शोक हो सकता है और धर्महानि तो उत्तम नहीं होती पर उसका मूल भाव धर्मरक्षण उत्तम होने के कारण 'शोभन हेतु' कहा जा सकता है । 'शोक' शब्द से स्वजन के नाश से उत्पन्न करुण का ग्रहण करना चाहिए । तीनों करुणरस के विभाव होते हैं । धर्म शब्द से यहाँ अग्निहोत्र आदि कार्यकलाप के सम्पादन करने का अर्थ समझना चाहिए ।

---

१ तथा स्वप—ग० घ० । २ प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधसम्मतम्—ग० प्राहुस्तज्ज्ञा स्त्रिविधमेव च—घ० ।

शान्तरस

अथ[1] शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः । स तु

यहाँ शृंगार इत्यादि में आये हुए अन्य विभावों तथा अनुभावों के अभाव की शंका के निराकरण के लिए 'च' कार है [अर्थात् इनके अतिरिक्त अन्य विभाव और अनुभाव भी हो सकते हैं । और उनमें से इतने ही यहाँ सङ्गत हो सकते हैं इसे दिखलाने के लिये चकार के बाद 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है और 'तथा' शब्द से अनुक्त विभावादिकों का संग्रह करने का निर्देश भी किया गया है ।

अथ शान्तरसविचारः

अब नवरसवादियों के मत के अनुसार 'शान्तरस' का प्रतिपादक स्वरूप बतलाया जा रहा है । इस विषय में कुछ के अनुसार—शान्त शमस्थायी भाव वाला है और इसकी उत्पत्ति तप और योगिसम्पर्क आदि विभावों से होती है और काम, क्रोध आदि अभावरूप अनुभावों से इसका अभिनय किया जाता है तथा धृति, मति आदि इसमें व्यभिचारिभाव होते हैं ।

पर (इस मत के) विपक्षी जन इसे स्वीकार नहीं करते । उनके मत में शम और शान्त शब्द समानार्थक (पर्याय) है जिनमें एक को स्थायी और दूसरे को रस मानना अनुचित होगा । इसके अतिरिक्त भावों की उनचास संख्या नियत होने से यदि यहाँ 'शम' को माना जाय तो यह संख्या का परित्याग होगा अतः संख्यावृद्धि के आपादक होने से शान्त को रस कैसे माना जाय । और ऋतुमाल्य आदि विभाव अपने पश्चात् उत्पन्न होने वाले शृङ्गारादि रस में कारण रूप से प्रतीत होते हैं पर यहाँ तप और स्वाध्याय आदि विभाव अपने उत्तरवर्ती शान्त या शम में कारणरूप से प्रतीति नहीं होने ।

अब यदि यह कहें कि (तप, अध्ययन आदि) तत्त्वज्ञान के बाद में आने वाले हेतु हैं तो पहले उत्पन्न होने वाले तत्त्व ज्ञान के प्रति कारण होने से शम के विषय में तप, अध्ययन आदि को विभावता नहीं रहेगी । और कामादि के अभाव को भी शान्तरस का अनुभाव नहीं माना जा सकता है क्योंकि कामादि का अभाव शान्त के विरोधी वीर आदि अन्य रसों में भी होता है अतः यह

---

१ अथ शमो—ख०।

तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्धयादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य यमनियमा·

अभाव की स्थिति शान्त को बोधक नहीं हो सकती, ऐसी दशा में वीर आदि रसों से शान्त रस का पार्थक्य स्पष्ट नहीं होता ।

(शान्तरस का) अभिनय मे भी समावेश नही हो सकता क्योंकि चेष्टा के अभाव का अभिनय करना सम्भव नहीं । सोने तथा मूच्छित होने पर निश्चेष्टता मानी गयी है पर इसका अभिनय श्वास प्रश्वास लेने, शयन करने गिरने आदि से किया जाता है [अत 'शम' की व्यापार शून्यता की दशा का अभिनय कैसे होगा] विषयो के उपभोग से प्राप्त तृप्ति रूप धृति शान्तरस में कैसे सम्भव है ? (और फिर उसमे धृति व्यभिचारी भाव नहीं बन सकता) शम प्रधान पुरुष के निश्चेष्ट बैठ जाने पर उसके द्वारा तत्त्वज्ञान के उपायो का उपयोग या अनुष्ठान कैसे होगा ? (और तत्वज्ञान के न होने से मोक्ष रूप फलप्राप्ति भी उसे नहीं होगी) साधक पुरुष तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त भी ससार मे दूसरो के दु ख से दु खी देखे जाते हैं [अत शान्तरस सुख-दु ख से रहित भी नही है] इसलिए शान्तरस को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

[इस प्रकार पूर्वपक्ष उपस्थित करने के बाद उसके समाधान के लिये सिद्धान्त पक्ष का आरम्भ करते हैं] ससार मे जैसे धर्मादि तीन पुरुषार्थ कहे गये हैं उसी प्रकार शास्त्र, स्मृति तथा इतिहास आदि मे मोक्ष भी चतुर्थ पुरुषार्थ माना गया है । और जैसे काम आदि के उपयुक्त रति आदि शब्दो से अभिहित चित्तवृत्तियाँ कवि तथा अभिनेताओ के कार्य तथा अभिनय के द्वारा उस प्रकार की हार्दिक भावनाओ वाले सामाजिक के लिए शृंगार आदि के रूप मे आस्वाद्य बनाई जाकर रसत्व को प्राप्त करवाई जाती है उसी प्रकार मोक्ष पुरुषार्थ के अनुरूप या उपयुक्त शम (रूप) चित्तवृत्ति रसत्व को क्यो नही प्राप्त करवायी जा सकेगी यह कहिये ? और जो वहाँ शम रूप चित्तवृत्ति बतलाई गयी है वही शान्तरस का स्थायी भाव है ।

यहां विचारणीय यही है कि इसका स्थायीभाव कौन है ? कुछ लोगो का मत है कि तत्वज्ञान मे उत्पन्न 'निर्वेद' ही शान्तरस का स्थायीभाव है । निर्धनता आदि से उत्पन्न निर्वेद मे शान्तरस का स्थायी निर्वेद भिन्न है, क्योंकि यहाँ तत्वज्ञान कारण रूप में होने से भिन्न स्थिति उत्पन्न कर रहा है । इसी-लिये भरतमुनि ने इसे स्थायी तथा सचारिभावो के मध्यवर्ती रखा है । मुनि

ध्यातमध्यानधारणोपासनसमंभूतदयालिङ्गग्रहणादिभिरनुभावैरभिनय.

ने स्थायी भावो मे निर्वेद को न रखकर उसका व्यभिचारिभावो मे ही सर्व प्रथम उल्लेख किया है। यदि 'निर्वेद' मोक्ष का साधन न होकर केवल दरिद्रता आदि से सम्बद्ध होता तो मगल की कामना से भरत मुनि इसका सर्व प्रथम उल्लेख नहीं करते। और जब भरतमुनि ने 'निर्वेद' को व्यभिचारि भाव माना है तो उसे स्थायीभाव कैसे माना जाय? इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि भरतमुनि ने बीभत्स रस के स्थायी भाव जुगुप्सा का शृगार मे व्यभिचारिभाव रूप मे निषेध करते हुए सभी स्थायीभावो को अपने रस मे स्थायीभावत्व तथा अपने से भिन्न रसो मे व्यभिचारिभावत्व स्वीकार करने की अनुमति दी है। यदि कोई भाव स्थायी है तो वही व्यभिचारिभाव हो सकता है। अत तत्वज्ञानजन्य 'निर्वेद' भी स्थायी तथा व्यभिचारिभाव होकर शान्त रस का स्थायीभाव बन सकता है। और तत्वज्ञानजन्य निर्वेद केवल स्थायीभाव ही नही है वह रत्यादि अन्य स्थायी भावो का उपमर्दक भी है। और जो व्यभिचारिभावो के वैचित्र्य को सहन करने वाले रत्यादि से भी अधिक स्थायी स्वभाव वाला है, वही अन्य रसो के स्थायीभावो का विमर्दक होता है [अत निर्वेद ही शान्तरस का स्थायीभाव है]।

अन्य आचार्य इस मत पर यह आक्षेप करते हैं कि तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद शान्तरस का स्थायीभाव है तो तत्वज्ञान को उसका कारण स्वीकारा जाय। पर वैराग्य के मूलभूत तत्वज्ञान को शान्तरस का विभावत्व (कारणत्व) कैसे माना जाय? यदि कहो कि परम्परया उनका उपाय होने से विभावत्व है तो कारण के कारण मे विभावत्व का व्यवहार होने से अतिप्रसङ्ग या अनवस्था दोष होगा। [अत तत्वज्ञानजन्य निर्वेद को स्थायी नही माना जा सकता]।

इसके अतिरिक्त सब विषयो मे अनुपादेय बुद्धि रूप 'निर्वेद' वैराग्य स्वरूप है। वह तत्वज्ञान के लिए विपरीत रीति से उपयोगी है क्योंकि विरक्त मनुष्य ऐसा प्रयत्न करता है जिससे उसे तत्वज्ञान प्राप्त हो और तत्वज्ञान से मोक्ष उत्पन्न होता है। इस प्रकार पहिले वैराग्य और फिर तत्वज्ञान होता है यह नहीं कि तत्वज्ञान से निर्वेद और निर्वेद से मोक्ष होता हो। अत तत्वज्ञानजन्य निर्वेद को शान्तरस का स्थायीभाव कैसे माना जा सकता है।

प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-स्मृति-धृति-सर्वाश्रम-शौच-स्तम्भरोमाञ्चादयः। अत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति—

अतएव (आत्मज्ञानरहित) केवल 'वैराग्य से प्रकृतिलय होता है' ऐसा श्रद्धेय ईश्वरकृष्ण ने अपनी साङ्ख्यकारिका (का० सं० ४५) में भी कहा है।

(प्रश्न) यह देखा जाता है कि तत्त्वज्ञानी पुरुष को दृढ़तर वैराग्य होता है। पतञ्जलिमुनि ने भी कहा है कि 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' (यो० सू० १।१६) [आत्मज्ञान होने पर प्राकृतिक पदार्थों के प्रति जो वितृष्णभाव हो जाता है वही परवैराग्य है] अतः तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद शान्तरस का स्थायीभाव माना जा सकता है।

(उत्तर) यह ठीक है पर इस प्रकार के वैराग्य को ज्ञान की पराकाष्ठा माना गया है और यही बात स्वयं पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र (१।१६) के द्वारा स्पष्ट भी की है। इस रूप में तत्त्वज्ञान अपनी ही शृङ्खला द्वारा परिपोषित होकर परवैराग्य हो जाता है। अतः निर्वेद स्थायीभाव नहीं है किन्तु तत्त्वज्ञान ही शान्तरस का स्थायीभाव है। और व्यभिचारिभावों की व्याख्या के अवसर पर (अ० ७) तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद कहा गया है, पर वहाँ तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को इसलिये कारण कहा गया है कि (जिन) सांसारिक पुरुषों द्वारा भ्रान्तिवश धोखा खाया जाता है उनके विषयभोगादि में उपादेयता-बुद्धिरूप भ्रम को दूर करने के लिये ही निर्वेद के कारण को तत्त्वज्ञान कहा गया है। जैसा निम्न पद्य में —

> वृथा दुग्धोऽनड्वान् स्तनभरनता गौरिति परं
> परिष्वक्तः षण्ढो युवतिरिति लावण्यरहितः ।
> कृता वैदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
> मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता ॥

[अर्थ—गुणों को न जानने वाले एवं कृपण स्वरूप आपको अपनी मूढ़ता के कारण प्रणाम कर मैंने स्तन के भार से झुकी हुई गौ समझकर अब तक यों ही बैल दुहने का व्यर्थ प्रयास किया, लावण्यहीन नपुंसक को युवती मानकर व्यर्थ ही आलिङ्गन किया और किरणों को प्रतिफलित करने वाले काँच के टुकड़े में वैदूर्यमणि की व्यर्थ ही आशा रखी।]

यहाँ यह गौणरूप से तत्त्वज्ञान को निर्वेद का कारण मान कर जो कहा है वह मोक्ष के उपपादक निर्वेद के प्रति नहीं है, परन्तु खेदरूप निर्वेद के कारण

(गद्य भाग) अब मैं शान्त रस बतलाता हूँ, जिसका 'शम' स्थायीभाव है तथा जो मोक्ष का आपादक है। यह तत्त्वज्ञान, वैराग्य, चित्त शुद्धि

(विभाव) रूप में कहा गया है। यह बात व्यभिचारिभावों की व्याख्या के अवसर पर विस्तार से पुनः (ना० शा० अध्या० ७ पर) कहेंगे।

(पूर्वपक्षी-प्रश्न)—मिथ्याज्ञानमूलक विषयों के साथ रागादि सम्बन्ध तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाता है यह अक्षपाद ने [illegible]खजन्मप्रवृत्ति' (न्या० सू० १।१२) इत्यादि सूत्र से कहकर मिथ्याज्ञान के नाशक तत्त्वज्ञान को दोषाभाव रूप वैराग्य का कारण कहा है।

(सिद्धान्ती-प्रतिप्रश्न) तो इससे क्या हो गया ?

(पूर्वपक्षी) यह कि वैराग्य ही निर्वेद है।

(सिद्धान्ती) यह कैसी बात है ? दोनों कैसे समान हो सकते हैं, क्योंकि शोकप्रवाह के प्रसार रूप चित्तवृत्ति का नाम 'निर्वेद' है और रागादि भावों को विनाशक रूप 'वैराग्य' होता है। और वैराग्य को निर्वेद का रूप मान भी लिया जाय तो भी अपने कारण से उत्पन्न उस दोषाभाव रूप वैराग्य के मध्यवर्ती मिथ्याज्ञान के नाश के बाद होने वाले वैराग्य को मोक्षरूप फल की सिद्धि मे साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता। तथा 'तत्त्वज्ञान से निर्वेद की उत्पत्ति होती है' ऐसा कहने से 'शम' का ही दूसरा नाम 'निर्वेद' है यह सिद्ध हो जाता है फिर शम को ही क्यों न स्थायी भाव माना जाय। यदि यह कहा जाय कि शम और शान्त दोनों पर्याय है तो हास और हास्य शब्द की पर्यायता से ही उसका परिहार हो जाता है और सिद्ध साधनता दोष का निराकरण स्थायीभाव के लौकिक तथा रस के अलौकिक होने से हो जाता है। तथा स्थायीभाव तथा रस मे साधारण तथा असाधारण का भेद होने से शम और शान्त मे वैलक्षण्य [भेद] भी है। अतएव शान्तरस का निर्वेद स्थायीभाव नहीं है किन्तु शम ही स्थायीभाव माना जाना चाहिये।

कुछ अन्य आचार्यों का यह मत है कि जिन रत्यादि आठ चित्तवृत्तियों का पहले उल्लेख किया गया वे ही पूर्व अभिहित शृङ्गार आदि मे उपयोगी या प्रयुक्त विभावों से भिन्न, श्रुत (आध्यात्मिक चर्चा) आदि अलौकिक विभावों के आश्रय से भिन्न रूप मे व्यक्त होती हैं। अतएव उनमे स ही कोई एक यहाँ स्थायीभाव हो सकता है। तब अखण्डानन्द स्वरूप आत्मविषयक रति ही जो

आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका यम, नियम, अध्यात्म-ज्ञान, ध्यान, धारणा, उपासना, सभी प्राणियों पर दया, यति वेशग्रहण

दि मोक्ष का साधन कही गयी है—यहाँ (शान्तरस में) स्थायीभाव रूप है। जैसा कि (भगवद्गीता में) कहा गया है —

> यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
> आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (गी० ३।१७)

[अर्थ —जो आत्मा में रति रखने वाला, आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करने वाला तथा अपने में ही सन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति है उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं होता।] यहाँ मोक्षविषयक शान्तरस का रति स्थायीभाव कहा गया है।

इसी प्रकार समस्त वस्तुओं के विषयों में विकार देखकर (विकृतदर्शनजन्य हास्यरस का 'हास' स्थायी), समस्त संसार को शोचनीय रूप में देखकर [करुण का 'शोक' स्थायी] सांसारिक घटनाओं को [आत्मज्ञान में] अपकारी देखने वाले को [रौद्र का 'क्रोध' स्थायी], अत्यन्त ज्ञानप्रधान वीर्य [उत्साह] का आश्रय लेने वाले को [वीर का 'उत्साह' स्थायी], सारी विषय वस्तुओं से भय का अनुभव करने वाले का [भयानक का 'भय' स्थायी], सभी के लिए स्पृहणीय प्रमदादि से घृणा करने वाले को [बीभत्स का 'जुगुप्सा' स्थायी] और अपने आत्मस्वरूप के अपूर्व साक्षात्कार से विस्मय का अनुभव करने वाले [अद्भुत का 'विस्मय' स्थायी] साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः यहाँ रति से लेकर विस्मय पर्यन्त विभिन्न स्थायीभावों का शान्त के स्थायीभाव के रूप में निरूपण किया गया है।

और यह मत भरत के अनुकूल भी (हो सकता) है क्योंकि (जब) भरत विशिष्ट विभावों को गिनाने के साथ 'आदि' शब्द का प्रयोग कर अन्य विभावों का समाहार करते हैं तो उसी से 'उन सामान्य हेतुओं से भिन्न (श्रुतादि रूप) अलौकिक हेतुओं से उत्पन्न रत्यादि से भी मोक्ष की सिद्धि मानी है। [यह अन्य आचार्यों का व्याख्यान है]।

इस प्रकार सभी रसों के स्थायीभाव शान्तरस के स्थायीभाव हो सकते हैं यह स्वीकार करने वालों में परस्पर विचार करने पर किसी एक की भी स्थायी भाव रूप में स्थिति निश्चित नहीं हो सकेगी। उन विभावों के भेद से

आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिये। इसमें निर्वेद, स्मृति, धृति (सभी आश्रमों में) पवित्रता, स्तम्भ, रोमांच आदि संचारी भाव होते हैं।

उस-उस रत्यादि का शान्तरस में स्थायिभावत्व होता है यह कहना भी अनुचित है क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न-भिन्न स्थायीभावो की स्थिति मानने पर एक शान्तरस के ही अनन्त भेद होने लगेंगे। और यदि यह कहा जाय कि मोक्ष रूप फल के एक होने से शान्तरस भी अभिन्न होगा तो ऐसी दशा मे वीर तथा रौद्ररस का भी किसी एक धर्मादि पुरुषार्थ से अभिन्न फल होने से उनका भी अभेद होगा। अतः रत्यादि आठो या उनमे से कोई एक शान्तरस का स्थायीभाव नही हो सकता।

एक दूसरे मत के अनुसार पाकरस के आस्वाद के समान शान्तरस मे सभी स्थायीभाव मिलकर स्थायीभाव हो जाते हैं। किन्तु रत्यादि विविध चित्तवृत्तियों के एक साथ सम्भव न होने तथा हास, क्रोध आदि चित्तवृत्तियो मे एक दूसरे का विरोध होने से यह मत भी स्वीकार्य नही है।

(प्रश्न) तो फिर शान्तरस का स्थायीभाव कौन है ? (उत्तर) इसके उत्तर मे कहना यह है कि इस विषय में सबसे मुख्य बात है कि तत्वज्ञान ही मोक्ष का साधन होता है अत: उसे ही स्थायीभाव मानना उचित है। ऐन्द्रिकज्ञान से भिन्न आत्मज्ञान ही 'तत्वज्ञान' है। इस रूप मे आत्मपदार्थ अनात्म से भिन्न होता है अतः ज्ञान, आनन्द आदि विशुद्ध धर्मों से युक्त और विषयोपभोग की परिकल्पना से हीन आत्मा ही शान्तरस मे स्थायीभाव स्वरूप है।

इस आत्मतत्त्व के स्थायीभाव होने पर रत्यादि को अस्थायीभाव नहीं समझना चाहिए क्योकि रत्यादि अपने कारणो के उपस्थित या अनुपस्थित होने के कारण उत्पन्न और विलीन होकर भी आत्मतत्वरूप स्थायी भित्ति के आश्रित होकर अधिक काल तक स्थिर रहने के कारण स्थायी कहलाते हैं [अत: इनका स्थायित्व सापेक्ष है], परन्तु तत्वज्ञान रत्यादि अन्य समस्त भावों का आश्रय रूप है, अन्य स्थायी स्वभाव वाला है, जो रत्यादि वृत्तियो को व्यभिचारिभावत्व प्राप्त करवाता है और जो स्वभावत: स्थायीभाव रूप मे स्वयं सिद्ध है। यही कारण है कि भरतमुनि ने इसको अलग से स्थायी भावो मे गणना नहीं की; जैसे किसी मस्तक और धड़ के मध्यवर्ती गौरव या प्राणित्व की अलग गणना नही की जाती। अतः उनचास भावो का ही कथन उचित है।

इस विषय में आर्याएँ तथा श्लोक हैं :—

मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
नैःश्रेयसोपदिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवति ॥ ८४ ॥

यदि यह प्रश्न किया जाय कि ऐसा होने पर शान्तरस की पृथक् गणना क्यों की गयी है तो इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इसका आस्वाद इन सभी से भिन्न (प्रकार का) है। अन्य भावों का आस्वाद विभिन्न प्रकार का होता है पर रति आदि के समान आत्मस्वरूप से अमिश्रित होकर लौकिक प्रतीति का विषय नहीं होता। इस समाधि दशा में आत्मस्वरूप निर्विकल्पक रूप में साक्षात्कारात्मक होने पर भी व्युत्थानकाल या समाधिभंग होने पर अन्य चित्तवृत्तियों से कलुषित हो जाता है। यही कारण है कि शान्तरस को भिन्न रस माना गया है।

अथवा लोक में आत्मा की अनुभूति सम्भव होने पर भी सम्भावना के आधार पर उनकी स्थायीभावों में गणना नहीं की जा सकती, क्योंकि सम्भावित स्थायीभावों का रसों की निष्पत्ति में उपयोग नहीं होता। क्षणिकता के कारण इनमें व्यभिचारित्व और अलक्षणीयत्व का ही बोध होगा, अतएव 'उनचास भावों के द्वारा' इत्यादि जो कहा गया है वह (उचित या) उपपन्न हो जाता है।

और इस आत्मस्वरूप को भरत मुनि ने व्यभिचारिभाव के रूप में सम्भव न होने, विभिन्न अनुभूतियों के उत्पादक न होने तथा अलौकिकता पूर्ण होने से 'शम' शब्द से अभिहित नहीं किया है। पर यदि उसी विशुद्ध 'आत्मस्वरूप' को 'शम' या 'निर्वेद' शब्द से कहा जाय तो भी कोई दोष नहीं है। केवल इतना ही है कि 'शम' एक विशिष्ट चित्तवृत्ति है। यहाँ निर्वेद दीनता आदि में उद्भूत 'निर्वेद' नहीं है अपि तु उससे भिन्न प्रकार का है। यदि यह कहा जाय कि दारिद्र्यादि से उत्पन्न तथा तत्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' को एक ही नाम से अभिहित करने पर विजातीय क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर यह है कि कारणभेद होने पर भी समानजातीय पदार्थ को समान नाम से अभिहित किया जाता है। यही बात रति आदि अन्य भावों में भी पायी जाती है। अतएव आत्मस्वरूप को ही शान्तरस के स्थायीभाव के रूप में शमता या तत्व-

मोक्षप्राप्ति में उपयोगी आध्यात्मिक ज्ञान से उत्पन्न होने वाला, तत्त्वज्ञान में हेतुभूत अर्थ (निर्वेद) से युक्त रहने वाला तथा मोक्षज्ञान के लिए कहे गये वचनों के द्वारा शान्तरस (उत्पन्न) होता है ॥ ८४ ॥

ज्ञान कहा जायगा जिसके विभिन्न विकारों से रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं। उन रत्यादि भावों के विद्यमान रहने पर समाधि द्वारा उनके अव्यवहित विशुद्ध स्वरूप का अनुभव कर समाधि के न रहने पर भी चित्त की प्रशान्तवाहिता (शान्ति का विकास) बनी रहती है। जैसा कि योगसूत्र में कहा है 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (यो० सू० ३।१०) [संस्कारों के कारण उस चित्त की समाधि के उपरान्त भी प्रशान्तस्वरूपा अवस्था बनी रहती है।] अतः आत्मस्वरूप या तत्वज्ञान ही शान्तरस का स्थायीभाव है।

तथा यह लौकिक एवं अलौकिक चित्तवृत्तियों का समस्त समुदाय तत्व ज्ञानरूपी स्थायीभाव का व्यभिचारिभाव रूप हो जाता है। उस तत्वज्ञान के अनुभव ही यम, नियम आदि के द्वारा समर्थित या उपकृत होकर शान्तरस के अनुभाव होते हैं। तथा आङ्गिकअभिनय के प्रतिपादक अध्यायों [ना० शा० ६-११] में जो स्वभावाभिनय बतलाये जायेंगे वे भी इसी शान्तरस में सम्बद्ध हो जाते हैं। शान्तरस 'स्वभाव' कहलाता है तथा शेष रस विकार रूप हैं। इसके ईश्वरानुग्रह आदि विभाव हैं तथा विनष्ट होने हुए रत्यादि का भी शान्तरस में आस्वादन हो जाता है।

केवल यही बात (विशिष्ट) है कि विप्रलम्भ शृङ्गार में या सम्भोग शृंगार में 'औत्सुक्य' व्यभिचारिभाव होने पर भी प्रधान रूप में सम्भव होता है। इसी प्रकार रौद्र में उग्रता या करुण, वीर, भयानक और अद्भुत रसों में क्रमशः निर्वेद, धृति, त्रास और हर्ष आदि व्यभिचारिभाव होने पर भी प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं। केवल जुगुप्सा में राग के सर्वथा विपरीत होने के कारण व्यभिचारिभाव की प्रधान रूप से प्रतीति नहीं होती। जैसे कि महाव्रत में कपाल आदि का धारण, मद्य या अङ्गना प्रभृति का न्यूनाधिक रूप में सेवन भी धर्म में जुगुप्सा का ही कारण बनता है। इसी प्रकार स्मृतिग्रन्थों में विहित विधान से नियोग द्वारा घृताभ्यक्त देवर से विधवा में पुत्रोत्पादन कार्य भी जुगुप्साजनक है।

बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः ।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥ ८५ ॥

इसके अतिरिक्त अपने में कृतकृत्य पुरुष का उद्योग परोपकार करने
रहता है इसी कारण परोपकारविषयक अभिलाष तथा प्रयत्न रूप उत्साह-
जिसका दूसरा नाम दया या करुणा है—शान्तरस का विशेष रूप से अन्तर
होता है। इसीलिए कुछ विद्वान् इसे दयावीर और कोई धर्मवीर नाम
व्यवहृत करते हैं।

(प्रश्न) अहङ्कार से उत्साह प्रेरित किया जाता है और शान्तरस
अहङ्कार का शैथिल्य रहता है अतः विरुद्ध प्रकृतिवाला उत्साह शान्तरस
अन्तरङ्ग कैसे होगा ?

(उत्तर) विरुद्ध भावों का व्यभिचारिभाव के रूप में वर्णन अनुचि
नहीं माना जाता (अर्थात् सर्वदा अनुकूल व्यभिचारिभावों का ही प्रयोग न
होता) है और शृङ्गाररस में निर्वेदादि विरुद्धभावों का वर्णन होने पर अ
चित नहीं है। जैसे नागानन्द नाटक के निम्न वर्णन में ।

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ॥ (नागा० ४।२

[अर्थ—जहाँ हरी घास के मैदान ही शय्या हैं, पवित्र शिलातल ही आसन
पेड़ों के नीचे ही घर हैं, पीने के लिए झरनों का शीतल जल और कन्द
भोजन है जहाँ मित्र रूप में हरिण हैं। इस प्रकार बिना याचना के ही ज
सब वैभव प्राप्य है उस वन में केवल यही दोष है कि धन की प्राप्ति दुः
होने से परोपकार की सामर्थ्य नहीं रहती, अतः वहाँ रहना व्यर्थ हो जात
है।] इत्यादि—

उपर्युक्त उदाहरण में परोपकार के लिए उत्साह का अतिरेक दिखला
गया है। उत्साह शान्तरस का विरोधी नहीं होता क्योंकि कोई भी अवस्थ
ऐसी नहीं होती जो उत्साहशून्य रहती हो और इच्छा तथा प्रयत्न से रहि
मनुष्य पाषाणवत् जड़ है। (दूसरे) परात्पर ब्रह्म और अपर आत्मा जी
का तात्त्विक ज्ञान हो जाने पर फिर कोई अन्य कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता

ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों के निरोध तथा आत्मिक स्थिति से युक्त सभी प्राणियों के सुख तथा हित का आपादक शान्त रस जानो ॥ ८५ ॥

इसलिये प्रशान्तमना साधक के द्वारा दूसरा के उपकारार्थ अपने सवस्व तथा शरीर का दान कर देना शान्तरस का विरोधी (कार्य) नही है । जो 'आत्मान गोपायेत्' (गौत० ध० सू० ८।३४) [आत्मा की सदा रक्षा करना चाहिए] इत्यादि से मनुष्यो को आत्मसरक्षण का आदेश दिया गया है वह सासारिक पुरुषो के लिए उपदेश है । सन्यासियो का उस रक्षण के उपदेश मे कोई प्रयोजन नहीं है । क्योंकि—

"धर्मार्थकाममोक्षाणा प्राणा सस्थितिहेतव ।
तान् निघ्नता किं न हृत रक्षता किंन्न रक्षितम् ॥"

[मानव जीवन धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की स्थिति को प्राप्त करने के लिये होता है । उनको नाश करने वाले ने क्या नहीं नष्ट कर दिया और उनकी रक्षा करने वाले ने क्या नहीं बचाया !]

यहाँ देह-रक्षा का कारण चतुर्वर्ग की साधना बतलाया गया है । स यासी के लिये तो किसी प्रकार से शरीर का त्याग करने का विधान है फिर उसे परोपकार के लिए त्याग किया जाय तो इससे और क्या उत्तम बात होगी ? [अतएव ऐसे प्रसङ्ग मे उत्साह शान्तरस के अन्तर्गत माना जायगा ।]

और यदि यह प्रश्न किया जाय कि जीमूतवाहन तो यति नही है फिर शान्तरस की अवस्थिति कैस होगी ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रसग मे तत्वज्ञानित्व तो वहां विद्यमान है ही । अथवा देह को ही आत्मा मान लेने वाले मनुष्य के लिए तो देह सर्वस्व होता है और उस शरीर को धर्म आदि के सदुद्देश्य से त्यागना ऐसे पुरुषो के लिये कैसे सम्भव होगा । (और जीमूतवाहन ने परार्थ के लिए अपने शरीर का परित्याग किया तो वह तत्वज्ञानी अवश्य माना जाना चाहिए) ।

यदि यह माना जाय कि शरीर त्याग के लिये तत्वज्ञानी होना आवश्यक नही है क्योंकि अतत्वज्ञानी पुरुष भी युद्ध मे परोपकारार्थ अपने शरीर का त्याग कर देते हैं तो इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि युद्ध मे शरीर त्याग की प्रवृत्ति तो होती है परन्तु वह तत्वज्ञान से प्रेरित होकर नही होती अपितु शत्रु को पराजित करने की भावना से होती है । इसी तरह भृगुपतन आदि में भी दूसरे उत्तम शरीर की प्राप्ति की इच्छा प्रधानरूप से विद्यमान

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥ ८६ ॥

रहती है । अतएव परोपकारार्थं निस्वार्थभाव से कार्य करने से लेकर शरीर पर्यन्त जितनी चेष्टाएँ हैं वे बिना तत्वज्ञान के सम्भव नहीं हो सकती हैं (इसी कारण जीमूतवाहन आदि भी तत्वज्ञानी ही हैं) । और तत्वज्ञान से ही पुरुष को सभी आश्रम में मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है यह श्रुति, स्मृति में बतलाया गया है । जैसा कि कहा भी है —

देवार्चनरतस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रिय ।
श्राद्धं कृत्वा ददद् द्रव्यं गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥ '

[अर्थ —देवताओं की अर्चना एवं भक्ति में लीन रहने वाला, तत्वज्ञानी अतिथि की सेवा करते हुए, श्राद्धादि कर दान देते हुए गृहस्थी होकर भी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।]

इनमें अन्तर केवल यह है कि परोपकार रूप (सकाम) कर्म एवं परार्थ साधन से उपार्जित धर्म के द्वारा बोधिसत्व जैसे तत्वज्ञानी को भी उसके अनुरूप पुनः शरीर आदि की प्राप्ति हो जाती है यह देखा गया है [जब कि निष्काम कर्म से उपार्जित धर्म से संन्यासी जन्ममरण के बन्धन से छूट जाता है ।]

अन्य रसों के प्रसङ्ग में भी अपने कर्तव्य का पालन करने के औचित्य से सुख की प्राप्ति होती है । जैसे श्रीराम का अपने पिता की आज्ञा पालन करना वीररस का अङ्गभूत होकर सुख की प्राप्ति का कारण बन जाता है । इसी प्रकार शृङ्गार आदि में भी यही क्रम समझना चाहिए । इसी कारण नागानन्द में जीमूतवाहन में परोपकार प्रधान त्रिवर्ग की प्राप्ति रूप फल के अभीष्ट होने से शान्तरस का स्थायित्व होने पर भी उसकी प्रमुखता नहीं है । इसी आशय से नाटक के लक्षण में 'ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैः' (ना० शा० २०।११) कहा जाएगा । इससे स्पष्ट है कि ऋद्धि तथा विलासयुक्त, काम तथा धर्म से सम्पन्न सहृदयों की हृदय-भावना के अनुरूप सुन्दर प्रयोजन (उद्देश्य) वाले चरित्रों को (ही) नाटक में प्रस्तुत करना चाहिए । और इसी अभिप्राय से भरतमुनि ने इन ऋद्धि आदि अर्गों का शान्तरस के अन्तर्गत विनियोग नहीं

जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न द्वेष, न मत्सर हो। जो सब प्राणियों में समता बुद्धि रखे उसे शान्त-रस समझना चाहिये ॥ ८६ ॥

किया। पर शान्तरस में ऋद्धि आदि अंगो के विनियोग नहीं किये जाने के कारण उनका शान्तरस में अभाव प्रतिपादित नही किया जा सकता।

अन्य आचार्य नागानन्द के प्रसंग को लेकर यह कहते हैं कि—'जीमूतवाहन ने 'कस्ते पुत्र त्राता भविष्यति' [हे पुत्र, (शंखचूड) जब तुम्हारे राजा ने ही रक्षा नही की तो अब तुम्हे कौन बचाएगा] ऐसा कहने वाली वृद्धा माता की ही रक्षा की है। परन्तु इस रक्षा करने मे उसने कही शक्तिप्रदर्शन नही किया और न (शत्रुवधादि रूप) परहिंसा दिखलाई देती है। शक्ति का प्रयोग तथा परहिंसा वीररस में होती है, तब नागानन्द के नायक मे इनके अभाव में दया या धर्मवीर नाम देना अनुचित है।' इसका उत्तर यह है कि बोधिसत्वों के मन म शत्रुवध के कार्य द्वारा पुन अभ्युदय प्राप्त करने की भावना नही होने से शक्ति का प्रयोग अभीष्ट नही होता। अत सिद्ध है कि यहाँ नागानन्द म दयारूप उत्साह प्रधान है तथा (इसके साथ) अन्य व्यभिचारिभाव भी यथोचितरूप से रह सकते हैं। जैसा कि योगदर्शन म 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्य' (यो० सू० ४।२७) [उस समाधि के रन्ध्रो म (समाधि खुलने पर बीच बीच मे) संस्कारो के कारण अन्य प्रत्यय (ज्ञान) भी रहते हैं] अतएव शान्तरस मे व्यापारशून्य होने से अनुभावो का अभाव रहेगा यह कथन असगत है। पर जब मोक्ष की चरमभूमि मे पहुँच जाने पर उत्साहादि भावो का अभाव हो जाता है तब यह शान्तरस अनभिनेय हो जाता है। और चरमपरिणति या अन्तिम भूमि पर रति, शोक आदि भी अनभिनेय हो जाते हैं। हृदय की तन्मयता स्थायीभावो के संस्कार के कारण जैसे शृंगारादि रसो मे होती है उसी प्रकार तत्वज्ञान के मूल (भूत) संस्कारो से संस्कृत अन्त करण वालो को शान्तरस मे भी होती है। जैसा कि आगे नाट्यशास्त्र म कहेंगे—'मोक्षेऽप्यपि विरागिण' (ना० शा० २७।५८) [मोक्ष के विषय में भी वैराग्यसम्पन्न रहने वाले] इत्यादि।

(प्रश्न) शान्तरस प्रधान नाटकों में वीररस का आस्वादन कैसे संभव होगा ?

(उत्तर) जहाँ शान्तरस का प्रयोग किया जाता है वहाँ पुरुषार्थोपयोगी शृङ्गारादि रसो की स्थिति अवश्य रहती है और शान्त के अन्तर्गत उनका

भावा विकारा रत्याद्या शान्तस्तु प्रकृतिर्मत ।
विकार. प्रकृतेर्जात. पुनस्तत्रैव लीयते ॥ ८७ ॥

आस्वादन होता है । जिन प्रहसन आदि म हास्यादि रसो की प्रमुखता होती है वहाँ भी बाद म अवरस अन्तरनिष्ठ होकर आस्वाद्य होते हैं [और आस्वादन (रस) की भिन्नता के कारण रूपक भेद तथा रूपको मे रसो की अभिन्न स्थिति बतलायी जाती है] ।

अत सिद्ध हो गया कि 'शान्तरस' (का अस्तित्व) है । इसलिये नाट्य शास्त्र की प्राचीन पुस्तको में 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम 'के बाद'शान्तो-नाम शमस्थायिभावात्मक' इत्यादि से शान्तरस का लक्षण दिया गया है ।

सभी रसो के चरम आस्वाद मे तद्विषया की विमुखता के होने के कारण शान्तरस प्रमुखता प्राप्त कर प्राय निर्व्यापार स्वरूप ही होता है । अन्य रसो की दशा म स्थायीभावात्मक वासनाएँ अवस्थित रहती हैं पर शान्तरस म अपनी चरमावस्था म वे वासनाएँ शान्त हो जाती हैं । इसलिये (कारिका मे) शान्तरस सभी रसो की प्रकृति होकर सर्वप्रमुख या प्रथम रूप मे कहा गया ।

जिसकी सामान्यत सर्वत्र स्थिति रहती हो उसकी अलग गणना नही की जाती है अत शान्तरस का अलग स्थायीभाव नही कहने या गणना न करने म भी कोई दोष नही है । परन्तु विवेकवान सामान्य का भी अलग निर्धारण करते हैं अत उनकी दृष्टि म सामाजिकगत आस्वादनरूप प्रतीति के विषयरूप इस शान्तरस का स्थायीभाव पृथक होगा ही ।

इतिहास पुराण कोश आदि मे नवरसो का वर्णन पाया जाता है । इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञादर्शन के श्रीमत्सिद्धा तशास्त्र मे भी कहा है कि —

'अष्टानामिह देवाना शृगारादीन् प्रदर्शयत् ।
मध्ये च देवदेवस्य शान्त रूप प्रकल्पयेत् ॥" इति ।

[अर्थ —चारो ओर स्थित आठ देवो से शृगारादि आठ रसो का प्रदर्शित कर तथा इनके बीच म महादेव क शान्तरूप की रचना की जाए ।]

इसस भी स्पष्ट है कि नवरस स्वीकार करना युक्तिसगत है ।

इस शान्तरस क विभाव हैं लोक के प्रति वैराग्यभावना तथा ससार मे भीति आदि । इन वैराग्य आदि के उपनिबन्धन से शान्तरस की प्रतीति होती

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्ते एवोपलीयते ।
एवं नवरसाः दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः ॥ ८८ ॥

(अन्य रसों के) रति आदि स्थायीभाव वैकारिक भाव हैं किन्तु शान्त प्रकृति है । विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं तथा फिर उसी में लीन

हैं । मोक्षशास्त्र (उपनिषद् आदि) का चिन्तन करना शान्तरस के अनुभाव हैं और निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि व्यभिचारिभाव हैं । अतएव स्मृति, धृति तथा उत्साहमूलक ईश्वरप्रणिधान विषयिणी भक्ति तथा श्रद्धा शान्तरस की अंगभूता है और उसकी अलग परिगणना भी इसी कारण नहीं की गयी । इस विषय में एक अन्य संग्रह कारिका इस प्रकार है —

मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥ (ना० शा० ६।८३)

यहाँ 'मोक्षाध्यात्मनिमित्त' से विभाव 'तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्त' से स्थायी भाव तथा 'निःश्रेयसधर्मयुत' पद से अनुभावों का सम्बन्ध क्रमश तीन विशेषणों के द्वारा दर्शाया गया है । तथा —

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥ (ना० शा० ६।८७)

इत्यादि कारिका से शान्तरस ही अन्यरसों का मूलभूत है यह बतलाते हुए उपसंहार किया गया है ।

और जो 'डिम' में हास्य तथा शृङ्गाररस को छोड़कर षड्रसत्व' कहा जाएगा उसका अभिप्राय यह निकला कि 'दीप्तरसकाव्ययोनि' कहलाने वाले 'डिम' के लक्षण के अनुसार रौद्रप्रधान डिम में उसके विरोधी शान्तरस की सम्भावना न रहने से उसका निषेध भी व्यर्थ मानकर नहीं किया गया । पर शान्तरस का नाम न रहने से उसका अभाव नहीं मानना चाहिए । क्योंकि वैसा मानने पर उसे 'दीप्तरसकाव्ययोनि' विशेषण से कैसे व्यवच्छिन्न किया जाएगा ? 'शृङ्गार तथा हास्य से रहित और छ रसो से युक्त' कहने पर (और) किसकी प्राप्ति होती है जिसका भेद करने को विशेषण दिया गया । यदि इस पद से करुण तथा अद्भुत के प्राधान्य का निराकरण मानें तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि 'डिम' के लक्षण में 'सात्वती तथा आरभटी

हो जाते हैं। शान्तरस से अपने-अपने हेतुओं को प्राप्त करते हुए सभी भाव उद्भूत होते हैं तथा निमित्त (हेतु) के दूर हो जाने पर पुनः उसी में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार नाट्यज्ञ मनीषीगण के लिये लक्षणों में युक्त नव रसों का वर्णन किया गया है ॥ ८७-८८॥

वृत्ति से युक्त' एसे विशेषण के कारण ही इन दोनो वृत्तियो से हीन करुण तथा अद्भुत रसों का निवारण हो जाता है। शान्तरस मे सात्वतीवृत्ति रहने से 'दीप्तरसकाव्ययोनि आदि विशेषण इसी का व्यवच्छेदक है। अत 'डिम' के लक्षण स भी शान्तरस की पुष्टि होती है। बलात् सेवित शृङ्गार 'डिम के अन्तर्गत प्रयुक्त होता है और हास्य उसके अग रूप मे मान्य है, इसीलिए इन्ही दोनो का यहाँ निषेध किया गया है। मूलभूत या आत्मपरक रस होने के कारण इसके रग तथा अभिमानी देवता की कल्पना अनुचित होने पर भी अन्य रसो से समानता लाने के कारण यहाँ भी ऐसा किया गया है। अत यमनियम तथा ईश्वरप्रणिधान आदि के उपदेश पर आश्रित, महाफल, से युक्त, सभी रसो मे प्रधान और समस्त इतिहासादि मे व्याप्त रहने वाले शान्तरस की सत्ता युक्तिसगत है।

(प्रश्न) तो फिर इसका आस्वादन कैसे होता है ?

(उत्तर) आत्मस्वरूप के आच्छादक उत्साह, रति आदि (स्थायी भावो) से आच्छादित जो आत्मतत्त्व है वह दूर-दूर पिरोई गयी मणियो के मध्य उज्ज्वल सूत्र के समान इन भावो के बीच उद्भासित होता है और जब यह आत्मतत्त्व रति आदि समस्त आकर्षणो के अपने रूप मे उपस्थित रहने पर भी प्रकाशित रहता है तब विषयो से विमुखता रूप समस्त दुःखजाल से मुक्ति मिल जाती है और परमानन्द की प्राप्ति के साथ अभिन्नरूप मे यह प्रतीति काव्य तथा नाट्य आदि के द्वारा समानरूप से प्रतीति आन्तरिक अवस्था के भेद से लोकोत्तर आनन्द का प्रदाता होकर हृदय को भी इसी प्रकार आनन्दमय बना देता है।

इस प्रकार नौ ही रस सिद्ध होते हैं। क्योकि पुरुषार्थ मे उपयोगी होने के अथवा प्रतीति की अधिकता के कारण केवल नौ रस ही माने जा सकते हैं। श्रीशङ्कुक आदि ने जो यह कहा कि 'स्नेह, भक्ति आदि अन्य रसों के सम्भव होने पर भी प्रसिद्धि के कारण ही यहाँ सख्या का निर्देश किया गया है' यह खण्डित हो जाता है। भावाध्याय (७ अ०) मे आगे यही बात और विस्तार

एवमेते रसा ज्ञेया नव लक्षणलक्षिताः।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥ ८९ ॥

इस प्रकार अपने लक्षणों से युक्त नौं रस समझना चाहिए। अब आगे भावों के लक्षण बतलायेंगे ॥ ८९ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रसाध्यायः षष्ठः।

से कहेंगे। और आर्द्रता नामक स्थायीभाव वाला स्नेह (वात्सल्य) रस होता है' यह कहना भी अनुचित है। क्योंकि स्नेह एक प्रकार के आकर्षण का नाम है जो रति तथा उत्साह आदि सभी में समाया रहता हो। जैसे कि बालक का माता पिता आदि के प्रति, युवकों का अपने मित्रों के प्रति और राम का लक्ष्मण आदि भाइयों के प्रति जो स्नेह का उदय है वह रति में समाविष्ट हो जाता है। यही बात वृद्धजन की पुत्रादि के प्रति स्नेह के विषय में भी समझना चाहिए। गर्घ स्थायीभाव वाले लौल्यरस के खण्डन विषय में भी यही पद्धति ग्रहण करना चाहिए क्योंकि हास, रति या अन्य किसी रस में उसका अन्तर्भाव हो सकता है। इसी प्रकार भक्तिरस के विषय में भी खण्डन पद्धति रखी जाए और उसका शान्तरस में अन्तर्भाव मान लिया जाए। (अ० भा०)

१. प्रस्तुत अध्याय के विषय का उपसंहार कर अगले अध्याय के विषय की अवतारणा करते हुए अध्याय संगति को भरतमुनि प्रदर्शित करते हैं—'एवमेते' इत्यादि कारिका से। यहाँ लक्षणलक्षिता' पद से रसादि का व्यवहार सहेतुक होता है यह सूचित किया गया है। भाव आदि के लक्षणों से भी रस के लक्षण की ही पूर्ति होती है अतः यह कहना कि रति स्थायी भाव से युक्त, ऋतु माल्यादि विभावों से युक्त और नयनविक्षेप (कटाक्ष) आदि अनुभावों से युक्त शृङ्गाररस होता है, पूर्ण नहीं है। इस कथन में आकांक्षा बनी रह जाती है कि रति कैसी होती है? विभाव किसे कहते हैं तथा अनुभाव क्या हैं। अतएव यद्यपि आपाततः ये भावों के लक्षण प्रतीत होते हैं पर वाक्यैकवाक्यता के द्वारा रस के भी पूरकलक्षण हैं। यह बात मूल में प्रयुक्त 'अपि' शब्द से बतलायी गयी है। इति शिवम्।

---

१ स्त्वष्टौ—क०।

सप्तमोऽध्यायः

भाव—

भावानिदानीं व्याख्यास्यामः[1]। अत्राह—भावा इति कस्मात्, किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः। उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान्काव्यार्थान्भावयन्तीति भावा इति।

भू[2] इति करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च सिद्धम् अहो ह्यनेन[3] गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति[4]। तच्च व्याप्त्यर्थम्। श्लोकाश्चात्र—

अब मैं भावों को[1] बतलाता हूँ। इस विषय में प्रष्टव्य है कि इन्हें भाव क्यों कहा जाता है? उत्तर—यह इसलिये कि ये भावन करने या

---

१ पिछले अध्याय में भावों की चर्चा हो जाने पर पुनः यहाँ उसी बात को उठाने की आवश्यकता क्या है, क्योंकि वहीं 'भावाश्चापि कथं प्रोक्ता' (६।३) इत्यादि के द्वारा भावविषयक प्रश्न किया जा चुका है, फिर इस अध्याय में 'किं भवन्तीति' के द्वारा उसकी पुनरुक्ति क्यों की जा रही है।

इस पर कुछ आचार्य अपनी व्याख्या इस प्रकार करते हैं— 'पिछले अध्याय में भावाश्चापि' इत्यादि से रसभाव आदि के प्रसंग में विभावादि की प्रश्न और प्रतिज्ञा के रूप में चर्चा सामान्य रूप में की गयी थी। यहाँ विभावादि के स्वरूप निरूपण हेतु सर्वप्रथम प्रधान होने के कारण चित्तवृत्तिरूप स्थायी-भाव एवं व्यभिचारिभावों के लक्षण बतलाना इष्ट है अतएव यहाँ इसी से सम्बन्धित विशेष प्रश्न और प्रतिज्ञा करना आवश्यक है।"

पर हमारा मत इससे भिन्न है। हमारे मत में यहाँ भाव शब्द से चित्त-वृत्ति विशेष ही ग्रहण की गयी है और उनचास भावों का कथन करते हुए उपसंहार भी इसी आधार पर किया गया है। उनको अपनी योग्यता के अनु-सार स्थायी, सञ्चारी, विभाव या अनुभाव माना जाता है तथा जो ऋतु माल्य

---

१. व्याख्यास्यामः—घ०। २. भाव इति करणसाधन यथा भावित—घ०।
३ ह्यन्योन्यगन्धेन—घ०। ४. अपि च व्याप्त्यर्थम्—ग०।

स्थित होने से 'भावयन्तीति भावाः' (व्युत्पत्ति) के अनुसार भाव कहे जाते हैं। प्रश्न—और वे भाव किसका भावन करते हैं? उत्तर—वे शब्दों (वाणी), शरीर के अवयवों तथा सात्त्विक भावों के द्वारा दृश्य काव्य के अभिप्राय को दर्शकों को बतलाते हैं।

'भाव' शब्द 'भू' धातु से करण (हेतु) अर्थ में निष्पन्न (शब्द) है। भावित, वासित तथा कृत भी इसी अर्थ को प्रकट करनेवाले (समान) शब्द हैं। लौकिक-व्यवहार में भी ये एक दूसरे की सुगन्ध से या रस से भावित हैं, इत्यादि प्रयोग होते देखे जाते हैं। यहाँ 'भावन' का अर्थ है व्यापना।

इसी विषय के प्रतिपादक निम्न श्लोक हैं।

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु[1] गम्यते।

वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥ १॥

आदि (उद्दीपन) विभाव तथा आँसू बहाना आदि बाह्य-क्रियारूप अनुभाव हैं वे अपने जड़ स्वभाव के कारण 'भाव' कहे जा सकते हैं।

और यदि यह मानो कि वे रसप्रतीति को काव्य नाट्य आदि के प्रसंग में सम्पन्न करवाते हैं और भावमान भी करते हैं अतः प्रतीति परक क्यों न माने जायें? तो फिर विज्ञानवाद के अनुसार तो उपचार से सारा समग्र विश्व भावमय माना जाए क्योंकि नाट्य में उसी का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। तो फिर इनमें पार्थक्य कैसे होगा? इसलिये स्थायी, व्यभिचारि तथा सात्त्विक ही 'भाव' होते हैं अन्य नहीं। यहाँ विभाव तथा अनुभावों की चर्चा प्रासंगिक रूप (अंगरूप) में ही की जाएगी [प्रधानरूप से नहीं]।

और यहाँ जो 'पुनरुक्ति' की आशंका की गयी है वह भी अनुचित है क्योंकि रसाध्याय के आरम्भ में भावों का अंग रूप में कथन किया गया है, यह कथन उद्देश कथन नहीं है क्योंकि वहाँ केवल उल्लेख मात्र है, नाम लक्षण आदि का अभिधान नहीं [अतएव भावों का कथन अवसर प्राप्त है] और पूर्वाध्याय में जो भावों की चर्चा है वह रसों के लक्षणों के अन्तर्गत गौणरूप में आयी है क्योंकि वहाँ मुख्य रूप में रस लक्षण ही इष्ट है अतएव अब यहाँ भावों का कथन अवसर प्राप्त है। [अ० भा०]

---

१. ह्यनुभावेन—घ०।

जो अर्थ विभावों के द्वारा प्रस्तुत होते हुए अनुभावों से बोध्य होते हैं वे ही वाणी, अंग, तथा सात्विक भावों के अभिनयों से युक्त होने पर 'भाव'[1] कहे जाते हैं ॥ १ ॥

---

१ भाव चित्तवृत्तिस्वरूप होते हैं अतः इनकी दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जा सकती है। 'भवन्तीति भावाः'। यहाँ 'भवति' को रतिभाव के प्रकट होने की स्थिति में मानकर एक अर्थ, कि ये स्थित होने के कारण भाव है, व्युत्पन्न हो जाता है। इसमें भाव अपने उत्कर्ष या विस्तार को प्राप्त करता है। और पुनः 'भावयन्तीति भावाः' से 'भाव' का यह आशय लिया जायगा कि यह धीरे-धीरे, अधिकतर-अधिकतम रूप में विकसित होता रहता है और एक क्षण के लिये भी स्थित नहीं होता। इससे ये भाव सीमित समय में अनुभाव की प्रतीति के द्वारा चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं [यह आशय 'भावयन्तीति भावाः' के अनुसार (भी दूसरी तरह से) व्युत्पत्ति करने पर निकलता है] और इस प्रकार हृदय में व्याप्त होकर आस्वादनीय स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। दोनों व्युत्पत्तियों की सम्भावना के कारण यहाँ 'भवन्ति' तथा 'भावयन्ति' (दो व्युत्पत्तियों) को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ दो व्युत्पत्तियाँ दिखला कर प्रश्न की उद्भावना भी मूल में की गयी है कि भाव 'भवन्ति' के अनुसार स्थित होने के कारण है या 'भावयन्ति' के अनुसार है। और यदि 'भावयन्ति' के अनुसार है तो ये व्याप्त हो कर क्या अनुभावन करते हैं?

इस प्रकार प्रश्न उपस्थित कर भरतमुनि इसके उत्तर में—'वागङ्ग' इत्यादि से कहते हैं। काव्य के पदों तथा वाक्यों में असाधारणता तथा प्रधानता रहने से उनका पर्यवसान रस में होता है अतः काव्य का अर्थ यहाँ रसरूप है। यहाँ अर्थ शब्द का आशय है जो प्रधानतः प्रतिपाद्य या इष्टतम होकर भावना करवाता हो। यहाँ 'अर्थ' शब्द का केवल शब्दार्थ या वाच्यार्थ नहीं लेना चाहिए। क्योंकि रसादि अर्थों का स्वशब्द से अभिधान न करना ही ध्वनिकार आदि सभी आचार्यों ने दिखलाया है।

इस प्रकार काव्य के अर्थरूप रस की भावना या आस्वादन कराना ही यहाँ इष्ट है। यह लौकिक अर्थरूप आस्वादन स्थायी तथा व्यभिचारि आदि भावों के समूह से सम्भव या सम्पन्न किया जाता है। पहले स्थायी आदि की प्रतीति होकर फिर सर्वसाधारण भावों का आस्वादन सम्भव होता है। यह

आस्वादन पूर्व परिचित भाव का प्रत्यक्षभूत हो कर अगली आस्वादन भूमिका का निष्पादक होने से (आस्वादन की) भावना करवाने वाला कहा जाता है। अतः भाव का निष्पादक या उत्पादक रसास्वादन है। वाणी आदि इसी के (निष्पादक) कार्य रूप मे अवस्थित रहते हैं। इसलिये वर्णनात्मकतारूपी वाचिक, निवेश स्थिति या धुमाव आदि शारीर क्रियात्मक आङ्गिक तथा आत्मा के अन्तर्गत भाव तथा बाह्यक्रियारूपी सात्त्विक अभिनय के द्वारा काव्यार्थ अर्थात् रसानुभव को अभिव्यक्त किया जाता है। यहाँ यद्यपि नृत्य कला, भुवा आदि का अन्तरग भूत 'आहार्य' अभिनय भी होता है तथापि चित्तवृत्तिरूप भावो का भावन करवाने मे वाचिकादि तीनो अभिनयो का ही सहकार आवश्यक है यही दिखलाने के लिये (कारिका मे) तीन अभिनयो का उल्लेख किया गया है। (क्योकि काव्य का अनुभावन आहार्य के बिना भी होने देखा गया है।)

वाचिक आदि अपनी अभिनय प्रक्रिया से सम्पादित ये अलौकिक चित्तवृत्तियाँ अपनी आरम्भ लौकिक अवस्था का आस्वादन न करवाते हुए रसरूप का आस्वादन या भावन करवाती है अतः चित्तवृत्तियाँ ही भाव हैं। यहाँ भू धातु अन्तर्भावित ण्यर्थ है जो प्रकृत मे 'करोति' या स्थित अर्थ को बतलाती है। यही मूल म—'भू इति' इत्यादि से कहा गया है। भू धातु का 'णिच्' से सम्बन्ध होकर 'भावित' शब्द बनाया गया है। भावित, कृत तथा वासित आदि शब्द समानार्थक है।

वाचिक आदि अभिनयो के अगो के द्वारा अभिव्यक्त होकर 'भाव' रसप्रतीति रूप भावना सम्पन्न करता है इस शास्त्रीय अर्थ का प्रमाण लोकप्रचलित आधार पर भी दिया जा सकता है इस आशय से मूल मे—'लोकेऽपि' इत्यादि से कहा गया है। केवल लोक मे (ही) रस के भावित तथा कृत शब्द के अर्थ ही प्रसिद्ध नही है [अर्थात् लोक मे इस रस के द्वारा यह पदार्थ भावित कर दिया गया इत्यादि अर्थ ही प्रसिद्ध नही है] किन्तु पूर्णतः व्याप्त है, ऐसा अर्थ भी लिया जाता है। यह परिव्याप्त होना अर्थ मूल म 'च' शब्द से दर्शाया गया है। 'सर्व' शब्द से गन्ध रस आदि का ग्रहण समझना चाहिए।

'परिव्याप्ति' का यह अर्थ (एक)उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। कस्तूरी की गन्ध से वस्त्र उसकी गन्ध नही बन जाता है किन्तु उसके गुण से पूर्णत

वागङ्गमुखरागेण[1] सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते॥ २॥

सन्नाग्न हो जाता है और न उसके समान अन्य गुण की (वस्त्र म) उ त्ति ही जाती है। जैसे (भोज्य आदि) पदार्थ गन्ध आदि से भावित होते हैं उसी प्रकार वस्त्रादि मे कस्तूरी की परिव्याप्ति समझना चाहिए। इसी प्रकार प्रकृत विषय म वाचिक आदि अभिनय देश काल की प्रमुख एव विशिष्ट अवस्थाओ को प्रस्तुत करते हैं और अभिनेता मे रामादि के वास्तविक गुण न होने पर भी भ्रान्तज्ञान न होकर साधारणीकरण के द्वारा पात्रो को भूमिका मे उनकी उन्ही चित्तवृत्तियो को प्रस्तुत करते हुए अनुभावन करवाया जाता है (यह कस्तूरीगन्ध के समान अनुभावन समझना चाहिए)। तथा इसमे सामाजिक अपने आत्मरूप भाव को भावित करता है अत 'भावयन्तीति भावा' अथात भावित करने से भाव हैं, यह भावित होने का प्रमुख तात्पर्य माना जाना चाहिए। [अ० भा०]

इसके अतिरिक्त और भी प्राचीन आचार्यों ने 'भाव' शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई है जिसे सग्रह कहने के लिए भरतमुनि निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

१—विभावैराहृतो—विभाव का अर्थ है आलम्बन आदि विषय, क्योकि उसी से भाव निष्पन्न होता है। अत विभाव की अपेक्षा से जो भावित (निष्पादित) किये जाते हैं 'वे भाव' हैं। दूसरे आचार्य विभाव और अनुभाव के साथ सचारी भाव को भी अन्तर्गत करते हैं। उनके मत मे व्यभिचारिभाव के साथ भी भक्ति होने अर्थात् मिश्रीभाव की प्रक्रिया सम्पन्न की जा सकती है और व्यभिचारिभाव से अन्य व्यभिचारिभावो की उत्पत्ति हो सकती है। जैसे निर्वेद से चिन्ता, श्रम से निर्वेद इत्यादि। यह कथन उचित नही। क्योकि स्थायीभाव व्यभिचारिभाव हो जाते हैं पर व्यभिचारिभाव स्थायीभाव नहीं होते। क्योकि ऐसा मानने पर उसके आस्वाद मे अन्यरस की प्रतीति माननी पड़गी। और जहाँ स्थायीभाव के अन्तर्गत व्यभिचारिभाव म अन्य व्यभिचारिभावो की उत्पत्ति दिखाई देती है (जैसे पुरूरवा के उन्माद म तर्क या चिन्ता आदि सचारी भावो की उत्पत्ति) वहाँ भी व्यभिचारिभाव रति स्थायीभाव

---

[1] मुखरागैश्च—ग०, घ०।

नाट्यकार के नाट्य रचना में निगूढ़ भावों को दर्शकों को बोधगम्य बनाने के लिये जो वाणी, शरीर के अवयवों तथा चेहरों के रंगों द्वारा भाव का प्रदर्शन किया जाता है उसे 'भाव' जानो ॥२॥

के साथ मिल कर उसी को पुष्ट करते हैं। और यहाँ उन्माद केवल अमात्य स्थानीय होकर अन्य व्यभिचारिभावों से पुष्ट है परन्तु मुख्य तो रति ही है, जैसा कि आगे 'यथा नरेन्द्र' (७।१०) इत्यादि से भरतमुनि ने स्वयं कहा है।

(२) वागङ्गमुख—इस प्रकार लोकवृत्त का अनुकरण नाट्य में बतला कर कवि तथा अभिनेता के द्वारा क्रमशः उद्भावना या शिक्षा अभ्यास से उद्भावित या प्रस्तुत किये जाने वाले सामाजिक के अभिप्राय से भावित या निरूपित होने वाले 'भाव' का निरूपण संग्रहरूप में बतलाने के लिये संग्रहरूप दो पद्य कहे गये हैं। अर्थात् वाचिक, आङ्गिक, मुखरागात्मक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा कवि के काव्यकौशल से युक्त वर्णन के अन्तर्गत जो अन्तः-करण में स्थित भाव को अनादि काल से पूर्वजन्म के संस्कार आदि के कारण तज्जन्य वासना से युक्त लौकिक होकर भी प्रतिभाप्रसूत रहने वाले मनोभाव का देश, काल आदि भेदों से मुक्त साधारणीकृत रूप में जो आस्वादन योग्यता का निर्माता है वह भाव है। चित्तवृत्ति स्वरूप भाव होता है। सत्त्व का अर्थ है चित्त की एकाग्रता का भाव, उससे उत्पन्न सात्त्विक भाव है, जिनमें कृत्रिम आँसू आदि की उपलब्धि होती है और सचारीभाव में अतिशय उसकी प्राप्ति या उपलब्धि होती है ऐसा अपनी-अपनी अवस्था या संयोग के अनुसार समझना चाहिए। मुखराग यद्यपि सात्त्विक भाव के अन्तर्गत आ जाता है परन्तु अभिनय में इसका महत्त्व होने से विवर्ण भाव वाला मुखराग भी यहाँ प्रधानतः अभिहित किया है। जैसा कि आगे कहा जाएगा—

"शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तः कृतोऽप्यभिनयः शुभः।
मुखरागविहीनस्तु नैव शोभान्वितो भवेत् ॥"

(ना० शा० ८।१६४)

क्योंकि इसी के कारण अनेक सूक्ष्म भावों की अभिनय में अभिव्यक्ति की जा सकती है।

(३) नानाभिनय—क्योंकि ये भाव आस्वादन के योग्य चित्तवृत्ति विशेष को भावित करते हैं, ले जाते हैं, प्रतीत करवाते हैं या बुद्धि के गोचर करवाते

नानाभिनयसंबद्धा¹न्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ३ ॥

क्योंकि ये अनेक विध अभिनयों से (युक्त) रसों का भावन करते हैं अतएव इन्हें नाट्य निर्माता (या प्रयोक्ता) गण 'भाव' कहते हैं ॥ ३ ॥

विभाव—

अथ विभाव इति कस्मात् । उच्यते—विभावो नाम विज्ञानार्थः । विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः । विभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनय इति विभावः । यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम् ।

(प्रश्न) 'विभाव' शब्द का प्रयोग किस हेतु होता है ? (उत्तर) 'विभाव' शब्द का प्रयोग विशिष्ट (स्पष्ट) ज्ञान के लिए किया जाता है ।

है (अत भाव है) । 'इमान्' का अर्थ है सामाजिकों को रसप्रतीति करवाने के कारण । यहां 'अभिनयसहितान्' के द्वारा यह दर्शाया गया है कि अभिनय भी सामाजिकों को बुद्धि गोचर करवाया जाता है । यही भावना रसों को अपने उपयुक्त स्वरूप द्वारा भावित करती है और लौकिक जीवन में विद्यमान रति आदि भावनाओं को स्थायी भावों के रूप में अभिव्यक्त कर शृङ्गारादि रसों की अभिव्यक्ति या बोध करवाती है । [अ० भा०]

१ पूर्व कारिका में भाव को विभाव से प्रस्तुत बतलाया था, वहाँ यद्यपि प्राकरणिक रूप में चित्तवृत्तियों से उत्पन्न होने वाला कारण रूप विषय विभाव शब्द का अर्थ है ऐसा बतलाया था फिर भी उसके शास्त्रीय अर्थ के विषय में जिज्ञासा बनी ही रहती है । अत उसी जिज्ञासा के कारण 'विभाव इति कस्मात्' इत्यादि के द्वारा यहां स्वरूप विषयक प्रश्न किया गया है । 'कस्मात्' शब्द से उसी प्रश्न को विस्तार देकर पूछा गया है कि ऋतु, माल्य आदि को विभाव शब्द द्वारा क्यों कहा गया है ।

भरतमुनि 'विभाव्यन्ते' इत्यादि से इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं । जिन (वाचिक आदि अभिनयों) के द्वारा स्थायी एवं व्यभिचारिभावों का विभावन अर्थात् विशेषरूप से ज्ञान करवाया जाता है वे विभाव कहलाते हैं ।

---

१. सम्बन्धान् —ग० ।

इसके कारण, निमित्त या हेतु पर्याय हैं। (या ये शब्द एकार्थक हैं)। क्योंकि जिसके द्वारा वाणी, अंग तथा सात्त्विक अभिनय का स्पष्ट ज्ञान होता है उसे विभाव जानो। विभावादि तथा विज्ञात शब्द समानार्थक हैं।

अत्र श्लोकः—

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः[१]।

अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥ ४॥

इस विषय में एक श्लोक है :—

क्योंकि इसके द्वारा वाणी, अंग तथा अभिनय में स्थित अनेक अर्थों का अवबोध होता है अतएव इसे 'विभाव' संज्ञा से अभिहित किया गया है॥ ४॥

अनुभाव[१] :—

अथानुभाव इति कस्मात्? उच्यते—

[२]अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति।

(प्रश्न) 'अनुभाव' शब्द का प्रयोग क्यों होता है? (उत्तर) क्योंकि ये अभिनय को वाणी, अंग तथा सात्त्विक भावों के द्वारा अनुभूति योग्य बनाते हैं, अतः 'अनुभाव' कहलाते हैं।

ज्ञापन करने वाले हेतु विभाव है जिन्हे कारण पदवाच्य कहा जाता है। क्योंकि एक ही भाव का अभिनय अनेक कारणो से प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे हर्ष आदि से हास तथा धूप, धुआं या रोग आदि से आंसू उत्पन्न होते हैं। तो इनकी प्रतीति ठीक से कैसे होगी इसलिये कारण स्वरूप विभाव को देखकर शीघ्र ही सन्देह दूर होकर निश्चय हो जाता है। अत विभाव ज्ञापक हेतु हैं।

१. अनुभाव—'वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक क्रियायें अभिनय को अनुभूति योग्य बनाते हैं' का आशय है वाणी, अङ्ग तथा सत्त्व से युक्त चेष्टायें या व्यापार ही 'अनुभाव' हैं। अनुभाव अगभूत होने से या सहायक होने के

---

१. भिनयाश्रिता —ग०।

२ 'यदयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागङ्गसत्त्वे कृतोऽभिनय' इति—ग०।

अत्र श्लोकः—

[1]वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
[2]शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ५ ॥

इस विषय में एक श्लोक (भी) है ।

क्योंकि (यह) दर्शकों को वाणी तथा अंग के अभिनय के द्वारा अर्थ की अनुभूति (या ज्ञान) को सम्पन्न करता है अतः शाखा, अङ्ग, एवं उपांग से संयुक्त यह 'अनुभाव' कहलाता है । (अथवा वाचिक, तथा आंगिक एवं उपांगों के अभिनय से सम्बद्ध रहने के कारण इसे 'अनुभाव' कहते है) ॥ ५ ॥

एवं[3] ते विभावानुभावसंयुक्ता भावा इति व्याख्याताः । अतो ह्येषां भावानां सिद्धिर्भवति । तस्मादेषां[4] भावानां विभावानुभावसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । तत्र विभावानुभावौ लोकप्रसिद्धौ । लोकस्वभावानुगतत्वाच्च[5] तयोर्लक्षणं[6] नोच्यतेऽति प्रसङ्गनिवृत्त्यर्थम्[7] ।

कारण भावो के साथ ही उत्पन्न तथा तिरोहित होते रहते है, अत ये सहाव-स्थिति की दशा मे रहने पर सहायक ही माने जाने चाहिए । साहित्यदर्पणकार ने इनका व्युत्पत्ति परक अर्थ लेकर 'अनु—पश्चाद् भवन्तीति अनुभावा ' कहकर उन्हें भावो के पश्चाद् उत्पन्न होने वाले 'कार्यरूप' माना है । परन्तु भावो तथा अनुभावो की कारण कार्य परक स्थिति तात्त्विक नही है क्योंकि अनुभाव स्थायी आदि भावो से भी उत्पन्न हो सकते हैं और उनके साथ भी रह सकते है अत ऐसी आशकाओ की व्यर्थ उत्पत्ति करवाने वाले लक्षण की अपेक्षा भरतमुनि के क्रिया रूप व्यापार या अभिनय के अन्तर्गत होनेवाली चेष्टाओं को 'अनुभाव' मानना सुगम होगा ।

---

१ वागङ्गसत्त्वाभिनयैर्यस्मादर्थो विभाव्यते—ख० ।
२. वागङ्गोपाङ्ग—ग०, घ० ।
३ 'एव त' इत्यारभ्य 'सिद्धिर्भवति' इत्यन्त पाठ ग—पुस्तके नास्ति ।
४. एतेषा—ग० । ५. लोकस्वभावोपगतत्वान्—ग० ६. च्चैषा—ग० ।
७ निवृत्त्यर्थञ्च—घ० ।

(इस प्रकार) हमने विभाव तथा अनुभाव से संयुक्त 'भावों' को बतलाया क्योंकि इसी प्रकार इन भावों की उत्पत्ति होती है। अब हम विभाव तथा अनुभाव से संयुक्त (इन) भावों का लक्षण तथा उदाहरण देते हुए व्याख्या करेंगे। इनमें विभाव तथा अनुभाव के लोक प्रसिद्ध और मानव प्रकृति के अतिशय अनुगामी होने के कारण लक्षण नहीं बतलाए गए। इनके लक्षण न बतलाने का यही हेतु है।

भवति चात्र श्लोकः—

लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः।
अनुमावा[1] विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः॥ ६॥

इस विषय में एक श्लोक (भी) है—

लोक प्रकृति से उत्पन्न होने वाले और लोक व्यवहार के अनुसर्ता इन अनुभाव तथा विभावों को स्वय विद्वजन लोकप्रचलित कार्य द्वारा (अभिनय में) समझ लें।

भावों के तीन प्रकार (स्थायी, सचारी तथा सात्विक)

तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः। अष्टौ सात्त्विका इति भेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपञ्चाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।

इन भावों में आठ स्थायीभाव, तैतीस सचारी (व्यभिचारि) भाव तथा आठ सात्विक भाव हैं। इस प्रकार भाव तीन (प्रकार के होते) हैं। काव्य की रसाभिव्यक्ति में करणीभूत ये ही उनचास भाव है। इन्हीं के सामान्यगुणों[1] के संयोग द्वारा रसादि निष्पन्न होते है। (रस-निष्पत्ति का पिछले अध्याय में वर्णन हो चुका है)

---

१. सामान्यगुणयोगेन का अर्थ है—इन विभिन्न भावो के द्वारा या इनके माध्यम से रसप्रतीति करवाना। अर्थात् विशिष्ट या व्यक्तिनिष्ट भावो का साधारणीकरण की भूमिपर प्रतिष्ठापित कर बोधगम्य या प्रतीतियोग्य बनाना।

---

१. अनुभावविभावाश्च—ग०।

अत्र[1] श्लोकः—

> योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
> शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ ७ ॥

इस विषय में निम्न श्लोक भी हैं :—

जो वस्तु या पदार्थ हृदयस्पर्शी हों, उनका (हृदयस्पर्शी होने में) रस से उत्पन्न होनेवाला कारण 'भाव' है। यह (भाव) सम्पूर्ण शरीर में (तत्काल) उसी प्रकार व्याप जाता है जैसे सूखी लकड़ियों में अग्नि ॥७॥
स्थायीभाव का अन्य भावों से पार्थक्य—

अत्राह—यदि काव्यार्थ[2]-संश्रितैर्विभावानुभावव्यञ्जितैरेकोनपञ्चाशद्भावैः सामान्यगुणयोगेनाभिनिष्पद्यन्ते रसास्तत्कथं स्थायिन[3] एव भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। उच्यते—यथा हि समानलक्षणास्तुल्यपाणि पादोदरशरीराः[4] समानाङ्गप्रत्यङ्गा[5] अपि पुरुषाः कुलशीलविद्याकर्मशिल्प विचक्षणत्वाद्रा[6]जत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति, तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्ति। बह्वाश्रयत्वा[7]त्स्वामिभूताः स्थायिनो भावाः तद्वत्स्थानीयपुरुषगुणभूता[8] अन्ये भावास्तान्गुणतयो[9]ऽऽश्रयन्ते [तत्र स्थायिभावाः रसत्वमाप्नुवन्ति] परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः (तान् गुणतयाश्रयन्ते)।

यह कार्य सभी भावों के संयोग द्वारा सम्पन्न किया जाता है जिसका विश्लेषण 'रसनिष्पत्ति' के प्रसंग में विस्तार से किया जा चुका है।

---

१ भवति चात्र—ग०। २ यदान्योन्यार्थसंश्रितै —ग०।
३ कथमिदानीमेते स्थायिनोऽर्थो—ग०।
४. पादोदरसमाना —ग०। ५. समानप्रत्यया —ग०।
६ विचक्षणःवयुक्ता—ग०। ७ इत्याश्रयत्वात्—ग०।
८. तद्वत् स्थायिनि वपुषि गुणीभूता —ग०।
९ गुणवत्तया—ग०।

(प्रश्न) यदि काव्य के अर्थों के आश्रित विभाव, अनुभाव (तथा सचारी भावों) द्वारा—जो कि (कुछ) उनचास हैं—रस निष्पन्न होते हैं। और रस इन भावों के सामान्य गुणों के संयोग से (ही) जब निष्पन्न होते हैं तो फिर स्थायीभाव ही रसत्व की अवस्था को कैसे प्राप्त करते हैं, अन्य भाव (विभाव, अनुभाव तथा सचारीभाव) रसावस्था को क्यों नहीं प्राप्त करते ? (उत्तर) जैसे एक जैसे लक्षणवाले हाथ, पैर, उदर तथा शरीर के समान होने पर और अङ्ग प्रत्यंग के समान रहने पर भी (कुछ) पुरुष अपने कुल, शील, विद्या, कर्म तथा शिल्प गत विलक्षणता के कारण आधिपत्य प्राप्त करते हैं और शेष अपनी बौद्धिक (या अन्य) न्यूनता के कारण (वहीं) सेवक रह जाते हैं, वैसे ही विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव स्थायीभाव के आश्रित होकर रहते हैं। (क्योंकि स्थायीभाव अनेक भावों द्वारा आश्रित रहने के कारण मुख्य है। (इसी प्रकार जो) सेवकों के समानगौणता को लिये हुए अन्य संचारी भाव हैं वे मुख्य भाव का आश्रय ग्रहण करते हैं और गौणभूत ये सचारी (भावादि) राज्य के परिवार के समान (स्थायीभाव के पारिवारिक भाव) हैं।[1]

---

१ स्थायीभाव की प्रधानता का एक अन्य कारण यह भी है कि यह प्रकर्ष को प्राप्त कर अन्य (अनुभावादि भावों) का प्रच्छादक हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र ने स्थायीभाव का अन्य विभावादि से पार्थक्य बतलाते हुए विशेष विचार प्रस्तुत किये हैं। तदनुसार रत्यादि स्थायीभाव ज्ञानस्वरूप होने से चेतनात्मक या चेतनास्वरूप होते हैं। वेदान्तशास्त्रादि के अनुसार ज्ञानात्मकता चैतन्य स्वरूप होती है। धैर्यादि (मानस क्रियाएँ) अनुभाव ज्ञानरूप होने से अजड तथा स्वेदादि अनुभाव शारीरिक या बाह्य क्रियायें होने से जड हैं इसलिये अनुभाव उभयरूप हैं। इसी प्रकार वनितादि आलम्बन विभाव चेतनरूप और ऋतुमाल्यादि उद्दीपन विभाव जडरूप होने से और निर्वेदादि व्यभिचारिभाव ज्ञानरूप होने से चेतनरूप तथा व्याध्यादि शरीरधर्मा होने से जडात्मक हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि (एवं सात्त्विक) भाव ज्ञानरूप (अजड) और शरीरधर्मादिरूप (जड) होने से उभयरूप होते हैं और यह भी स्थायी और अन्य विभावादि में परस्पर अन्तर (होता) है। अन्य विद्वान् स्थायी और व्यभिचारिभाव के अन्तर को एक दूसरे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। तदनुसार जैसे सूत्र प्रत्येक मणि के साथ

अत्राह—को दृष्टान्त इति। यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुष.। तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृत. स्थायी भावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत्।

(प्रश्न) इस विषय म दृष्टान्त क्या होगा? (उत्तर) जैसे बडे परिवार (या अनेक परिजन) से युक्त होने पर भी केवल राजा का ही नाम रहता है। उससे बडे (कुटुम्बी-जन) का भी नाम नहीं रहता। वैसे ही विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावों से युक्त स्थायीभाव ही नरेन्द्र के समान रस दशा को प्राप्त करता है (अन्य भाव नहीं।)

स्थायीभाव (लक्षण)

भवति चात्र श्लोक·—

तथा नराणां नृपतिः शिष्याणाञ्च यथा गुरु ।

एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥ ८ ॥

इस विषय में एक (परम्परा प्राप्त) श्लोक है —

जैसे मनुष्यों म राजा तथा शिष्यों में गुरु मुख्य होते हैं वैसे ही सब भावों में स्थायी भाव मुख्य (श्रेष्ठ) माना गया है ॥ ८ ॥

लक्षणं खलु पूर्वमभिहितमेषां रस-संज्ञकानां निदर्शनं[1] तु। इदानीं भावसामान्यलक्षणमभिधास्याम.। तत्र स्थायिभावान्वक्ष्याम.–

इनमें रसदशा को प्राप्त करने वाले रसों के लक्षण तथा दृष्टान्त बतलाए जा चुके हैं। अब हम भावों के सामान्य लक्षण बतलाएँगे। (इनमें भी) सर्वप्रथम स्थायीभावों के लक्षण बतलाते हैं—

रह कर रत्नमाला बनाना है इसी प्रकार स्थायीभाव प्रत्येक सचारी से सम्बद्ध होकर रसावस्था को प्राप्त करता है।

१ स्थायीभाव रत्यादि परिणाम के उत्पादक होने से रसादि के परिणामि कारण हैं। ये रत्यादि जिस रस के स्थायीभाव माने गये हैं उनसे भिन्न रसो मे व्यभिचारिभाव या अनुभावरूप भी हो सकते हैं। परन्तु दूसरे रसो मे रत्यादि के आगन्तुक स्वरूप मे रहने से (उनका) स्थायीभावत्व नहीं होता है।

---

१ निदर्शनन्तु इति ग पुस्तके नास्ति।   २ तनार्दौ—ग०।

रति—

तत्र रतिर्नाम प्रमोदात्मिका[1] ऋतुमाल्यानुलेपनाभरणभोजनवरभवना[2]नुभवनाप्रातिकूल्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेत् स्मितवदनमधुरकथनभ्रूक्षेपकटाक्षादिभिरनुभावैः।

आमोदात्मक-भाव रति[1] कहलाता है। यह ऋतु, माल्य, चन्दलेपन, अलङ्कार धारण, [प्रियजन सेवन] इष्ट भोजन, सुन्दर भवन का उपभोग तथा प्रतिकूल आचरण न करने आदि विभावों द्वारा उद्भूत होता है। इसका मुस्कुराते मुँह, मधुरवाक्य, भ्रूविक्षेप और कटाक्षपात आदि अनुभावों से अभिनय किया जाता है।

अत्र[3] श्लोकः—

> इष्टार्थ-विषय-प्राप्त्या रतिः[4] समुपजायते।
> सौम्यत्वादभिनेया सा[5] वाङ्माधुर्याङ्गचेष्टितैः ॥ ९ ॥

इस विषय में निम्न श्लोक है—

इष्ट पदार्थ की प्राप्ति से 'रति' उत्पन्न होती है। इसका अभिनय सौम्यता, वाणी के माधुर्य तथा उपयुक्त आंगिक चेष्टाओं द्वारा किया जाए ॥ ९ ॥

---

१. 'रति' का व्यापक अर्थ है—अनुराग या प्रेम। पर यहाँ भरतमुनि ने उसका नाट्यप्रसंग में शृंगार के साथ सीमित अर्थ ही ग्रहण किया है। केवल अभिलाष मात्र के प्रदर्शन से रति व्यभिचारिभाव भी बन जाती है तथा देवता, बन्धु, गुरुजन आदि के प्रति प्रेम रहने पर इसका रूप भिन्न या उदात्त हो जाता है। अत: ये दोनों प्रकार 'रति' के शृङ्गाररस के स्थायीभाव से पृथक् हैं। यहाँ रति को आमोदात्मक कह कर भरत ने उसे कान्ताविषयक ही संकेतित किया है जिससे स्पष्टत: वह शृंगाररस का स्थायीभाव बन कर रहे।

१. आमोदात्मको भाव —ग०। २. प्रियजन परभावना—ग०।
३. भवति चात्र—ग०। ४. रतिरित्युप—ग०।
५. दभिनेयासौ—ग०।

हास—

अथ हासो नाम—परचेष्टानुकरणकुहकासम्बद्धप्रलाप[1]-पौरोभाग्यमौ[2]-र्ख्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तमभिनयेत्पूर्वोक्तैर्हसितादिभिरनुभावैः।

'हास' (नामक स्थायीभाव) अन्य व्यक्तियों की चेष्टाओं के अनुकरण, आँख या गर्दन का स्पर्श (बेसिर-पैर की) बकवास (असम्बद्ध प्रलाप), दोषोद्भावन (पौरोभाग्य), मूर्खता के प्रदर्शन आदि अनुभावों से उद्भूत (अभिव्यक्त) होता है। इसका पूर्व निर्दिष्ट हसितादि अनुभावों के द्वारा अभिनय किया जाए।[1]

भवति चात्र श्लोकः—

परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते।
स्मितहासातिहसितैरभिनेयः स पण्डितैः॥ १०॥

इस विषय में निम्न श्लोक है :—

अन्य व्यक्तियों की चेष्टाओं की नकल करने पर 'हास' उत्पन्न होता है। इसे पण्डितजन स्मित, हसित तथा अतिहसित (भेदों) के द्वारा अभिनीत करें॥ १०॥

शोक—

शोको नाम—इष्टजनवियोगविभवनाश—वधबन्धदुःखा[3]नुभवनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्याश्रुपातपरिदेवितविलपित[4]वैवर्ण्यस्वरभेदस्रस्तगात्रताभूमिपतनसस्वनरुदिताक्रन्दितदीर्घनिःश्वसित[5]जडतोन्मादमोहमरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

---

१ मन की प्रसन्नता तथा उन्मादादि से भी चित्त का विकार होने पर 'हास' कहलाता है। कुहक का अर्थ है—आँख या गर्दन का स्पर्श करना।

१ चेष्टानुकरणासम्बद्धप्रलाप—ग०। २. सौत्यादि—ग०।
३. वधबन्धनदुःखा—ग०। ४ तस्याश्रुपातविलपितपरिदेवित—ग०।
५ भूमिपाताक्रन्दितविचेष्टितदीर्घ-निश्वसित—ग०।

'शोक'[1] (नामक स्थायी भाव) का उद्भव प्रियजन के वियोग (नाश) सम्पत्तिनाश, (प्रिय या) इष्ट व्यक्ति के वध, बन्धन तथा दुःख के अनुभव करने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अश्रुपात, विलाप, पश्चात्ताप (परिदेवित), विवर्ण (मुँह के उतरने), स्वरभेद (कण्ठ के रुँधजाने), अगशैथिल्य, भूमिपतन, विलाप, दीर्घ निश्वास, जडता, उन्माद, मोह तथा मरण आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

रुदितमत्र त्रिविधम्—आनन्दजमार्तिजमीर्ष्यासमुद्भवश्चेति। भवति चात्रार्या—[1]

इस दशा में सामान्यतः विलाप (रुदित) तीन प्रकार का होता है। (१) आनन्द से, (२) पीडा से तथा (३) ईर्ष्या से उद्भूत रुदित।

इस विषय में ये आनुवंशिक आर्याएँ हैं :—

हर्षोत्फुल्लकपोलं सानुस्मरणादपाङ्गविसृतास्रम्[2]।
रोमाञ्चगात्रमनिभृतमानन्दसमुद्भवं भवति ॥ ११ ॥

---

१ स्थायीभाव के विशिष्ट लक्षणो के कारण यहां सर्वत्र उत्पन्न होने वाले विभाव अनुभाव या सात्विकभावो का विभागपूर्वक निर्देश किया गया है। यह नाट्य मे किये जाने वाले अभिनय को दृष्टिगत रखते हुए भरत मुनि ने यहां बतलाया है, अत पूर्वाध्याय मे रसाभिव्यक्ति को मुख्य मानकर दिखलाये गये स्थायी, सचारी के विवरण से यह व्यापक है।

शोक—प्रियजन के मरणादि से हृदय मे जो आकुलता उत्पन्न हो जाए वही चित्तवृत्ति 'शोक' है। इस दशा मे जबतक इष्टजन की जीविताशा का ज्ञान रहता हो तबतक प्रेम की प्रधानता रहने से विप्रलम्भ शृङ्गार हो रहता है और ऐसी दशा म व्याकुलता से उद्भूत 'शोक' सचारीभाव बन जाता है। पर जब इष्टजन के मरणका ज्ञानहो जाए तब रतिभाव शोक की पुष्टि करता है और व्याकुलता के प्रधान हो जाने से वहां करुणरस का उद्भव होता है।

---

१ आनन्देर्ष्यार्तिकृत त्रिविध रुदित सदा बुधैर्ज्ञेयम। तस्य त्वभिनययोगान् विभावगतित प्रवक्ष्यामि ॥ इति ख—पुस्तकेऽधिकम्।

२ सानुस्मरणश्च वागनिभृतास्रम—ग०।

३ रोमाञ्चाञ्चितगण्ड रोदनमानन्दजं—ग०।

जिस रोदन में कपोल हर्ष के कारण फूल जाएँ, स्मरण वाक्यों के साथ नेत्रों के प्रान्त भागों से अश्रु ढलकने लगें और बार-बार शरीर रोमांचित होने लगे तो उसे 'आनन्दज रोदन' समझें ॥ ११ ॥

पर्यातविनुक्तास्रं सस्वनमस्वस्थगात्रगतिचेष्टम् ।
भूमिनिपातनिवर्तितविलपितमित्यार्तिजं भवति ॥ १२ ॥

जिसमें जोरों की आवाज करते हुए अश्रुप्रवाह अधिकता से हो रहा हो शरीर की अवस्था, गति तथा चेष्टाएँ अव्यवस्थित हों, भूमि पर गिरकर बार बार रोदन तथा तदनुकूल चेष्टाएँ हों तो उसे 'आर्तिजरोदन' समझिए ॥ १२ ॥

प्रस्फुरितौष्ठकपोलं सशिरःकम्पं तथा सनिश्वासम् ।
भ्रुकुटीकटाक्षकुटिलं स्त्रीणामीर्ष्याकृतं भवति ॥ १३ ॥

स्त्रियों का वह जोरों से रोना जिसमें ओठ तथा गाल बार-बार फड़कते हों, मस्तक हिलता हो, लम्बी साँसें ली जाती हों, भ्रुकुटी और दृष्टि क्रोध से चढ़ जाए (कुटिल हो जाए) तो उसे 'ईर्ष्या जन्य रोदन' जानें ॥ १३ ॥

स्त्रीनीचप्रकृतिष्वेष[1] शोको व्यसनसम्भवः ।
धैर्येणोत्तम-मध्यानां नीचानां रुदितेन च ॥ १४ ॥

स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रों में ही कष्ट से होने वाला 'शोक' होता है। उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के पात्रों में धैर्ययुक्त तथा नीच प्रकृति के पात्रों में रोदन के द्वारा यह शोक उद्भूत होता (या दिखाई देता) है ॥१४॥

क्रोध—

क्रोधो नाम—आधर्षणाक्रुष्टकलहविवादप्रतिकूलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। अस्य[3] विकृष्टनासापुटोद्वृत्तनयनसन्दष्टोष्ठपुटगण्ड-स्फुरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

१. भूमिनिपातितचेष्टित—ग० ।

२. अनयोर्मध्ये-कारणमपेक्षमाण प्रायेणायासलिङ्गसयुक्त । वीररसान्तर-चारी कार्य कृतको भवेच्छोक । इति अधिक—ग—पुस्तके । स्त्रीनीचप्रकृति ह्येष—घ० ।

३ तमभिनयेत् उत्फुल्लनासापुटोद्धृतनयन—ग० ।

'क्रोध'[१] (शत्रु आदि को) पकडने, गाली देने, झगडने या लडने तथा विरोध करने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय नथुनियों के फूलने, त्यौरी चढाने, आँखों के घुमाने, ओठों के चबाने तथा गालों के फडकने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

रिपुजो[१] गुरुजश्चैव प्रणयिप्रभवस्तथा।
भृत्यज· कृतकश्चेति क्रोधः पञ्चविधः स्मृतः ॥ १५ ॥

क्रोध के पाँच[२] प्रकार होते हैं। यथा—(१) रिपुज (शत्रु पर आनेवाला), (२) गुरुज (पूज्यजन पर होनेवाला), (३) प्रणयिजन्य (प्रिया पर होने वाला), (४) भृत्यज (सेवक पर होनेवाला) तथा (५) कृतक बनावटी) ॥ १५ ॥

अत्रार्या भवन्तिः—

भ्रुकुटीकुटिलोत्कटमुख·[२] सन्दष्टोष्ठ· स्पृशन्करेण करम्।
क्रुद्धः[३] स्वभुजप्रेक्षी शत्रौ[४] नियन्त्रणं कुप्येत् ॥ १६ ॥
इस विषय म ये आनुवशी आर्याएँ हैं।

---

१. क्रोध मे मुख्यत जल उठने या उत्तेजित हो जाने की भावना प्रबल रहती है। यदि यही भाव किसी छोटे अपराध या अन्य कारणों से होता है तो इसम कठोर वचन या मौन रखना भी होता है। ऐसी दशा मे 'क्रोध' अमर्ष नामक सचारीभाव बन जाता है। यही 'क्रोध स्थायी तथा 'अमर्ष' सचारी भाव मे अन्तर है। यहाँ क्रोध के भरत ने पाँच प्रकार बतला कर उसी का परम्परागत आर्याओं के द्वारा विस्तार वर्णन दिया है।

२. यहाँ क्रोध के (पाँच) प्रकारो म विविध आलम्बन निर्दशित किए गये हैं तथा उन्ही के विभेद से क्रोध क प्रकार तथा उसके विभाव, अनुभाव आदि म अ तर बतलाया गया है। इनमे शत्रु पर होनेवाले क्रोध मे जलन या उत्तेजना के भाव की तीव्रता या जल उठना बतलाया गया है। गुरुजन के प्रति होनेवाले उसको विनयच्छन्न बतलाया गया है तथा प्रिया के प्रति यही भाव

---

१. अय श्लोक ग—पुस्तके नास्ति। २ मुखसन्दष्टोष्ठ —घ०।
३ स्पष्टमुजशिरवक्षा —ग०, धृष्टभुजशिखरवक्षा —घ०।
४. शत्रोर्विनियन्त्रण कुप्येत्—ग०।

शत्रु पर होने वाले क्रोध में भ्रुकुटी का चढाना, मुँह का टेढा (कुटिल) या ऊँचा करना, ओठों का चबाना, हाथों का (एक दूसरे से लगाकर) मलना और स्वय के मस्तक और छाती को बार-बार स्पर्श करना होता है ॥ १६ ॥

किञ्चिदवाङ्मुखदृष्टिः साश्रस्वेदापमार्जनपरश्च[1] ।
अव्यक्तोल्बणचेष्टो गुरोर्विनय[2]यन्त्रितो रुष्येत् ॥ १७ ॥

पूज्यजन (के द्वारा नियन्त्रित होने) पर जब क्रोध आता है तो उसमें मुँह तथा दृष्टि थोडी झुक जाती है, आँसू और पसीने का कुछ कुछ आना और उसे पोछने लगना रहता है तथा अपनी उद्धत चेष्टाएँ स्पष्ट प्रकट नहीं होने पाती है ॥ १७ ॥

अल्पतरप्रविचारो विकिरन्नश्रूण्यपाङ्गविक्षेपै:[3] ।
सभ्रुकुटीस्फुरितोष्ठ:[4] प्रणयोपगतां[5] प्रियां रुष्येत् ॥ १८ ॥

सानुराग प्रिया पर आनेवाले क्रोध में धीरे-धीरे कुछ दूर चलना, आँसुओं का टपकाना, आँखों को तिरछे रखना, भ्रुकुटी चढाना तथा ओठों का चबाना होता है ॥ १८ ॥

होने पर उसमे थोडी मृदुता का भाव निदर्शित किया गया है। जब कि अपने सेवक आदि पर यही भाव आने पर क्रूरता नही रहती, क्योकि वहाँ अपना पराक्रम दिखलाना इष्ट नही होता केवल मनकी क्षोभपूर्ण वृत्ति ही वहाँ मुख्य रहती है। और जो क्रोध कृत्रिम होता है अर्थात् किसी कारण से उद्भूत होता है उसकी स्थिति दो रसो के अन्तर्गत मानी गयी है। यह वीर रस तथा रौद्र-रस के अन्तर्गत होता है। ऐसी अवस्था मे वीररस के अन्तर्गत क्रोध सचारी होकर भी 'कृत्रिम' हो सकता है क्योकि वहाँ यह नियोजित एव व्यवस्थित रूप मे किसी कारण से ही उत्पन्न होता है। जब कि रौद्ररस मे क्रोध किसी कारण विशेष से उत्पन्न होता है तथा वह अपने समकक्ष भावो का अतिक्रमण कर मुख्यता प्राप्त करता है, अत वहाँ स्थायीभाव प्राप्त करता है तथापि व्यवस्थित नियोजन न होने से (अनिश्चय के कारण) 'कृत्रिम' भी हो जाता है। यही आशय यहाँ 'द्विरसान्तरसचारी' से सकेतित किया है।

१. किञ्चित् स्वेदापमार्जन—घ०। २ विट्रन—क०।
३. गुरोर्विनियन्त्रण—ग०। ४ स्फुरदोष्ठ—ग०।
५ प्राणयाभिगता—ग०।

अथ[1] परिजने तु रोषस्तर्जननिर्भर्त्सनाक्षिविस्तारैः ।
विप्रेक्षणैश्च विविधैरभिनेयः[2] कृतकः ॥१९॥

सेवक पर होने वाले क्रोध में तर्जना, डाँटना, आँखों को निकालते हुए देखना तथा ऐसे ही कई प्रकार से देखना होता है ॥ १९ ॥

कारणमवेक्षमाणः[3] प्रायेणायासलिङ्गसंयुक्तः ।
द्विरसान्तरसञ्चारी[4] कार्यः कृतको भवति कोपः ॥ २० ॥

जो किसी कारण को लेकर होनेवाला हो तथा जिसमें प्रायः आयास के लक्षण सम्मिलित रहते हों, जो दो रसों के मध्य में विद्यमान रहता हो तो उसे 'कृतक' क्रोध जानो ॥ २० ॥

[1]*उत्साह—*

उत्साहो नाम—उत्तमप्रकृतिः। स चाविषादशक्ति[5]धैर्यशौर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य[6] स्थैर्यधैर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

'उत्साह' उत्तम प्रकृति के पात्रों में होता है। यह विषादहीनता शक्ति, धैर्य, शौर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय स्थिरता, धैर्य (धारण) तथा चातुर्य (अथवा अङ्गीकृत निर्वाह) आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

अत्र श्लोकः —

असंमोहादिभिर्व्यक्तो व्यवसायनयात्मकः
उत्साहस्त्वभिनेयः[7] स्यादप्रमादोत्थितादिभिः ॥

---

१ उत्साह—यहाँ उत्साह को स्थिरचित्तता आदि से उद्भूत बतला कर नायक आदि में विद्यमान सक्रिय और कर्मठवृत्ति को आवश्यक स्थिति निर्धारित की गयी है।

---

१ य परिजने—ग०
२ स्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः—ग०। ३ मवेक्षमाण।
४ वीररसान्तरचारी—क०, उभयरसान्तर—ग०।
५ धैर्यशौर्यत्यागादिभिः—ग०।
६ तस्य धैर्यत्यागारम्भवैशारद्या—ग०।
७ स्त्वभिनेयोऽसावप्रमादक्रियादिभिः—ग०।

इस विषय में एक श्लोक है :—

स्थिर चित्तता (असम्मोह) आदि के द्वारा उद्भूत व्यवसाय तथा नीति से सम्पन्न उत्साह को प्रमाद-हीनता, उत्थान आदि क्रियाओं (अनुभावों) के द्वारा अभिनीत किया जाए ॥ २१ ॥

[1]भय—

भयं नाम—स्त्रीनीचप्रकृतिकम् । गुरुराजापराधश्वापद[1]शून्यागाराटवीपर्वतगहनगजाहि[2]दर्शननिर्भर्त्सनकान्तार[3]दुर्दिननिशान्धकारोलूकनक्तञ्चराराववश्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्यं प्रकम्पितकरचरणहृदयकम्पनस्तम्भमुखशोषजिह्वापरिलेह[4]स्वेदवेपथुत्रा[5]सपरित्राणान्वेषण[6] धावनोत्क्रुष्टादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्य ।

'भय' स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रों में होता है । यह गुरुजन तथा राजा के अपराध करने; हिंसक जन्तुदर्शन, शून्य गृह, अरण्य तथा पर्वत में भ्रमण, हाथी तथा सर्प के दर्शन, घौंस, डपट, दुर्गम मार्ग, मेघों तथा रात्रि के अन्धकार, उल्लू तथा राक्षसों की ध्वनियों के श्रवण आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है । इसका अभिनय धुजते हुए हाथ तथा पैरों, हृदय के धड़कन, स्तम्भ, मुँह के सूखने, जीभ के चाटने, पसीना पोंछने, कम्पन, त्रास, रक्षकजन की तलाश, भागना, रोना आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है ।

अत्र श्लोकाः—

गुरुराजापराधेन रौद्राणाञ्चापि दर्शनात् ।
श्रवणादपि घोराणां भयं मोहेन जायते ॥ २२

---

१ भय—प्रबल अनर्थ आदि से होने वाली घबराहट (वैक्लव्य) को ही 'भय' माना जाता है । यदि प्रबल अनर्थ के कारण व्याकुलता न हो तो फिर यह 'त्रास नामक व्यभिचारिभाव हो जाता है । अन्य आचार्यों का मत है कि उत्पात आदि से जो उत्पन्न होता है वह 'त्रास' है तथा अपने अपराधादि से जो उत्पन्न हो उसे 'भय' समझना चाहिए । भय और त्रास में यही पारस्परिक विभेद है ।

---

१ श्वापद इति—ग पुस्तके नास्ति ।
२ गहनगजाहि इति—ग पुस्तके नास्ति ।
३ कान्तार इति —ग पुस्तके नास्ति ।
४ प्रवेपित—ग० । ५ शोषण—ग० । ६ परिलेह—ग० ।
७ त्रास इति—ग पुस्तके नास्ति । ८. परित्राणान्वेषण—ग० ।

इस विषय में ये श्लोक हैं :—

गुरुजन एवं राजापराध, रौद्र (भीषण) वस्तुओं के अवलोकन तथा घोर ध्वनि के श्रवण से मोहवश 'भय' उत्पन्न होता है ॥ २२ ॥

गात्रकम्पनवित्रासैर्वक्त्रशोषणसम्भ्रमैः ।
विस्फारितेक्षणैः कार्यमभिनेय[1] क्रियागुणैः ॥ २३ ॥

शरीर कम्पन, त्रास, मुँह का सूखना, कार्य में शीघ्रता करना, आँखें फाड़कर देखना आदि क्रियाओं के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ २३ ॥

सत्त्ववित्रासनोद्भूतं[3] भयमुत्पद्यते नृणाम् ।
स्रस्ताङ्गाक्षिनिमेषैस्तदभिनेयं[4] तु नर्तकैः ॥ २४ ॥

मनुष्यों में भय तभी उत्पन्न होता है जबकि सत्त्व (भूत-प्रेत) से भय (त्रास) हो रहा हो; कुशल अभिनेता इसे ढीले अंगों तथा शङ्कित दृष्टियों के द्वारा अभिनीत करें ॥ २४ ॥

अत्रार्या भवति—

करचरणहृदयकम्पैस्तम्भनजिह्वोपलेपमुखशोषैः[5] ।
[6]स्रस्तसुविषण्णगात्रैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ २५ ॥

इस विषय में एक आर्या भी है :—

हाथ, पैर तथा हृदय के काँपने, जिह्वा के बार-बार चाटने (मुँह सूखने) स्तम्भ और ढीले तथा अव्यवस्थित अवयवों के द्वारा इस (भय) का अभिनय करना चाहिए ॥ २५ ॥

जुगुप्सा—

जुगुप्सा नाम—स्त्रीनीचप्रकृतिका । सा[7] चाहृद्यदर्शनश्रवण परिकीर्तनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्याः सर्वाङ्गसङ्कोच निष्ठीवन मुखविघूर्णन[8]हृल्लेखादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

---

१ गात्रादिकम्पवित्रासैः—ग० । २ अभिनेय—ग० ।
३. तत्र वित्रासनो—ग० । ४ निमेषैश्च व्यभिनेयस्तु—ग० ।
५ मुखशोषणवदनलेहनस्तम्भैः —क० ।
६ सम्भ्रान्तवदनवेपथुसन्त्रासकृतैरभिनयोऽस्य—क० ।
७ या—ग० । ८ विघूर्णन—ग० ।

'जुगुप्सा' नीच-पुरुष तथा स्त्री (पात्रों) में उत्पन्न होती है। यह घिनौनी वस्तुओं के दर्शन, श्रवण तथा कथन आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होती है। इसका अभिनय शरीर के सभी अवयवों के सिकुड़ाने, थूकने, मुँह घुमाने तथा हृदय के धड़कने या दुखने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

भवति चात्र श्लोकः—

नासाप्रच्छादनेनेह[1] गात्रसङ्कोचनेन च।
उद्वेजनैः सहृल्लेखैर्जुगुप्सामभिनिर्दिशेत् ॥ २६ ॥

इस विषय में एक श्लोक भी है :—

नाक ढँकने, शरीर के अवयवों को संकुचित करने, उद्वेग तथा हृदय की पीडा होने (आदि) अनुभावों के द्वारा जुगुप्सा[1] को प्रदर्शित करना चाहिए ॥ २६ ॥

विस्मय :—

विस्मयो नाम—मायेन्द्रजालमानुषकर्मातिशय-चित्रपुस्तशिल्प-विद्यातिशयादि[2]भिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारा-निमेषप्रेक्षित[3]भ्रूक्षेपरोमहर्षणशिरःकम्प-साधुवादादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

'विस्मय'[2] की उत्पत्ति माया, इन्द्रजाल, मनुष्यों के द्वारा विहित असाधारण (विचित्र) कार्य, महान् आश्चर्य-कारिणी चित्रकला, शिल्प-कला तथा पुस्त-विद्या की अतिशयता आदि विभावों के द्वारा होती है। इसका आँखों को फैलाने, इकटक देखने, भौंहें घुमाने (भ्रू-विक्षेपण)

---

१ जुगुप्सा—इसका बीभत्स रस के प्रसङ्ग में विवेचन हो चुका है, वही विवरण फिर से प्रसङ्गवश यहाँ भी दे दिया गया है। 'हृल्लेखन' का अर्थ है हृदय की पीडा या उसका धड़कना।

२. विस्मय—चित्रकला, शिल्पकला तथा पुस्तविद्या, की (अर्थात् जो लकडी तथा धातु की कारीगरी का शिक्षण देने वाली विद्या हो) असाधारणता या अतिशयता से ही मनुष्य आश्चर्यान्वित हो जाता है।

---

१ प्रच्छादनेनापि—ग०। २ विद्यातिशयार्थै—ग०।
३. प्रेक्षण—ग०।

रोमांचित होने, मस्तक कँपाने, प्रशंसा करने आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिए।

भवति चात्र श्लोकः—

कर्मातिशयनिर्वृत्तो विस्मयो हर्षसम्भवः।
सिद्धिस्थाने त्वसौ साध्यः प्रहर्षपुलकादिभिः॥ २७॥
एवमेते स्थायिनो भावा रससंज्ञाः प्रत्यवगन्तव्याः।

इस विषय में एक श्लोक है :—

अपनी सीमा के अतिक्रमणकारी (अतिशय) कार्यों द्वारा होनेवाले हर्ष से 'विस्मय' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय हर्ष, रोमाञ्च आदि के द्वारा करना चाहिए॥ २७॥

इसी प्रकार रसदशा को प्राप्त होने वाले स्थायीभाव होते हैं (या समझना चाहिए)।

[1]सञ्चारीभाव—

व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः[1]। अत्राह-व्यभिचारिण इति कस्मात्। उच्यते—वि अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर् इति गत्यर्थो धातुः विविधमाभिमुख्येन[2] रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। चरन्ति नयन्तीत्यर्थः। अत्राह कथं नयन्तीति। उच्यते—लोकसिद्धान्त एषः—यथा सूर्यइदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति[3]। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते। किंतु लोकप्रसिद्धमेतत्। यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्याः। तानिह समहाभिहितांस्त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावान् वर्णयिष्यामः।

अब हम व्यभिचारी (सचारी) भावों को निरूपित करते है। प्रश्न—इन्हें व्यभिचारी भाव क्यों कहा जाता है ? उत्तर—इसमें 'वि' तथा 'अभि'

---

१ सचारीभाव—सचारीभाव की अन्य सज्ञा है व्यभिचारिभाव। व्यभि-चारिभाव की भरत ने व्युत्पत्ति भी दी है विशेषात् आभि मुख्येन चरन्तीति

---

१. वक्ष्याम —ग०।

२. धात्वर्थवागङ्गसत्वोपेतान्—ग०, यथाम सूर्यो-ध०।

३ यथा सूर्यं इद नक्षत्रमघु वासर नयतीति—ग०।

४ त इमे सङ्ग्रहाभिहितास्त्रयस्त्रिंशद्भावा तान् वर्णयिष्याम —ध०।

उपसर्ग है और 'चर्' धातु है। जिसका अर्थ है—जाना, हिलना। तब 'व्यभिचारी' शब्द का अर्थ हुआ—'वे जो रसों की ओर विभिन्न प्रकारों से आगे बढते हों' और यह भी कि 'वे शब्दों (वाणी), शारीरिक मुद्राओं तथा सात्त्विक (आदि) भावों से युक्त होकर रसों तक पहुँचने के कारण व्यभिचारिभाव हैं। प्रश्न–ये (रसों को) किस प्रकार वहन करते हैं ?' (या उन्हें लेकर आगे बढते हैं), उत्तर–इसे लौकिक व्यवहार में आने वाले सिद्धांत के समान समझ लेना चाहिए। जैसे सूर्य इस नक्षत्र या इस दिन को प्राप्त करता है। यहाँ यह आशय नहीं कि यह अपनी भुजाओं या कन्धे पर उन्हें वहन करता हो किन्तु यह संसार में प्रसिद्ध है कि सूर्य नक्षत्र और दिन को ले जाता है। इसी प्रकार ये भी प्रयोग को आगे बढाने या ले जाने के कारण व्यभिचारी भाव कहलाते हैं ऐसा समझलेना चाहिए। ये भाव पूर्व संग्रह में निर्दिशित तैंतीस हैं। अब हम (क्रमश) इन्हीं का वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

[1]*निर्वेद—*

तत्र निर्वेदो नाम—दारिद्र्योपगमनाधिक्षेपा[1]क्रुष्टक्रोधताडनेष्टजनवियोगतत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तमश्रौनीचकुसत्त्वानाम् रुदितानि श्वसितोच्छ्वसितसम्प्रधारणादिभिरनुभावैस्तमभिनयेत।

'निर्वेद' की उत्पत्ति दारिद्र्य प्राप्ति, अपमान, गाली या अशिष्ट वस्वास, क्रोधित हो प्रताडना करना, इष्ट (प्रिय) जन का वियोग तथा

व्यभिचारिण अर्थात ये व्यभिचारिभाव इसलिय कहलात ह, क्योंकि वे विविध स्वरूपो या क्रियो की ओर अभिमुख रसो के सम्बन्ध म या रसो मे सचार करत हैं। अर्थात् ये विविध अनुभावो के अभिनय के द्वारा भाव को रसोद्बोध तक पहुँचा देते है। सचारी या व्यभिचारिभाव के स्वरूप को पण्डितराज ने 'यानि सह चरन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन व्यपदिश्यन्ते' कहा है अर्थात् स्थायीभावो के साथ रहने वाली चित्तवृत्तिया जैसे चिन्ता आदि व्यभिचारिभाव है।

१ निर्वेद—शान्तरस का स्थायीभाव 'निर्वेद नित्य तथा अनित्य वस्तुओ के विवेक से उत्पन्न होता है अत वहाँ 'स्थायीभाव है। परन्तु यहाँ दारिद्र्यादि से उत्पन्न होन के कारण 'सचारीभाव' है। यहा निर्वेद की उत्पत्ति मे तत्त्वज्ञान को विभाव बतलाया गया है—यह यद्यपि अन्य कोटियो से भिन्न है तथापि

---

१ व्याद्ययवमानाधिक्षेप—क०।

तत्त्वज्ञान आदि विभावों के द्वारा होती है। स्त्री तथा नीच एवं कुत्सित पात्रों में होनेवाला इस भाव का अभिनय रोना, साँसे भरना, उसासे लेना निश्चयकरना (सम्प्रधारण) आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

भवति चात्र श्लोक —

दारिद्र्येष्टवियोगाद्यै: निर्वेदो नाम जायते।
सम्प्रधारणनिःश्वासैस्तस्य त्वभिनयो भवेत् ॥ २८ ॥

इस विषय में श्लोक है।

दरिद्रता की प्राप्ति तथा प्रियजन के वियोग आदि से निर्वेद' उत्पन्न होता है। इसका चिन्तन करने तथा ऊँची सास लेने (निःश्वास) आदि के द्वारा अभिनय किया जाए ॥ २८ ॥

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवत —

इष्टजनस्य वियोगाद्दा[1]रिद्र्याद्व्याधितस्तथा दुःखात्।
[2]ऋद्धिं परस्य दृष्ट्वा निर्वेदो नाम सम्भवति ॥ २९॥

इस विषय में अनुवंशीय आर्याएँ भी हैं—

इष्टजन के वियोग, दरिद्रता, व्याधि तथा दूसरों की वृद्धि देखकर होने वाले दुःख से निर्वेद भाव उत्पन्न होता है ॥ २९ ॥

वाष्पपरिप्लुतनयनः पुनश्च निःश्वासदीन मुखनेत्र।
योगीव ध्यानपरो भवति हि निर्वेदवान्पुरुष ॥ ३० ॥

निर्वेदयुक्त पुरुष की आँखे आँसुओं से लबालब होती है, वह लम्बी उसांसे लेता है, उसके चेहरे और आँखों पर दीनता छायी होती है और वह योगी की तरह ध्यानस्थ सा लगता है या ध्यान में मग्न दिखाई देता है ॥ ३० ॥

संसार के प्रति वैराग्य या अनास्था उत्पन्न करवाने मात्र से साधनभूत है और मोहजन्य भी अन्य दशाओं में होता है अत सचारीभाव है। 'निर्वेद' का विशेष विवरण शान्तरस प्रकरण में (ना० शा० अ० ६) दिया चुका है।

---

१ इष्टजनविप्रयोगात्—ग०। २ परवृद्धिं वा दृष्ट्वा—ग०।
३ दीनमुख—ग०।

[1]ग्लानि—

ग्लानिर्नाम—वान्तविरिक्तव्याधितपोनियमोपवासमनस्तापातिशयपान-[1]मद्यसेवनातिव्यायामाध्व-गमनक्षुत्पिपासानिद्राच्छेदादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्याः क्षामवाक्यनयनकपोलोदरमन्द[2]पदोत्क्षेपणवेपनानुत्साहतनुगात्रवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्य।

उल्टी, जुलाब, व्याधि, तप, नियम, उपवास, मन का सन्ताप, अतिशय कामाभिभूतता, (छककर) मद्य-पान, अतिशयव्यायाम, दूर तक रास्ता चलना, क्षुधा, प्यास, निद्रा भंग आदि विभावों के द्वारा 'ग्लानि' की उत्पत्ति होती है। इसका अभिनय धीमी आवाज से बोलने, आँखों के कान्तिहीन होने, कपोलों के पीले पड़ जाने, धीरे-धीरे डग भरने, काँपने उत्साह हीनता बतलाने, शरीर के क्षीण होने, मुँह के उतरने और स्वर के भर्राने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

अत्रार्यें भवतः—

वान्त विरिक्तव्याधिषु[3] तपसा जरसा च जायते ग्लानिः।
कार्श्येन साभिनेया मन्दभ्रमणेन[4] कम्पनेन ॥ ३१ ॥
गदितैः क्षामक्षामैर्नेत्रविकारैश्च दीनसञ्चारैः।
शलथभावेनाङ्गानां[5] मुहुर्मुहुर्निर्दिशेद् ग्लानिम् ॥ ३२ ॥

---

१. ग्लानि—यहाँ ग्लानि मानसिक स्थितियों की अपेक्षा शारीरिक स्थितियों में उत्पन्न भी निदर्शित की गयी है इसका कारण यह प्रतीत होता है कि शारीरिक स्थितियाँ मानसिक शिथिलता आदि को उत्पन्न कर देती हैं। पण्डितराज ने ग्लानि को मानसिक कष्ट तथा रोग आदि से उत्पन्न शारीरिक दुर्बलता माना है। कुछ प्राचीन आचार्यों (भरतमुनि नहीं) ने 'बलस्यापचयो ग्लानिराध्याधिसमुद्भव' ["अर्थात् मानसिक कष्ट और रोगों से उत्पन्न होने वाली शक्तिहीनता का नाम 'ग्लानि' है"।] माना है। यहाँ 'अपचय' शब्द बल के नाश को प्रतीत करवाता है अतः ऐसे कष्ट की अपेक्षा रोगजन्य निर्बलता से होनेवाली विवर्णता आदि दिखाई देने वाले भाव विशेष को 'ग्लानि' मानना चाहिए।

---

१. मदनसेवादिव्यायाम—घ०।

२ कपोलमन्दमन्दपदोपरामानुत्साहतनुगात्रवैवर्ण्यादिभिरनुभावे—ग०, पदोपक्रमानुत्साह—घ०।

३ वातविरिक्तव्याधि—ग०।

४ मन्दक्रमणानुकम्पेन—ग०।

५. श्लथभावाच्चाङ्गाना—घ०।

घातेर्ष्याचक्षुःप्रदानाधोमुखभ्रुकुटीक्रियावज्ञानकुत्सनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

अनेक अपराध, द्वेष, अन्य व्यक्तियों की सम्पत्ति, सद्भाग्य, बुद्धिमत्ता, विद्यार्जन तथा क्रीडा (लीला) आदि के अवलोकन आदि विभावों से "असूया" उत्पन्न होती है। इसका अभिनय सभा में दोषों की उद्घोषणा करना गुणों को दबाना या उपेक्षा करना, ईर्ष्या, नीचा मुख रखना, भ्रुकुटी चढाना, अवज्ञा करना तथा अन्य व्यक्तियों की निन्दा या उनको गाली देना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः—

परसौभाग्येश्वरतामेधालीलासमुच्छ्रयान्दृष्ट्वा ।
उत्पद्यते ह्यसूया कृतापराधो भवेद्यश्च ॥ ३६ ॥
भ्रुकुटिकुटिलोत्कटमुखैः[1] सेर्ष्याक्रोधपरिवृत्तनेत्रैश्च[2] ।
गुणनाशनविद्वेषैस्तत्राभिनयः[3] प्रयोक्तव्यः ॥ ३७ ॥

इस विषय में निम्न आर्याएँ हैं :—

दूसरे व्यक्ति के सौभाग्य, समृद्धि, बुद्धि, क्रीडा एवं उत्कर्ष को देख कर अपराधी मनुष्य के हृदय में 'असूया' उत्पन्न होती है ॥ ३६ ॥

भ्रुकुटी चढाने, मुँह घुमाने (या टेढा करने), मुँह ऊँचा करने, चेहरे की घबराहट, ईर्ष्या एवं क्रोध से मुँह फेरने, गुणों के नाश करने या उनसे घृणा करने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ३७ ॥

मद—

मदो नाम—मद्योपयोगादुत्पद्यते। स च त्रिविधः पञ्चविधभावश्च।

---

१. असूया—ईर्ष्यादि से किसी के सद्गुण को सहन न करना 'असूया' है, इसमें सदा दूसरों के दोष ही देखे जाते हैं। 'असूया' में कभी विद्यमान तथा कभी अविद्यमान दोषों को देखा जाता है। यह भाव जब किसी के अपराध दर्शन से उद्भूत होता है तो इसमें क्रोध या उत्तेजना का थोड़ा मिश्रण या अंश रहता है।

---

१. कुटिलोत्कटमुख—ग०। २ वक्त्रार्थं—ग०।
३ रस्याभिनय—घ०।

मद्यपान से 'मद' उत्पन्न होता है। यह तीन प्रकार का तथा पाँच भावों से युक्त होता है।

अत्रार्या भवन्ति—

ज्ञेयस्तु[1] मदस्त्रिविधस्तरुणो मध्यस्तथावकृष्टश्च।
करणं पञ्चविधं स्यात्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥३८॥

इस विषय म ये आर्याएँ हैं—

"मद' तीन प्रकार का होता है। (१) तरुण, (२) मध्य तथा (३) अवकृष्ट। इसका अभिनय पाँच प्रकार के हेतुओं (भावों) के (प्रदर्शन) द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ३८ ॥

कश्चिन्मत्तो गायति रोदिति कश्चित्तथा हसति कश्चित्।
परुषवचनाभिधायी कश्चित्कश्चित्तथा स्वपिति ॥३९॥

इस मद से मत्त कोई पुरुष गाता, कोई रोता, कोई हँसता, कोई कठोर शब्दों (गालियों) को बकता तथा कोई सोता है ॥ ३९ ॥

उत्तमसत्त्वः शेते हसति च गायति च मध्यमप्रकृतिः।
परुषवचनाभिधायी रोदित्यपि चाधमप्रकृतिः ॥ ४० ॥

इसमें उत्तम प्रकृति का व्यक्ति सोता है, मध्यम प्रकृति हँसता और गाता है और अधमप्रकृति गाली बकता तथा रोता है ॥ ४० ॥

स्मितवदनमधुररागो हृष्टतनुः[2] किञ्चिदाकुलितवाक्य।
सुकुमाराविद्धगतिस्तरुणमदस्तूत्तमप्रकृतिः ॥ ४१ ॥

---

१ मद—मद्यपान आदि के सेवन से 'मद' उत्पन्न होता है। साहित्यदर्पण के अनुसार सम्मोह और आनन्द की दशा मे भी 'मद' होता है। इसमे मद्योपभोगादि आलम्बन विभाव होते हैं। इसके मनोरथो की प्राप्ति हो जाना, इष्ट-पदार्थ का दर्शन, गीत वाद्य तथा नृत्य का वर्णन या अनुष्ठान विभाव होते हैं। क्रोधपूर्ण वचन, घबड़ाहट पूर्ण सभाषण, प्रसन्न शरीर, स्खलित एव ललित गति, नेत्रों का घरना आदि अनुभाव होने हैं। रगमञ्च पर मनोरजनार्थ मद्यपान का अभिनय किया जाता है पर यदि कोई अभिनेता वास्तव मे मद्यपान कर मञ्च पर 'मद' का अभिनय प्रस्तुत करने लग तो उसका नशा भयादि उपायों से उतार देना चाहिए अन्यथा अभिनय मे विघ्न हो सकता है।

---

१ त्रिविधश्च मद कार्यस्तरुणो—च०।

२ घृष्टतनु —ग०।

उत्तम प्रकृति के मनुष्य में 'तरुणमद' होने पर (उसका) मुसकुराता हुआ मुँह, मधुर राग, प्रसन्न शरीर, (थोड़े) लड़खड़ाते शब्द, सुकुमार एवं तिरछी गति हो जाती है ॥ ४१ ॥

स्खलिताघूर्णितनयनः स्रस्तव्याकुलितबाहुविक्षेपः ।
कुटिलव्याविद्धगतिर्भवति[1] मदो मध्यमप्रकृतिः ॥ ४२ ॥

मध्यमप्रकृति के मनुष्य में मद होने पर (उसके) नेत्र घूमते हैं, (उसका) शरीर लड़खड़ाता है, (वह) बाहुओं को ढीला कर देता है या घबराकर उन्हें पटकने लगता है, और (उसकी) गति तिरछी तथा (पैरों के भूमि पर ठीक न टिकने से) अस्थिर हो जाती है ॥ ४२ ॥

नष्टस्मृतिर्हतगतिश्छर्दितहिक्काकफैः सुबीभत्सः ।
गुरुसज्जमानजिह्वो निष्ठीवति चाधमप्रकृतिः ॥ ४३ ॥

अधम-प्रकृति के मनुष्य में 'मद' होने पर (उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है, गति रुक जाती है, वह उल्टी, हिचकी तथा कफ को मुँह से गिराने के कारण घिनौना हो जाता है, उसकी जीभ खिंचने लगती है तथा वह थूका करता है ॥ ४३ ॥

रङ्गे पिबतः कार्या मदवृद्धिर्नाट्ययोगमासाद्य ।
कार्यो मदक्षयो वै यः खलु पीत्वा प्रविष्टः स्यात् ॥ ४४ ॥

रङ्गमञ्च पर प्रवेश के उपरान्त मद्य पीने वाले पात्र की मदवृद्धि उसकी भूमिका के अनुसार रखनी चाहिये (अर्थात् उस का 'मद' मञ्च पर नाट्य-कथा के अनुरूप प्रदर्शित करना चाहिए ।) किन्तु जो पात्र मद्यपान करके मञ्च पर अभिनय हेतु प्रवेश करे उसका नशा उतार (या उतरवा) देना चाहिये ॥ ४४ ॥

सन्त्रासाच्छोकाद्वा भयात्प्रहर्षाच्च[2] कारणोपगतः ।
उत्क्रम्यापि[3] हि कार्यो मदप्रणाशः क्रमात्तज्ज्ञैः ॥ ४५ ॥
एभिर्भावविशेषैर्मदो द्रुतं सम्प्रणाशमुपयाति ।
अभ्युदयसुखैर्वाप्ययेथैव[4] शोकाः क्षयं यान्ति[5] ॥ ४६ ॥

---

१. मध्यमदो—ग० । २. प्रकर्षाच्च—घ० ।
३. भयप्रकर्षाच्च—ग० । ४ उद्यम्यापि—ग०
५ तथैव शोक क्षय याति—ग० ।

अनुभवी जन इस बढे हुए 'मद' को क्षीण करने के लिए क्रमशः त्रास, शोक, भय, हर्ष आदि कारणों को रखें। इस प्रकार की विशिष्ट अवस्था से शीघ्र वैसे ही मद उतर जाता है जैसे उन्नति तथा आनन्द के समाचार सुनने से शोक मिट जाता है ॥ ८५-८६ ॥

[1]*श्रमः—*

श्रमो नाम—अध्वव्यायाम[1]सेवनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य गात्रपरिमर्दनसंवाहननिःश्वसितविजृम्भितमन्दपदोत्क्षेपण[2]नयनवदनविकूणन[3]सीत्कारादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

लम्बी यात्रा, व्यायाम, सेवन आदि विभावों के द्वारा 'श्रम' उत्पन्न होता है। शरीर के मालिश करने या दबाने, जोर-जोर से साँस लेने, जंभाई लेने (निजृम्भित), पैरों को धीमीगति से रखने, मुँह और आँखों को घुमाने (विकूणन) आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

अत्रार्या—

नृत्ताध्वव्यायामान्नरस्य[4] सञ्जायते श्रमो नाम।
निःश्वासखेदगमनैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः॥

इस विषय में एक आर्या है :—

नृत्त, लम्बी यात्रा तथा व्यायाम करने से मनुष्य के शरीर में 'श्रम' उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिनय लम्बी साँस लेने तथा थकावट के कारण धीमी गति से चलने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ ८७ ॥

आलस्यः—

आलस्यं नाम—खेदव्याधिगर्भस्वभावश्रमसौहित्यादिभि[5]र्विभावैः समुत्पद्यते स्त्रीनीचानाम्। तदभिनयेत्सर्वकर्मानभिलाषशय[5]नासननिद्रातन्द्रासेवनादिभिरनुभावैः।

---

१ श्रम—शारीरिक आयासों से उत्पन्न होने वाली थकावट या खेद को 'श्रम' कहा जाता है। श्रम बल के विद्यमान रहने पर भी होता है पर 'ग्लानि नहीं होती यही, दोनों में पार्थक्य है।

---

१. अध्वगतिव्यायाम—ग०। २. नि श्वसितमुखविकूणनजृम्भणाङ्गमर्द मन्दपादोत्क्षेपण—घ०। ३ विघूर्णन—घ०।
४. अध्वगतिव्यायामैर्नरस्य—ग०।
५. स्वभावखेदव्याधिसौहित्यगर्भादिभि —घ०।
५. सर्वकर्म प्रद्वेषणयना—ग०।

अत्रार्ये भवतः—

ऐश्वर्यभ्रंशेष्टद्रव्यक्षयजा[1] बहुप्रकारा तु।
[2]हृदयवितर्कोपगता नृणां चिन्ता समुद्भवति ॥ ५० ॥

इस विषय में दो आर्याएँ हैं—

मनुष्यों में 'चिन्ता' कई प्रकार से उत्पन्न होती है। जैसे—ऐश्वर्य के नाश हो जाने, प्रिय वस्तु के चोरी या नाश हो जाने पर तथा हृदय में उत्पन्न होने वाली अनेक आशंकाओं के होने पर भी ॥५०॥

सोच्छ्वासैर्निःश्वसितैः सन्तापैश्चैव हृदयशून्यतया।
अभिनेतव्या चिन्ता मृजाविहीनैरधृत्या च ॥ ५१ ॥

उसाँस तथा साँस लेने, सन्ताप, हृदय-शून्यता होने, शरीर की उचित सफाई न करने तथा धैर्यहीनता आदि अनुभावों के द्वारा इस (चिन्ता) का अभिनय करना चाहिए ॥ ५१ ॥

[1]*मोह—*

मोहो नाम–दैवोपघातव्यसनाभिघातव्याधिभयावेगपूर्ववैरानुस्मरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य निश्चैतन्यभ्रमण[3]पतनाघूर्णना[4]-दर्शनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

मोह की उत्पत्ति आकस्मिक (दैवी) चोट लगने; दुःख, चोट, व्याधि-भय, आवेग, पूर्व-शत्रुता का स्मरण होने आदि विभावों से होती है। इसका निश्चेष्टता, चक्कर आना, गिरना, आँखे घुमाना तथा ठीक से न देखना आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिए।

१.मोह—चित्त का दैवोपघातादि कारणों से अस्तव्यस्त हो जाना 'मोह' है। इसमें चेतनाहीन अवस्था भी हो जाती है तथा अन्तःकरण के शून्य होने से किसी परिचित व्यक्ति को पहचाना नहीं जा सकता। 'चिन्ता' या यह (मोह) परिणाम होता है अतः इसे (इसी कारण) चिन्ता से भिन्न समझना चाहिये।

१. ऐश्वर्येष्टद्रव्यापहारजनिता—ग०।
२ हृदयोत्सुक्योपगता चिन्ता तु नृणां समुद्भवति—ग०।
३. निश्चेष्टिताङ्गभ्रमण—ग०। ४. घूर्णनदर्शनादिभि—ग०।

अत्र श्लोकस्तावदार्या च—

अस्थाने तस्करान् दृष्ट्वा त्रासनैर्विविधैरपि[1]।
तत्प्रतीकारशून्यस्य मोहः समुपजायते ॥ ५२ ॥

इस विषय में एक श्लोक तथा एक आर्या है—

(श्लोक)—अतर्कित स्थान पर चोरों के देखने पर एवं विभिन्न त्रासों के प्राप्त होने तथा उनको रोकने में अक्षम होने पर 'मोह' उत्पन्न हो जाता है ॥ ५२ ॥

व्यसनाभिघातभयपूर्ववैरसंस्मरणरोगजो[2] मोहः।
सर्वेन्द्रियसम्मोहात्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ५३ ॥

व्यसन (दुःख) की आकस्मिक प्राप्ति होने पर, चोट, भय तथा पिछली शत्रुता के स्मरण से 'मोह' उत्पन्न होता है। सभी इन्द्रियों की शून्यता के प्रदर्शन द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ५३ ॥

[1]स्मृति—

स्मृतिर्नाम—सुखदुःखकृतानां भावानामनुस्मरणम्। सा च स्वास्थ्यजघन्यरात्रिनिद्राच्छेदसमानदर्शनोदाहरणचिन्ताभ्यासादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेच्छिरःकम्पनावलोकन-भ्रूसमुन्नमनादिभिरनुभावैः[3]

सुख तथा दुःख से पूर्ण बीती घटनाओं का याद करना 'स्मरण या स्मृति' कहलाता है। यह स्वास्थ्य, रात्रि के पिछले प्रहर में निद्रानाश, समान व्यक्ति के दिखने तथा सम्भाषण करने, चिन्ता तथा अभ्यास आदि विभावों से उत्पन्न होती है। इसका अभिनय सिर के धुजाने, देखने, भौंहों के ऊपर चढ़ाने (या ऊँचा करने) आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

---

१ स्मृति—किसी समान पदार्थ के देखने आदि से पूर्वदृष्ट अर्थ का मन में जो संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है वही 'स्मृति' कहलाता है। इसमें पहिले किसी ज्ञातवस्तु का पुनः ज्ञान होता है। मूल में दिया गया 'जघन्य' पद रात्रि का विशेषण है। जिसका अर्थ होगा रात्रि का अन्तिम या पिछला प्रहर। इसी समय निद्राभंग होने से स्मृतियाँ अधिक जाग्रत होती हैं।

---

१. त्रासनैर्वा पृथग्विधैः—ग०, घ०।
२ संस्मरणजो भवति मोहः—ग०, घ०।
३. भ्रमभमुन्नमनप्रद्र्पादिभि—ग०।

इस विषय में निम्न दो आर्याएँ हैं :—

जब कोई अकर्मण्य व्यक्ति अन्य पवित्र या निर्दोष पुरुषों को दिखाई देता है और वह (अपनी स्थिति को) उन व्यक्तियों के द्वारा जान लेने पर पश्चात्ताप करता है तो उसे 'ब्रीडा (भाव) से युक्त समझना चाहिए ॥ ५८ ॥

> लज्जानिगूढवदनो भूमिं विलिखन्नखांश्च[1] विनिकृन्तन् ।
> वस्त्राङ्गुलीयकानां संस्पर्शं व्रीडितः कुर्यात् ॥ ५९ ॥

ब्रीडायुक्त पुरुष लज्जा के कारण मुँह नीचा किए रहता है । वह पृथ्वी पर हाथ या नख से कुरेदता है तथा वस्त्र (के कोने) और अंगुठी को बार बार स्पर्श करता है ॥ ५९ ॥

[1]चपलता—

चपलता नाम—रागद्वेषमात्सर्यामर्षेर्ष्याप्रतिकूलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते[2] । तस्याश्च वाक्पारुष्यनिर्भर्त्सन[3]वधबन्धसम्प्रहारताडना दिभि[4]रनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

'चपलता' राग, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या तथा विरोध या प्रतिकूलता आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होती है । इसका अभिनय कठोर शब्दों के कहने, डाँटने, मारने, बाँधने, प्रहार करने, पीटने (ताडन) और अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

आर्या भवति—

> अविमृश्य तु यः कार्यं पुरुषो वधताडनं[5] समारभते ।
> अविनिश्चितकारित्वात्स तु खलु चपलो विज्ञेयः ॥ ६० ॥

इस विषय में एक आर्या है :—

जो व्यक्ति बिना विचार के किसी का वध या ताडन कर डालता है तो उसे बिना निश्चय के कार्य करने के कारण 'चपल' कहा जाता है ॥ ६० ॥

---

१ चपलता—यह बिना सोचे विचारे काम करने वाली वृत्ति होती है । इसमें भावना के आवेग की अधिकता रहने से विचार की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है । यह अमर्ष आदि से उत्पन्न होने से कार्य रूप होने के कारण 'अमर्ष' नाम सचारी भाव से स्वतः भिन्नता रखती है ।

---

१ नखैश्च—ग० । २ उत्पद्यते—ग० ।
३ वाक्पारुष्यादिभर्त्सन—ग० । ४ ताडनत्रापनादिभि—ग० ।
५ वधबन्धनादिक—ग० ।

'हर्ष'[1]—

हर्षो नाम—मनोरथ लाभेष्टजनसमागमनमन परितोषदेवगुरुराजभर्तृप्रसादभोजनाच्छादनधनलाभोपभोगादिविभावै समुत्पद्यते। तमभिनयेन्नयनवदनप्रसादप्रियभाषणालिङ्गनकण्टकितपुलकितास्रस्वे[1]—दादिभिरनुभावैः।

'हर्ष' का उद्भव मनोरथों की पूर्ति, इष्ट या प्रिय व्यक्ति का मिलन, मानसिक तुष्टि, देव, गुरु, राजा तथा स्वामी की कृपा, श्रेष्ठ भोजन, वस्त्र तथा सम्पत्ति की प्राप्ति तथा उसका उपभोग आदि विभावों से होता है। इसका अभिनय नेत्र तथा मुँह की रौनक (प्रसादन) प्रियभाषण, आलिङ्गन रोमांच, अश्रुपतन तथा स्वेद आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्यं भवत

अप्राप्ये प्राप्ये वा लब्धेऽर्थे प्रियसमागमे वाऽपि।
हृदयमनोरथलाभे हर्षः सञ्जायते पुंसाम्॥ ६१॥

---

१ हर्ष—इष्ट वस्तु की प्राप्ति आदि से चित्त में जो एक प्रसन्नता या विकास का भाव होता है वही चित्तवृत्ति 'हर्ष' कहलाती है। कुछ आचार्य मनोरथ आदि के पूर्ण होने की सम्भावना या प्राप्ति की दशा में भी हर्ष को मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने हर्ष के विषय में एक प्राचीन मत इस प्रकार उद्धृत किया है—

देवभर्तृगुरुस्वामिप्रसाद प्रियसङ्गम।
मनोरथाप्तिरप्राप्यमनोहरधनागम॥
तथाऽत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते।
नेत्रवक्त्रप्रसादश्च प्रियोक्ति पुलकोद्गम॥
अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षं तमादिशेत्॥

(र० ग० नि० सा० सस्क० पृ० ९४)

अर्थात् देवता, गुरु और स्वामी की प्रसन्नता, इष्ट समागम, मनोरथ की पूर्ति दुर्लभ एवं विलोभनीय सम्पत्ति की उपलब्धि, पुत्र आदि का जन्म जिसके विभाव होते हैं तथा नेत्र एवं मुख की प्रसन्नता, प्रियवचन, रोमाञ्च, अश्रु तथा स्वेद आदि जिसमें अनुभाव होते हैं उसे 'हर्ष' कहते हैं।

---

१ कण्टकिताश्रुस्वेदोदयमललितताडनादिभि—ग०।

इस विषय में दो आर्याएँ हैं :—

'हर्ष' मनुष्य में तब उत्पन्न होता है जब अप्राप्य या प्राप्य वस्तु की प्राप्ति, प्रिय समागम अथवा अभिलषित मनोरथ की प्राप्ति हो (जाए) ॥ ६१ ॥

नयनवदनप्रसादप्रियभाषालिङ्गनैश्च रोमाञ्चैः ।
ललितैश्चाङ्गविहारैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥ ६२ ॥

नेत्र तथा चेहरे के खिलने, प्रिय भाषण, आलिङ्गन, रोमाच, शरीर के अवयवों का सुन्दरता से घुमाना (ललिताङ्गविहार) तथा स्वेद आदि के द्वारा (इस) 'हर्ष' का अभिनय करना चाहिए ॥ ६२ ॥

आवेग—

आवेगो नाम—उत्पातवातवर्षाग्निकुञ्जरोद्भ्रमणप्रियाप्रियश्रवणव्यसनाभिघातादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते।[1] तत्रोत्पातकृतो नाम विद्युदुल्कानिर्घातप्रपतनचन्द्रसूर्योपरागकेतुदर्शनकृतः। तमभिनयेत्सर्वाङ्गस्रस्ततावैमनस्य[2]मुखवैवर्ण्यविषादविस्मयादिभिः। वातकृतं पुनरवगुण्ठनाक्षिपरिमार्जन[3]वस्त्रसङ्गूहनत्वरितगमनादिभिरनुभावैः। वर्षकृतं पुनः सर्वाङ्गसम्पिण्डनप्रधावनच्छन्नाश्रय[4]मार्गणादिभिः। अग्निकृतं तु धूमाकुलनेत्रताऽङ्गसङ्कोचनविधूननातिक्रान्तादिभिः। कुञ्जरोद्भ्रमणकृतं नाम त्वरितापसर्पणचञ्चलगमनभयस्तम्भवेपथुपश्चादवलोकनविस्मयादिभिः। प्रियश्रवणकृतं नामाभ्युत्थानालिङ्गनवस्त्राभरणप्रदानाश्रुपुलकितादिभिः[5]। अप्रियश्रवणकृतं नाम[6] भूमिपतनविषमविवर्तनपरिधावनविलापनाक्रन्दादिभिः। प्रकृतिव्यसनकृतं[7] नाम सहसापसर्पण[8]शस्त्रवर्मवर्मधारणगजतुरगरथारोहणसम्प्रहारणादिभिः।

---

१. दर्शनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते—ग० ।
२ सर्वाङ्गस्रस्तविषण्णवैमनस्य—ग० । ३. नासिमर्दन—ग० ।
४ छन्नाश्रय—ख०, छन्नाश्रयणादि—घ० ।
५. प्रोद्गताश्रुपुलकादिभि —ग० ।
६. भूमिपतनपरिदेवितविषमपरिवर्तितपरिधावितविलापरुदितादिभि -ग०, घ० । ७. व्यसनाभिघातकृत तु—ग० । ८. सहसापक्रमण—ग० ।

उत्पात, हवा, वर्षा, अग्नि, हाथी का उत्पात, प्रिय या अप्रिय वृत्त का श्रवण, विपत्ति तथा प्रहार आदि विभावों से 'आवेग' की उत्पत्ति होती है। (अब क्रमशः) इन कथित कारणों से उत्पन्न होने वाले आवेगों में उत्पात से होने वाला आवेग—बिजली या उल्काओं का घात, तारों का टूटना, सूर्य तथा चन्द्रग्रहण तथा केतु-दर्शन आदि विभावों से उद्भूत होता है। इस आवेग का प्रदर्शन सभी अंगों की शिथिलता, मन की खिन्नता (अस्थिरचित्त), चेहरे का उतरना, विषाद तथा विस्मय आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। वात से उत्पन्न आवेग का प्रदर्शन मुँह ढकने, आँखें मलने, वस्त्रों को समेटने तथा शीघ्र चलने आदि अनुभावों से होता है। वर्षा से उत्पन्न आवेग का अभिनय शरीर के सभी अंगों के सिकुड़ाने, दौड़ने, छाया वाले प्रदेश के देखने, ढूँढने आदि अनुभावों से होता है। अग्नि से उत्पन्न आवेग का अभिनय धुएँ से घबराई आँखों, अंगों के सिकुड़ाने या झुकाने, धुएँ को झाड़ने या हाथों से हटाने, शीघ्रता से उछलने या पीछे हटने (अपक्रान्त) आदि अनुभावों से होता है। हाथी के उपद्रव से उत्पन्न आवेग का अभिनय शीघ्रता से भागने, चपल गति, भय, स्तम्भ, कम्पन, घूमकर पीछे देखने तथा विस्मय आदि-आदि अनुभावों से होता है। प्रिय श्रवण से उत्पन्न आवेग का अभिनय अगवानी करने, आलिंगन करने, वस्त्र तथा अलङ्कारों को देने, हर्षाश्रु तथा रोमाच आदि अनुभावों से करना चाहिए। अप्रिय श्रवण से उत्पन्न आवेग का अभिनय पृथ्वी पर गिरने विषमभूमि पर लोटने, भागने, विलाप करने, रोने, चिल्लाने आदि अनुभावों से होता है। प्रकृतिव्यसन— प्रसिद्ध या (प्रकृति द्वारा होने वाला कष्ट) से उत्पन्न आवेग का अभिनय सहसा (आगे आने) दौड़ने, शस्त्र तथा कवचों के धारण हाथी, घोड़ा, रथ पर चढ़ने तथा प्रहार करने आदि अनुभावों से होता है।

[1]एवमष्टविकल्पोऽयमावेगः सम्भ्रमात्मकः।
स्थैर्येणोत्तममध्यानां नीचानां चापसर्पणैः[2] ॥ ६३ ॥

इस प्रकार सम्भ्रमात्मा यह 'आवेग'[1] आठ प्रकार का होता है। इसमें

१ आवेग—अनर्थाधिक्य से उद्भूत होने वाली सम्भ्रमात्मा चित्तवृत्ति 'आवेग' कहलाती है। भरतमुनि ने इसके आठ हेतु उपस्थित करते हुए अलग-अलग उनके लक्षण देकर 'आवेग' के आठ भेद भी बतलाये हैं।

१ इत्येषोऽष्टविधो ज्ञेय —ग०। २ चापसर्पणात्—ग०।

उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के व्यक्ति स्थैर्ययुक्त तथा अधमप्रकृति के व्यक्ति भागने वाले होते हैं ॥ ६३ ॥

अत्रार्ये भवत —

अप्रियनिवेदनादिश्रवणादवधारितवचनस्य[1] ।

शस्त्राक्षेपात्त्रासादावेगो नाम सम्भवति ॥ ६४ ॥

इस विषय में दो आर्याएँ भी हैं :—

आवेग की उत्पत्ति अप्रिय समाचार को सुनकर, सहसा वचनों क उच्चारण एवं शस्त्रों के प्रहार तथा त्रास से होती है ॥ ६४ ॥

अप्रियनिवेदनाद्यो विषादभावाश्रयोऽनुभावोऽस्य ।

[2]सहसादिदर्शनाद्यैश्च प्रहरणपरिघट्टने[3] कार्यं ॥ ६५ ॥

अप्रिय समाचार से उत्पन्न आवेग होने पर—उसम विषाद, सहसा शत्रु का दिखाई देना आदि होते हैं। इसका अभिनय शस्त्रों के प्रहार तथा टक्कर देना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ ६५ ॥

[1]जडता—

जडता नाम—सर्वकार्याप्रतिपत्तिः इष्टानिष्टश्रवणदर्शनव्याध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेदकथनाभिभाषण[4]-तूष्णीम्भावानिमेषनिरीक्ष[5]णपरवशत्वादिरनुभावैः ।

सभी कार्यों में प्रवृत्ति न होना 'जडता' कहलाता है। यह इष्ट या अनिष्ट वस्तु के दर्शन, श्रवण अथवा व्याधि आदि विभावों से उत्पन्न होती है।

---

१ जडता—मन के शिथिल हो जाने पर योग्य कार्यों के अनुसन्धान में हीन जो चित्तवृत्ति बनती है वही 'जडता' है। इसमें किसी भी कार्य को करने की प्रवृत्ति नहीं होती। 'मोह' में वस्तु के नेत्रादि से देखने आदि के काय नहीं हो पाते हैं पर तु इस भाव मे वस्तु के दर्शन आदि तो होते हैं पर उनका विशेष रूप मे परिचय या परिज्ञान नहीं हो पाता। अर्थात् न जानना मोह और यथा तथ्य रूप मे वस्तु का अज्ञान 'जडता' है। यही दोनो भावो मे पार्थक्य है।

१. निवेदनाद्वा सहसा ह्यभिधारितारिवचनेन—क० ।
२ शस्त्रक्षेपत्रासा—ग० । ३ सहसा निदर्शन चेत्—ग० ।
४ परिघट्टन कार्यम—ग० । ५ कथनाभाषणतूष्णी—ग० ।
६ भावाप्रतिभनिमेषनिरीक्षण—ग० ।

(पूछने पर) कुछ भी न कहने (अकथन) मौन रखने, अपलक देखते रहने तथा पराधीन होने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

अत्रार्या भवति—

इष्टं वाऽनिष्टं वा सुखदुःखे[1] वा न वेत्ति यो मोहात्।
तूष्णीकः परवशगो भवति स जडसंज्ञितः[2] पुरुषः॥

जो मनुष्य मोहवश इष्ट या अनिष्टकारी वस्तु तथा अच्छे (सुख) और बुरे के भेद को (दुःख) को नहीं जानता तो चुप चाप और पराधीन ऐसे व्यक्ति को 'जड' कहते हैं॥ ६६॥

[1]गर्व :—

गर्वो नाम—ऐश्वर्यकुलरूपयौवनविद्या बलधनलाभादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्यासूयावज्ञाधर्षणा[3]नुत्तरदानासम्भाषणाङ्गावलोकन[4]-विभ्रमोपहसनवाक्पारुष्य-गुरुव्यतिक्रमणाधिक्षेपवचनविच्छेदादिभि-रनुभावै[5]रभिनयः प्रयोक्तव्यः।

ऐश्वर्य, उच्चकुल रूप यौवन, विद्या, बल तथा (आकस्मिक) धन लाभ आदि विभावों से 'गर्व' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय असूया, अवज्ञा, (अनादर) दूसरों को टक्कर देना या पीसना (आघर्षण), उत्तर न देना, न बोलना, अपनी बाजू आदि अङ्गों को देखना, उतावलापन बतलाना (विभ्रम), हँसी उड़ाना, कड़े शब्द बोलना, पूज्यजन (की मर्यादा) का अतिक्रमण करना एवं उनका अपमान करना तथा सम्भाषण बन्द करना (या व्यङ्ग करना) आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्या भवति—

'विद्यावाप्ते रूपादैश्वर्यादथवा धनागमाद्वापि।
गर्वः खलु नीचानां दृष्टयङ्गविचालनैः[7] कार्यः॥ ६७॥

१ गर्व—ऐश्वर्य, रूप, विद्यादि के कारण अपना उत्कर्ष बतलाना या दूसरों की अवज्ञा करना और अपने को बड़ा मान लेना ('आविद्यधी') 'गर्व' नामक सचारी भाव है।

१ सुखदुःख—ग०। २. सञ्ज्ञक—ग०।
३ तस्यावज्ञाधर्षणा—ध०। ४ णासावलोकन—ग०।
५ क्षिसेपादिभिरनुभावै—ग०। ६ विद्यायौवनरूपादैश्व—ग०।
७. विचारणै—ग०।

इस विषय में एक आर्या है :—

विद्या की प्राप्ति, रूप, वैभव, तथा धन आदि के (आकस्मिक) लाभ से नीचप्रकृति के पुरुषों में गर्व उत्पन्न होता है। दृष्टि तथा शरीराङ्गों के चालन द्वारा इसे अभिनीत करना चाहिए॥ ६७॥

[1]विषाद :—

विषादो नाम—कार्यानिस्तरण दैवव्यापत्तिसमुत्थः। तमभिनयेत्सहायान्वेषणोपायचिन्तिनोत्साहविघातवैमनस्यनिःश्वसितादिभिरनुभावैरुत्तममध्यमानाम्। अधमानां तु विपरिधावनालोकनमुखशोषणसृक्कपरिलेहननिद्रानिःश्वसितध्यानादिभिरनुभावैः।

प्रारम्भ किये हुए कार्य के समाप्त न होने तथा दैव की प्रतिकूलता रहने से 'विषाद' उत्पन्न होता है। उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के पात्रों में सहायक ढूँढने, उपाय सोचने, उत्साह नाश, चित्त में मलिन होने तथा दीर्घ निःश्वास लेने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय किया जाय तथा अधम-प्रकृति के व्यक्तियों में (स्थित) विषाद का अभिनय दूर भागने, नीचे देखने, मुँह सूखने, ओंठ चाटने, सोने, दीर्घ उसाँसे भरने तथा ध्यान करने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

अत्रार्याश्लोकौ—

> कार्यानिस्तरणाद्वा[2] चौर्याभिग्रहणराजदोषाद्वा।
> [3]दैवादर्थविपत्तेर्भवति विषादः सदा पुंसाम्॥ ६८॥

इस विषय में एक आर्या तथा श्लोक हैं :—

प्रारम्भ किये हुए कार्य के न निपटने, चोरी के कारण बन्धन प्राप्त

---

१. विषाद—वाञ्छित सिद्धि के न होने से चित्त में जो एक अनुत्साह का प्रसार हो जाता है वही खिन्नता 'विषाद' है। इससे पश्चात्ताप आदि भी होते हैं। यहाँ कार्यानिस्तरण का अर्थ है प्रारम्भ किये गये कार्य को पूरा न कर पाना या कार्य का निर्वाह न कर पाना। दैव व्यापत्ति का अर्थ है दैवात् प्राप्त कष्ट या भाग्य की प्रतिकूलता। विपरिधावन का अर्थ है दूर भागना।

---

१. कार्यारम्भानिस्तरण—ग०, घ०।

२. कार्यानिस्तरणकृतचौर्यादिग्रहण—ग०, घ०।

३. दैवादिष्टो योऽर्थस्तदसम्प्राप्तौ विषाद स्यात्—ग०, घ०।

करने, सम्पत्ति ले, राजा के द्वारा क्षति पहुँचाने तथा दुर्भाग्य के कारण अर्थनाश होने से 'विषाद' उत्पन्न होता है ॥ ६८ ॥

> १वैचित्र्योपायचिन्ताभ्यां कार्यमुत्तममध्ययोः ।
> निद्रानिःश्वसितध्यानैरधमानां तु योजयेत् ॥ ६९ ॥

इस विषाद को उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के पात्रों में विभिन्न उपायों के चिन्तन द्वारा तथा अधम प्रकृति के मनुष्यों में निद्रा, दीर्घ निःश्वास तथा ध्यान करने आदि के अनुभावों के द्वारा अभिनीत करना चाहिए ॥६९॥

१औत्सुक्य—

औत्सुक्यं नाम—इष्टजनवियोगानुस्मरणोद्यानदर्शनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य दीर्घनिःश्वसिताधोमुखविचिन्तननिद्रातन्द्रीशयनाभिलाषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

प्रियजन के वियोग पर उनकी याद आना तथा उद्यान दर्शन आदि से 'औत्सुक्य' उत्पन्न होता है। दीर्घनिःश्वास, नीचा मुँह कर सोचने, निद्रा, तन्द्रा तथा भूमि पर लेट जाने की अभिलाषा करने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

अत्रार्या भवति—

> **इष्टजनस्य वियोगादौत्सुक्यं जायते ह्यनुस्मृत्या।**
> **चिन्तानिद्रातन्द्रीगात्रगुरुत्वैरभिनयोऽस्य ॥ ७० ॥**

---

१ औत्सुक्य—अभीष्ट वस्तु या कार्य की तात्कालिकपूर्ति करने की अभिलाषा को 'औत्सुक्य' कहलाती है। अर्थात् इष्ट के प्रति शीघ्रता से अभिमुख होना 'औत्सुक्य' है। पण्डितराज द्वारा दिया गया औत्सुक्य का निम्न लक्षण भी भरत के अनुरूप है। यथा —

> 'सञ्जातमिष्टविरहादुद्दीप्तं प्रियस्मृतेः।
> निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया॥
> अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यं भावचिन्तकैः।" [र० गं० नि० सा० पृ० ११२]

अर्थात् इष्टजन के विरह से उत्पन्न होने वाला और प्रियजन की स्मृति से उद्दीप्त होने वाला भाव 'औत्सुक्य' है। इसके अनुभाव हैं—निद्रा, आलस्य, शरीर का भारीपन और चिन्ता करना।

---

१ विचित्रो—ग०। २ दर्शयेत्—घ०।

इस विषय में एक आर्या है :—

इष्टजन के बिछुड़ने तथा उनकी याद आने से 'औत्सुक्य' उत्पन्न होता है। चिन्ता, निद्रा, तन्द्रा तथा शरीर के भारीपन द्वारा इसे अभिनीत करना चाहिए ॥ ७० ॥

[1]निद्रा—

निद्रा नाम—दौर्बल्यश्रमक्लममदालस्य[1]चिन्ताऽत्याहारस्वभावादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेद्वदनगौरवशरीरावलोकननेत्रघूर्णनगात्रविजृम्भणमान्द्योच्छ्वसित[2]सन्नगात्रताक्षिनिमीलनादिभि[3]रनुभावैः।

दुर्बलता, श्रम, मद, आलस्य, (अतिशय) चिन्ता, अति आहार तथा स्वभाव आदि विभावों से 'निद्रा' उत्पन्न होती है। (शरीर के) मुँह के भारीपन, शरीर के लोटाने, नेत्रों को घुमाने, अँगड़ाई लेने, गहरी साँस लेने, शरीर के सुन्न हो जाने तथा आँखें बन्द करने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय किया जाए।

अत्रार्ये भवतः—

आलस्याद्दौर्बल्यात्क्लमाच्छ्रमाच्चिन्तनात्स्वभावाच्च।
रात्रौ जागरणादपि निद्रा पुरुषस्य सम्भवति ॥ ७१ ॥

इस विषय में दो आर्याएँ हैं :—

आलस्य, दुर्बलता, क्लेश, (अतिशय) श्रम, चिन्तन, स्वभाव तथा रात्रि में जागरण के कारण मनुष्य को 'निद्रा आती है ॥ ७१ ॥

[4]तां मुखगौरवगात्रपरिलोडन-नयनमीलनजडत्वैः।
जृम्भणगात्रविमर्दैरनुभावैरभिनयेत्प्राज्ञः[5] ॥ ७२ ॥

---

१ निद्रा—श्रम आदि के कारण इन्द्रियों के व्यापार की विरति 'निद्रा' है। (मूल के) व्यापारविरति का आशय यह है कि इस समय ज्ञानेन्द्रियाँ विषय ग्रहण से हट जाती हैं परन्तु मन का व्यापार निद्राजाल में भी होता रहता है।

---

१. श्रममदालस्य—ग०।

२ गात्रपरिलोडननेत्रविघूर्णनजृम्भणगात्रविमर्दनोच्छ्वसित—ग०।

३. निमीलनसम्मोहनादिभि—ग०।

४. तस्या मुखगौरवगात्रनयननिमीलनविघूर्णनजडत्वै —ग०।

५ रभिनयः प्रयोक्तव्य —ग०।

इस (निद्रा) का अभिनय चेहरे के भारीपन, शरीर के हिलाने डुलाने, आँखों को बन्द करने, जड़ता, जम्भाई लेने तथा शरीर के दबाने (मर्दन करने) आदि अनुभावों से किया जाए ॥ ७२ ॥

[1]*अपस्मार :—*

अपस्मारो नाम—[1]देवयक्षनागब्रह्मराक्षसभूतप्रेतपिशाचग्रहणानु-स्मरणोच्छिष्ट शून्यागारसेवनाशुचिकालान्तरापरिपतनव्या[3]ध्यादिभि-र्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य स्फु[4]रितनिःश्वसितोत्कम्पितधावपतनस्वेद-स्तम्भनवदनफेन[5]जिह्वापरिलेहनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

देव, यक्ष, नाग, ब्रह्मराक्षस, भूत, प्रेत तथा पिशाच के लगने तथा उनके स्मरण हो जाने, उच्छिष्ट भोजन तथा शून्य भवन के सेवन करने, अपवित्र एवं दुर्गम अरण्यमार्ग पर चलने और धातु की विषमता आदि विभावों के कारण 'अपस्मार' उत्पन्न होता है। इनका अभिनय कम्पन, निश्वास निकालने, जोर से थूकने, दौड़ने, गिरने, स्वेद, (जड़वत) स्थिर हो जाने (स्तम्भन) मुँह में झाग आ जाने, हिचकी तथा जीभ चाटने आदि अनुभवों के द्वारा किया जाता है।

अत्रार्ये भवतः—

भूतपिशाचग्रहणानुस्मरणोच्छिष्टशून्यगृहगमनात् ।
कालान्तरातिपातादशुचेश्च[6] भवत्यपस्मारः ॥ ७३ ॥

---

१. अपस्मार—यह एक व्याधि के रूप में होता है जिसे मिर्गी कहते हैं परन्तु यहाँ इसे एक आवेशात्मक भाव मानकर प्रस्तुत किया गया है। इसका विशेष रूप से उल्लेख इस बात को समझाने के लिये किया है कि बीभत्स और भयानक रसों की यही व्याधि अंग होती है और विप्रलम्भ शृङ्गार की अन्य व्याधियाँ भी अंग हो सकती हैं।

१ देवनागयक्षपिशाचादीनां ग्रहणाद्—ग० ।
२ अनुस्मरणाद्—ग० । ३ धातुवैषम्यादिभि—ग० ।
४. दुरितकम्पिनि श्वसित—ग० । ५. हिक्काजिह्वा—ग० ।
६. भवेदप—ग० ।

इस विषय में दो आर्याएँ है—

भूत पिशाच के लग जाने या उनका स्मरण करने, उच्छिष्ट वस्तु तथा शून्य गृह म जाने, उचित समय के बीत जाने (चूक जाने) तथा अपवित्र रहने से 'अपस्मार' होता है ॥ ७३ ॥

सहसा भूमौ पतनं प्रवेपनं[1] वदनफेनमोक्षश्च ।
[2]नि संज्ञस्योत्थानं रूपाण्येतान्यपस्मारे ॥ ७४ ॥

अपस्मार म पृथ्वी पर सहसा गिरना, कम्पित होना, मुँह से फेन निकलना, निश्चेष्ट स्थिति में (बेहोशी में) उठ जाना (आदि) अनुभाव होते हैं ॥ ७४ ॥

[1]सुप्त —

सुप्तं नाम—निद्राभिभव.[3] । इन्द्रियविषयोपगमन मोहनक्षिति तलशयनप्रसारणानुकर्षणादिभिर्विभावै. समुत्पद्यते । निद्रासमुत्थ तदुच्छ्वसित[4]सन्नगात्राक्षिनिमीलनसर्वेन्द्रियसम्मोहनास्वप्नायितादि भिरनुभावैरभिनयेत् ।

'सुप्त' भाव निद्रा से उत्पन्न होता है (निद्राभिभव) यह इन्द्रियों के द्वारा अपने अपने विषय का सेवन, इन्द्रियों की सुप्तता (मोहन), पृथ्वी पर लोट जाना (सो जाना) या फैल कर लेटना तथा सिकुडजाना (अनुकर्षण) आदि विभावों म 'सुप्त' उत्पन्न होता है । इसका अभिनय गहरी सास लेने, शरीर के चेष्टा हीन रखने, आँखों के मीचने, सभी इन्द्रियो के सुन्न हो जाने, (नींद मे) बडबडाने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है ।

---

१ सुप्त—यह भाव निद्रा से उत्पन्न ज्ञान है । अर्थात् प्रबल निद्रा का आ जाना सुप्त' है । 'निद्रा मे मन की अवधानता वृत्ति विद्यमान रहती है परन्तु वही 'सुप्त' भाव मे बिलकुल अवरुद्ध हो जाती है । यही निद्रा और सुप्त म विभेद है फिर भी निद्रा के सभी विभाव 'सुप्त' में कारण रूप म समझने चाहिए । इन्द्रियमोहन का अर्थ है विषयो से अत्यन्त विमुख हो जाना या इन्द्रियो का सुन्न हो जाना ।

१ प्रकम्पन—ग०, । २. निस्सज्ञाम्युत्थान—ग० निद्रासमुत्थम्—घ० ।
३ 'निद्राभिभव इत्यारभ्य 'समुत्पद्यते' इत्यन्त पाठ ग—पुस्तके नास्ति ।
४. निश्वसितसन्नगात्र—ग० ।

अत्रार्ये[1] भवतः—

> [2]निद्राभिभवेन्द्रियोपरमणमोहनैर्भवेत् सुप्तम् ।
> अक्षिनिमीलोरुच्छ्वसनैः स्वप्नायितजल्पितैः कार्यः ॥ ७५ ॥

इस विषय में दो आर्याएँ हैं:—

निद्रा के व्याघात, इन्द्रियों के चेष्टाहीन होने, (इन्द्रियों के) अपने विषय का अनुभव न करने (मोहन आदि) से 'सुप्त' होता है । इसे आँखें मूँदने, गहरी साँसें लेने, सपना देखने तथा नींद में बड़बड़ाने के द्वारा अभिनीत किया जाता है ॥ ७५ ॥

> सोच्छ्वासैर्निःश्वासैर्मन्दाक्षिनिमीलनेन निश्चेष्टः ।
> सर्वेन्द्रियसम्मोहात्सुप्तं स्वप्नैश्च[3] युञ्जीत ॥ ७६ ॥

जोर से साँसें लेने, आँखों को धीरे धीरे बन्द करने, शरीर को निश्चेष्ट रखने, सभी इन्द्रियों के सुप्त हो जाने तथा स्वप्न देखने के अनुभावों द्वारा 'सुप्त' भाव को अभिनीत करे ॥ ७६ ॥

विबोध—

विबोधो नाम—आहारपरिणामनिद्राच्छेदस्वप्नान्ततीव्रशब्दस्पर्श[4]-श्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तमभिनयेज्जृम्भणाक्षिपरिमर्दन-शयनमोक्षणादिभि[5]रनुभावैः ।

निद्रा का नाश (ही) 'विबोध'[1] कहलाता है । यह भोजन के पचने, नींद के टूटने, खराब स्वप्नों के देखने, जोर की आवाज, स्पर्श तथा श्रवण आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है । इसका अभिनय जँभाई लेने, आँखें मलने, बिछौना छोड़ने इत्यादि अनुभावों के द्वारा किया जाता है ।

---

१ विबोध—निद्रा के भंग होने पर जो 'बोध' होता है अर्थात् शब्दादि से होने वाला निद्राभंग या आरम्भिकरूप से जाग उठना (वही) 'विबोध' है ।

---

१ अत्रार्या—ग० ।

२. इयमार्या ग—पुस्तके नास्ति । ३. स्वप्नै. प्रयुञ्जीत—ग० ।

४. शब्दरूपादिभि—ग० ।

५. शयनमोक्षाङ्गवदनभुजावक्षेपणाङ्गुलिमोटनादिभि—ग० ।

अत्रार्या भवति—

> याहारविपरिणामाच्छब्दस्पर्शादिभिश्च सम्भूतः ।
> प्रतिबोधस्त्वभिनेयो जृम्भणवदमाक्षिपरिमर्दैः ॥ ७७ ॥

इस विषय में आर्या है :—

भोजन के पच जाने, शब्द तथा स्पर्श आदि से 'विबोध' उत्पन्न होता है। इसे जंभाई लेने, मुँह तथा आँखों को मलने (आदि) अनुभावों के द्वारा अभिनीत करे ॥ ७७ ॥

अमर्ष—

अमर्षो नाम—विद्यैश्वर्यशौर्यबला[1]धिकैरधिक्षिप्तस्यावमानितस्य वा समुत्पद्यते। तमभिनयेच्छिरःकम्पनप्रस्वेदनाधो[2]मुखचिन्तनध्यानाध्यवसायोपायसहायान्वेषणादिभिरनुभावैः[3]।

अपने से अधिक विद्या, ऐश्वर्य तथा शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा निन्दित या तिरस्कृत व्यक्तियों में 'अमर्ष'[1] भाव उत्पन्न होता है। मस्तक हिलाने, पसीना आ जाने, नीचा मुँह कर सोचने और देखने, निश्चय करने (अध्यवसाय), उपाय तथा सहायक ढूँढने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

अत्र श्लोकौ—

> **आक्षिप्तानां सभामध्ये [4]विद्याशौर्यबलाधिकैः ।**
> **नृणामुत्साहसंयोगादमर्षो[5] नाम जायते ॥ ७८ ॥**

१. अमर्ष—अपमानित होने पर प्रतिकार की भावना जाग्रत होना 'अमर्ष' है। अमर्ष भाव में प्रतिपक्षी के प्रति कार्य करने की प्रवृत्ति नहीं रहती केवल चुप रहना या नीचा मुख करना होता है और 'क्रोध' में प्रतिपक्षी के नाश करने की प्रवृत्ति हो जाती है अर्थात् जब भावना कोमल अवस्था में हो तो 'अमर्ष' और वही उत्कट अवस्था प्राप्त कर ले तो 'क्रोध' हो जाती है। आशय यही है कि अपकारी के प्रति अपकार की भावना रखना 'अमर्ष' तथा अपकार न करने पर भी दूसरे को हानि पहुँचा देने की भावना 'क्रोध' है।

१ धनबला—ग० । २. स्वेदाधो—ग० ।

३ चिन्तनाध्यवसायोपायान्वेषणादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्यः—ग० ।

४. विद्यैश्वर्य—घ० ।

५. मुत्साहसम्पन्नो—ग०, घ० ।

इस विषय में दो श्लोक हैं—

'अमर्ष' भाव उस उत्साह युक्त व्यक्ति में उत्पन्न होता है जो सभा में किसी विद्या, ऐश्वर्य तथा बल में अधिक व्यक्ति द्वारा तिरस्कृत (पराभूत या निन्दित) किया गया हो ॥ ७८ ॥

उत्साहाध्यवसायाभ्यामधोमुखविचिन्तनैः ।
शिरःप्रकम्पस्वेदाद्यैस्तं प्रयुञ्जीत पण्डितः[1] ॥ ७९ ॥

उत्साह, अध्यवसाय, नीचा मुँह कर सोचने, मस्तक कँपाने तथा पसीना आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ७९ ॥

अवहित्थ—

अवहित्थं नाम—आकारप्रच्छादनात्मकम् । तच्च लज्जाभयापजयगौरवजैह्म्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्यान्यथाकथनावलोकित[2]कथाभङ्गकृतक[3]धैर्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अपने स्वरूप का आच्छादन "अवहित्थ' कहलाता है । यह लज्जा, भय, पराजय, गौरव, छल या कुटिलता (जैह्म) आदि विभावों से उत्पन्न होता है । इसका अभिनय अन्यथा कथन, दूसरी ओर (या नीचे) देखने, कथन के (सहसा) बन्द कर देने और बनावटी धीरज धारण करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

अत्र श्लोको भवति—

धार्ष्ट्यजैह्म्यादिसम्भूतमवहित्थं भयात्मकम्[4] ।
तच्चागणनया कार्यं नातीवोत्तर[5]भावणात् ॥ ८० ॥

---

१. अवहित्थ—हृदय आदि को लज्जादि के कारण छिपाने के लिए जिस चित्तवृत्ति को निर्माण करना होता है वह है 'अवहित्थ' । अर्थात् बाहर प्रकाशित न होने वाली चित्तवृत्ति 'अवहित्थ' है । इसकी व्युत्पत्ति है 'न बहि स्था चित्तवृत्तिरिति पृषोदरादित्वात् अवहित्थम्' । इसमें प्रस्तुत क्रिया से भिन्न कथन, दर्शन, वार्तालाप का विच्छेद, कृत्रिमस्थिरता दिखलाना आदि अन्य क्रियाएँ होती हैं । अन्यत्र भी आचार्यों ने इसका लक्षण 'अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थ भाव उच्यते' कहा है । जिसका आशय है (हर्ष आदि) अनुभाव को छिपाने के लिये जो उत्पन्न किया जाए वह भाव 'अवहित्थ' है ।

---

१ नाट्यवित्—ग०, घ० । २ कथनाविलोकित—ग० ।
३ कृतैरनुभावैं—ग० । ४. भयानकम्—ग० ।
५. तानि चोत्तर—ग०, नातिधोत्तर—घ० ।

इस विषय में एक श्लोक है —

धृष्टता तथा कुटिलता (आदि) से उत्पन्न 'अवहित्थ' भयमूलक होता है। इसका (किसी) कार्य के प्रति लापरवाही रखने, उत्तर में अधिक न कहने या बोलने आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय किया जाता है ॥ ८० ॥

उग्रता—

उग्रता नाम—चौर्याभिग्रहणनृपापराधासत्प्रलापादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तां च वधबन्धनताडननिर्भर्त्सनादिभिरनुभावैरभिनयेत्।

चोरी में पकड़े जाने, राजा का अपराध करने तथा झूठ बकवास करने (असत्प्रलाप) आदि विभावों से 'उग्रता'[1] उत्पन्न होती है। वध, बन्धन, ताडन तथा निर्भर्त्सन (डाँटने) आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

अत्रार्या भवति—

> **[1]चौर्याभिग्रहणनृपापराधाद्यैरुग्रता भवति।**
> **वधबन्धताडनादिभिरनुभावैरभिनयस्तस्याः ॥ ८१ ॥**

इस विषय में आर्या (भी) है —

चोरी में पकड़े जाने तथा राजा के अपराधी बनने के कारण 'उग्रता' उत्पन्न होती है। इसे वध, बन्धन तथा ताडन करने आदि अनुभावों द्वारा अभिनीत करना चाहिए ॥ ८१ ॥

मति—

मतिर्नाम—[2]नानाशास्त्रविचिन्तनोहापोहादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेच्छिष्योपदेशार्थविकल्पनसंशयच्छेदादिभिरनुभावैः।

अनेक शास्त्रार्थों के विचिन्तन, अनेक विषयों पर तर्क वितर्क करने आदि विभावों से 'मति'[2] उत्पन्न होती है। इसका अभिनय शिष्य को उपदेश देने,

---

१ उग्रता—यह भाव निर्दयता स्वरूप होता है। अपराध के कारण दुष्ट पुरुष के प्रति वध बन्धादि द्वारा जो निर्दयता का प्रकाशन है वही उग्रता है।

२ मति—शास्त्रादि के विचार से किसी तथ्य का विनिश्चय करना मति है। इसके द्वारा भ्रमोच्छेदन आदि कार्य होने से यह भाव मात्र माना गया

---

१ चौर्याभिग्रहयोगात्—क०, चौर्यग्रहणनिरोधात्—ग०।

२ नानाशास्त्रार्थचिन्तन—ग०। ३ संशयच्छेदना—ग०।

अर्थों के अन्वेषण (विकल्पन) तथा संशयापनोदन करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

भवति चात्र श्लोकः—

[1]नानाशास्त्रार्थबोधेन मतिः संजायते नृणाम्।
शिष्योपदेशार्थकृतस्तस्या स्त्वभिनयो भवेत्॥ ८२॥

इस विषय में निम्न श्लोक है :—

अनेक शास्त्रों के अर्थबोध द्वारा मनुष्यों में 'मति' उत्पन्न होती है। इसका अभिनय शिष्योपदेश देने तथा अर्थावबोध (अर्थज्ञापन) आदि के द्वारा करना चाहिए॥ ८२॥

व्याधि—

व्याधिर्नाम—वातपित्तकफसंनिपातप्रभवः। तस्य ज्वरादयो विशेषाः। ज्वरस्तु द्विविधः सशीतः सदाहश्च। तत्र सशीतो नाम—प्रवेपितसर्वाङ्गोत्कम्पननिकुञ्चनाग्न्यभिलाषरोमाञ्चहनुचलननासा[2]विकूणनमुखशोषणपरिदेवितादिभिरनुभावैरभिनेयः[3]। सदाहो नाम—[4]विक्षिप्ताङ्गकरचरणभूम्यभिलाषानुलेपनशीताभिलाषपरिदेवन[5]मुखशोषोत्क्रुष्टादिभिरनुभावैः। ये चान्ये व्याधयस्तेऽपि खलु मुखविकूणन[6]गात्रस्तम्भश्वस्ताक्षिनिःश्वसनस्तनितोत्क्रुष्टवेपनादिभिरनुभावैरभिनेयाः।

है। इसका काव्य में सन्निवेश उपयोगी होता है क्योंकि कई घटनाओं को इसी माध्यम से आगे बढ़ाया जाता है। अतएव यह केवल विचार मात्र न होकर एक संगत एवं निश्चित विचार को (निर्णयस्वरूप विचारों को) लेकर प्रवृत्त होता है और ऐसी मानसिक दशा का निर्माण करना ही 'मति' का प्रयोजन होने से इसकी संचारी भाव में गणना की गयी है।

१ नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना—क०, नानाशास्त्रविनिष्पन्ना—ग०।
२ कुञ्चितहनुविचलननासा—क०, कुञ्चितहनुचालननासाविघूर्णन—ग०।
३ त्वभिनयः प्रयोक्तव्यः—ग०।
४ विक्षिप्तकरचरणभूम्यभिलाषा—ग०।
५ परिदेवितोत्क्रुष्टादिभिः—ग०। ६ विघूर्णन—ग०।

वात, पित्त तथा कफ (में से किसी एक की विकृति) के कारण 'व्याधि'[1] उत्पन्न होती है। ज्वर आदि इसके विभेद हैं। ज्वर के दो प्रकार है—एक शीतज्वर तथा अन्य पित्तज्वर। शीतज्वर का अभिनय सम्पूर्ण अगों के धूजने (काँपने), (शरीर के) सिकुडाने, आग की अभिलाषा करने, रोमाच, ठुड्डी के हिलाने, नाक को घुमाने, मुख सूखने तथा विलाप करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। पित्तज्वर (सदाहज्वर) का अभिनय वस्त्रों के फेकने, हाथ पैरों के पटकने, भूमि पर लोटने की इच्छा करने, चन्दन लेपन के उपयोग करने, शीतलवस्तु की इच्छा रखने, विलाप करने तथा जोर से चिल्लाने (उत्क्रोश) आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि अन्य व्याधियाँ (भी) हों तो उनका अभिनय मुँह को नीचे झुकाने या घुमाने, शरीर के निष्क्रिय होने, आखों के शिथिल हो जाने; नि श्वास लेने, चीत्कार करने (स्तनित), रोने तथा कम्पन आदि अनुभावों से करना चाहिए।

अत्र श्लोको भवति—

समासतस्तु[1] व्याधीनां कर्तव्योऽभिनयो बुधैः।
स्रस्ताङ्गगात्रविक्षेपैस्तथा [2]मुखविकूणनैः ॥ ८३ ॥

इस विषय में एक श्लोक है—

सामान्यत· व्याधि का अभिनय अगों की शिथिलता, अगो के पटकने, मुँह घुमाने या नीचा करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ ८३ ॥

उन्माद—

उन्मादो नाम—इष्टजनवियोग विभवनाशाभिघात वातपित्तश्लेष्म-प्रकोपादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तमनिमित्तहसितरुदितोत्क्रुष्टासम्बद्धप्र

---

१ व्याधि—रोग या वियोग से उत्पन्न मानसिक या शारीरिक ताप ही 'व्याधि है। यहां 'व्याधि को अभिनय की अपेक्षा से एक दशाविशेष के चित्रण हेतु ही सचारीभाव के रूप मे रखा गया है। इसमें शारीरिक या मानसिक स्थिति का ऐसा चित्रण किया जाए जिससे स्वस्थता परिलक्षित न हो। और यह शरीर दोनो के कारण अद्भुत भी दिखलाई जा सकती है जैसा भरत मुनि ने बतलाया भी है।

---

१. सामान्यतस्तु—ग०। २. रुजामुखविघूर्णनैः—ग०, घ०।

लापशयितोपविष्टोत्थितप्रधावितनृत्तगीतपठितभस्मपांस्ववधूलन तृण-निर्माल्यकुचेलचीरघटकपालशरावाभरणधारणोपभोगैरनेकैश्चानवस्थितैश्चेष्टानुकरणादिभिरनुभावैरभिनयेत्[3] ।

इष्टजन के वियोग, सम्पत्ति की हानि, (दुःख से) धक्का या चोट लगना, वात, पित्त एवं कफ के प्रकोप होने आदि विभावों से 'उन्माद'[1] उत्पन्न होता है। अकारण हँसने, रोने, गाली देने (उलटे) तथा (वे सिर पैर की बातें) बकने नीचे सो जाने, बैठ जाने, उठ भागने, नाचने, गाने, (तथा) पढ़ने, (अकारण अपने शरीर पर) राख और मिट्टी को उछालने, तृण, फेंकी हुई वस्तुएँ (या चढ़ाए हुए पुष्प), फटे या गन्दे वस्त्र, टूटे हुए सराबल (शराव) तथा मिट्टी के घड़े आदि को इकट्ठा करने, (धारण) और उनका उपभोग आदि इसी प्रकार की अन्य अनेक अव्यवस्थित चेष्टाओं के अनुकरण आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

अत्रार्ये भवत —

इष्टजनविभवनाशादभिघाताद्वातपित्तकफकोपात्।
विविधाच्चित्तविकाराद् उन्मादो नाम सम्भवति ॥ ८४ ॥

इस विषय में निम्नलिखित) दो आर्याएँ हैं —

प्रियजन के बिछुड़ने, वैभव नाश होने, चोट लगने, वात, पित्त एवं कफ के प्रकोप होने तथा अनेक विध चित्त की विकृतियों के कारण 'उन्माद' होता है।

अनिमित्तरुदितहसितोपविष्टगीतप्रधावितोत्क्रुष्टैः ।
अन्यैश्च[4] विकारकृतैरुन्मादं सम्प्रयुञ्जीत ॥ ८५ ॥

१ उन्माद—दापादि के कारण मन का पथभ्रष्ट हो जाना अथवा अनुचित विवेकहीन कार्य करना उन्माद है। अपस्मार में चित्त की विकलता होती है और उन्माद में चित्त की अस्थिरता। उन्माद उत्तमपात्र के विप्रलम्भ शृङ्गार में और अधमपात्र के करुण रस में सचारिभाव रहता है और 'अपस्मार बीभत्स और भयानकरस में सचारिभाव होता है। यही दोनों में पार्थक्य है।

१ शयनोपविष्ट—ग० ।

२ पांस्वतिधूलननिर्माल्यचीरघटचक्रशरावाभरणस्पर्शनोपभोगैश्चानवस्थित चेष्टा —क० । ३ रन्यैश्चानवहितचेष्टाकरणादिभिरनुभावैरभिनेया —ग० ।

४ हसितरुदितो—ख० । ५ अन्यैर्यविकारकृतै—क० ।

अकारण रोने, हँसने, बैठने, गाने, दौड़ने, गाली देने (उत्क्रुष्टैः) तथा इसी प्रकार के अन्य विकारजन्य कार्य करने आदि के द्वारा 'उन्माद' का अभिनय करना चाहिए ॥ ८५ ॥

मरण—

मरणं नाम—व्याधिजमभिघातजञ्च। तत्र यद्यान्त्र यकृच्छूल-दोषवैषम्यगण्डपिटकज्वरविषूचिकादिभिरुत्पद्यते तद्व्याधिप्रभवम्। अभिघातजन्तु—शस्त्राहिदंश विषपानश्वापदगजतुरगरथपशुयान[1] पात-विनाशप्रभवम्। एतयो[2]रभिनयविशेषान्वक्ष्यामः। तत्र व्याधिजं—विषण्णगात्राव्यायताङ्गविचेष्टित-निमीलित-नयनहिक्काश्वासोपेतानवेक्षित[3]-परिजनाव्यक्ताक्षरकथनादिभिरनुभावैरभिनयेत्।

रोग तथा आकस्मिक दुर्घटना-जन्य चोट के द्वारा 'मरण'[1] होता है। इन दो प्रकारों में रोगजन्य-मरण—अन्त्र, यकृत रोग, शूल, त्रिदोष, गण्ड, पिटक, ज्वर तथा हैजा (विसूचिका) आदि से होता है तथा दुर्घटना-जन्य (चोट से होने वाला) मरण—शस्त्र, सर्पदंश, विषपान, हिंसक जन्तुओं के प्रहार, हाथी घोड़ा, रथ, पशु तथा यान से (नीचे) गिरने आदि से उत्पन्न होता है। अब इन दोनों प्रकारों के अभिनय बतलाता हूँ।

व्याधि जन्य मरण का अभिनय शरीर के सुन्न हो जाने, (शरीर के) अवयवों के फैल जाने या गति-हीन हो जाने, आँखें खुली (या बन्द) रखने, हिचकी और साँस चलने, परिजनों को देखने पर टूटे शब्दों के उच्चारण करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

---

१. मरण—भरतमुनि ने मरण के दो प्रकार बतला कर विस्तार से उसका विवरण दिया है। इनमें प्रथम व्याधिज और दूसरा अभिघातज मरण है। *'मरण' की दशा चित्तवृत्ति विशेष या मानसिक दशा ही नहीं है वह स्थायी-*भाव के अधिक समीप आकर सहायक दशा के रूप में पहुँच जाती है। भरतोक्त दोनों प्रकारों के उदाहरण भास तथा शूद्रक की रचनाओं में मिल जाते हैं। भास के प्रतिमानाटक में महाराज दशरथ का व्याधिज 'मरण' प्रस्तुत किया

---

१ रथयानपवनविनाश—ग०।

२. रिदानीमभिनयविशेष वक्ष्यामि—ग०।

३ श्वासोत्पतनमनपेक्षित—ग०।

अत्र श्लोको भवति—

व्याधीनामेकभावो हि मरणाभिनयः स्मृतः।
विषण्णगात्रैर्निश्चेष्टैरिन्द्रियैश्च विवर्जितः ॥ ८६ ॥

इस विषय में एक श्लोक है :—

मरण का अभिनय सभी व्याधियों के एक साथ घनीभूत होने का प्रकार (माना गया) है। इसे शिथिल शरीर, चेष्टाहीन इन्द्रियों तथा अर्थों के द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ८६ ॥

अभिघातजे तु—नानाप्रकारा अभिनयविशेषाः शस्त्रक्षताहिदष्टविषपीतगजाक्षिप्तपतितश्वापदहताः। यथा तत्र शस्त्रक्षते तावत्सहसा—भूमिपतनवेपनस्फुरणादिभिरभिनयः प्रयोक्तव्यः। अहिदष्टविषपीत[1]-

---

है तथा इसी प्रकार 'ऊरुभंग' नाटक में दुर्योधन का अभिघातज मरण दिखाया गया है। इसका आशय केवल इतना ही है कि प्रधान नायक या नायिका का मरण नाट्यमंच पर वर्जित है। यदि कथावस्तु में ऐसी मरण दशा आही जाए तो उसके पुनर्जीवन का उल्लेख होना चाहिये। जैसे 'मृच्छकटिक' में शकार द्वारा 'वसन्तसेना' का वध कर देना और उसका पुनरुज्जीवित होना। कुछ आचार्य इसी लिये मरण की पूर्वावस्था को 'मरण' भाव मानने के पक्ष में हैं तथा उत्तरवर्ती आचार्यों ने ऐसा माना भी है परन्तु कुछ अन्य उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रीय लेखकों ने 'मरण' का मंच पर प्रदर्शन ही वर्जित बतलाया। जब कि प्रख्यात नायक के वध का निषेध ही भरत आचार्य को इष्ट है न कि सामान्य पात्रों या नायकेतरपात्र की मृत्यु का। पर यही विषय उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रकार गम्भीरता से ग्रहण न कर सके। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसकी निम्न व्याख्या की है—"मरणमिति न जीवित वियोग उच्यते। अपि तु चैतन्यावस्थैव प्राणत्याग-कर्तृकालिका या सम्बन्धावसरगता मन्तव्या। मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकावस्थानमेव न लभते।" (अभि० भा०)—अर्थात् मरण का आशय जीवन की एकान्त समाप्ति नहीं लेना चाहिए किन्तु प्राणत्याग करने की वह अवस्था जो अनेक सम्बन्ध या अवसर में उपलब्ध होती हो। यहाँ 'मरण' थोड़े समय तक रहने वाला भाव ही लिया जाए जिससे वह शोक की निरन्तर दशा को अवसर न देने पाए।

---

१ अहिदष्टे तु विषपीते वा—ग०।

योर्विषवेगो यथा—कार्श्यवेपथुविदाहहिक्काफेनस्कन्धभङ्गजडतामरणा न्यष्टौ विषवेगाः ।

आकस्मिक दुर्घटनाजन्य मरण को—शस्त्रक्षत होने, सर्पदंश, विषपान, हाथी से गिरने तथा हिंसक पशुओं से मारे जाने आदि विभिन्न क्रियाओं के द्वारा अभिनीत किया जाता है। जैसे—शस्त्र से आहत होकर मरने में सहसा भूमि पतन, कम्पन तथा फड़कने आदि के द्वारा। सर्पदंश से विषभक्षण से या उसके चढ़जाने से होने वाले मरण में विषवेग की आठ दशाएँ होती हैं। यथा—(१) शरीर के कृश हो जाने, (२) कम्प, (३) दाह, (४) हिचकी, (५) मुँह में फेन आ जाने, (६) गले के ढीले होने, (७) जडता (बेहोशी) तथा अन्तिम दशा (८) मरण।

अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

कार्श्यं तु प्रथमे वेगे द्वितीये वेपथुर्भवेत्[1] ।
दाहं तृतीये हिक्का च चतुर्थे सम्प्रयोजयेत् ॥ ८७ ॥
फेनश्च पञ्चमे कुर्यात्षष्ठे स्कन्धस्य भञ्जनम्[2] ।
जडतां सप्तमे कुर्यादष्टमे मरणं भवेत् ॥ ८८ ॥

इस विषय में दो अनुवंश्य श्लोक हैं —

विष भक्षणोपरान्त प्रथमवेग में शरीर में कृशता, दूसरे में कम्पन, तीसरे में दाह, चौथे में हिचकी, पाँचवें में मुँह में फेन (फेन) निकलना, छठे में गले का ढल जाना, सातवें में बेहोशी तथा आठवें अन्तिम वेग में मरण हो जाता है ॥ ८७-८८ ॥

अत्रार्या भवति—

श्वापदगजतुरगरथोद्भवं[3] तु पशुयानपतनजं वाऽपि ।
शस्त्रक्षतवत्कुर्यादनवेक्षित[4]गात्रसञ्चारम् ॥ ८९ ॥

इस विषय में आर्या (भी) है —

हिंसक जन्तुओं के प्रहार, हाथी, घोड़ा, रथ, पशु तथा अन्य सवारी से गिरने पर हो जाने वाले मरण का अभिनय शस्त्रक्षत मरण के समान ही करना चाहिए ॥ ८९ ॥

---

१ वेपथुस्तथा—घ० । २ षष्ठ तु स्कन्धभञ्जनम्—घ० ।
३. श्वापदगजतुरगोद्भवपशुयानपतनज चापि—ग० ।
४ दनपेक्षित—ग०, घ० ।

इत्येवं मरणं ज्ञेयं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
प्रयोक्तव्यं बुधैः सम्यग्यथा भावाङ्गचेष्टितैः[1] ॥ ९० ॥

इस प्रकार मरण अनेक अवस्थाओं से युक्त होता है। इसका अभिनय बुध जन योग्य (उपयुक्त) भावों तथा आङ्गिक क्रियाओं द्वारा प्रस्तुत करें॥

त्रास—

त्रासो नाम—विद्युदुल्काशनिनिपातनिर्घाताम्बु[2]धरमहासत्त्वपशुरवादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तमभिनयेत्संक्षिप्ताङ्गोत्कम्पनवेपथुस्तम्भरोमाञ्चगद्गदप्रलापादिभिरनुभावैः।

बिजली, उल्का तथा वज्र के पतन, भूकम्प (निर्घात) मेघध्वनि तथा हिंसक पशु (आदि) के शब्दों आदि विभावों से 'त्रास'[1] उत्पन्न होता है। शरीर के अवयवों को सिकुड़ाने, सिहरने, धूजने, शरीर के जड़ हो जाने (स्तम्भ), रोमाञ्च, गद्गद् भाषण तथा असम्बद्ध प्रलाप करने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

अत्र श्लोको भवति—

महाभैरवनादाद्यैस्त्रासः समुपजायते।
स्रस्ताङ्गाक्षिनिमेषैश्च[3] तस्य त्वभिनयो भवेत् ॥ ९१ ॥

इस विषय में निम्न एक श्लोक है —

अनेक विभीषक ध्वनि आदि के उत्पन्न होने से 'त्रास' उत्पन्न होता है। इसे शरीर के भागों को ढीला छोड़ने तथा आँखों को (आधा) बन्द करने के अनुभावों के द्वारा अभिनीत करना चाहिए ॥ ९१ ॥

---

१ त्रास—किसी भयंकर वस्तु को देखने पर जो चकित या क्षुब्ध मनोवृत्ति हो जाती है वही 'त्रास' है। घोर दर्शनादिजन्य 'त्रास' होता है तथा अनर्थ की सम्भावना से मानसिक बल का क्षीण हो जाना 'भय' है। 'भय' की स्थिति दीर्घकाल तक चलकर पूर्वापर विचार तथा भावों से सम्बद्ध होती है अतः स्थायी है और 'त्रास' एक आगन्तुक दशा होकर उद्विग्न मनोदशा मात्र रहने से संचारी है। यही इन दोनों में पार्थक्य है।

---

१ भावाङ्गचेष्टितैः—ख०, वाग्ङ्गचेष्टितैः—घ०।

२ ताम्बुधरसनवातमहासत्त्वदर्शन—क०, ताम्बुद-रव सत्त्वदर्शनपश्वारवादिभि—ग०।

३. स्रस्ताङ्गार्द्धनिमेषाद्यैस्तस्य—क०, ग०।

वितर्क—

वितर्को नाम—सन्देहविमर्शविप्रतिपत्त्यादिभि[1] विभावैरुत्पद्यते। तमभिनयेद्विविधविचारितप्रश्नसम्प्रधारणमन्त्रसङ्गूहनादिभिरनुभावैः।

आशंका, विमर्श तथा ऊहापोह (विप्रतिपत्ति) आदि विभावों के द्वारा 'वितर्क' उत्पन्न होता है। अनेक वादविवाद, विचार, प्रश्न एवं परिभाषाओं के स्थापन तथा रहस्य मन्त्रणाओं के छिपा लेने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

अत्र श्लोको भवति—

विचारणादिसम्भूतः सन्देहातिशयात्मकः[3]।
वितर्कः[4] सोऽभिनेयस्तु शिरोभ्रूक्षेपकम्पनैः॥ ९२॥

इस विषय में एक आनुवंशीय श्लोक है :—

विचार विमर्श आदि से उत्पन्न तथा अतिशय सन्देहयुक्त स्वरूपवाले [1]'वितर्क' का अभिनय सिर, भौंहें तथा पलकों के घुमाने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए॥ ९२॥

एवमेते त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावा देशकालावस्थानुरू[5]-प्येणात्मगतपरगतमध्यस्था उत्तममध्यमाधमैः स्त्रीपुंसैः स्वप्रयोगव-शादुपपाद्या[6] इति।

इस प्रकार (ये) तैंतीस सचारीभाव होते हैं। इनका (कसी भी) (नाट्य रचना में) उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के सभी स्त्री तथा

१. वितर्क—सन्देह आदि के अनन्तर उत्पन्न होने वाली तर्कना 'वितर्क' कहलाती है। यह अनुकूल निर्णय मे सहायक होता है। 'चिन्ता' से इसका भेद यही है कि चिन्ता किसी निश्चय को उत्पन्न नहीं करती तथा चिन्ता का स्वरूप होता है 'क्या होगा' 'कैसा होगा' इत्यादि परन्तु 'वितर्क' निश्चय का आपादक होता है और उसका स्वरूप होता है 'ऐसा करना उचित होगा' इत्यादि।

१ प्रत्ययादिभि–ग०। २. प्रश्नसम्प्रधारण–क०, सन्नामप्रधारण–ग०, घ०

३ ससन्देहक्रिया–क०, सन्देहजनना–ग०।

४. वितर्कस्त्वभिनेय स्या–ग०, घ०।

५ देशकालावस्थानुगत—ग०। ६ पुरुषप्रयोगवशादुत्पाद्या—ग०।

पुरुषों के द्वारा देश, काल, अवस्था तथा कार्य के अनुसार (तथा प्रयोग की आवश्यकता आदि को ध्यान में रखते हुए) प्रयोग करना चाहिए।

अत्र श्लोकः—

त्रयस्त्रिंशदिमे भावा विज्ञेया व्यभिचारिणः।
सात्त्विकांस्तु पुनर्भावान्प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः[1] ॥ ९३ ॥

इस प्रकार ये तेंतीस व्यभिचारी भाव होते हैं अब मैं सात्त्विक भावों का क्रमशः वर्णन करता हूँ ॥ ९३ ॥

सात्त्विकभाव—

अत्राह – किमन्ये भावाः सत्त्वेन विनाऽभिनीयन्ते[2] यस्मादुच्यन्ते एते सात्त्विका इति? अत्रोच्यते—एवमेतत्। कस्मात्? इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते[3]। मनसः[4] समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो[5] यथाभावोपगतः स न[6] शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्।

अत्राह—को दृष्टान्त?—इह हि नाट्यधर्मिप्रवृत्ताः[7] सुखदुःखकृता भावास्तथा[8] सत्त्वविशुद्धाः[9] कार्या[10] यथा सरूपा भवन्ति। तत्र दुःखं नाम रोदनात्मकम्। तत् कथमदुःखितेन सुखञ्च प्रहर्षात्मकमसुखितेन चाभिनेयम्? एतदेवास्य सत्त्वं यद् दुःखितेन सुखितेन वाऽश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्यौ इति कृत्वा सात्त्विका भावा इत्यभिव्याख्याताः।

१ वक्ष्याम्यनपूर्वशः—ग०।
२ विनाभिधीयन्ते यत एते—क०, ग०। ३ उत्पद्यते—ग०।
४ मन समाधानाच्च सत्त्वनिवृत्तिर्भवति—ग०।
५ स्तम्भस्वेदरोमाञ्चास्र—ग०।
६ न दृश्यते मनसा कर्तुमिति—ग०।
७ नाट्यधर्मं प्रवृत्त—ग०। ८ कृतो—ग०। ९ भाव—ग०।
१० सत्त्वविशुद्धाधिष्ठित कार्यो यथास्वरूपो भवति—ग०।

प्रश्न :—क्या अन्य भाव सत्त्व के बिना (या उससे रहित) होते हैं, जो इन्हें ही सात्त्विक कहा गया ? उत्तर :—इन्हें सात्त्विकभाव[1] कहे जाने में हेतु है। क्योंकि 'सत्त्व' मन के आत्यन्तिक सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। मन की एकाग्रता से 'सत्त्व' आदि की उत्पत्ति होती है। इसका जो रोमाच अश्रु तथा वैवर्ण्य आदि से युक्त स्वरूप है उसका अनुकरण अन्यमनस्क भाव से ठीक नहीं हो सकता। अतएव नाटक में लोक स्वभाव के अनुसार स्थिति सत्त्व ही अपेक्षित है। (प्रश्न—) इस विषय में क्या दृष्टान्त दिया जा सकता है ? (उत्तर) नाट्यप्रयोग के समय नाट्यधर्म में प्रवृत्त सुख-दुःख के भावों को इस प्रकार सात्त्विक भावों से उत्पन्न होने वाले बतलाना चाहिए कि ये यथार्थ स्वरूप वाले प्रतीत होने लगें। रोदनात्मक भाव दुःख कहलाता है। इस दुःख भाव को जो कभी दुःखी न हुआ हो ऐसा सुखी प्रयोक्ता तथा प्रहर्षात्मक सुख को दुःखी प्रयोक्ता कैसे अभिनीत कर सकेगा ? इस सम्बन्ध में यही 'सत्त्व' है जो कि अभिनेता दुःखी हो या सुखी हो उस अश्रु या रोमाञ्च को अभिनय द्वारा प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार सात्त्विक भावों की व्याख्या की गयी।

न इमे—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ[1] वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः[2] ॥ ९४ ॥

इस सात्त्विक भावों की संख्या आठ है। यथा—(१) स्तम्भ, (२) स्वेद,

---

१ सात्त्विकभाव—सात्त्विक शब्द की व्युत्पत्ति है-'अवहित मन सत्त्व तत्प्रयोजन हेतुरस्येति सात्त्विक' अर्थात् एकाग्रमन का नाम सत्त्व है, यह सत्त्व जिसका प्रयोजन अर्थात् हेतु हो वह 'सात्त्विक' कहलाता है। मानसिक स्थिरता के अभाव मे अभिनेता के द्वारा स्वरभेदादि का प्रदर्शन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है अत एकाग्र मन से स्वरभेदादि का प्रदर्शन करना सात्त्विक अभिनय है जो सात्त्विक भावो का आश्रय लेकर किया जाता है। यद्यपि ये अनुभाव हैं किन्तु 'सत्त्व' से उद्भूत होने के कारण इनकी पृथक् गणना की गयी। इन स्वेदादि सात्त्विकभावो के भरतमुनि ने प्रथम लक्षण बतलाये हैं और फिर इनके अभिनय की प्रक्रिया दिखलायी है।

---

१. स्वरसादोऽथ—घ०।
२ मता.—ख०।

(३) रोमाच, (४) स्वरभग, (५) वेपथु, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु तथा (८) प्रलय ॥ ९४ ॥

अत्रार्या: तत्र—

क्रोधभयहर्षलज्जादुःखश्रमरोगतापघातेभ्यः ।
व्यायामक्लमघर्मैः[1] स्वेदः सम्पीडनाच्चैव ॥ ९५ ॥

इस विषय में ये आर्याएँ हैं :—

स्वेद—क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, ताप, चोट, व्यायाम, क्लेश, घाम तथा अगों के दबाने (सम्पीडन) आदि में 'स्वेद' उत्पन्न होता है ॥ ९५ ॥

हर्षभयशोकविस्मयविषादरोषादिसम्भव[2] स्तम्भः ।
शीतभयहर्षरोषस्पर्शजरारोगजः[4] कम्पः ॥ ९६ ॥

स्तम्भ तथा वेपथु—हर्ष, भय, शोक, विस्मय (हैरानी) दुःख तथा क्रोध आदि से 'स्तम्भ' उत्पन्न होता है तथा शीत, भय, हर्ष, क्रोध, स्पर्श, जरा (बुढ़ापा) तथा रोग से 'कम्प' (वेपथु) उत्पन्न होता है ॥ ९६ ॥

आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणाद्[5] भयाच्छोकात् ।
[6]अनिमेषप्रेक्षणतः शीताद्रोगाद् भवेदश्रु[7] ॥ ९७ ॥

अश्रु—(अस्त्र) —आनन्द या क्रोध से, आँखों में धुँआं या अंजन लगने से, जभाई से, भय, शोक तथा एकटक देखने तथा शीत और रोग से 'अश्रु' उत्पन्न होता है ॥ ९७ ॥

शीतक्रोधभयश्रमरोगक्लमतापजश्च वैवर्ण्यम् ।
स्पर्शभयशीतहर्षैः[8] क्रोधाद्रोगाच्च रोमाञ्चः ॥ ९८ ॥

वैवर्ण्य (मुँह का फीका पड आना) शीत, क्रोध, भय, थकावट, रोग, क्लेश (क्लम) तथा घाम (ताप) से 'वैवर्ण्य' उत्पन्न होता है । 'रोमाच—स्पर्श, भय, शीत, हर्ष, क्रोध तथा रोग से 'रोमाच' उत्पन्न होता है ॥ ९८ ॥

---

१. घर्मात्—ग० ।   २. रोष—ग० ।   ३. मदरोषसम्भव —ग० ।
४ सम्भव —ग० ।   ५. जम्भणभयाच्च—ग० ।
६. शोकानिमिषप्रेक्षणशीताद्—ग० ।   ७. भवेदस्रम—घ० ।
८. गीतहर्षात्—क०, शीतहर्षात्—ग० ।

स्वरभेदो[1] भयहर्षक्रोधजरारौक्ष्यरोगमदजनितः ।
श्रममूर्च्छामदनिद्राभिघानमोहादिभिः प्रलयः ॥ ९९ ॥

स्वरभंग—भय, हर्ष क्रोध, बुढापा, गले के सूखने (रौक्ष्य) रोग तथा मद से 'स्वरभंग' होता है। प्रलय—श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, चोट, तथा मोह आदि से 'प्रलय' की उत्पत्ति होती है ॥ ९९ ॥

एवमेते बुधैर्ज्ञेया भावा ह्यष्टौ तु सात्त्विकाः ।
कर्म चैषां प्रवक्ष्यामि [3]रसभावानुभावकम् ॥ १०० ॥

(इस प्रकार) आठ सात्त्विकभाव (होते) हैं जिन्हें (विज्ञजन को) जानना चाहिए। रस तथा भावों के अनुसार अब मैं इन भावों की अभिनय-प्रक्रिया (कार्य) बतलाता हूँ ॥१००॥

सात्त्विकभावों का अभिनय-विधान—

निःसंज्ञो[4] निष्प्रकम्पश्च स्थितः[5] शून्यजडाकृतिः ।
स्कन्नगात्रतया[6] चैव स्तम्भं त्वभिनयेद्बुधः ॥ १०१ ॥

'स्तम्भ' का अभिनय संज्ञाहीन, चेष्टाहीन, गतिहीन, (शून्य) जड-आकृति के स्तब्ध और संज्ञाहीन अंगों से (बुद्धिमान जन) प्रयुक्त करें ॥

व्यजनग्रहणाच्चापि[7] स्वेदापनयनेन च ।
स्वेदं[8] यथाभिनेतव्यस्तथा वाताभिलाषतः ॥ १०२ ॥

'स्वेद' का अभिनय पंखा उठा लेने, पसीना पोंछने तथा वायु की अभिलाषा रखने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ १०२ ॥

मुहुः कण्टकितत्वेन तथोल्लुकसनेन च ।
पुलकेन[9] च रोमाञ्चं गात्रस्पर्शेन दर्शयेत् ॥ १०३ ॥

'रोमाञ्च' का अभिनय रोएँ खड़े हो जाने, पुलक की आवृत्ति (या बार-बार रोंगटे खड़े होने) तथा गात्र स्पर्श के द्वारा किया जाता है ॥ १०३ ॥

---

१ स्वरसादो—ग० । २. जयहर्षक्रोधजरामोहमद—क०, ज्वररोग—ग० ।
३. ह्यनुभावा—ग० । ४. निश्चेष्टो—ख० ।
५. स्मितशून्य—ग० । ६. नि संज्ञस्तब्धगात्रत्व—ग० ।
७. व्यञ्जन—ग० । ८. स्वेदस्याभिनयो योज्यस्तथा—क०, ग० ।
९. रोमाञ्चस्त्वभिनयोऽसौ गात्रसंस्पर्शनेन च—ग० ।

स्वरभेदोऽभिनेतव्यो[1] भिन्नगद्गदनिस्वनै.[2]।
वेपनात्स्फुरणात्कम्पाद्वेपथुं सम्प्रदर्शयेत्[3] ॥ १०४ ॥

'स्वरभेद' का अभिनय भिन्न तथा गद्‌गद् स्वरों से करना चाहिए। तथा 'वेपथु' का अंगों के कांपने, फड़कने, हिलने आदि अनुभावों से किया जाए ॥ १०४ ॥

मुखवर्णपरावृत्त्या नाडीपीडनयोगतः।
वैवर्ण्यमभिनेतव्यं प्रयत्नात्तद्धि दुष्करम् ॥ १०५ ॥

'वैवर्ण्य' का अभिनय चेहरे के रंग के परिवर्तन और नाडी के दबाने के द्वारा प्रयत्नपूर्वक किया जाए। यह अंगाश्रित अभिनय होने से कठिनाई से प्रस्तुत होता है ॥ १०५ ॥

[4]बाष्पाम्बुप्लुतनेत्रत्वान्नेत्रसम्मार्जनेन च।
मुहुरश्रुकणापातैरास्रं त्वभिनयेद्बुध. ॥ १०६ ॥

'अश्रु' का अभिनय नेत्रों को आंसुओं से भरते (हुए), आँखें पोंछने तथा बार बार आँसुओं को गिराने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ १०६ ॥

निश्चेष्टो निष्प्रकम्पत्वादव्यक्तश्वसितादपि।
महीनिपातनाच्चापि[5] प्रलयाभिनयो भवेत् ॥ १०७ ॥

'प्रलय' का अभिनय चेष्टाहीन, निष्कम्प (बिना हिलने डुलने), श्वास के बन्द करने (या साँस की गति न दिखाई देने) और पृथ्वी पर गिरने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ १०७ ॥

---

१. स्वरभेद तथा चैव—ग०। २ विस्वरै—घ०।
३. सम्प्रयोजयेत्—ग०, घ०।
४ सार्धमेतत् पद्य ख—गपुस्तकयोर्नास्ति।
५. मेदिनीपतनाच्चापि—ग०।

(सचारी आदि) भावों की रसों में विनियोजना—

एकोनपञ्चाशदिमे यथावद्
भावास्त्र्यवस्था[1] ह्युदिता मयेह ।
भूयश्च[2] ये यत्र रसे नियोज्या-
स्तॉच्छ्रोतुमर्हन्ति च विप्रमुख्या. ॥ १०८ ॥

इन तीन प्रकार के इन उनचास भावों की मैंने यथावत् व्याख्या की । अब मैं विभिन्न रसों में होने वाले इनके प्रयोग बतलाता हू जिन्हें मुनिगन ध्यानपूर्वक सुनें ॥ १०८ ॥

आलस्यौग्र्यजुगुप्साख्यैरेवं[3] भावैस्तु वर्जिताः ।
उद्भावयन्ति शृङ्गारं सर्वे भावा. स्वसंज्ञया[4] ॥ १०९ ॥

आलस्य, उग्रता तथा जुगुप्सा को छोडकर शेष सभी भाव (अपने नामों से) "शृङ्गार" रस को उत्पन्न करते हैं ॥ १०९ ॥

---

१. आलस्यादि तीन सचारियो के अतिरिक्त कुल ४६ भाव ऐसे हैं जो शृङ्गार को उद्भावित करते है । इन भावो की गणना एक भिन्न पाठ मे इस प्रकार दी गयी है —

शङ्का व्याधिस्तथा ग्लानिश्चिन्ताऽसूया भय तथा ।
विस्मयश्च वितर्कश्च स्तम्भश्चपलता तथा ॥
रोमाञ्चहर्षौ निद्रा च तथोन्मादमदावपि ।
स्वेदश्चैवावहित्थश्च प्रलयो वेपथुस्तथा ॥
विषादश्रमनिर्वेदा गर्वावेगौ धृति स्मृति· ।
मतिर्मोहो विबोधश्च सुप्तमौत्सुक्यक तथा ॥

---

१ व्यवस्था गदिता मया व —ग० ।
२ येपान्च ये यत्र रसे नियोज्यास्तान्—ग० ,
३ जुगुप्साभिर्भावैस्तु परिवर्जिता —ग० ।
४ यथावसरमेते हि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजा ।
उद्दीपयन्ति शृगार रसमासाद्य सज्जितम् ॥
इति क–पुस्तकेऽधिकम् ।

ग्लानिः शङ्का ह्यसूया च श्रमश्चपलता तथा ।

सुप्तं निद्रावहित्थं च हास्ये भावाः प्रकीर्तिताः ॥ ११० ॥

ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा तथा अवहित्थ नामक भाव 'हास्यरस' में होते हैं ॥ ११० ॥

निर्वेदश्चैव चिन्ता च दैन्यं ग्लानस्रमेव[1] च ।

जडता मरणं चैव व्याधिश्च करुणे स्मृताः[2] ॥ १११ ॥

निर्वेद, चिन्ता, दैन्य, ग्लानि, अस्र, जडता, मरण तथा व्याधि नामक भाव 'करुण' रस में होते हैं ॥ १११ ॥

गर्वोऽसूया [3]मदोत्साहावावेगोऽमर्ष[4] एव च ।

क्रोधश्चपलतोमर्यं[5] च विज्ञेया रौद्रसम्भवाः ॥ ११२ ॥

क्रोधामर्षौ च हासश्च शोकोऽपस्मार एव च ।
दैन्यञ्च मरणञ्चैव रतिरुत्साहसंयुता ।
त्रासवैवर्ण्यरुदितं स्वरभेद शमोऽपि च ॥
जडता च तथा षट् च चत्वारिंशत् प्रकीर्तिता ॥
[ना० शा० G. O. S. Vol I, पृ० ३७७]

अर्थात् शङ्का, व्याधि, ग्लानि, चिन्ता, असूया, भय, विस्मय, वितर्क, स्तम्भ, चपलता, रोमाञ्च, हर्ष, निद्रा, उन्माद, मद, स्वेद, अवहित्थ, प्रलय, वेपथु, विषाद, श्रम, निर्वेद, गर्व, आवेग, धृति, स्मृति, मति, मोह, विबोध, सुप्त, औत्सुक्य, क्रोध, अमर्ष, हास, शोक, अपस्मार, दैन्य, मरण, रति, उत्साह, त्रास, वैवर्ण्य, रुदन, स्वरभेद, शम और जडता ये छियालिस भाव कहे गये हैं।

परन्तु शृङ्गार में जिन छियालिस भावों को लिया है उनमे केवल तीन सचारीभावों का ही भरत ने निषेध किया है—अत यह उल्लेख पुनरुक्त सा होने पर संग्रह की दृष्टि से ही किया गया प्रतीत होता है। इसमे 'शम' का उल्लेख होने से यह प्रक्षिप्त भाग है, यह स्पष्ट हो जाता है।

---

१ ग्लान्यास्रमेव—क० ।

२. रसे—ग० ।

३. तथोत्साह—ग० ।

४. मद एव—ग० ।

५. क्रोधश्चपलता हर्षो रौद्रे तूग्रत्वमेव च—ग० ।

गर्व, असूया, उत्साह, आवेग, मद, क्रोध, चपलता, हर्ष तथा उग्रता नामक भाव 'रौद्र' रस में होते हैं ॥ ११२ ॥

असम्मोहस्तथोत्साह आवेगो हर्ष एव च ।
मतिश्चैव तथोग्रत्वममर्षो[1] मद एव च ॥ ११३ ॥
रोमाञ्चः स्वरभेदश्च[2] क्रोधोऽसूया धृतिस्तथा ।
गर्वश्चैव वितर्कश्च वीरे भावा भवन्ति हि ॥ ११४ ॥

असम्मोह (प्रत्युत्पन्नमतित्व), उत्साह, आवेग, हर्ष, मति, उग्रता, अमर्ष, मद, रोमांच, स्वरभेद, क्रोध, असूया, धृति, गर्व तथा वितर्क 'वीर' रस में होते हैं ॥ ११३-११४ ॥

वेपथुः स्वरभेदश्च रोमाञ्चो गद्गदस्तथा ।
स्तम्भश्च[3] मरणं स्वेदो वैवर्ण्यं च भयानके ॥ ११५ ॥

वेपथु, स्वरभेद रोमाच, गद्गद, स्तम्भ, मरण, स्वेद तथा वैवर्ण्य नामक भाव 'भयानक' रस में होते हैं ॥ ११५ ॥

अपस्मारस्तथोन्मादो विषादो मद एव च ।
मृत्युर्व्याधिर्भयं चैव भावा बीभत्ससंश्रयाः[4] ॥ ११६ ॥

अपस्मार, उन्माद, विषाद, मद, मरण व्याधि तथा भय नामक भाव 'बीभत्स' रस में होते हैं ॥ ११६ ॥

स्तम्भः स्वेदश्च मोहश्च रोमाञ्चो विस्मयस्तथा ।
आवेगो जडता हर्षो मूर्च्छा चैवाद्भुते रसे[5] ॥ ११७ ॥

स्तम्भ, स्वेद, मोह, रोमाच, विस्मय, आवेग, जड़ता, हर्ष तथा मूर्च्छा-नामक भाव 'अद्भुत' रस में होते हैं ॥११७॥

---

१. हर्ष उन्माद एव च—ग० ।
२. प्रतिबोधश्च क्रोधासूये—ग० ।
३. त्रासश्च मरणञ्चैव—ग० ।
४. संश्रिता —ग० ।
५. चैवाद्भुताश्रया —ग० ।

ये[1] चैते सात्त्विका भावा नानाभिनयसंश्रिता ।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते[2] ज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ११८ ॥

ये तथा अन्य जो सात्त्विक भाव हों उन्हें अनेक अभिनयों से युक्त इन सभी रस भावों में नाट्यप्रयोक्ता जन प्रयुक्त करें ॥ ११८ ॥

न ह्येकरसजं काव्यं किंचिदस्ति प्रयोगत ।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ॥ ११९ ॥

व्यवहार (प्रयोग) में कोई भी नाट्यप्रयोग एक रस वाला नहीं होता और फिर वह चाहे भाव, रस, प्रवृत्ति या वृत्ति हो वह भी एक रस युक्त नहीं होती ॥ ११९ ॥

बहूनां[3] समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु ।
स मन्तव्यो रस स्थायी शेषा संचारिणो मताः ॥ १२० ॥

अनेक समवेत रसों में जिस एक का स्वरूप मुख्य हो (अधिक रहे) उसे स्थायी तथा शेष को संचारी भाव समझना चाहिए ॥ १२० ॥

दीपयन्त प्रवर्तन्ते ये पुन स्थायिनं रसम् ।
ते तु सञ्चारिणो ज्ञेयास्ते हि स्थायित्वमागता ॥ १२१ ॥

जो स्थायीभाव अन्य रस को उद्दीपित करते हुए प्रवृत्त हों उन्हें संचारी समझना चाहिए (पर) ये अपने प्रकृतरस के प्रसंग में स्थायी होते हैं ।

विभावानुभावयुक्तो ह्यङ्गवस्तुसमाश्रय ।
संचारिभिस्तु संयुक्त स्थाय्येव तु रसो भवेत् ॥ १२२ ॥

विभाव तथा अनुभावों से युक्त (हस्तादि-अवयवों के समान) अंगों के निवेश तथा कथावस्तु का सहकार पाकर एवं संचारी भावों से युक्त होकर स्थायीभाव रस दशा को प्राप्त करता है ॥ १२२ ॥

---

१ ये चान्ये—क० ।
२ विज्ञेया —ग० ।
३ सर्वेषा—ग० ।

स्थायी सत्त्वातिरेकेण प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः ।
संचार्याकारमात्रेण स्थायी यस्माद्व्यवस्थितः[1] ॥ १२३ ॥

प्रयोक्ता जन स्थायी भाव को अतिशय सात्विक भावों से सयुक्त करते हुए प्रस्तुत करें, (किन्तु) सचारीभावों को आकृतिमात्र से ही गौणरूप में प्रस्तुत करें क्योंकि ये स्थायीभाव के सहायकमात्र हैं । (अतएव इन्हें अधिक विस्तार प्राप्त नहीं करावें)[1] ॥ १२३ ॥

चित्राणि न विरज्यन्ते लोके चित्रं हि दुर्लभम् ।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्तमपि[2] यत्नतः ॥ १२४ ॥

(दर्शकों में) विचित्रता (या विभिन्न रसों का प्रदर्शन) विराग उत्पन्न नहीं करती क्योंकि (व्यवहार में) विविधता दुर्लभ रहती है । किन्तु

---

१ पद्य सख्या १२४ तथा १२५ के मध्य निम्न पद्य भी बडोदा सस्करण मे मिलते है ।

ये त्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनययोजिता ।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते ज्ञेया नाट्यकोविदै ॥

अनेकविध अभिनयो मे योजित जो ये सात्त्विक भाव हैं उन्हे इन समस्त रसो मे प्रयुक्त करने का ज्ञान नाट्यप्रयोग मे कुशल पुरुषों को रखना चाहिए ।

न ह्येकरसज काव्य नैकभावैकवृत्तिकम् ।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्त हि प्रयत्नत ॥
भावा वापि रसा वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ।

ऐसा कोई काव्य नही जिसमे एक ही रस, भाव या वृत्ति हो, पर चाहे भाव, रस प्रवृत्ति या वृत्ति हो उनके प्रयत्नपूर्वक प्रयोग करने पर इन सभी के सयोग से ही रसत्व की दशा का निर्माण होता है ।

बीभत्साद्भुतशान्ताना त्रैविध्य नात्र कथ्यते ॥
षण्णा रसाना त्रैविध्य नानाभावरसान्वितम ।
सत्त्वप्रयोजिता ह्यर्थं, प्रयोगोऽत्र विराजते ।
विदित्वा हि विराजन्ते लोके चित्र हि दुर्लभम ॥

---

१ यस्माद् व्यवस्थित —भ०, घ० ।
१ प्रयुक्त हि प्रयत्नत ।

प्रयत्नपूर्वक किया हुआ विभिन्न वस्तुओं का मिश्रण (विमर्द) बड़ा ही मनोरंजक होता है ॥ १२४ ॥

नानाभावार्थसम्पन्नाः[1] स्थायिसत्त्वाभिचारिणः[2] ।
पुष्पावकीर्णाः[3] कर्तव्याः काव्येषु[4] हि रसा बुधैः ॥ १२५ ॥

नाट्य में अनेक अर्थों तथा भावों से पूर्ण स्थायी, सात्त्विक तथा संचारी भावों की योजना माला में पिरोये हुए पुष्पों की तरह (अपेक्षित रूप में) ठीक से करनी चाहिए १२५ ॥

एवं रसाश्च भावाश्च व्यवस्था[5] नाटके स्मृता।
य एवमेताञ्जानाति स गच्छेत् सिद्धिमुत्तमाम् ॥ १२६ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे भावविकल्पो[6] नाम सप्तमोऽध्यायः ।



इस प्रकार नाटक में रसों तथा भावों की तीन अवस्थाओं का निरूपण किया गया है। जो ठीक से समझता है वह अतिशय सफलता प्राप्त करता है ॥ १२६ ॥

भरतनाट्यशास्त्र 'भावाध्याय' समाप्त ।
सप्तमाध्याय समाप्त ।



वीभत्स, अद्भुत और शान्त रस की त्रिविधता का यहाँ कथन नहीं किया जा रहा है किन्तु अनेक भावों तथा रसों से युक्त छः रसों का त्रिविध प्रयोग ही कहा गया है। यहाँ प्रयोग का अर्थ है सात्त्विकभाव के प्रयोज्य विषय। इसे जान लेने पर नाट्यप्रयोक्ताजन प्रतिष्ठादि प्राप्त कर शोभित होते हैं, यद्यपि संसार में विचित्रता या विविध रसों का मिश्रित प्रयोग दुर्लभ होता है।

१ नानार्थभावनिष्पन्ना—घ० ।
२ स्थायी सत्त्वविचारिण —ग० ।
३ पुष्पावकीर्णा—ग० ।
४ काव्ये सत्त्वरसाश्रये—ग०, काव्येषु हि रसाश्रया —घ० ।
५. व्यवस्था—ग० । ६ भावव्यञ्जकोनाम—घ० ।



परिशिष्ट

(नाट्यशास्त्र :अध्याय १-७)

अतिरिक्त टिप्पणियाँ

प्रथम अध्याय

(सकेत—टिप्पणियों के आरम्भ में दी गयी संख्या अध्यायगत श्लोकों की है।)

१ 'नाट्यशास्त्र'–शब्द की व्याख्या अति विस्तीर्ण है। कुछ आचार्य कहते हैं – नाट्यस्य नटवृत्तस्य' शास्त्र शासनोपाय ग्रन्थम्' अर्थात् नटों की अभिनय प्रक्रिया का विवरण देकर जिसे पठनीय (ग्रन्थ) बनाया जाए ऐसा शास्त्र ही **'नाट्यशास्त्र'** है। कर्त्तव्य एव अकर्त्तव्य की शिक्षा देने के कारण इसका शास्त्रत्व निर्विवाद है। अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि नाट्यशास्त्र शब्द नाट्य-वेद शब्द का पर्याय है अत –नाट्यस्य तत शास्त्रम इति नाट्यशास्त्रम्' व्याख्या ही उचित है। यह नाट्यवेद अर्थात् यह नटकर्मों की शिक्षा प्रदान करने वाला ग्रन्थ है। पर इस व्याख्यान में आपत्ति यह है कि नाट्यपद से जिस नाट्यकला का ग्रहण होता है वह शब्दरूप होने के कारण प्रवचन के योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त कलारूप नाट्य शब्दात्मक नहीं जिसका प्रवचन किया जा सके। केवल नाट्य के व्यवस्थित रूप मे निरूपित कर देने पर इससे भिन्न एव बाह्य रूपों का (जो अशास्त्रीय है) स्वत निराकरण हो जाता है इसलिये 'शास्त्र' शब्द का नाट्यपद के साथ प्रयोग भी निरर्थक है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में 'य इद शृणुयात् प्रोक्त नाट्यवेद स्वय भुवा' (ना० शा० ३६।७४) इत्यादि जो कहा गया है वह भी असगत हो जाएगा क्योंकि बिना शब्दात्मक रूप के 'शृणुयात्' शब्द उसका वाचक कैसे हो सकेगा।

अतएव भरतमुनि गुरुभूत एव सभी के अधिपति ब्रह्मा एव महेश्वर विषयक स्मृति, औत्सुक्य, मति आदि व्यभिचारि भावो और बाह्य विषयो से असम्बद्ध या अवृत्तिरूपी जडता, अवहित्था आदि के साथ (धर्म–) वीर रस से अनुगत होकर तदनुकूल नमस्कार–(आदि) स्वरूप शिरोनमन रूप आङ्गिक एव वाचिक अनुभावों को प्रकट करते हुए नाट्यशास्त्र के प्रवचनभूत प्रयोजन को ही प्रदर्शित कर रहे हैं, क्योंकि प्रयोजन ही प्रत्येक व्यक्ति का प्रयोजन होता है।

नाट्य आस्वादनात्मा एवं साक्षात्कारात्मक प्रत्यक्षज्ञान से ग्राह्य होने वाला रसात्मक पदार्थ है और इस अलौकिक रसात्मक नाट्य का जो शास्त्र अर्थात् शासन है वही 'नाट्यशास्त्र' कहलाता है, जो अशास्त्रीय भाड आदि के प्रदर्शनों से भिन्न है। अतः ब्रह्मा आदि के अन्य शिष्यों ने जिसे अनुपयोगी तथ्यों एवं तत्त्वों के मिश्रण से अनुपयुक्त विस्तार दे दिया था उस 'नाट्यशास्त्र' का उपयोगी एवं यथार्थ निरूपण ही मैं (भरतमुनि) यहाँ करूँगा यह तथ्य मूल में 'प्रवक्ष्यामि' पद से सकेतित किया गया है क्योंकि इसी 'नाट्य' को पितामह ब्रह्मा ने मुझे प्रदान किया था। यही तथ्य नाट्यशास्त्र के प्रस्तुत अध्याय में आगे भी दिखलाया गया है। अतएव 'नाट्यस्य वेद शास्त्रम् वा' ऐसा समास ही उचित है। यदि 'नाट्यवेद' पद से नाट्यशास्त्र को ग्रहण नहीं किया गया तो फिर इसका परम्परा सम्पन्न अध्यापन सम्भव नहीं होगा क्योंकि ब्रह्मप्रोक्त नाट्यवेद ही यहाँ परम्परा के अनुसार निरूपित किया गया है।

इसके अतिरिक्त चारो वेदो से पितामह ब्रह्मा ने क्रमश पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रसरूप अगों को लेकर जिस नाट्यवेद की सर्जना की उसी नाट्यवेद (या नाट्यशास्त्र) का निरूपण यहाँ इष्ट है अत तद्विषयक शास्त्र ही यहाँ 'नाट्यशास्त्र' शब्द से अभिहित किया गया है।

यदि '**विद्**' धातु के ज्ञान, सत्ता, लाभ तथा विचार (सभी) अर्थों को ध्यान में रख कर 'नाट्यस्य वेदन सत्ता लाभो विचारश्च यत्र स नाट्यवेद' ऐसी व्याख्या करे तो नाट्यवेद शब्द रूपक के दस प्रकारों का ग्राहक हो जाता है। इस व्याख्या के अनुसार 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' का अर्थ होगा–उस नाट्य-वेद का–जिसका ब्रह्मा ने प्रथम रूपक (अमृतमन्थन नामक समवकार) लिख कर उदाहरण प्रस्तुत किया था–मैं निरूपण करूँगा। (या प्रवचन या वर्णन करता हूँ।) पर अन्य व्याख्याकार–नटकर्म अथवा अनुकरणीय होने के कारण नाट्यशब्द से नाटकादि रूपक ही लेते हैं अतएव इनके लक्षणादि का प्रतिपादक शास्त्र 'नाट्यशास्त्र' माना जाए। (आशय यह कि दशरूपकों का निरूपण जिस शास्त्र में हो उसे ही 'नाट्यशास्त्र' समझना चाहिये।) इसी नाट्यशास्त्र का ब्रह्मा ने निरूपण किया था और स्वयं रूपक रचना लिख कर नटो से उसका अभिनय प्रयोग भी प्रस्तुत करवाया था।

(इसके अतिरिक्त) अन्य विद्वान् 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' की एक अन्य व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि वेद नामक शब्दराशि से प्राप्त होने वाले विधि एवं प्रतिषेध के आदेशात्मक शिक्षण को यह नाट्य के द्वारा शासन

योग्य बना देता है अतएव वेदवत् होने और विधिनिषेध का शिक्षण प्रयोजन रहने के कारण इसकी शास्त्रवत्ता स्वतः स्पष्ट है।

भट्टनायक के अनुसार इसकी व्याख्या भिन्न है—परब्रह्म परमात्मा (ब्रह्मणा) ने जिसको (यत्) अविद्या कल्पित मिथ्या जगद्रूप भेद के ग्रहण करने हेतु उदाहरण बनाया (उदाहृतम्) वह 'नाट्यशास्त्र' जैसे नाटकादि मे रामादि का चरित कल्पित, एकरूप म स्थिर न रहने वाला, स्वप्नादि से विलक्षण, अद्भुतरूप मे प्रतीत होता हुआ धर्मादि पुरुषार्थ का साधन बन जाता है। इसी प्रकार यह जगत् भी नाम रूपात्मक प्रपञ्च लिये हुए है तथा इससे नाट्य का मोक्षसाधनात्मक पारमार्थिक प्रयोजन भी बन जाता है।

यहाँ नाट्यशास्त्र का प्रवचन प्रयोजन, नाट्यवेद अभिधेय (विषय) व्युत्पाद्य व्युत्पादकभाव प्रयोजन एव विधिवत् जिज्ञासु भाव से शास्त्र तत्व का ग्राहक अधिकारी का भी प्रकृत पद्य से सकेत मिलने से अनुबन्धचतुष्टय की भी अनायास पूर्ति हो जाती है।

२–५ भरतमुनि ने नाट्यवेद की उत्पत्ति की पुराकथा दिखलाते हुए ब्रह्मप्रोक्त नाट्यवेद की स्वय के नाट्यशास्त्र से भिन्नता मानकर यहाँ उसे दिखलाने का निश्चय सूचित किया है। क्योकि विधिनिषेध के उपदेशो का वेदो के समान प्रदाता होने के कारण नाट्यवेद या नाट्यशास्त्र भी जब वेद या ज्ञानराशि मूल है तो इसके गुह्य रहस्यो का तात्विकस्वरूप ज्ञात करना आवश्यक हो जाता है तथा सहज इच्छा होती है, इसकी सज्ञागत प्रसिद्धि के कारण भी कि इसका स्वरूप क्या है ? इत्यादि।

इस सन्दर्भ मे सर्व प्रथम प्रश्न यह है कि नाट्यवेद की उत्पत्ति का प्रयोजन क्या है—क्योंकि यदि वेद से ही नाट्य के प्रयोजन की पूर्ति हो जाए तो इसकी आवश्यकता नही रहेगी और यदि यह उत्पन्न हुआ है तो फिर जन्य होने से (वेद के समान जन्य) नित्य नही है तो फिर वेदो की समानता कैसे धारण करेगा। इस पर यदि आप यह कहे कि प्रत्यक्षत जिन्हे वेदो का उपदेश नही किया जा सकता हो ऐसे व्यक्तियो के लिये नाट्यवेद की रचना की गयी है तो इससे किस प्रयोजन का सम्पादन होगा। क्या जिन्हे वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त है ऐसे त्रैवर्ण इसके अधिकारी होगे या फिर उनसे भिन्न शूद्रादि हो। यह दूसरा प्रश्न है।

'इसके कितने अङ्ग हैं या अगो की सख्या कितनी है' इस प्रश्न का आशय यह है कि यदि नाट्यवेद के अग अधिक या अनेक हो तो उनकी निश्चित सख्या का विनिश्चय (अवधारण) न होने से—कठिन होगा। इसी सन्दर्भ

है जो एक ब्राह्म दिन कहलाता है। इन चौदह मन्वन्तरो मे स्वायम्भुव मन्व न्तर प्रथम था। आज वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर इस कल्पक्रम मे सातवाँ होता है। इन सभी मन्वन्तरो के त्रेतायुग के आदि मे ब्रह्मा 'नाट्यवेद' का निर्माण करते हैं और सभी मन्वन्तरो मे देवगण की प्रार्थना पर ब्रह्मा नाट्यवेद की रचना करते हैं।

६-११. 'क्रीडनीयक' पद की व्याख्या होगी 'क्रीड्यते विक्षिप्यतेऽनेनेति क्रीडनीयकम्। यहाँ बाहुलक से अनीयर प्रत्यय द्वारा क्रीडनीयक शब्द निष्पन्न होता है। अथवा 'क्रीडनाय हित क्रीडनीयकम्' करें तो यहाँ अज्ञातार्थक 'क' प्रत्यय द्वारा भी क्रीडनीयक शब्द निष्पन्न हो जाएगा।

१२. 'सार्ववर्णिक' पद से वेदाध्ययन के अधिकारी एव अनाधिकारी दोनो ही प्रकार के सुकुमारमति गृहीत हैं। आशय यह कि शास्त्रो के अध्येता या अनधिकारी सभी नाट्य द्वारा शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। अन्य व्याख्याकार इसका अर्थ करते हैं—जिस नाट्य मे सभी वर्णों के अपने अपने कर्तव्य का निरूपण किया जाए उसे सार्ववर्णिक समझना चाहिए तथा उसके आधार पर जिसकी रचना हो ऐसा नाट्यवेद सार्ववर्णिक है जिससे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान सुदृढ होता है।'

१३. देवताओ को सामान्यत विदा करने के बाद यहाँ पुन इन्द्र का पृथक् उल्लेख देवराज के प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शनार्थ है। समाधि लगा कर वेदो का स्मरण करने का उद्देश्य है सभी वेदो का एक साथ आभास सम्भव होना। इन्ही के साथ यहाँ एक प्रक्षिप्त श्लोक भी मिलता है। यथा—

> नेमे वेदा यत श्राव्या स्त्रीशूद्राद्यासु जातिषु।
> वेदमन्यत्तत स्रक्ष्ये सर्वश्राव्यन्तु पञ्चमम्॥

[क्योकि स्त्री तथा शूद्र आदि जातियो के द्वारा वेद सुने नही जा सकते हैं अतएव सभी के द्वारा सुने जाने वाले एव इन पूर्व वेदो से भिन्न (अभिनव) पाँचवे वेद का निर्माण करता हूँ।]

१४-१५ धर्मादि का साधक होने से 'नाट्य' धर्म्य है। यहाँ धर्म पद पुरुषार्थों के उपलक्षणार्थ प्रयुक्त समझना चाहिए। वेद, शास्त्र आदि से भी चतुर्विध पुरुषार्थ-साधनो का ज्ञान हो जाता है तब फिर नाट्य मे ही कौन सी विशेषता है? ऐसी आशका के निवारणार्थ ही मूल मे 'ससङ्ग्रह' पद रखा गया है। ठीक तरह से जिससे ग्रहण होता हो उसे कहते हैं 'सग्रह' अर्थात्

निश्चित प्रतीति के लिये किसी अन्य प्रमाण पर भी आश्रित न रहता हो या जिसे अपेक्षा न रहे। ऐसा प्रतीति प्रत्यक्ष ज्ञानात्मिका ही होती है क्योंकि किसी अर्थ के प्रत्यक्ष हो जाने की दशा मे तद्विषयक जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है। नाट्य भी ऐसी ही (प्रत्यक्षज्ञानात्मिका) एव निश्चित प्रतीति है।

यहाँ नाट्य शब्द से दशरूपकों के अभिनय प्रशिक्षक शास्त्र को समझना चाहिए जिसकी रचना करने का ब्रह्मा द्वारा सकल्प किया गया। नाट्य प्रयोग प्रधान होता है अत केवल बुद्धि द्वारा ग्रहण करने मात्र से इसे (प्रत्यक्ष अभिनयादि) कार्य के बिना बोधगम्य नही बनाया जा सकता है।

१६ मूल मे दिये गये 'चतुर्वेदाङ्गसम्भव' पद की व्याख्या दो प्रकार से होती है। जिसमे प्रथम–'चतुर्भ्यो वेदेभ्योऽङ्गाना सम्भव यस्य' (अर्थात जिस नाट्य के अङ्गो की उत्पत्ति चारो वेदो से हुई हो)। तथा दूसरी–'चत्वारो वेदा अङ्गाना पाठ्यादीना सम्भवा यस्य' अर्थात चारो वेद जिस नाट्यवेद के पाठ्य आदि अगों के कारण अथवा उद्भवभूमि हैं।

१७. पाठ्यम्' शब्द पठ धातु के 'व्यक्त वाणी के उच्चारण करने अर्थ को ध्यान मे रख कर निष्पन्न किया गया है। वाणी अर्थात वाक्यो की स्पष्टता ही व्यक्तत्व है जिसे विवक्षाविशिष्ट अर्थबोधन की क्षमता कहते हैं। यह क्षमता आगे काकुस्वर आदि निरूपण (ना० शा० अध्याय १७) अध्याय मे बतलाये गये स्वर, अलङ्कार आदि के समन्वय से आती है और उस काकु, अलङ्कार आदि सामग्री की योजना से युक्त सवाद का ही नाम 'पाठ्य' है। नाट्य मे इसकी प्रमुखता होती है अत सर्वप्रथम यहाँ भी इसी का उल्लेख किया गया। जैसा कि आगे कहगे—

> वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनू स्मृता।
> अङ्गनेपथ्यसत्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि॥ (ना० शा० १५।२)

[नाट्य को प्रस्तुत करते समय अभिनेता को वाणी के विषय मे विशेष प्रयास करना चाहिए क्योकि यही नाट्य का (विशेष) शरीर मानी जाती है तथा नाट्य के आङ्गिक, आहार्य तथा सात्विक अभिनय जैसे अन्य अङ्ग भी वाणी के अर्थ को ही अभिव्यक्त करते हैं।]

इसी कारण अभिनय से पृथक् करते हुए पाठ्य को सर्वप्रथम बतलाया गया।

इस पाठ्यरूप प्रधान अश को ऋग्वेद से ग्रहण किया गया। ऋग्वेद के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरो से युक्त पाठ्य भाग को (जो त्रैस्वर्य युक्त कहा गया है) नाट्य मे लिया गया। इसलिये पाठ्य मे तीनो स्वर विद्यमान

है। पाठ्य विषयक स्वर के प्रसङ्ग से पाठ्य के उपरान्त सामवेद से गीत का लिया गया। यहाँ 'च' कार से पाठ्य और गीत को समान महत्त्व का दर्शाया गया है तथा 'एव' के द्वारा यह भी सूचित किया है कि सामवेद से केवल गीत मात्र का ग्रहण किया गया है क्योंकि गीत को ही साम कहा जाता है। इसके अतिरिक्त गीत के आधारभूत ध्रुवा तथा पद को ऋग्वेद से ही लिया गया, यह भी 'एव' पद के द्वारा मूल में सूचित किया गया है।

अध्वर्यु के प्रधान कर्मोपपादक यजुर्वेद से प्रदक्षिणा, गमन आदि के क्रम एवं प्रसङ्गों में अङ्गकर्मों के होने के कारण आङ्गिकअभिनय का एवं उस अवस्था या स्थिति में धारण किये जाने वाले वेष के कारण आहार्य अभिनय का और उन कर्मों में प्रयत्न करने वाले व्यक्तियों के द्वारा विहित धैर्य आदि मानसिक व्यापार के कारण सात्त्विक अभिनय की प्राप्ति हो जाने के कारण यजुर्वेद से सभी अभिनयों का ग्रहण बतलाया गया।

अथर्ववेद में प्रतिपादित शान्ति तथा अभिनय कर्मों में नट के समान ऋत्विज् को शम और कम्प आदि अनुभावों, प्रजा के शुभ चिन्तन तथा शत्रु मारण आदि विभावों और वास्तव में होने वाले धृति, प्रमोद आदि सञ्चारी भावों का मुख्यरूप से संयोग रहने के कारण विभावादि सामग्री से निष्पन्न रसास्वाद के होने से रसों का अथर्ववेद से ग्रहण बतलाया गया।

इस प्रकार पाठ्य आदि से प्रारब्ध, गीत वाद्य आदि से अनुगृहीत एवं अभिनय से परिपुष्ट रसचर्वणासमन्वित आह्लादारसस्वरूप 'नाट्य' होता है। इस नाट्य के द्वारा सामाजिकों को वेद के समान ही विधिनिषेध या कर्तव्या-कर्तव्य का बोध होने से शिक्षाप्रदाता नाट्य वेद-स्वरूप है। इसलिए बलात् कार्य कराने वाले राजाज्ञा रूप वेदादि शास्त्र से भिन्न स्वरूपवाले एवं अना-यास ही कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञानबोधक नाट्य का वेदत्व उपपन्न हो जाता है।

१८. वेदों का अर्थ समझने में सहायक होने के कारण जिनसे अर्थ भान होता हो उन्हें उपवेद कहते हैं। इनमें प्रजा के स्वास्थ्यरक्षण का उपायदर्शन करने वाला आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद का उप-वेद धनुर्वेद, सामवेद का उपवेद गन्धर्ववेद एवं अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद या शिल्पशास्त्र है। चरणव्यूह में यही उपवेदों का क्रम (दिखलाया गया) है। (परन्तु) सुश्रुत आदि आचार्यों ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का भी उपवेद माना है।

२२. यहाँ ग्रहण पद से गुरुमुख से विद्या का अध्ययन, धारण पद से उसका स्मरण रखना, ज्ञान पद से उसका विविध तर्कवितर्क द्वारा भली भाँति

मनन करना तथा प्रयोग पद से अभिनय के द्वारा सामाजिको के समक्ष रङ्ग-शाला मे उसको प्रस्तुत करने का अर्थ सूचित किया गया है। इसके अतिरिक्त यहाँ 'च' पद से उसका बार बार प्रयोग कर श्रम, अभ्यास आदि को भी निर्दशित किया गया है।

३६. पद्य २६ तथा ३७ के बीच निम्न पद्य प्रक्षिप्त रूप मे (पाठ 'त' बड़ोदा सस्करण) प्राप्त होते हैं।

> किरीटिनञ्च मापञ्च तथा घन्विनमेव च।
> शिलापट्ट स्वर्णगुञ्ज शिलालिनमथापि च॥ क॥
> अग्निवेश शिवञ्चैव ध्यान जप्य सुमङ्गलम्।
> जैगिषव्य कुण्डिनञ्च तथा कलशमेव च।
> विद्राक्ष घूर्णनासञ्चाप्यसित सितमेव च॥ ख॥

(किरीट, माप, घन्विन्, शिलापट्ट, स्वर्णगुञ्ज, शिलालिन्, अग्निवेश, शिव, ध्यान, जप, सुमगल, जैगिषव्य, कुण्डिन, कलश, विद्राक्ष, घूर्णनास, असित तथा सित)।

४६–४७ सौन्दर्याधायक होने के कारण शृङ्गार रस मे कैशिकी वृत्ति की उपयुक्तता तो (उचित ठहरायी जा सकती) है परन्तु इसका उपयोग इसके अतिरिक्त भी है। यह वृत्ति कवि, अभिनेता तथा सामाजिको के हृदय मे रसो की भावना या व्याप्ति रूप तथा रसोत्पादक शैली का एक प्रकार होने से इन्ही दोनो स्वरूपो वाली भी मानी जाती है। इसके अतिरिक्त रौद्रादि रसो को प्रस्तुत करने के लिये जो अभिनय किया जाता है यदि उसमे अनु-प्रासादि अलङ्कार एव वलन, वर्तना आदि व्यापार का ठीक से अभाव न हो तो रसोत्पत्ति मे बाधा भी उपस्थित होगी। (पर जब ये शब्दसौन्दर्य और अङ्गसौष्ठव भी कैशिकी वृत्ति के प्रकार होकर रसानुकूलता के आपादक हो जाएँ तो अबाध रस प्रतीति होगी ही) अतएव सभी रसो के उपयुक्त होने से कैशिकीवृत्ति का एक विशिष्ट उपयोग भी है।

मूल मे प्रयुक्त 'स्त्रीजनादृते' पद का अभिप्राय यह है कि भगवान शिव के समान हृदय मे जब तक उद्दामआनन्द से पूर्ण पवित्रता एव रसप्रसूत सौन्दर्य का उद्रेक नही हो तब तक अभिनय मे अपेक्षित सहजसौन्दर्य लाना कठिन होता है और यह विषयो से सहज विमुख रहने वाले मुनियो मे तो बड़ी कठिनाई पैदा करता है क्योंकि ऐसी वृत्तियो से वे सर्वथा अपरिचित होते हैं तथा दूर रहते हैं। अतएव मुनियो से स्त्री पात्र का सहज अभिनय सम्भव

ही नही है। इसके अतिरिक्त शृङ्गारादि में अभिनय मे अपेक्षित तन्मयता को प्रवचन तथा अभ्यास के द्वारा इन मुनिजन मे उत्पन्न भी नही किया जा सकता है। स्त्रियो के सम्पर्क मे आने से एक तो उन मुनिजन मे भी ऐसी भावनाएँ लायी जा सकती हैं एव इनके सम्पर्क से ये भी सुकुमार भावनाओं का अनायास बोध एव यथार्थ प्रस्तुतीकरण कर लेंगे। यहाँ मुनि ने स्त्रियो के बिना कैशिकी वृत्ति के अभिनय की बात सामान्य जन के लिये बतलायी है क्योंकि भगवान् शिव एव पुरुषोत्तम विष्णु असामान्य देवता होने से पुरुष होकर भी सभी वृत्तियो के अभिनय का सामर्थ्य रखते हैं।

इसके अतिरिक्त यहाँ वृत्तियो का जातिपरक एक अन्य पक्ष भी है। तदनुसार ये वृत्तियाँ विभिन्न श्रेणियों या जातियो से सम्बद्ध भी हैं। जैसे भरत जाति मे प्रचलित शैली की वृत्ति का नाम 'भारती' हो गया। भरत जाति मे कुछ लोग नाटक खेलते हुए जीवन यापन करते थे तथा नटवशीय या भरत कहलाते थे। सात्वत जाति सम्भवत. अभारतीय जाति थी। कहते हैं कि भावप्रवण भक्तितत्त्व का सात्वतो के कारण भारत मे प्रचलन हुआ और भागवतसम्प्रदाय इन्ही की देन है। इसी प्रकार कैशिकी और आरभटी वृत्तियाँ भी विभिन्न जातियो से सम्बद्ध है। इनमे कैशिक जाति पश्चिम के कास्पियन-तट पर बसी हुई जाति का नाम है तथा आरभट जाति ग्रीक लेखको द्वारा उल्लिखित Arbitus से अभिन्न है जो सिन्धुघाटी मे विद्यमान थी। श्री घोष का यह पक्ष साधार है क्योकि जब रीतियो का सम्बन्ध और विकास भारतीय प्रदेशो से सम्बद्ध है–जैसे विदर्भ की वैदर्भी, गौड की गौडी, लाट की लाटी तथा पञ्चाल की पञ्चाली–तो फिर जातियो से सम्बद्ध भारती आदि वृत्तियो के मानने म कोई बाधा नही होनी चाहिए।

५६–५७. पूर्वरङ्ग का मुख्य माङ्गलिक अग 'नान्दी' माना गया है। कुछ व्याख्याकारो के मत मे इसे समस्त अगो का उपलक्षण समझना चाहिए। अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि पूर्वरङ्ग मे अकेले नान्दी का प्रयोग भी किया जा सकता है केवल यही इस कथन का यहाँ आशय है।

उपाध्याय भट्टतोत का मत है कि जब तक प्रस्तुत नाट्यप्रयोग मे दैत्यो ने विघ्न उपस्थित नही किया था तब तक विधिवत् पूर्वरङ्ग के समग्रभाव मे प्रस्तुत करने का अवसर ही उपस्थित नही होता क्योकि मुख्यत नाट्यमण्डप के रक्षक देवताओं के स्थापन एव उनके परितोषार्थ यह पूर्वरङ्ग सम्पन्न किया जाता है तथा गौणरूप से दैत्यो के असन्तोष का भी यही कारण बनता है।

अतएव जब दैत्यों ने इसमे विघ्न उपस्थित किया तभी से पूर्वरङ्ग विधान का प्रारम्भ हुआ है। इसलिये यहाँ पूर्वरङ्ग का जब अपने सभी अङ्गों के साथ प्रयोग ही नही हुआ था तब केवल नान्दी को ही प्रस्तुत किया गया ऐसा समझना चाहिए।

नान्दी के प्रस्तुत करने मे अन्य हेतु बतलाने के लिये मूल म 'वेदनिर्मिता' विशेषण दिया गया है। वेद म सभी कार्यों के आरम्भ मे मगलाचरण विधान है इसलिये (नाट्यवेद के वेदनिस्सृत होने के कारण) यहाँ भी नान्दी का प्रयोग किया गया। विघ्नो की इस समय तक न उपस्थिति थी और न सम्भावना ही अतएव विघ्नों के निवारक पूर्वरङ्ग के साङ्ग अनुष्ठान का प्रसग ही यहाँ उपस्थित नही होता।

वाक्य तथा महावाक्य के प्रति आठ अङ्गभूत पदो से या महावाक्य के अङ्गभूत अवान्तर वाक्यो से युक्त रहने के कारण नान्दी दोनो प्रकार की हो सकती है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार भी इसके हो सकत हैं यह बतलाने के लिए इसे विचित्रा कहा गया है।

आचार्य भट्टतोत का मत है कि मूल मे अङ्गपद के ग्रहण से अवान्तर वाक्यो का ही उपादान हागा। जिससे चतुरस्र नाट्यमण्डप म प्रस्तुत प्रयोग मे अष्टपदा नान्दी तथा त्र्यस्र नाट्यमण्डप मे द्वादशपदा नान्दी का प्रयोग करने का निर्देश मानना ही उचित होगा। जैसा कि आगे भी 'नान्दी पदैर्द्वादशभि' अष्टभिर्वा पदैरपि' (ना० शा० ५।१०४) ['आठ या बारह पदो से युक्त नान्दी को'] इत्यादि से कहा गया है। यहाँ प्रयुक्त 'अपि' शब्द से अष्टपदा एव द्वादशपदा नान्दी के अतिरिक्त चतुरस्र नाट्यमण्डप मे चतुष्पदा तथा षोडशपदा नान्दी को भी लिया जाना (इष्ट है यहो) सकेतित है। और इस प्रकार त्र्यस्र नाट्यमण्डप मे तीन या छ पदो की नान्दी को लिया जा सकेगा। इस प्रकार थोड़े भेद के कारण नान्दी के तीन भेद प्रत्येक नान्दी के मोटे तौर पर हो सकते हैं और फिर इस प्रकार नान्दी की अनन्त विधाएँ कल्पित करना सम्भव हो जाता है।

५७. मूल के 'अनुकृतिर्बद्धा' पद का आशय है अभिनय का आरम्भ करना। किन्ही व्याख्याकारो ने इसका अर्थ अभ्यास आरम्भ करना भी किया है जो असगत है। आशय यही कि प्रस्तावना के उपरान्त नाट्य का आरम्भ अभिनय के साथ होता है। अन्य आचार्य यहाँ अनुकृति पद का अर्थ करते हैं–'नाट्य की अनुकरण स्वरूपा प्रस्तावना'। इन्होने मूल पाठ भी माना है–'कृता तदन्तेऽनुकृति' ['उस नान्दी के पश्चात् प्रस्तावना सम्पन्न की']।

प्राचीन काल मे (भी) यही परिपाटी प्रचलित थी तथा इसी कारण भस आदि नाट्यकारो की रचना मे नान्दी पाठ कही नहीं मिलता और 'नान्ते तत प्रविशति सूत्रधार' लिखने का भी यही कारण स्पष्ट हो जाता है।

दैत्यो पर देवगण की विजय के आख्यान को प्रस्तुत करने का आशय केवल इतना ही है कि डिम, समवकार या ईहामृग प्रकारो वाले रूपकों म से अन्यतम का प्रदर्शन आरम्भ करना। यद्यपि भरतपुत्रो को रूपको के सभी प्रकारो का शिक्षण दिया गया था एव अभ्यास भी करवाया गया था किन्तु उन सभी एक वा एकसाथ प्रदर्शन सम्भव नही होने से उनमे से एक का यहाँ प्रथम प्रयोग प्रस्तुत किया गया। इस पर कुछ व्याख्याकार आपत्ति प्रस्तुत कर कहते हैं कि—'युद्धादि से भयकर स्वरूप रखने वाले समवकार जैसे रूपक प्रकार मे कैशिकी का स्थान ही नही होता अत कैशिकी वृत्ति के प्रयोगार्थ उचित सामग्री प्राप्त करने का प्रतिपादक पूर्वग्रन्थ असगत मानना पड़ेगा'। यह उचित नही। क्योकि समवकार मे भी जो सौन्दर्यात्मक वैचित्र्य होता है वह भी कैशिकी के कारण है अत बिना कैशिकी के वह कैसे सम्पन्न होगा।

इस प्रयोग म देवगण एव असुरो के वर्तमान चरित्र का अभिनय प्रस्तुत नही किया गया था यह तो पूर्वमन्वन्तर के देव एव असुरो का चरित्र था। पूर्वमन्व तर मे होनेवाली असुरो की पराजय के प्रख्यान कथानक को भ्रमवश असुरो ने समान जातीय होने के कारण वर्तमान सन्दर्भ मे अपनी पराजय मान ली और वे क्षुब्ध हो गये। इससे एक अन्य सकेत यह भी मिलता है कि वर्तमान चरित्रो एव उनसे मिलते जुलते चरित्रो का अभिनय उचित नही होना क्योकि ऐसा करने पर अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं।

६९-७० 'जर्जर' शब्द का विग्रह है 'जीर्यत्यतिशयमनेनेति जर्जर'। इसे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच' (अ० ३।१।१३४) से अच प्रत्यय कर यङ् लुगन्त मे निष्पन्न करते हैं। यहाँ जर्जर शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। दूसरी बार जर्जर शब्द ध्वज के लिये आया है। इसे जॄ धातु से णिच् प्रत्यय के पश्चात् अच् प्रत्यय करके निष्पन्न किया जाए। इस समय उपाख्यान का सकेत यही है कि नाट्यप्रयोग मे विघ्न करने वाले तत्वो पर शासन नियन्त्रण करे तथा (हो सके तो) दण्ड की भी व्यवस्था करे।

१०५-१०६ मूल मे प्रयुक्त 'वचन' पद से यह सूचित किया गया है कि जो दोषारोपण किया गया है उसका सरलता से समाधान या निवारण किया जा सकता है। यहाँ देवताओं के प्रति जो पक्षपात का आरोप है उसे मिथ्या-

ज्ञान से गृहीत रज्जु में सर्प से उत्पन्न भय के समान भ्रान्तिदायक समझना चाहिए। नाट्यप्रयोग का उद्देश्य या आशय दैत्यों की दुष्टता तथा देवों की सज्जनता की प्रसिद्धि या प्रचार करना नहीं है। यहाँ केवल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल दिखलाना इष्ट है। इसके अतिरिक्त इसमें देवगण या दैत्यों पर ही कोई बल नहीं दिया गया है प्रत्युत उत्तमकर्म का उत्तम परिणाम दिखलाया गया है जिसे एकपक्षीय पक्षपात नहीं मान सकते, क्योंकि दैत्यों के शुभकर्मों का भी नाट्य में शुभ परिणाम दिखलाया जा सकता है। दूसरे इसका कारण यह भी है कि शुभाशुभ कर्म धर्माधर्म रूप होते हैं और नाट्यवेद उन्हें सुख एवं दुःख के फलस्वरूप अलग-अलग निर्धारित करता है। इसका आशय यही है कि जो किसी विशिष्ट देश एवं काल में इस प्रकार शुभाशुभ कर्मों के द्वारा धर्माधर्म का उपार्जन करता है उसे तदनुरूप फल की उपलब्धि होती है। इस तथ्य की नाट्यवेद प्रेरणा भर देता है क्योंकि वह वेद या धर्मशास्त्र के समान आदेशात्मक उपदेश का प्रदाता नहीं है।

१०७ परन्तु उपर्युक्त तथ्य के मान लेने पर भी एक प्रश्न पुनः उपस्थित होता है कि ऐसा होने पर भी ऐसे चरित्रों की उद्भावना ही क्यों की जाए जिससे क्षोभ, असन्तोष या दुःख उत्पन्न होता हो? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि नाट्य के बाहर सभी अपने स्वरूप में विद्यमान रहें क्योंकि इसमें केवल देवों या असुरों का ही चरित्र प्रदर्शित नहीं होता और उन्हीं के किसी चरित्र के प्रदर्शन करने का इसका उद्देश्य भी नहीं है। क्योंकि नाट्य-प्रदर्शन में उनका तात्विकबोध नहीं होता, न ही सादृश्यज्ञान से 'यह इसके समान है' ऐसा बोध होता है, न ही भ्रान्तरूप में शुक्तिका-रजतवत् स्मृतिरूप ज्ञान रखा जाता है, न ही सत्यज्ञान से बाधित मिथ्याज्ञान का यहाँ आरोप रहता है, न ही समानगुणों के अध्यवसाय द्वारा 'गौर्वाहीक' के समान बोध करवाना यहाँ इष्ट है, मुख में चन्द्र की सम्भावना द्वारा उत्प्रेक्षमाण स्वरूप का बोध भी यहाँ इष्ट नहीं है, न प्रतिकृति या अनुकृतरूपवाले खिलौनों की तरह इसमें किसी प्रतिकृति का प्रस्तुतीकरण है, न ही गुरुशिष्यों के व्याख्यान की तरह स्वभावानुकरण का प्रतिपादन है, न इन्द्रजाल की तरह तात्कालिक निर्माण और दक्षता से किसी की हूबहू नकल करने की हाथ की सफाई या मायाकारी सदृश नटों में रामादि बुद्धि इसमें होती है।

इस प्रकार निर्दिष्ट इन सभी पक्षों में असाधारणता होने से रसास्वाद सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त कवि के लिये भी वर्णनीय नियत व्यक्ति के वर्णन में अनौचित्य का परिहार सम्भव न हो तो काव्यनिर्माण कैसे सम्भव

होगा । चाहे मुख्य अनुकार्य का दर्शन हो या प्रयोक्ता (अभिनेता) का, दोनों दशाओं में लौकिक व्यापार के देखने पर सांसारिक या लौकिक हर्ष क्रोधादि की उत्पत्ति अवश्य होगी तथा इन दोनों के देखने में ही बुद्धि को केंद्रित करने या लगाये रखने पर रसानुभूति भी नहीं हो सकेगी ।

ऐसी स्थिति में—'नाट्य में ऐसा क्या दिखलाया जाता है' जैसा प्रश्न बना ही रह जाता है तथा इसी के समाधान के हेतु भरतमुनि ने—**त्रैलोक्यस्यास्य**' इत्यादि कारिका का उत्तरार्ध कहा है ।

तदनुसार नाट्य न तो किसी अनुकार्य या व्यक्तिविशेष के चरित्र का अनुभावन अर्थात् प्रत्यक्ष करवाता है और नहीं उसका अनुकरण स्वरूप माना जाता है किन्तु यह तो साधारणीकरण व्यापार द्वारा समान्यीकृत स्वरूप से समग्र विश्व के भावों का 'अनुकीर्तन है' अर्थात् इस नाट्य का ग्रहण अनुव्यवसायात्मक प्रतीति से होता है तथा प्रमाणों के आधार पर एक बार नाट्य की अनुकरणरूपता के खण्डन कर दिये जाने पर भी (लौकिक अनुकरण के अनुसार उसके रहने के कारण) गौण रूप से उसे अनुकरण मान लेने में भी कोई दोष नहीं होता और वास्तव में अनुकरणादि से नाटक का भेद सिद्ध हो जाने पर शाब्दिक विवाद की आवश्यकता ही नहीं रहती । (इस तथ्य को आगे प्रसङ्गवश विस्तार से पुन प्रतिपादित किया जाएगा ।)

१०८–११५. यहाँ '**क्वचिद्धर्म**' इत्यादि एव पद्य ११२ आदि में अभिहित नाना भावों को बतलाया गया है । यहाँ प्रयुक्त धर्मादि शब्द औचित्यानुसार अपने से सम्बद्ध स्थायी, सचारीभाव एव विभाव आदि के सूचक हैं । इनमें '**क्वचिद्धर्म**' तथा '**क्वचिदर्थ**' पद से उत्साह स्थायीभाव सूचित किया गया है । इसी प्रकार 'क्रीडा'पद से विस्मयादि, 'शम' से निर्वेद, 'हास्य' से हास 'युद्ध' से क्रोध, 'काम' से रति, 'वध' से भय, जुगुप्सा एव शोक आदि स्थायीभावों की सूचना दी गयी है । इन स्थायीभावों की सूचना से तदनुरूप सचारीभाव एव विभावों को भी समझना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त '**क्वचिद्धर्म**' पद से धर्मप्रधान नाटक या प्रकरण भी गृहीत होते हैं । क्रीडा प्रधान रूपकों में भाण को लिया जा सकता है एव अर्थ की प्रमुखता प्रकरण आदि में मिल सकती है । इस प्रकार लक्षणानुसार ये बातें दशरूपकों में भी देखी (तथा समझी) जा सकती हैं ।

समग्र नाटक में इन विशेषताओं को लक्षणानुसार देखने के अतिरिक्त नाटकादि के एक देश में भी इन्हें प्राप्त किया जा सकता है । तदनुसार श्रम प्रधानता के लिये छलितराम नाटक के एक भाग में श्रीराम का 'अश्वमेधयज्ञ

करना 'धर्म' का उदाहरण है। इसी प्रकार क्रीडा प्रधानता को स्वप्नवासवदत्त मे देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त नाट्यादि के एक छोटे अश मे भी ये धर्मादि देखे जा सकते हैं। जैसे शाकुन्तल नाटक मे—

'दुष्यन्त—क्या यही कुलपति कण्व की असवर्णक्षेत्रसम्भवा कन्या है।' यहाँ 'धर्म' है। इस प्रकार किसी नाट्यरचना मे अथवा उसके एक विभाग या अश मे भी इन धर्मादि को उदाहरण स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है।

११६. नाट्य मे प्रमुखत केवल धर्मादि का या पुरुषार्थ के उपाय मात्र का उपदेश ही नहीं दिया जाता है, किन्तु इन उपायो से प्राप्त होने वाले फल या परिणाम को भी दर्शाया जाता है या उसका सकेत किया जाता है। इसका आशय यही है कि साधारणीकरण व्यापार द्वारा समग्र विश्व के भावो को प्रस्तुत करने वाले नाट्य के देखने पर न दिखलाई देने या प्राप्त होने वाला कोई ज्ञानादि नही होता और ज्ञान शब्द से यहाँ आत्मज्ञान विषयक तथ्य भी लिया जा सकता है जिसे नाट्य मे देखा भी जा सकता है। जैसे वेणीसहार के—'आत्मारामा विहितरतयो' (वे० स० १।२३) पद्य मे आत्मज्ञान है।

शिल्प शब्द से माला गूँथने, चित्र या खिलोने बनाने या रग रोगन चढाने (पुस्त) आदि रचना को लिया जाता है। जैसे 'वेष्टितैर्ग्रथितगुम्फसहृतैरात-तैश्च कुसुमै सपल्लवै, इत्यादि मे मालारचना शिल्प ही है।

विद्या से आशय है राजनीति के अन्तर्गत दण्डनीति। जैसे बालरामायण के—'श्रमव्यायामाभ्या प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपते' (बा० रा० १।२४) पद्य मे दण्डनीति है।

'कला' शब्द से गीतवाद्य आदि को लेना चाहिए। जैसे नागानन्द नाटक के—'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' (ना० न० १।१४) इत्यादि पद्य मे सगीत कला का वर्णन है।

योग का अर्थ है ज्ञान से कला पर्यन्त तत्वो का अपने भेदो सहित एक दूसरे मे मिश्रण होना। जैसे—'मेघाशङ्किशिखण्डिताण्डवविधा' इत्यादि पद्य मे वाद्य तथा गीत के अङ्गों का परस्पर मिश्रण रखा गया है।

इसी प्रकार विक्रमोर्वशीय के—'आविलपयोधराग्र लवलीदलपाण्डुकोमल-च्छायम्' (विक्र० ४। ८) मे शृङ्गारस के साथ आयुर्वेद तन्त्र का मिश्रण किया गया है।

'कर्म' पद से युद्ध के व्यापार आदि लिये जा सकते हैं। जैसे—आलीढ-

स्थितटङ्कितरय' इत्यादि पद्य में इन्द्र तथा असुरों के परस्पर युद्ध विषयक दावपेंचो का चित्रण है।

११९-१२० 'नाट्य' जब देवता या असुरो से किसी प्रकार का भी सम्बद्ध नही होता तो फिर उनके नामादि का उल्लेख क्यो किया जाता है। ऐसी आशका के समाधानार्थ यहाँ कहा जा रहा है—

देव, असुर, भूपति, (सामान्य) गृहस्थ, ब्रह्मर्षि एव मुनि आदि को अधिकारी व्यक्ति या पात्र होने के कारण नाट्य मे प्रस्तुत किया जाता है। इसका कारण यह भी है कि व्यक्तिविशेष का थोडा आधार न लेकर नाटकीय कथा का प्रस्तुतीकरण कैसे सम्भव हो सकता है। इसके अतिरिक्त निश्छल उदारता एव धर्मादि से सम्पन्न बलि एव प्रह्लाद जैसे असुर पात्रो को भी नाट्य मे आधार बनाया जा सकता है। इसलिये केवल देव एव भूपति को ही नाट्य मे प्रमुख रूप से प्रमुख प्रदर्शन हेतु लिये जाने की बात कहना व्यर्थ है। नाट्य मे न केवल देव एव असुरो को ही किन्तु ब्रह्मर्षि, मुनि, महीपति, सद्गृहस्थ आदि को भी रखा जा सकता है। अतएव असुरो का अपमान करने या देवताओ को प्रसन्न करने हेतु ही केवल नाट्य का निर्माण नही किया गया है यह स्पष्ट है।

१२१. यहाँ 'अय' पद से प्रत्यक्षसदृश अनुव्यवसाय का विषयभूत लोकस्वभाव कहा गया है जो सत्यासत्य विलक्षण होने से अनिर्वचनीय है। आशय यह कि साधारणीकरण व्यापार के द्वारा समग्र विश्व का स्वभाव जब अपने स्वभाव रूप मे प्रतीत होनेवाला होकर आस्वाद्यमान स्थिति को प्राप्त करता है तो ऐसा अर्थ 'नाट्य' कहलाता है। यह सुख-दु ख से युक्त होने के कारण विचित्र है। इसमे केवल दु खात्मकता या सुखात्मकता नहीं होती। अतएव लौकिक सुख दु खादि भावो के सदृश या इन्ही के सस्कारों से अनुप्राणित समुदायरूप अर्थ है 'नाट्य'। इस नाट्य का अङ्ग अभिनय होता है।

रत्यादिभाव या स्वरूप का अनुकरण करने वाला 'नाट्य' प्रतीति का विषय कैसे होगा? इस आशका के समाधानार्थ ही मूल मे स्वभावपद का विशेषण दिया है—'**अङ्गाद्यभिनयोपेतः**'। अङ्गादि उन्हे कहते हैं जिनमे शाखा (या आङ्गिक नृत्तादि तथा गीत) की प्रमुखता रहती हो।

ये अङ्गादि अनुमान ज्ञान या सङ्केतग्रह पर आश्रित शब्दज्ञान स्वरूप नही होते किन्तु प्रत्यक्षसदृश, लौकिक, सम्यक्, मिथ्या आदि प्रतीति से विलक्षण आस्वादन नाम से अभिहित होने वाली प्रतीति मे उपयोगी होने वाले होते हैं। अथवा अङ्गपद से रसप्रतीति के हेतुभूत विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारि-

भाव भी लिये जा सकते हैं। वे जिसमे प्रधान हो वे अङ्गादि होंगे। ये विभावादि ही रस के अभिमुख्य नयन या आस्वादनयोग्य बनाने के निमित्त होने से अभिनय कहलाते हैं। जैसा कि रसाध्याय (ना० शा० अध्या० ६) मे आगे बतलाया जाएगा।

उन अङ्गादि के अभिनय से युक्त हो बुद्धिरूपी दर्पण मे जो अर्थ प्रतिबिम्बित होते हैं वे ही नाट्य हैं। यह नाट्य नटनीय नतनीय या नतनरूप यत्नपूर्वक पहुचाने वाला एव हृदय मे प्रविष्ट होने योग्य स्वरूप वाला होता है। अतएव नटो का जो (यह) परम्परागत कार्य (वृत्ति) है वह भी धर्मादि का प्रतिपादक होकर नाट्य कहलाएगा। यह नाट्य सुख एव दुखो के फलो से सम्बद्ध होता है तथा इसका फल होता है सुख दुखादि की अनुभूतियो के अनन्तर होनेवाला हेयोपादेयता का ज्ञान। इसी तथ्य का आगे (भावाध्याय मे) और विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।



कुछ विद्वानो का यह मत भी है कि जब चौडाई मे रगपीठ बत्तीस हाथ और लम्बाई मे आठ हाथ हो तो उसे उपर्युक्त विवरण से समझने मे कठिनाई पडेगी क्योकि लम्बाई चौडाई से अधिक होती है क्योकि ६४ × ३२ हाथ के क्षेत्र मे जो लम्बाई थी वह तीसरे विभाजन मे १६ × ३२ तथा चौथे १६ + ८ में चौडाई बन जाएगा। यह केवल समझने की बात ही है क्योकि विवरणानुसार सम्पन्न करने पर आकार प्रमाण आदि मे इससे कोई अन्तर नहीं आता।

रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठ :—

नाटयशास्त्र के विवेचक विद्वानो ने रगशीर्ष तथा रगपीठ के स्थान, स्वरूप आदि के विषय मे पर्याप्त उहापोह किया है। डॉ० मनोमोहन घोष रगशीर्ष तथा रगपीठ को पृथक् नही मानते। इनके मत मे ये दोनो शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं तथा अभिन्न भी। इनके मत मे नाटयमण्डप का तीन चौथाई भाग प्रेक्षकों के बैठने के लिये और एक चतुर्थांश क्षेत्र रङ्गपीठ और नेपथ्यगृह के लिये रखा जाता है। नेपथ्यगृह के द्वार पर जो एक पर्दा स्थापित करते हैं यही यवनिका है जिसे उठाकर रङ्गमच पर पात्र प्रवेश करते हैं।

प्रो० डी० आर० मनकड ने श्री घोष के मत की आलोचना करते हुए नाट्यशास्त्र द्वारा अभिप्रेत रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष की पृथक् स्थिति को स्पष्ट किया। तदनुसार भरतमुनि ने विकृष्ट नाट्यमण्डप मे समुन्नत तथा चतुरस्र नाटयमण्डप मे सम रङ्गशीर्ष बनाने का विधान (ना० शा० २।१०४) किया है। यह किसकी अपेक्षा समुन्नत या सम रखे जाएँ इस जिज्ञासा का उत्तर है रगपीठ की अपेक्षा रगपीठ समुन्नत या सम रहने चाहिए। इसके अतिरिक्त नाटयशास्त्र मे ही रगशीर्ष और रगपीठ को एक ही पद्य मे पृथक् पृथक् निर्दिशित भी किया गया है (ना० शा० २।७३)। इस प्रकार (स्पष्ट हो गया कि) रगपीठ और रगशीर्ष दोनो एक दूसरे से भिन्न हैं।

डॉ० वे० राघवन ने भी नाटयशास्त्र के उपर्युक्त प्रमाणों एव अभिनव भारती के साक्ष्य पर रगशीर्ष तथा रगपीठ को पृथक् निरूपित किया। इनने अभिनवगुप्त द्वारा बतलाय गये यवनिका लगाने के स्थान को लेकर कहा कि जब रगपीठ और रगशीर्ष के बीच मे यवनिका लगायी जाती हो तो इससे ही स्पष्ट हो जाएगा कि रगशीर्ष तथा रगपीठ भिन्न हैं तथा इन दोनों का विभाजन यवनिका करती है जिसे उठाकर पात्र मच पर प्रवेश करते हैं।

आचार्य विश्वेश्वर ने 'रङ्गशीर्ष' मूल पाठ बनाकर इसी तथ्य को सहमति दी कि रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठ दो भिन्न स्थान पर होने से पृथक् ही हैं जिसे स्वय भरतमुनि तथा आचार्य अभिनवगुप्त ने बतलाया। परन्तु इस प्रकार के मूल पाठ सशोधन के बिना ही जब श्री प्रो० मनहक एव डॉ राघवन द्वारा निर्दशित प्रमाणो एव विवेचन से जब स्पष्ट हो गया तो फिर इस प्रयास की युक्तिसगत अपेक्षा नहीं है। डॉ० सुब्बाराव ने रगशीर्ष तथा रङ्गपीठ का स्पष्टीकरण नही दिया परन्तु इन दोनों को अभिन्न मान कर डॉ० घोष की ही पुष्टि की।

मत्तवारणी

६७. यद्यपि मूल में 'पार्श्वे' पद एकवचन मे प्रयुक्त किया गया है परन्तु किसी विशेष पार्श्व का ग्रहण न होने के कारण एव अगली कारिका मे 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यम्' मे 'तयो' पद के द्विवचन द्वारा दोनो बाजुओ मे मत्त-वारणी का निर्माण करने की प्रतीति अबाधित रूप से होती है।

यहाँ मत्तवारणी के जो चार स्तम्भ बतलाये हैं उन्हे मण्डप के बाहर निकले हुए रखा जाता है। इसलिये रङ्गपीठ की दीवार के पूरे होने पर उससे मिले हुए मण्डप से बाहर की ओर दो खम्भे तथा उनसे भी परे भित्ति के बाहर की ओर एक दूसरे से और पूर्व मे लगाए गए दोनो खम्भों से भी आठ हाथ के अन्तर पर दो खम्भे लगेंगे। इस प्रकार आठ हाथ की लम्बाई चौडाई (८ × ८ हाथ) के चौकोर वर्गाकार वाले दो बरामदे बन जाते हैं जिन्हें मत्तवारणी कहते हैं।

जिन विद्वानो को विकृष्ट नाट्यमण्डप में विकृष्ट स्वरूप की मत्तवारणी इष्ट है उनके मत मे सोलह हाथ लम्बी और आठ हाथ चौडी मत्तवारणी बनाने पर विकृष्टता सम्भव है। ऐसी दशा में सोलह हाथ लम्बे—रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठ के सामने—के भाग की ओर से मिलाते हुए इसे उठाया जाएगा।

६८. प्रेक्षकों के बैठने के स्थान की अपेक्षा मत्तवारणी को डेढ हाथ ऊँचा रखा जाता है। कुछ विद्वान् डेढ हाथ की अपेक्षा एक हाथ ऊँचा रखना भी उचित मानते हैं। मूल में प्रयुक्त 'तयो' पद इस बात का ज्ञापक है कि मत्तवारणी दोनों बाजुओं मे बनाई जाए। मत्तवारणी की ऊँचाई के उपर्युक्त प्रमाण मे रङ्गपीठ की ऊँचाई रखी जाती है। इसका आशय यह है कि रग-मण्डप के निचले भूभाग (ब्रध्न) की अपेक्षा रङ्गपीठ की ऊँचाई डेढ हाथ रहनी चाहिए जिससे मत्तवारणी की आड न पडने के कारण रङ्गपीठ पर होने

वाले अभिनय कार्य तथा दृश्यों को ठीक से देखा जा सकता है। इसके अति-रिक्त 'उत्सेधेन' पद में रखे गये एकवचन से भी यही सूचित होता है कि मत्त-वारणी और रंगपीठ के समान ऊँचाई पर स्थित रहने से मत्तवारणी की आड़ नहीं होगी और रङ्गपीठ की दृश्यावलि सुस्पष्ट दिखलाई पड़ेगी।

इसके विपरीत यदि रङ्गपीठ की अपेक्षा मत्तवारणी को अधिक ऊँचा रखा जाएगा तो रंगपीठ पर होने वाले अभिनयादि ठीक से दृष्टिगोचर न होंगे।

भरतमुनि के मूलवचन तथा अभिनवगुप्त की व्याख्या के आधार पर विचार करने पर स्पष्ट होगा कि रंगपीठ, रङ्गशीर्ष तथा नवथ्यगृह प्रेक्षकों के बैठने के स्थान की अपेक्षा ऊँचे रखे जाते थे। इसका समर्थन मुनि के 'पूरणे मृत्तिका पात्र' (ना० शा० २।७४) इत्यादि से भी होता है। यह भराव रङ्गशीर्ष के बनाने तथा वेदिका भूमि को ऊँचा उठाने हेतु किया जाता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि रङ्गपीठ और उसी के समान मत्तवारणियाँ भी सामा-जिकों के बैठने के स्थान (अर्थात् आगे की प्रथम पंक्ति) की अपेक्षा ऊँची रखी जाती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रंगपीठ के दोनों पार्श्व मे 'मत्तवारणी' की रचना की जाती थी। (इसे न तो रंगशीर्ष पर और न ही किसी एक बाजू में बनाया जाता था।)

'मत्तवारणी' का विश्लेषण नाट्यशास्त्र के अनुशीलनकर्ताओं के लिये महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कुछ विद्वान् 'मत्तवारण' शब्द को उपयुक्त मानते हैं क्योंकि 'मत्तवारण' का अर्थ कोश में 'प्रसादवीथीना वरण्ड' दिया गया है जिसमें कोई भ्रम नहीं रहता। परन्तु 'मत्तवारण' शब्द को ही स्त्रीलिंग में सौन्दर्याधान की दृष्टि से ही प्राचीन काल में परिवर्तित कर दिया गया होगा क्योंकि 'नाट्यशास्त्र' में सर्वत्र 'मत्तवारणी' पद ही मिलता है।

कुमारी गोदावरी केतकर ने मत्तवारणी शब्द को अशुद्ध माना है। उनके मत में कारिणी, धारिणी की तरह 'मत्तवारिणी' शब्द व्याकरण सम्मत है। परन्तु इनकी कल्पना उचित नहीं मानी जा सकती। 'मत्तवारण' शब्द से *'षिद्गौरादिभ्यश्च'* से ङीप् प्रत्यय का विधान कर 'मत्तवारणी' शब्द बनाया जा सकता है तथा व्याकरण की दृष्टि से भी इसमें अशुद्धि नहीं होगी (क्योंकि गौरादि आकृतिगण होने से ङीप् प्रत्यय निर्बाध है)। इसलिये जब 'मत्तवा-रणी' शब्द अशुद्ध नहीं है तो फिर इसके शुद्ध करने के प्रयास निरर्थक ही होंगे। 'मत्तवारण' शब्द की व्युत्पत्ति 'मत्त वारयति इति 'मत्तवारण' भी की जाती है। यद्यपि ऐसी व्युत्पत्ति से इसके स्वरूप का कोई संकेत नहीं मिलता

पर आगे हम बतलायेंगे कि 'मत्त॰ चासौ वारण॰' के द्वारा स्वरूप का साधारण संकेत ग्रहण होता है अतएव 'मत्तवारण' शब्द ही यहां उपर्युक्त प्रत्यय सम्पन्न होकर 'मत्तवारणी' की सिद्धि में सहायक है।

मत्तवारणी के साथ अनेक प्रश्न संसक्त हैं, जिन पर आधुनिक अनुशीलनकर्त्ता विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह एवं व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। अभिनवभारती के पिछले विवरण से स्पष्ट है कि रङ्गपीठ के दोनों ओर या फिर रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के दोनों ओर मत्तवारणी की रचना की जाती थी। यह बरण्डा मुख्य भवन से बाहर की ओर बनेगा, भीतर नहीं, अतएव रंगपीठ (तथा रंगशीर्ष दोनों) के बराबर बननेवाली मत्तवारणी भी बाहर ही बनेगी, भीतर नहीं। इस तथ्य को मूलनाट्यशास्त्र तथा अभिनवभारती के मिलान से ठीक से हृदयंगम किया जाना चाहिये।

इतने स्पष्ट विवरण के बाद भी डॉ॰ **मनोमोहन घोष** तथा **प्रा॰ डी॰ आर॰ मनकड** ने मत्तवारणियों का आकार बरण्डा मानते हुए भी इन्हें मुख्य भवन के अन्दर निर्मित माना। यह कल्पना नवीन अवश्य है किन्तु अभिनवभारती के विपरीत है।

प्रो॰ भानु ने मत्तवारणी शब्द की अन्वर्थ व्याख्या करते हुए कहा कि व्युत्पत्ति ('मत्तान् वारयतीति मत्तवारणी') के आधार पर मत्तवारणी की स्थिति रंगपीठ के सामने रखी जाए। इनका मत है कि नाट्यप्रयोग को देखनेवाले (दर्शक) किसी दृश्य को देखकर कदाचित् भावावेश में आकर रंगमञ्च पर अभिनय करनेवाले पात्रों के पास पहुँचने की चेष्टा करने लगते हैं इसलिए नाट्यप्रयोग को निर्बाध एवं व्यवस्थित रखने के लिये ऐसे दर्शकों की रोक आवश्यक है। इसी रोक के उद्देश्य से रंगमञ्च के सामने लगाया जाने वाला कटहरा ही मत्तवारणी है। इसी मत का व्युत्पत्ति के आधार पर समर्थन कर **श्री जयशङ्करप्रसाद** ने भी मत्तवारणी का उपयोग मतवालों का वारण माना है परन्तु इनके मत में मत्तवारणी का स्थान रंगपीठ के अगले भाग में था जो रंगपीठ के बराबर केवल एक ओर चार खम्भों से रुकावट के लिये बनायी जाती थी। इसकी ऊँचाई डेढ़ हाथ रखी जाती थी तथा यह रंगपीठ के अगले भाग में लगा दी जाती थी। (देखिये काव्यकला तथा अन्य निबन्ध-जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ६३)

इस प्रकार अन्वर्थ व्याख्यान के आधार पर खड़ी की गयी मत्तवारणी की कल्पना सौन्दर्यमयी चाहे बन जाए किन्तु इस प्रकार की खींचातानी से उसकी सही स्थिति एवं उपयोग ही बदल डाला गया। प्रो॰ भानु तथा श्री प्रसादजी

के ये सुझाव विचित्र होकर रह गये। इसका कारण यह भी रहा कि ऐसी मत्तवारणी स्वयं ही दर्शक एवं अभिनय प्रयोग के मध्य रुकावट है।

बड़ौदा से प्रकाशित अभिनवभारती व्याख्या समन्वित 'नाट्यशास्त्र' के परिशिष्ट में **प्रो० सुब्बाराव** ने 'नाट्यमण्डप' पर स्वतन्त्र निबन्ध लिख कर समग्र द्वितीयाध्याय पर प्रकाश डालने का महनीय प्रयास किया। इसमें मत्तवारणी पर एकदम अछूती तथा चौंका देने वाली कल्पना प्रस्तुत की गयी, जो उनकी अनुशीलनप्रतिभा-प्रसूत है। इनका कहना है कि मदमत्त हाथियों की कलात्मक पंक्ति (जिसे एक लम्बी पट्टी में उत्कीर्ण कर नाट्यमण्डप की ऊँचाई के मध्य अलङ्करण के लिये लगाया जाता है) ही 'मत्तवारणी' है।

अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हुए इनने मूलपाठ में भी संशोधन किया है। इनके मत में 'चतुस्तम्भसमायुक्ता' पाठ शुद्ध नहीं है अतएव इसे 'चतुस्तम्ब-समायुक्ता' माना जाना उचित है। स्तम्बपद का अर्थ है हाथियों के बाँधने का खूँटा या स्तम्भ। अतएव चार खम्बों अर्थात् खूँटों से युक्त मत्त हाथियों की पंक्ति को रंगमञ्च के सामने के भाग में एक पट्टी पर उत्कीर्ण कर (या एक लम्बी पंक्ति में चित्रित कर) सजावट के लिये लगाया जाए। यह डेढ़ हाथ मञ्च के समतल (के नीचे तक) से उठायी जाती है। इस प्रकार 'मत्तानां वारणानां श्रेणिः मत्तवारणी' अपने यौगिक अर्थ के अनुसार सम्पन्न की जा सकती है।

इस मत्तवारणी को लगाने का एक विशेष अभिप्राय भी है। क्योंकि रंगपीठ का रक्षक देवता इन्द्र माना गया है अतएव उसके वाहन ऐरावत की यह प्रतीक है। इसीलिये मत्तवारणी की अधिदेवता विद्युत् नाट्यशास्त्र में मानी गयी है।

श्री राव का मत है कि 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यम्' में 'तयोः' पद का अर्थ होगा 'मत्तवारणीरंगमण्डपयोः'। इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा— 'मत्तवारणी रंगमण्डप के बराबर ऊँचाई से'। यह 'मत्तवारणी' एक पङ्क्ति की होगी अतएव यह सामने की ओर दिखाई देने वाली रंगपीठ की एक बाजू है।

श्रीराव का यह मत अलंकरण की दृष्टि से भले ही एक उत्तम सुझाव हो किन्तु इससे भरतमुनि के आशय की सुस्पष्ट व्याख्या नहीं होती क्योंकि मत्तवारणी केवल प्रतीक या नाट्यमण्डप का अलङ्कारमात्र नहीं है।

'मत्तवारणी' नाट्यशाला में उपयोग के कारण अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है इसी कारण वह रंगपीठ की तथा कभी-कभी रंगपीठ एवं रंगशीर्ष की बाजू में निर्मित की जाती थी जो एक वेदिका पर बनी होती थी। मत्तवारणी शब्द इसके ऊपरी आकार को भी संकेतित करता है क्योंकि एक बरंडे

के आकार की बनाकर इसके ऊपरी भाग को हाथी द्वारा ऊँची की गई सूँड के आकार में अम्बारी के समान रखा जा सकता है।

श्री भोजराज ने अपने समराङ्गणसूत्रधार में इसके आकार को इस प्रकार निर्दिष्ट किया है —

> मुखभद्र मवेद्युक्त वेदिका मत्तवारणे ।
> क्षेत्रमागोदयार्धा भूराभूमिफलकान्तरम ॥ (राजगृह अध्या० ३०।९)

[ऐसी मत्तवारणी से या अम्बारी से वेदिका का भाग सुहाना हो जायगा जो भूमि के एक छोर से उठकर भूमि के दूसरे छोर तक के भाग को आच्छादित किये रहती है।]

इसके मुकाव का विवरण भी भोजराज ने वहीं दिया है। तदनुसार— यह अम्बारी जितनी बड़ी होगी उसकी ऊँचाई के तीसरे हिस्से के बराबर उसका निकास रखा जाएगा। उदाहरण के लिये यदि १२ फुट ऊँची मत्तवारणी बनायी जाती है तो इसके आगे की निकासी या छज्जे को ४ फुट आगे निकला हुआ बनाना चाहिए।' (राज० अध्या० ३०।१०-११)

नाट्यप्रयोग के लिये मत्तवारणी आवश्यक एव उपयोगी अग (होती) है क्योंकि एक अङ्क के अन्तर्गत आनेवाले दृश्यों का कई स्थानों पर अभिनय किया जाता है। यह अभिनय अधिकांश में रगपीठ पर होता है अतएव जब किसी दूसरे प्रदेश तक जाने की पात्रों की स्थिति आती है तो ऐसे दृश्य में पात्र परिक्रमण करते हुए मत्तवारणी में सजे दृश्य में पहुँचा दिये जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि मत्तवारणी वर्तमान प्रचलित पक्षक (Wings) नहीं है तथा इसकी नाट्यप्रयोग में उपयोगिता को ध्यान में रख कर ही भरतमुनि ने प्रमाण आदि देकर इतना सुस्पष्ट एव विस्तीर्ण व्याख्यान किया था।

षड्दारुक—

७२-७७ रङ्गपीठ की रचना के प्रसङ्ग में 'रङ्गशीर्ष' का उल्लेख हो चुका था अतः रगशीर्ष के 'षड्दारुक' के विषय में यहाँ विचार करना इष्ट है।

नेपथ्यगृह की भित्ति के सामने—उससे लगे हुए एक दूसरे से आठ हाथ की दूरी पर—दो खम्भों को खड़ा कर उनके मध्य दो छोटे द्वार बनाने की अपेक्षा से चार हाथ के अन्तर पर अन्य दो खम्भों को खड़ा करते हैं। इनके ऊपर और नीचे दो लकड़ियों को लगाया जाए। इस प्रकार छ काष्ठ खण्डों के रहने से इसे 'षड्दारुक' कहते हैं। इसका विग्रह होगा—'यत्र षड् दारूणि

तन् 'षड्दारुक', सज्ञाया कन्' अर्थात् जिसमें छ काष्ठ खण्ड लगे हों उसे षड्दारुक कहते हैं। इसमें सज्ञा के अर्थ में 'कन् प्रत्यय' का विधान करते हुए 'षड्दारुक' शब्द निष्पन्न किया गया है।

इससे नेपथ्यगृह मे दो द्वार बनाते जाते हैं एव इन दो द्वारो में एक दक्षिण तथा दूसरा उत्तर की ओर रखा जाता है। इनका उपयोग अभिनय पूर्ण करने के पश्चात् पात्रों के विश्राम या प्रतीक्षा के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त एकाएक सामाजिकों (प्रेक्षकों) की दृष्टि से बचने में भी ये द्वार सहायक होते हैं।

इस पर प्राचीन व्याख्याकार नाट्यवर्तिकार हर्ष का निम्न मत है—

'पार्श्वद्वयोर्ध्वाधरदारुमण्डित
स्तम्भद्वयोपेतमिह त्रिद्वारकम्।' इति षड्दारुकम्।

अर्थात् किनारो या बाजुओं में दो खम्भे, उनके ऊपर तथा नीचे दो लकडियो से युक्त और बीच में लगे दो खम्भो से युक्त तीन दरवाजे वाली तिदरी को यहाँ 'षड्दारुक' कहा जाता है, क्योंकि इसमे लगी हुई लकडियो की सख्या छ होती है।

अन्य (तीसरे पक्ष के) व्याख्याकारो का मत है कि दारुकर्म के जो छ प्रकार हैं उन्हें ही षड्दारुक समझना चाहिए जिनको भरतमुनि ने ही आगे दर्शाया है। दारुकर्म के ये छ प्रकार इस प्रकार हैं—(१) ऊह, (२) प्रत्यूह, (३) निर्यूह (४) सञ्जवन, (५) अनुबन्ध तथा (६) कुहर। ये ही षड्दारुक हैं। इनके लक्षण क्रमश दिये जा रहे हैं।

(१) 'ऊह' कहते हैं—स्तम्भ के ऊपरी सिरे से निकला हुआ काष्ठ। (२) 'प्रत्यूह' का आशय है—तुला या उस काष्ठ के ऊपर का दूसरा खण्ड, जो उससे भी अधिक बाहर निकला हुआ रहे, (३) 'निर्यूह' का अर्थ है—तुला से बाहर दो खम्भों के मध्य लगा हुआ चौखट या तख्तो की दीवार। (४) 'सञ्जवन' कहते हैं—ऊपर की ओर उठे हुए दीवार जैसे लकडी के तख्ते को, (५) 'अनुबन्ध' ऊपर की ओर उभार कर की गयी लकडी की खुदाई होती है तथा (६) 'कुहर' का अर्थ होता है लकडी पर की गयी वह खुदाई जिसे अन्दर गड्ढ को गहरा करते हुए (कुरेदते हुए) किया जाता है।

७७-७८ रगशीर्ष के धरातल पर कछुए की पीठ सा भाग (अर्थात् चारों ओर से ढलवाँ और बीच में उभरा हुआ भाग) 'कूर्मपृष्ठ' कहलाता है।

'मत्स्यपृष्ठ' कहते हैं चारों ओर नीचा और बीच मे दूर तक उभरा हुआ लम्बा भाग। आशय यही कि इन दोनो प्रकार के धरातल रगशीर्ष के नही रहने चाहिए।

८०-८४. दारुकर्म के ■ प्रकार हैं—ऊह, प्रत्यूह, निर्यूह, सञ्जवन, अनुबन्ध तथा कुहर। इनकी व्याख्या पूर्व मे की जा चुकी है। ऊह तथा प्रत्यूह की एक व्याख्या और भी है। ऊह प्रत्यूह का अर्थ यहाँ होगा—'तर्क मे उपयोगी अन्वय का नाम है 'ऊह' तथा व्यतिरेक का नाम होगा 'प्रत्यूह' जिन्हे दूसरे शब्द मे ऊहापोह भी कह सकते है।

८४-८५ प्रतिद्वार अर्थात् अवान्तर द्वार को द्वारविद्ध न करे अर्थात् दोनो दरवाजो का मध्यभाग एक दूसरे के सामने नही आने पाए। नागदन्त का अर्थ है खम्भे के ऊपर लगाई जाने वाली खूँटी जिसे पुतली या चित्रादि के टाँगने के लिये लगाया जाए। इसे कुछ शिल्पज्ञ गजमुख कहते हैं। आशय यह कि नागदन्त दीवारो मे नही लगाये जायें।

८५-८६ आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने द्विभूमि के विषय मे अन्य व्याख्याकारो के कुछ मत दर्शाये हैं। तदनुसार द्विभूमि का प्रथमपक्ष (१) मे अर्थ है—दो भूमि अर्थात् रगपीठ के नीचे और ऊपर की भूमि से युक्त। द्वितीयपक्ष (२) मे इसका अर्थ है—मत्तवारणी के बाहर निकले भाग के बराबर दूसरी भित्ति बना कर चारो प्रदक्षिणा मार्ग के समान दूसरी भूमि से युक्त जो होता है वही द्विभूमि कहलाता है। यह द्वितीयपक्ष है। तथा (३) मण्डप के ऊपर दूसरी मंजिल बनाने पर भी नाट्यमण्डप द्विभूमि कहलाता है। यह तृतीयपक्ष है।

इसके अतिरिक्त कुछ व्याख्याकार मूल मे द्विभूमि पद को च्छेद कर 'अद्विभूमि' पद मानते हैं। इनका मत है कि नाट्यमण्डप मे एक ही मंजिल होती है।

आचार्य भट्टतोत द्विभूमि पद की वीप्सागर्भ व्याख्या करते हैं। अर्थात् दो-दो प्रकार की भूमि जिसमे हो ऐसा नाट्यमण्डप द्विभूमि होगा। यह इस प्रकार होगा कि भूमि क्रमश नीची, फिर ऊँची होती हुई रगपीठ के पास से रगपीठ के द्वार तक समान ऊँचाई मे समाप्त होती है। इस प्रकार की भूमि रहने से प्रेक्षको की एक दूसरे की आड नही आती और न एक दूसरे को ढँक सकता है। इसके अतिरिक्त इसका आकार पर्वतगुहा सदृश हो जाता है जिससे शब्द बाहर नही जाता और जाली आदि बना कर वातायन की न्यूनता भी इसमें बनी रहती है।

इस प्रकार द्विभूमि नाट्यमण्डप होने पर गीत (तथा वाद्यों में) विद्यमान स्वरों की गम्भीरता नाट्यमण्डप मे घूम कर एक दूसरे की प्रतिध्वनि को उत्पन्न कर भर जाने के कारण हो जाती है।

'कुतप' शब्द का अर्थ है गायक एवं वादक वर्ग। इसकी व्युत्पत्ति है—'कुमित्यिभूमिस्ता तपत्युज्ज्वलयतीति कृत्वा कुतुप' अर्थात् जो नाट्यभूमि को उज्ज्वल या सुशोभित करे उसे 'कुतुप' कहा जाता है। इसकी अन्यव्युत्पत्ति है—'कुत शब्द पातीति कुतप' अर्थात् जो शब्दों की रक्षा करता हो।

९१-९२ यद्यपि विकृष्ट नाट्यमण्डप के वर्णन से चतुरस्र नाट्यमण्डप का भी अनुमान सम्भव हो सकता है फिर भी विस्पष्ट कथन के उद्देश्य से मुनि ने इसका 'पुनरेव' इत्यादि से अलग विवरण दिया है। इसके अतिरिक्त चतुरस्र मण्डप के लक्षण के बिना विकृष्ट नाट्यमण्डप के स्तम्भविभाग एवं प्रेक्षकादि की उपवेशन भूमि व्यवस्था आदि का समग्रतया बोध भी सम्भव नहीं है। इस कारण चतुरस्र नाट्यमण्डप का पृथक् सुस्पष्ट लक्षण देना आवश्यक है। विकृष्ट नाट्यमण्डप के लक्षण मे मुनि ने स्तम्भो एवं रंगयोजना (या प्रेक्षको को बैठने के उपयुक्त भूभाग की व्यवस्था) को चतुरस्र नाट्यमण्डप के समान समझने का उल्लेख किया है, अतएव विकृष्ट के लक्षण को पूर्ण करने के लिये भी चतुरस्र का लक्षण बतलाना आवश्यक है इस तथ्य को मूल कारिका के 'पुन' शब्द से यहाँ सूचित किया गया है।

'समन्तत' का आशय है कि चारो दिशाओं मे बत्तीस बत्तीस हाथ के प्रमाण वाला वर्गाकार (चौकोर) नाट्यमण्डप का निर्माण किया जाए।

९३. 'प्रविभज्य च' का अर्थ है पूर्ववत् ३२×३२ हाथ के प्रमाण को नाप कर इस प्रकार पूर्ववर्णित विकृष्ट नाट्यमण्डप के विधानानुसार ही आरम्भ से लेकर विधानानुसार सभी कार्य सम्पन्न किये जाएँ तथा बाहर की ओर पक्की ईंटों की दीवारें बनवा दी जाएँ।

९४ इसके उपरान्त जिन स्तम्भों को (नाट्यमण्डप के) भीतर लगाना है उनका विधान इस कारिका से बतलाया गया है। तदनुसार चतुरस्रनाट्यमण्डप के ३२×३२ हाथ के भूक्षेत्र को चारो ओर से आठ आठ विभागो मे विभक्त करना चाहिए जिससे शतरंज या चौपड के फलक के समान चौसठ कोठों का एक क्षेत्र तैयार हो। इसमे बीच के कोठों मे चारों ओर से आठ आठ हाथ प्रमाण वाला रङ्गपीठ बनाया जाए। इसके पश्चिम की ओर पूर्व पश्चिम बारह हाथ का एवं उत्तर-दक्षिण बत्तीस हाथ का क्षेत्र बचेगा। इसमे रंगपीठ के अन्दर समाविष्ट भाग आठ हाथ का होगा। पश्चिम की ओर जो बारह हाथ का (अर्थात १२×३२ हाथ का) क्षेत्र बचेगा, उसमे से रङ्गपीठ

का समीपवर्ती—पूर्व पश्चिम चार हाथ और चौडाई मे बत्तीस हाथ क्षेत्र को लेकर उस पर रङ्गपीठ से पश्चिम की ओर उतने ही प्रमाण वाले (अर्थात् ४ × ३२ हाथ के) षड्दारुक समन्वित रङ्गपीठ की रचना करना चाहिये तथा इससे पश्चिम मे बचे हुये भाग पर (अर्थात् ८ × ३२ हाथ के क्षेत्र पर) नेपथ्यगृह का निर्माण करना चाहिये।

इस प्रकार जब रगपीठ, रगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह का निर्माण हो जाए तो रगपीठ को लक्ष्य-केन्द्र मान कर षड्दारुक स्तम्भो के अतिरिक्त (आगे बतलाये गये) विधानानुसार दस स्तम्भ लगाना चाहिए।

इनका विभाजन इस प्रकार है—पहिले चार स्तम्भ रगपीठ के चारो कोनो मे लगाये जाएँ। इसके पश्चात् आग्नेयकोण के स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर दक्षिण की ओर एक स्तम्भ लगाना चाहिये। इसी प्रकार नैर्ऋत्य कोण के स्तम्भ से भी चार हाथ की दूरी पर दक्षिण की ओर दूसरा स्तम्भ लगाया जाए। [फिर ईशान कोण के स्तम्भ से चार हाथ दूरी पर उत्तर की ओर एक स्तम्भ तथा वायव्य-कोण के स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर दूसरा इसी प्रकार स्तम्भ लगाया जाए।] तब पूर्वभाग के ईशान और आग्नेय कोण के स्तम्भो से चार हाथ की दूरी पर पूर्व की ओर दो स्तम्भ और लगाये जाते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर कोणो मे लगने वाले छ स्तम्भ हो जाते हैं। इनमे यदि रगपीठ के चारो कोनो मे लगने वाले चार स्तम्भो को और जोड दें तो सब मिलाकर स्तम्भो की सख्या दस हो जाती है। ये दस स्तम्भ रङ्गपीठ पर लगाये जाते हैं।

९५-९६. इन दस स्तम्भो के बाहर की ओर दर्शको के [सामाजिको के] बैठने के लिये आसन बनाना चाहिये जो लकडी और ईंटो से सोपानवद्ध आकृति मे बनाये जाते हैं। ये आसन स्तम्भो के बाहर रहते हैं क्योकि उनके समीप रहने पर देखने मे रुकावट आती है। यहाँ 'रङ्गपीठावलोक्यम्' पद से इसी तथ्य की ओर सकेत किया गया गया है। इसकी व्याख्या है—'रङ्गपीठावलोकने साधु भूत रङ्गपीठावलोक्यम्'। इससे भी नाट्यमण्डप के द्विभूमित्व का समर्थन होता है।

९७ बीच मे लगनेवाले अन्य स्तम्भो का इस कारिका मे विवरण दिया गया है। इनका क्रम यह है—रङ्गपीठ के दक्षिण मे लगाये गये दो स्तम्भो से चार हाथ के अन्तर पर एव एक दूसरे आठ हाथ के अन्तर पर दो स्तम्भ, दक्षिण पूर्व क आग्नेय कोण के स्तम्भ के सामने आने वाले पूर्व स्तम्भ मे चार हाथ की दूरी पर दक्षिण की ओर दक्षिण स्तम्भ लगाते हैं। इसी प्रकार पूर्व स्थापित दस स्तम्भो मे से दक्षिण की ओर स्तम्भो एव दक्षिण की भित्ति के मध्य भाग मे तीन स्तम्भ लगते हैं। इसी प्रकार उत्तर की ओर भी तीन

स्तम्भ लगाये जाते हैं जो सब मिला कर मध्यभाग मे लगने वाले छ स्तम्भ हो जाते हैं।

९८. इसके पश्चात् आठ स्तम्भ और लगाते हैं। इनका योजना-क्रम इस प्रकार है—दक्षिणभित्ति के उत्तरभाग की ओर चार हाथ के अन्तर पर एक स्तम्भ पूर्व मे लगाया जाता है। यह उत्तर की ओर पूर्व स्थापित छ स्तम्भो म से तृतीय स्तम्भ से एव दक्षिणभित्ति से (भी) चार हाथ के अन्तर पर होता है। इसी प्रकार उत्तरभित्ति से दक्षिणभाग की ओर भी चार हाथ के अन्तर पर एक स्तम्भ लगाएँ। इसके बाद पूर्व की भित्ति से चार हाथ की दूरी पर रगमञ्च के विभागो को मान कर तदनुसार दो स्तम्भ और फिर इन से भी प्रत्येक से चार चार हाथ के अन्तर पर दो-दो स्तम्भ (अर्थात् ४ स्तम्भ) लगाते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर (१ + १ + २ + ४ = ८) आठ स्तम्भ हो जाते हैं।

'विद्धास्य'—पद की व्याख्या है—'विद्धामास्य मुख यस्य तद्' अर्थात जिनके मुख विधने के कारण एक दूसरे के अन्दर घुसे हुये रहते हों। इस प्रकार के आठ-आठ हाथ वाले शहतीरो को—जिन पर कलात्मक विधान मे पद्म आदि उत्कीर्ण किये हो—इन स्तम्भो पर स्थापित कर दे और इन शह- तीरो के मुखो के जोड पर एक हाथ के प्रमाण की धारिणी—अर्थात् तुलाओं को रोकने वाले स्तम्भो को सहारा देनेवाले काष्ठखण्डो को ऊपर स्थापित करते हैं।

चतुरस्रमण्डप का यही स्तम्भ विधान है। इसी विधान को विकृष्ट तथा त्र्यस्र नाट्यमण्डपो पर भी विचार कर ठीक से लागू करना चाहिए। उपर्युक्त मान्यता नाट्यशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकार श्री **शंकुक** की है। **भट्ट लोल्लट** आदि अन्य व्याख्याकारो का मत है कि ये आठ स्तम्भ नेपथ्यगृह मे लगाए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के वार्तिककार (हर्ष) ने इन स्तम्भों की व्यवस्था का निम्न क्रम बतलाया है —

अन्तर्नेपथ्यगृह स्तम्भौ द्वौ पीठगाश्च चत्वार।
परितोऽन्ये चत्वारो दर्शनमुक्ता भवन्त्येते ॥ क ॥
चत्वार पार्श्वाभ्या पश्चादपि च यावदिह द्वौ द्वौ।
ते चाप्यष्टावन्ये ह्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टा ॥ ख ॥
षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति भवति शास्त्रतात्पर्यम।
दत्तोऽन्यथा क्रमस्तेषा वा कश्चिदेव भवेदत्र ॥ ग ॥
भित्ते स्तम्भानाञ्च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते।
तैर्दत्तिप्ते स्यादिह चाधारो ह्युपरि काष्ठासु ॥ घ ॥

पूर्ववर्णित दस स्तम्भों मे से दो स्तम्भ नेपथ्यगृह मे, चार स्तम्भ रङ्गपीठ पर तथा शेष चार स्तम्भ रङ्गपीठ की दोनो बाजुओ मे प्रत्येक आठ-आठ हाथ की दूरी पर लगाए जाने चाहिए। (इस प्रकार कारिका २।६७ मे कहे गये दस स्तम्भो की स्थापना की गयी)। (क)

इसके पश्चात् आठ स्तम्भों मे से चार स्तम्भ रङ्गपीठ के पार्श्वों मे रङ्ग-पीठ के आगे और पीछे दो दो स्तम्भ प्रत्येक ओर लगाये जाते हैं। (इस प्रकार कारिका २।६८ के अनुसार आठ स्तम्भ की विधि हो गयी)। (ख)

इसके उपरान्त शेष स्थानो पर आवश्यकता एव अवसर का विचार करते हुए शास्त्रानुसार छ स्तम्भ और लगाना चाहिये। परन्तु इसके अति-रिक्त तर्कसम्मत अन्य क्रम मे भी इन्हे रखा जा सकता है। (ग)

किन्तु प्रत्येक स्थिति मे भित्ति से स्तम्भों का अन्तर अधिक से अधिक आठ हाथ का रहना चाहिये (और कम से कम चार हाथ भी रह सकता है)। इस प्रकार स्तम्भो को स्थापित करने से ऊपर की ओर काष्ठाच्छादन या छत के लिये ठीक आधार प्राप्त हो जाता है। (घ)

स्तम्भविषयक व्यवस्था मे इस प्रकार इन आचार्यों के विविध मत प्राप्त होते हैं। इस विषय मे उपाध्याय भट्ट तौत ने तात्विक विश्लेषण करते हुये बतलाया कि प्रेक्षागृह के तीन विभाग होते हैं—अधोभूमि, रङ्गपीठ तथा [रङ्गपीठ सहित] नेपथ्य। स्तम्भो का विभाजन इन्हीं विभागो मे स्तम्भ स्थापनार्थ किया गया है। तदनुसार 'तत्राभ्यन्तरत' इत्यादि के द्वारा अधो-भूमि (सामाजिकों के बैठने के स्थान) मे दस स्तम्भ लगाते हैं। इनका क्रम यह है कि बत्तीस हाथ की चौड़ाई मे दोनो भित्तियो से एव एक दूसरे से चार चार हाथ की दूरी पर दो दो स्तम्भ लगाये जाते हैं। इस प्रकार दोनो ओर की दीवारो के पास चार स्तम्भ हुए। फिर इन्हीं भित्तियो मे आठ आठ हाथ की दूरी पर दो-दो स्तम्भ और लगाए जाएँ जो चार होगें। इस प्रकार सब मिलाकर आठ स्तम्भ हो जाएँगे।

इन स्तम्भो को लगाते समय एव इनका एक दूसरे से अन्तर रखते समय (भी) यह ध्यान रहना चाहिये कि इनमे से कोई स्तम्भ किसी द्वार के सामने न आने पाए। इस प्रकार पूर्व अभिहित दस स्तम्भों में से आठ स्तम्भ लग जाने पर दो स्तम्भ रङ्गपीठ के पूर्वभाग की ओर लगे हुये दोनो स्तम्भो की बाजू मे एक दूसरे से आठ हाथ की दूरी पर लगा दिये जाएँ। अब इस प्रकार दोनों ओर पाँच पाँच स्तम्भ हो जाएँगे।

'रङ्गपीठोपरिस्थिता' मे विद्यमान उपरि शब्द का अर्थ सम्मुख लेना चाहिये (अर्थात् रङ्गपीठ के सम्मुख)। आशय यह है कि रङ्गपीठ को छोड कर उसके अगले भाग अर्थात् अधोभूमि मे ये दस स्तम्भ लगाये जाने चाहिये। तब फिर बची हुई भूमि मे प्रेक्षको के उपवेशनार्थ आसनों की व्यवस्था करनी चाहिये।

इसके पश्चात् रङ्गपीठ पर छ स्तम्भ लगाये जाते हैं। ये बत्तीस हाथ की लम्बाई मे रङ्गपीठ के पूर्व दिशा वाले दोनो कोणो पर दो स्तम्भ तथा उनके समीप उत्तर दक्षिण मे आठ-आठ हाथ के अन्तर पर दो स्तम्भ और लगते हैं। इस प्रकार सब मिला कर आठ-आठ हाथ की दूरी पर चार स्तम्भ हो जाते हैं। इसके बाद अधोभूमि मे रङ्गपीठ के कोनों पर स्थित दोनों स्तम्भो से पूर्व की ओर आठ आठ हाथ के अन्तर पर दो स्तम्भ लगाये जाते हैं। इस प्रकार आठ-आठ हाथ के अन्तर पर छ स्तम्भ लगते हैं।

इसके उपरान्त रङ्गपीठ के पीछे रङ्गशीर्ष का (बारह हाथ चौडा एव बत्तीस हाथ लम्बा) भाग बचता है। उनका चार हाथ चौडा तथा बत्तीस हाथ लम्बा जो भाग होगा उस पर दो तुलाएँ डालना चाहिये और प्रत्येक के नीचे आठ-आठ हाथ के अन्तर पर चार स्तम्भ लगाना चाहिये। ये आठ स्तम्भ रङ्गशीर्ष पर लगाये जाते हैं जिनका मुनि ने 'अष्टौ स्तम्भात् पुनश्चैव (ना० शा० २।९८) के द्वारा निर्देश किया है। अतएव रङ्गशीर्ष पर ये आठ स्तम्भ नियमत लगाये जाने चाहिये।

१००. अधोभूमि, रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष पर स्तम्भो के लगाने के पश्चात् प्रेक्षागृह के ३२ × ८ हाथ वाले अवशिष्ट भूभाग पर जो नेपथ्यगृह है तथा जहाँ से रङ्गपीठ पर पात्रो का प्रवेश होता है, उस कक्ष्या विभाग मे दो द्वार रखे जाते हैं। इन दो द्वारों को मुनि ने कक्ष्या विभाग अध्याय मे बतलाया भी है। अतएव द्वार शब्द को जातिपरक मान कर यहाँ एकवचन मे प्रयुक्त समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त द्वार का 'एकम्' विशेषण भी वर्गीकरण के लिये ही यहाँ प्रयुक्त किया गया है।

१०१ नेपथ्यगृह में रखा गया एक अन्य (तीसरा) द्वार पात्रो के प्रवेशार्थ रखा जाता है जिससे सूत्रधार तथा इसकी भार्या आदि पात्रो का प्रवेश होता है। इसके अतिरिक्त मुख्य द्वार के रूप मे चौथा द्वार प्रक्षको क प्रवेश के लिये (प्रेक्षागृह के) सामने की ओर बनाते हैं। यहाँ सामने शब्द का अर्थ

है पूर्व दिशा मे। जैसा कि कक्षाध्याय (ना० शा० अ० १३) मे बतलाया गया है कि नेपथ्यगृह के सामने पडनेवाला द्वार पूर्वद्वार कहलाता है। इस प्रकार सब मिला कर [दो द्वार वाद्यवादको के प्रवेशार्थ, एक पात्रो के प्रवेशार्थ तथा एक मुख्य द्वार सामाजिको के प्रवेशार्थ] चार द्वार हो जाते हैं।

अन्य आचार्यों का मत है कि दो द्वार वाद्यवादकों के प्रवेशार्थ, दो द्वार पात्रो एव प्रेक्षको के प्रवेशार्थ उपर्युक्त विधानानुसार रखने के अतिरिक्त प्रकाश एव वायु के लिये दो द्वार अगल-बगल मे भी रखे जाएँ। इस प्रकार नाट्यगृह मे छ द्वार रहने चाहिये।

१०४. 'समुन्नत' का आशय है कि रङ्गपीठ की अपेक्षा ऊंचाई पर विकृष्ट नाट्यमण्डप मे रङ्गशीर्ष बनाया जाए (क्योकि चतुरस्र मे रङ्गशीर्ष समतल होता है)। इससे यह भी सूचित होता है कि विकृष्ट नाट्यमण्डप मे चतुरस्र के क्रम मे कहे गये स्तम्भो की सख्या को भी दुगुना कर देना चाहिये। यही दोनो मे अन्तर है।

१०५-१०६. इस स्थान पर मूल मे प्रयुक्त त्र्यस्र पद लक्ष्य तथा 'त्रिकोण' पद लक्षण है। क्योकि यह नाट्यमण्डप पूर्वोक्त दोनों नाटयमण्डपो से सम्बन्ध रखता है। अतएव इसका मान दोनो नाटयमण्डपों के अनुसार [अर्थात् त्र्यस्र नाटयमण्डप का प्रत्येक भुजा का आकार ६४ हाथ या ३२ हाथ का] रखा जाए। इसके बीच मे रङ्गपीठ त्रिकोणात्मक आकारवाला तथा रङ्गशीर्ष तथा नेपथ्यगृह भी त्रिकोण ही रखे जाते हैं।

१०७. इस नाटयमण्डप का द्वार भी विकृष्ट तथा चतुरस्र नाटयमण्डपो के समान पूर्व दिशा मे कोण पर निर्मित किया जाए। यह द्वार प्रेक्षको के प्रवेशार्थ रहता है। रङ्गपीठ के पिछले भाग मे विद्यमान रङ्गशीर्ष मे दूसरे द्वार बनाये जाएँ। यहाँ भी पूर्ववत् जातिविवक्षा मे द्वार शब्द का एकवचन मे प्रयोग किया गया है। अतएव नेपथ्यगृह से प्रवेश करने वाले पात्रो के प्रवेशार्थ रङ्गशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के मध्य दो द्वार ही बनाये जाते हैं। मूल मे प्रयुक्त 'च' शब्द से पात्रो के प्रवेशार्थ द्वार निर्माण करना समझना चाहिये। इस प्रकार त्र्यस्र नाटयमण्डप मे कुल तीन द्वार ही बनेंगे।

१०८. यहाँ प्रयुक्त 'सर्व' पद से चतुरस्र नाटयमण्डप की अपेक्षा न्यूनाधिक्य न होना सूचित किया गया है क्योकि विकृष्ट नाटयमण्डप मे स्तम्भो की द्विगुणता या आधिक्य बतलाया गया है। त्र्यस्र नाटयमण्डप मे प्रतिरङ्ग

अर्थात् रङ्गशीर्ष मे दो द्वार बनाये जाएँ। ये रङ्गशीर्ष के पीछे तथा उसके दोनों ओर बनाये जा सकते हैं।

१०९ इस प्रकार नाट्यमण्डपों के इन अठारह प्रकारों के समझ लेने पर आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार के नाट्यमण्डप बनाये जा सकते हैं। यहाँ बुधै पद ऊहापोह करते हुये नाट्यमण्डप का निर्माण करवाने वाले चतुर एव शिल्पशास्त्र—विज्ञाताओ के लिये प्रयुक्त किया गया है।



तृतीय अध्याय

१. नवनाटयमण्डप के निर्माण होने पर देवगण का अर्चन क्रम प्राप्त है तथा आवश्यक भी। प्रथम अध्याय म स्वय भरतमुनि ने अर्चनविधि सम्पन्न करने का निर्देश किया था अतएव उसका निरूपण करना ही प्रस्तुत अध्याय की सगति है जो प्रयोग के क्रम को ध्यान म रखते हुये स्थापित की गयी है। इसके अतिरिक्त मण्डप विधान के अनन्तर इसका विवरण आवश्यक होने के कारण भी यहाँ रखा गया है क्योंकि देवपूजन के बिना नाटयप्रयोग को प्रस्तुत करना अभीष्ट नही है। यहा 'जप्यपरे' पद के द्वारा ब्राह्मणों से 'रक्षोघ्नमन्त्र' का जप करवाना सकेतित किया गया है।

२. 'अधिवासन' शब्द का आशय है देवगण को नवनिर्मित नाटय-भवन मे निवासार्थ आमन्त्रित करना।

१७ उद्योतन' यहा पर्यग्निकरण विधि को सकेतित करता है। अर्थात् जलते हुये दर्भों या समिधा से रङ्गमन्च पर प्रकाश करना। यह एक धार्मिक विधि है।

१९. 'प्रतिसर' शब्द का अर्थ है सूत से निर्मित ककण का बाँधना। आज भी यह प्रथा विद्यमान है।

२४ प्रयुक्त' शब्द से सर्व प्रथम ईशान-कोण मे भगवान् शिव की स्थापना करने का सकेत किया गया है। इसके उपरान्त क्रमश दिशाओ मे देवगण की विधिवत् स्थापना करनी चाहिये।

४३. 'उत्कारिक शब्द का अर्थ है मीठा पदार्थ जो लपसी या हलवा जैसा हो।

९९-१०० देवेगण के पूजन का उद्देश्य है प्रयोग मे सम्भावित अनर्थ बाधा या असफलता का दूर होना। मुनि ने इसकी अनिवार्यता भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के कारण साग्रह बतलाई है। पूजन के अभाव मे नाटयाचार्य के सम्पूर्ण श्रम के व्यर्थ होने की भी आशका है तथा नाटयप्रयोग मे इस त्रुटि के कारण घातक परिणाम भी निकल सकते है। यहाँ इसी का सकेत किया गया है।

१०२. यद्यपि नवनाटयमण्डप निर्माण के समय ही इन निर्दिष्ट देवगण का पूजन करना चाहिये किन्तु कुछ आचार्य प्रत्येक प्रेक्षा या नाटयप्रयोग के आरम्भ के अवसर पर भी इस पूजन-विधान को आवश्यक मानते हैं।

चतुर्थ अध्याय

१. पूजन के उपरान्त नाट्यप्रयोग के प्रस्तुत करने मे विलम्ब करना अभीष्ट नही होता, यह अर्थ 'क्षिप्र' पद से मूल मे दर्शाया गया है। यद्यपि सम्फेट, विद्रव आदि से युक्त प्रस्तावना को ही पहिले प्रस्तुत किया गया था परन्तु विघ्नो के द्वारा बीच म ही रुकावट उत्पन्न कर देने के कारण नाट्यमण्डप का निर्माण कर विघ्नो की सान्त्वना के साथ ही नाट्यमण्डप के अधिकारी रक्षक देवताओ की स्थापना की गयी। इस प्रकार जब विघ्नो का निराकरण हो गया तो प्रयोग के प्रस्तुत करने मे विलम्ब की आवश्यकता क्यो हो। आशय यह कि प्रयोग का प्रस्तुतीकरण अब शीघ्र होना चाहिये।

२-४. भरतमुनि ने 'अमृतमन्थन' जैसी वीररसप्रधान पुराकथा को लोकप्रसिद्ध आख्यान के रूप मे रखा है। इस समवकार मे चारों प्रकार के नायको के उत्साह नामक स्थायीभाव से निष्पन्न वीररस की प्रमुखता है। इसी कारण यह देव आदि सभी दर्शको की रसास्वादनात्मा चर्वणा को निष्पन्न करने मे सक्षम प्रयोग होकर सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया था।

५-८. नाट्यप्रयोग के इतिवृत्तात्मक विवरण को प्रस्तुत करने के उपरान्त कैशिकीवृत्ति के आरम्भस्वरूप नृत्तप्रयोग का नाट्य के साथ प्रस्तुतीकरण बतलाने के लिये मुनि ने पुन उसकी पुराकथा के साथ विवृत्ति प्रस्तुत की। यहां 'फिर किसी समय' से आशय है जितना समय शिक्षणकाल मे बीत चुका हो उसके पश्चात्। ब्रह्मा का महेश्वर के समीप नाट्यप्रयोग प्रस्तुत करने के लिये स्वय पहुँचने का अर्थ है प्रयोग को सर्वप्रथम शास्त्रविद् पुरुषो के सम्मुख प्रस्तुत कर उनसे परामर्श लिये जाएँ जिससे प्रयोग परिकृत होकर समाज में व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत किया जा सके। इसके अतिरिक्त मूल में प्रयुक्त 'सन्दर्शयाम' पद से प्रयोक्ता और कवि के मध्यवर्ती समीक्षक के रहने की सूचना मिलती है।

९-१०. यहां 'अयम्' पद से अमृतमन्थन समवकार जैसे नाट्यप्रयोग को प्रस्तुत करना सकेतित है। इसके अतिरिक्त शिव के उद्धत चरित्र को लेकर प्रस्तुत किये गये त्रिपुरदाह नामक डिम के प्रयोग से परीक्षक की सन्तुष्टि को दिखलाते हुये नृत्यप्रयोग की पृष्ठभूमि तैयार की गयी है।

१३-१६. यहां आशय यह है कि भरतमुनि ने अन्तर्यवनिका मे होनेवाले प्रत्याहार से लेकर जिन नौ अङ्गो का तथा गीतविधान से लेकर प्ररोचना तक

के दस अङ्गों का ब्रह्माजी से जो ज्ञान प्राप्त किया था उन अङ्गों से युक्त पूर्वरङ्ग को वैचित्र्यहीन होने के कारण शुद्ध माना जाता था। किन्तु नाट्याभिनय के साथ जब विनियोग सहित अङ्गहारों के साथ नृत्त की उसमें योजना हो गयी तो इस नृत्तादि से सम्पन्न (समृद्ध ?) होकर यही प्रयोग विचित्रता या चित्रत्व सम्पन्न हो गया। इस प्रकार के प्रयोग के लिये वाञ्छित प्रदेश जब पूर्वरङ्ग था ही तब इस प्रक्रिया का अनुसरण करते हुये जब करण और अङ्गहारों से विभूषित सुकुमार एवं उद्धत नृत्तप्रयोग प्रस्तुत किये गये तो इसी का चित्र नामकरण हो गया।

शुद्ध पूर्वरङ्ग केवल कर्तव्यमात्र होने से प्रस्तुत किया जाता था जिसका दृष्टफल तो था ही अदृष्टफल भी उतना ही माना जाता था। इस प्रकार यह दो प्रयोजन वाला होकर भी रंजक नहीं था क्योंकि इसमें शुष्क विधानों की भरमार थी। तब दोनों प्रयोजन का निर्वाह करते हुये नृत्त की भी इसमें योजना की गयी क्योंकि नृत्त दृष्टादृष्ट फल भी देता है और विचित्रता उत्पन्न करने के कारण रंजक भी होता है। अतएव पूर्वरङ्ग के उद्धत प्रयोग में महेश्वरप्रयुक्त अङ्गहारों और सुकुमार प्रयोग में अनुद्धत अङ्गहारों से युक्त नृत्त का विधान किया गया। क्योंकि नृत्तप्रयोग की फलवत्ता अङ्गहारों के द्वारा ही होती है जिनके करण अङ्ग है। इसके अतिरिक्त वीतक, वर्धमानक आदि में और वाक्यार्थाभिनय में भी यथायोग्य दशा को ध्यान में रख कर अङ्गहार एवं पिण्डीबन्ध आदि का प्रयोग (अभिनीत या) प्रस्तुत किया जा सकता है। इसे 'सम्यगेवाभिनेति' पद के द्वारा सूचित करते हुये उपर्युक्त तथ्य को निर्देशित किया है।

१६-१९ भरतमुनि ने महेश्वर के प्रसाद की पुराकथा देकर अपनी आधिकारिता के साथ अभिनय के प्रस्तुतीकरण का रोचक-इतिवृत्त भी निर्दिशित किया है। 'तण्डु' ने अङ्गहार आदि का भरत को प्रयोग सहित ज्ञान करवाया था इसलिये अङ्गहारादि से युक्त इस नृत्त प्रयोग का नाम 'ताण्डव' हो गया। यहाँ तण्डु शब्द नन्दी या नन्दिकेश्वर के लिये और मुनि शब्द भरतमुनि के लिये प्रयुक्त है। नृत्त में अङ्गहारों की प्रमुखता रहती है इसी कारण उद्देश्यपूर्वक अङ्गहारों का प्रथम उल्लेख किया गया किन्तु करणों का समुदाय अङ्गहार होता है अतएव बिना करणों के अङ्गहारों का बोध ठीक से नहीं हो सकता इसलिये अङ्गभूत करणों का नामत उद्देश्य कथन कर उनके ही लक्षण यहाँ सर्वप्रथम बतलाये जाएंगे।

अङ्गहार बत्तीस हैं। वैसे अङ्गहारों की अनन्तता है फिर भी इतने प्रभेद प्रमुख एवं प्रसिद्ध हैं और परम्परा से इनके प्रयोग होते रहे हैं इसी कारण यहाँ इनका उद्देश्यकथन कर लक्षण भी दिया गया।

२८-३३. करणो के समूहों को निर्दिष्ट कर अङ्गहारों का प्रयोग किया जाता है इनमे जब एक करण के साथ लगे हुये दूसरे करण को प्रस्तुत किया जाता है तब हस्त, पाद आदि अङ्गो को एक साथ विधिवत् न्यस्त कर प्रयोग प्रस्तुत करते हैं। मुनि ने इस प्रकार प्रयुक्त इन करणो को भी बतलाने का सङ्केत किया है जिसका आशय है कि कभी-कभी इन प्रयोगों को ऊह या तर्क के द्वारा भी समझना चाहिये। यही आशय 'च' शब्द द्वारा संकेतित किया गया है।

बिना रसविच्छेद के हस्त पादादि की जो क्रिया विलासपूर्ण प्रकार से प्रस्तुत की जाती है उसका पूर्ण नाम है 'नृत्तकरण'। व्यवहार मे इसे पूरा न कहते हुये इसके एक करण को ही अभिहित किया जाता है। जैसे भीमसेन को 'भीम' कहना।

अङ्गहारो की विशिष्टता के बोधार्थ उनसे सम्बद्ध करणों के एकाधिक मेल बतलाये गये हैं। नृत्तमातृका का अर्थ है नृत्त से उत्पन्न करने म जो करणीभूत हैं। एकाधिक करणो के मेल से ही नृत्त का निर्माण होता है जो संख्यागत आधिक्य के होने पर देर तक चलते हुए स्पष्टरूप प्राप्त करता जाता है। इस प्रकार (यहाँ सर्वत्र) दो से अधिक संख्या का मेल ही वाञ्छित है जिसे एवं' शब्द से संकेतित किया गया है। ये तीन करणो के मल वाले कलापक-भेद से लेकर नवकरणो के भेद संघातक तक बनते हैं और इस प्रकार समुदाय बनाकर अङ्गहारो का निर्माण करते हैं।

यहाँ यह एक आशंका अवश्य उत्पन्न होती है कि जब इस अध्याय म करणों के लक्षण बतलाये गये तो उसके भी आधार या अङ्ग स्वरूप स्थान, चारी आदि के स्वरूप भी करणो के पूर्व ही बतलाना चाहिये था। इसका उत्तर यही है कि जब तण्डु से मुनि ने ताण्डव का ज्ञान प्राप्त किया तब मुनि को चारी, स्थान तथा हस्ताभिनय का ज्ञान प्राप्त था और तण्डु से केवल करण एवं अंगहारो की ही प्राप्ति होने के कारण उन्हें यहां सलक्षण बतला दिया गया (और अन्य अभिनयों का मुनि ने अपने उद्दिष्ट अध्यायों में आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत लक्षण सहित यथावसर ही निरूपण किया)।

३४-५५ करणो की संख्या १०८ है जिनके क्रमश नाम यहाँ विवरण सहित उल्लिखित है।

५६-६० करणो के सहायक होने से ही यहाँ गति, तथा प्रचार आदि का अग (भूत) स्वरूप मे निरूपण किया गया है परन्तु अभिनयादि मे गति आदि की स्वतन्त्ररूप मे विनियोजना भी की जाती है और इनका प्रयोग भी होता है। इसी कारण यहाँ गति, परिक्रम आदि का मुनि ने उल्लेखमात्र किया है परन्तु गति आदि के (अन्यत्र उद्देश्यक्रमप्राप्त अध्यायों में ही) पृथक् एवं सम्पूर्ण लक्षण दिये गये हैं।

करण—स्थिति (अवस्थान या खड़े होने की दशा) और गति (अर्थात् पैरों की चाल) जैसे दो तत्त्वों के आधार पर करण प्रयुक्त हुआ है। इनमे भी अवस्थान दशा में स्थानो और गति मे चारियों का प्रयोग होता है। इनम शरीर के ऊपरी भाग या अङ्ग और गति मे नृत्तहस्त एव दृष्टिया का तथा स्थिति मे पताक आदि हस्तों का प्रयोग वाञ्छित होता है इस कारण यद्यपि गति और स्थिति के सम्मिलित रूप को करण माना गया है परन्तु अङ्गहारो के निर्माण मे करणो का विनियोजन शास्त्र एव परम्परासगत है। इसी कारण मान्य करणो की सख्या १०८ है यद्यपि इनके गति और स्थिति के आधार पर असीम भेद किये जा सकते हैं।

(१) तलपुष्पपुट

६० ६२ इस करण मे हाथ पुष्पपुट मुद्रा (ना० शा० ९।१५०) मे रहता है और पैर अग्रतलसचर (ना० शा० १०।४८) रखा जाता है। इसम पार्श्व (कोख) को नत (ना० शा० १०।१२) रखते हैं और पुष्पपुटहस्त को उन्नत उरोदेश से सश्लिष्ट कर स्थापित करते हैं। इस करण मे पुष्पपुट हस्त और अग्रतलसचर पाद के मेल के एक भाग की सूचना देने से इसका नाम भी 'तलपुष्पपुट' रखा गया है। इसकी योजना पुष्पाञ्जलि विकीर्ण करने एव लज्जा भाव के अभिनय म की जाती है।

(२) वर्तित

६२ ६३ इस करण मे तलपुष्पपुट स्थिति प्रस्तुत कर हाथ झुका कर नीचे जघाओ के बराबर लटकाते हुये फैला दिया जाता है। सगीतरत्नाकर के अनुसार—'यदि दोनो हाथो को एक साथ मिला कर कलाई को स्वस्तिक स्थिति मे रख और फिर उन्हें व्यावृत्त और परिवर्तित कर जघाओ के बराबर हथेली रखते हुये लटकाया जाए तो'वर्तित' करण हो जाता है।

इसकी योजना असूया के अभिनय म की जाती है पर यदि पताक हस्तो को नीचे की ओर ले जाकर मसलते हुये रखे तो यह क्रोध भाव को भी प्रकट करता है।

(३) वलितोरुक

६२ ६४ इस करण मे हाथ शुकतुण्ड (ना० शा० ९।५३) मुद्रा मे रहता है और जघाओ को वलित रखते हुये (ना० शा० १०।२८) आक्षिप्ता चारी में पैर को टिकाते हैं और अन्त मे बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) मे दोनो पैरो को न्यस्त करते हैं। इसमे शुकतुण्ड हस्त नीचे मुख किये हुये (अधोमुख)

रखते हैं। इसकी योजना मुग्धा नायिका के लज्जाभाव के अभिनय मे की जाती है।

(४) अपविद्ध

६४-६५. इस करण मे हाथ को चतुरस्र स्थिति (ना० शा० ६।१७८) मे रख कर (दाहिने हाथ को) गोल चक्राकार रूप मे निकाल कर फिर आक्षिप्ता चारी मे (ना० शा० ११।३७) स्थित हो इसी दाहिने हाथ को शुकतुण्ड मुद्रा (ना० शा० ६।५३) मे जंघा पर न्यस्त किया जाता है और बायां हाथ कटकामुखमुद्रा (ना० शा० ६।६०) मे वक्ष पर न्यस्त किया जाता है। इसकी योजना असूया तथा क्रोधभाव मे की जाती है।

(५) समनख

६५-६६. इस करण मे दोनो हाथ लताहस्त मुद्रा (ना० शा० ६।१९८) मे लटकते हुये रखते हैं। पैरो को समनख मुद्रा (११।१४) म रखने का आशय है अंगुलियों को मिला कर रखना जिससे नख साथ-साथ (पास पास) रहें। समनखो के स्थान पर कही 'समनयौ' पाठान्तर भी मिलता है तदनुसार अर्थ होगा—'दोनो चरण मिलाकर रखे हुये हो। इसकी योजना नृत्त के समय होने वाले प्रथम प्रवेश म की जाती है।

(६) लीन

६६-६७ इस करण मे दो पताक हस्त (ना० शा० ६।१८) अंजलि मुद्रा मे (ना० शा० ६।१८८) वक्ष पर न्यस्त करते हैं और निकुंचित शिर (ना० शा० ८।३२) रखते हैं। इसमे पहिले नृत्तहस्तो को ऊर्ध्वमण्डल (ना० शा० ६।२०३) मुद्रा मे रख कर फिर वक्ष पर दो पताक हस्तो से अंजलि बनाकर रखते हैं। यह अंजलि मुद्रा ऊर्ध्वमण्डलनृत्त हस्त के पश्चात् बनायी जाती है। इसकी योजना प्रिय की चाटुकारिता या प्रार्थना के वाक्यार्थाभिनय मे की जाती है।

(७) स्वस्तिक-रेचित

६७-६८. इस करण मे दो चतुरस्र हस्तो को हंसपक्ष मुद्रा (ना० शा० ६।१०६) में रेचित करते हुये (ना० शा० ६।१९३) फिर आविद्धवक्र मुद्रा मे (ना० शा० ६।१९०) रख कर स्वस्तिक और फिर विप्रकीर्ण (ना० शा० ६।१८७) करते हैं। इसके बाद इन्हें 'पक्षवञ्चितक मुद्रा (ना० शा० ६।२००) मे रखकर पक्षप्रद्योतक (ना० शा० ६।२०१) मुद्रा के नृत्तहस्त प्रस्तुत कर

कटिप्रदेश पर न्यस्त करते हैं और दोनों पैरों को स्वस्तिक स्थित में रखते हैं। (इस प्रकार इस करण में छ नृत्तहस्तों का सलक्षण प्रयोग होता है।)

इसकी योजना हर्ष भाव के प्रकट करने एव नृत्ताभिनय में की जाती है।

(८) मण्डलस्वस्तिक

६८-६९ इस करण मे दोनो हाथों को चतुरस्रमुद्रा मे (ना० शा० ६।२८४) और दोना पैरो को विच्युताचारी (ना० शा० ११।१६) मे न्यस्त करते हैं फिर चक्राकार गति से ऊर्ध्वमण्डल हस्तो (ना० शा० ६।२०३) को स्वस्तिक कर मण्डलस्थानक (ना० शा० ११।६५) में स्थित हो जाते हैं। इसमे दोना पैर उद्घट्टतलसचर स्थिति मे न्यस्त कर दोनो हाथो को आभुग्न कर वक्षःस्थल (ना० शा० ८।२-३) पर रखा जाता है।

[सगीतरत्नाकर के अनुसार इस करण मे (वक्ष स्थल के आभुग्न न होने पर भी) केवल निर्दिष्ट विधि के अनुसार हाथो को वक्ष पर न्यस्त करना इष्ट है।]

इसकी योजना लज्जा और पश्चात्ताप मे तथा पराभव के वाक्यार्थाभिनय मे की जाती है।

(९) निकुट्टक

६९-७० इस करण मे मण्डल स्थान मे (ना० शा० ११।६५) स्थित होकर हाथो को चतुरस्र दशा म (ना० शा० ६।१९४) घुमाते हुये ऊपर उठाते हुये मस्तक पर निकुट्टित करे और पैर उद्घट्टित स्थिति (ना० शा० १०।४१-४२) मे रखे और इसी प्रकार क्रमश दोनो हाथो को सचालित करना चाहिये। जब दाहिने हाथ से यह क्रम सचालन हो तो बायें हाथ को आविद्ध क्रम से सचालित कर चतुरस्र मुद्रा मे न्यस्त करे और फिर बायें हाथ और पैर को निकुट्टित करे।

चतुरस्र हस्त से मस्तक पर निकुट्टन का आशय है अलपल्लव हस्त (ना० शा० ६।१९) की कनिष्ठ अङ्गुली का ऊपर-नीचे मस्तक और बाहु के मध्य भाग मे निकुट्टन करना। पाद के अश्चित करने का आशय है उन्हे उद्घट्टित दशा मे निकुट्टन के लिये व्यस्त करना।

इसकी योजना आत्मसम्भावना के वाक्यार्थाभिनय मे की जाती है।

(१०) अर्ध निकुट्टक

७०-७१ इस करण के अन्तिम अर्ध भाग में निकुट्टक का लक्षण विद्यमान है। अतएव अनेक (अन्य) आचार्य निकुट्टक के एक भाग का या एक

बाजू किया जाने वाला आधे भाग का अभिनय करने से इसे अर्धनिकुट्टक मानते हैं। अञ्चित हस्त से आशय है उसे यहाँ अपल्लव मुद्रा (ना० शा० ९।९१) मे न्यस्त करना।

आत्मसम्भावना के अल्प मात्रा मे रहने की स्थिति वाले वाक्यार्थाभिनय मे इस करण की योजना की जाती है।

(११) कटिच्छिन्न

७१-७२. इस करण मे भ्रमरी चारी (ना० शा० ११।४५) मे दोनो बाजुओ से घुमाव लेकर मण्डलस्थान में (ना० शा० ११।६५) स्थित होते हैं तथा कटि को छिन्ना दशा (ना० शा० ९।२४५) मे रखते हैं। फिर बाहु एव मस्तक के बराबर दोनों हाथो को पल्लव मुद्रा मे न्यस्त करते हैं। पल्लवहस्त पताक (ना० शा० ९।१८) और अलपल्लव (ना० शा० ९।१६६) हस्त साथ रखते हैं। इस प्रकार यह क्रम पर्याय से किया जाता है और ऐसी आवृत्ति दो या तीन बार की जाती है जिससे यह करण बन जाता है।

विस्मयप्रधान वाक्यार्थाभिनय मे इसकी योजना की जाती है। यहाँ अलपल्लव का किया जाने वाला प्रयोग भी विस्मयभाव की प्रमुखता को सकेतित कर रहा है।

(१२) अर्ध रेचित

७२-७३. इस करण मे मण्डलस्थान मे स्थित होकर वक्ष प्रदेश पर कटकामुख हस्त (ना० शा० ९।६०) न्यस्त कर उसे सूचीमुख मुद्रा (ना० शा० ९।१६१) मे कर ले और फिर वहाँ से हटा कर 'अपसृत' स्थिति मे ले जाए, सौष्ठव प्रक्रिया से पार्श्व को 'नत' करे और चरण को निकुट्टित कर शरीर के अर्धभाग को रेचित या बाहर की ओर ले जाने वाला रखे।

इसकी योजना असमजस चेष्टा के वाक्यार्थाभिनय मे की जाती है।

(१३) वक्षःस्वस्तिक

७३-७४. इस करण मे चतुरस्र हस्तो को रेचित कर फिर व्यावृत्त करते हुये वक्ष तक ऊपर ले जाते हैं और आभुग्न या झुके हुये वक्ष (ना० शा० २०) पर स्वस्तिक करते हुये न्यस्त करते हैं। हस्त स्वस्तिक के समय ही दोनो पैरो को भी स्वस्तिक दशा मे (एक पैर की दूरी जघा और टखनी के साथ रखते हुये स्वस्तिक बना कर) रखते हैं। इसमे सौष्ठव का प्रमुखरूप मे विनियोजन रखा जाता है।

इसकी योजना लज्जित एवं पश्चात्ताप से सतप्त दशा के अभिनय मे की जाती है। (सगीतरत्नाकर के अनुसार अपुन्न वस्त्र के न रखने पर भी इस करण की लज्जा और अनुताप के अभिनय मे योजना हो सकती है)।

(१४) उन्मत्त

७४-७५ इस करण मे आविद्धचारी (ना० शा० ११।३८) में स्थापित चरणो को पर्यायश अचित (ना० शा० १०।३१) दशा मे रखते हुये दोनों हाथो को रेचित करते हैं।

इसकी योजना सौभाग्य आदि से उत्पन्न होने वाले गर्व भाव मे की जाती है।

(१५) स्वस्तिक

७५-७६ इस करण मे बायें हाथ को उद्वेष्टित अर्थात् निकाल कर उसे गोलघुमाव (अर्थात् वर्तन) देते हुये व्यावर्तित करण के समय उछाला लेकर दोनो हाथ और पैरों को एक साथ स्वस्तिक बना लिया जाता है।

इसकी योजना निषेध, शीघ्रता, (दूसरो ■) अन्वेषण तथा सम्भाषण के वाक्यार्थाभिनय मे की जाती है।

(१६) पृष्ठस्वस्तिक

७६-७७ इस करण मे उद्वेष्टित कर्म के साथ बाहुओ के विक्षेप के समय पैरो को अपक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३१) की स्थिति रख कर अपवेष्टित कर्म के साथ दूसरे चरण को अर्धसूची चारी (ना० शा० १२।३४) के साथ रेचित करते हुये (फिर) दोनो हाथ और पैरो से स्वस्तिक करते हैं। इसमे त्रिक को चालित करने के साथ पीछे घूम कर दक्षिण पाद के पीछे वाम पाद को व्यस्त करते हुये (दोनों से) स्वस्तिक बनाते हैं।

यहाँ अर्ध शब्द दूसरे पाद के सूची कार्य को बतलाने हेतु प्रयुक्त समझना चाहिये उसके क्रमश दुहराने को नही। स्वस्तिक के सभी अर्थों मे इस करण की भी योजना करते हैं। अन्य आचार्यों का मत है कि युद्ध की दशा मे घुमाव लेने के अवसर पर पृष्ठस्वस्तिक की योजना करना चाहिये।

(१७) दिक्स्वस्तिक

७७-७८ इस करण में स्वस्तिक करण की प्रक्रिया को पार्श्वों में आगे और पीछे चारो दिशाओ मे त्रुटित अगो से अगश्लेष करते हैं (त्रुटित अङ्गो के अगश्लेष को कटि द्वारा करते हैं)

इसकी योजना गीत के परिवर्त मे की जाती है।

[गीत परिवर्त को इसी अध्याय मे आगे ४।२०६ पर बतलाया गया है जहाँ 'यदा गीतवशादङ्ग भूयो भूयो विवर्तते' आदि मुनि ने कहा है।]

(१८) अलातक

७८-७९ इस करणमे दक्षिण चरण से अलाता चारी (ना० शा० ११।४१) को प्रस्तुत कर दक्षिण हस्त को नितम्ब हस्त (ना० शा० ९।१९६) बना कर उसे चतुरस्र करते हैं। वाम चरण से ऊर्ध्वजानु चारी (ना० शा० ११।२३) की ओर फिर इसी से अलात चारी को प्रयुक्त करे और दक्षिण हस्त को नितम्ब मुद्रा मे रख कर चतुरस्र करे। इसके आरम्भ मे दोनो हाथ कन्धो के बराबर और अन्त मे नीचे की ओर फैले हुये रहते हैं। ऊर्ध्वजानु के प्रयोग के कारण जानुओ के ऊपर उठाने और उनके मचलन का क्रम महत्वपूर्ण रहने के एव अलाता चारी के प्रयोग को दुहराने या दो बार होने के कारण इस करण का नाम 'अलातक' रखा गया है।

इसकी योजना ललितभाव के नृत्त मे की जाती है।

(१९) कटीसम

७९-८० इस करण मे स्वस्तिक के पश्चात् चरण को अपसृत करने का आशय है आक्षिप्ता चारी (ना० शा० १२।३७) के पश्चात् अपक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३१) का प्रयोग करना। इसमे चरणो के समान हस्तो को अपसृत करना चाहिये अर्थात् दोनो हाथो को पृथक् कर एक को कटकामुख मुद्रा मे (ना० शा० ९।६१) नाभिप्रदेश के समीप एव दूसरे को अर्धचन्द्र मुद्रा (ना० शा० ९।४३) मे कटिप्रदेश पर रखते हैं। इसमे एक पार्श्व 'नत' और दूसरा 'उद्वाहित' स्थिति मे रहता है।

यह करण वैष्णवस्थान से युक्त माना जाता है [ना० शा० ११।५२-५३] इसकी योजना सूत्रधार द्वारा जर्जर के अभिमन्त्रण के समय की जाती है।

(२०) आक्षिप्तरेचित

८०-८१ इस करण म हृदय के बराबर दोनो हाथों को व्यावर्तित एव क्षिप्त कर एक हाथ से हसपक्ष मुद्रा मे चक्राकार घुमाव लेते हैं। इसके पश्चात् दूसरा वक्षप्रदेश पर आक्षिप्त करे और अञ्चित मुद्रा मे करते हुये उसे अपविद्ध किया जाए। इस प्रकार शरीर के भाग से दोनों हाथों को निकाल

कर उनके चक्रकार सचलन (मनविद्ध दशा मे) करने से यह करण आक्षिप्त रेचित कहलाता है। इसमे दोनों पाद प्रयोगानुसार 'अञ्चित' तथा 'सूची', हस्त 'रेचित' तथा जानु 'क्षिप्त' रखी जाती है।

इसकी योजना त्याग, उपादान एव परम्परा निदर्शन के वाक्यार्थाभिनय मे की जाती है।

(२१) विक्षिप्ताक्षिप्त

८१-८२. इस करण मे हाथ और पैर को विक्षेप किया जाता है। विक्षेप का लक्षण है—'एक हाथ का—व्यावृत्त करण के समय—व्यावर्तन कर पैर द्वारा बाहर निकालने का कार्य करना। इसमे अन्य हाथ चतुरस्र स्थिति मे रखते है और फिर परिवर्तित कर दूसरे हाथ और पैर से विक्षेप करते है। इसकी योजना आने जाने के भाव को प्रकट करने वाले वाक्यार्थाभिनय मे की जाती है।

इस करण के विषय मे भट्टतोत का मत भिन्नता रखता है। उनका मत है कि इस करण को उपर्युक्त स्थिति मे केवल सयोजित नहीं किया जाए क्योंकि जहाँ अभिनय के लिये हस्तमुद्राओं का प्रयोग होता है वही वाक्यार्थाभिनय माना गया है। करण नृत्तमात्र के लिये उपयोगी होते है क्योंकि इनमे वर्तना की प्रमुखता या नृत्तहस्तो की प्रमुखता रहती है। अतएव प्रधानत नृत्त में इस करण का प्रयोग होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त अन्य आचार्यों का मत है कि वद विद् योगनानुसार शस्त्र मोक्षण आदि अभिनय प्रस्तुत करने के अवसर पर बीच मे गति, परिक्रमण, युद्ध, नियुद्ध, चारी एव स्थान के प्रस्तुत करने के अवसर आते हैं, अत ताल के विचारानुसार वहाँ ऐसे करणो की योजना करनी चाहिये।

(२२) अर्धस्वस्तिक

८२-८३ इस करण मे दोनों पैर स्वस्तिक स्थिति मे न्यस्त कर दक्षिण हस्त को करिहस्त (ना० शा० ९।१९१) मुद्रा मे और वाम हस्त कटकामुख (ना० शा० ९।६०) मुद्रा मे वक्ष पर स्थित करते है। जो करिहस्त के स्थान पर 'कटिहस्त' पाठ मानते हैं उनके मत मे वाम हस्त का अर्धचन्द्र (ना० शा० ९।४२) स्थिति मे कटि पर न्यस्त किया जाता है। इस (करण) मे दोनों पैरो से स्वस्तिक करने के कारण इसका नाम अर्धस्वस्तिक रखा गया क्योंकि अभिनय हस्तो का इसमे प्रयोग नहीं होता।

अन्य आचार्यों के मत मे पक्षवञ्चितक तथा पक्षप्रद्योतक (ना० शा० ९।१९२, १९३) नृत्तहस्तो के साथ अर्धचन्द्र हस्त को कटि पर न्यस्त करना इसमे इष्ट होता है।

(२३) अञ्चित

८३-८४ इस करण मे अर्धस्वस्तिक करण (२२) से करिहस्त को व्यावर्तित कर अलपल्लव हस्त को (ना० शा० ९।२००) अञ्चित करते हैं। अर्थात् अर्धस्वस्तिक करण का करिहस्त व्यावृत्त होकर नासिका के अग्रभाग के सामने या बराबर पर अलपल्लव किया जाए और फिर विवर्तित स्थिति मे सचलित हो कर झुकाते हुये न्यस्त किया जाता है तो अञ्चित करण हो जाता है।

इसकी योजना सामने की ओर देखने एव कौतुक दिखलाने के वाक्यार्थाभिनय मे की जाती है।

(२४) भुजङ्गत्रासित

८४-८५ इस करण मे चरण के प्रयोग के अनुरूप (अर्थात् चरणो की गति का अनुसरण करने वाले) हस्त व्यावृत्त और परिवृत्त किये जाते हैं और फिर क्रमश एक को दोलाहस्त (ना० शा० ९।१४२) और दूसरे को कटकामुख (ना० शा० ९।६०) मुद्रा मे न्यस्त करते हैं। इसी प्रकार अर्थानुसारी हस्तपादप्रयोग की समता के कारण चारी का नाम भी भुजङ्गत्रासिता (ना० शा० १२।४२) रखा गया है।

[इस करण का आरम्भ भुजङ्गत्रासिता चारी में कुञ्चित पाद को ऊपर उठाते हुये करते हैं, फिर पाद, ऊरू, कटि एव जानु को तिरछा घुमाव देकर बाद मे हाथो को पैरो की गति के अनुसार व्यावृत्त और परिवृत्त करते हैं और तब फिर एक हस्त दोला और दूसरा कटकामुख मुद्रा मे रखते हुये करण समाप्त करते हैं—स० रत्ना०]

इस करण की अपने नाम के अनुसार सर्प से डरने के भाव के अभिनय मे योजना की जाती है।

(२५) ऊर्ध्वजानु

८५-८६ इस करण मे चरण को कुञ्चित करने (ना० शा० १०।५३) के समय उसी ओर के एक हस्त को भी कुञ्चित कर स्तनप्रदेश पर उसके सामने या जानु के ऊपर अलपल्लव मुद्रा (ना० शा० ९।८८) मे ऊपर की ओर हथेली करते हुये या अराल मुद्रा (ना० शा ९।४५) मे इसी तरह न्यस्त करते हैं। जानु को पक्षवञ्चितक के द्वारा छाती के बराबर फैलाकर ऊपर उठाते है और अन्त मे दूसरे हस्त को कटकामुख मुद्रा (ना० शा० ९।६०) म वक्ष पर स्थापित करते हैं।

(२६) निकुञ्चित

८६-८७ इन करण म वृश्चिककरण की (ना० शा० ४।१०८) स्थिति

मे पैर को रखते हैं और फिर एक हाथ को मस्तक के पार्श्व भाग तक ले जाकर अराल मुद्रा (ना० शा० ९।४५) मे और दूसरे हाथ को नासिका के सामने के भाग तक ले जाकर अराल मुद्रा मे न्यस्त करते हैं। कुछ आचार्य नासिका के अग्रभाग तक एक हस्त पताक (ना० शा० ९।१८) एव दूसरा हस्त सूचीमुख (ना० शा० ९।६४) मुद्रा मे रखने का निर्देश करते हैं।

इसकी योजना आकाशगमन, मुँह उठाकर विचार करने, वितर्क तथा ध्यान करने के वाक्यार्थाभिनय मे की जाती है।

(२७) मत्तल्लि

८७-८८ इस करण मे इसी के नाम की (मत्तल्लि चारी ना० शा० ११।२८) चारी मे स्थित रहते हैं जिसमे घूमने वाले पैरो से चक्कर लगाकर एक पैर दूसरे की टखनी के पास स्वस्तिक होकर रखते हैं। इस समय दोनो हाथ नितम्ब मुद्रा मे गोल चक्कर लेकर निकट आने पर झटके से उछाले जाते हैं। यह क्रम अनेक बार (या बार-बार) दोहराया जाता है जिसमे एक साथ नितम्बहस्तमुद्रा मे दोनो हाथ उद्वेष्टित कर अपविद्ध गति मे सचालित होते हैं।

मत्तल्लि शब्द की व्युत्पत्ति है—'मत्त मदन तनोतीति मत्तल्लि' अर्थात् जो मद अर्थात् मदन का विस्तार करता हो, उस करण को 'मत्तल्लि कहते हैं। इसकी योजना (नागानन्द नाटक के शेखरक जैसे) मदमत्त पात्र के अभिनय मे करते हैं।

(२८) अर्धमत्तल्लि

८८-८९ इस करण मे स्खलित चरणो को पीछे हटाते हैं (अर्थात् पीछे सिकुडाते हुये हटाते हैं) वाम हस्त हसपक्ष मुद्रा मे जोर से घुमाते हुये रेचित और दक्षिण हस्त कटि पर न्यस्त करते हैं।

यह मत्तल्लिकरण से उत्पन्न होता है जिसमे पैरो का प्रसारण तथा सकोच विशिष्टता लिये रहता है। इसकी तरुण मद मे योजना की जाती है।

(२९) रेचित-निकुट्टक

८९-९० इस करण मे दक्षिण हस्त रेचित (अर्थात् हसपक्ष मुद्रा मे तेजी से चक्कर लगाते हुये) रखते है और दक्षिण पाद उद्घट्टित क्रिया मे (अर्थात् पजे के बल खडा होकर पृथ्वी पर पटकाते हुये) रखते हैं, वाम हस्त दोला-मुद्रा मे (ना० शा० ९।१४२) झूले की तरह आने-जाने की क्रिया मे सचालित करते हैं।

इसके लक्षण मे आये हुये 'च' शब्द का आशय है पैरो को स्वस्तिक स्थिति मे न्यस्त करना। पाद के एक वचन और हस्तो के द्विवचन से पर्यायश प्रयोग करने की सूचना भी दी गयी है। इसकी योजना उद्धत परिक्रमण में की जाती है।

(३९) चतुर

९९-२०० इस करण मे वक्षस्थल के सामने वाम हस्त को अलपल्लव मुद्रा (ना० शा० ९।६३) मे रखते है। 'अञ्चित' का अर्थ है अलपल्लवहस्त। इसमे दक्षिण हस्त चतुर मुद्रा (ना० शा० ९।६३) मे तथा पैर कुट्टित अर्थात् उद्घट्टित स्थिति (ना० शा० १०।४२ मे झुका कर रखा जाता है।

इसकी योजना विदूषक के विस्मयकारक नृत्याभिनय मे की जाती है।

(४०) भुजङ्गाञ्चितक

१००-१०१. इस करण मे भुजङ्गत्रासिता चारी में (ना० शा० ११।४२) कुञ्चित पाद रखते हैं, दक्षिणहस्त 'रेचित' (ना० शा० ९।१६३) अर्थात् हंसपक्ष मुद्रा मे तथा वामहस्त लतामुद्रा मे (ना० शा० ९।१६८) रखा जाता है।

(४१) दण्डकरेचित

१०१-१०२ इस करण मे पैरों को दण्डपादा चारी (ना० शा० ११।४४) मे न्यस्त कर हाथो को दण्डपक्ष करते हुये (ना० शा० ९।२०२) फैलाते हुये (विक्षिप्त) रहते हैं। इसके बाद इन्हे 'रेचित' करते हैं। यहाँ हाथो के सीधे विक्षिप्त करने और रेचित करने का आशय है उन्हें दण्डपक्ष मुद्रा में न्यस्त करना। इसी प्रकार पादो के विक्षेप करने का आशय है इन्हें दण्डपादा-चारी में न्यस्त करना।

प्रसन्नता के भाव में इसकी योजना की जाती है कुछ अन्य आचार्य उद्धत विषयो मे भी इसकी योजना मानते हैं।

(४२) वृश्चिककुट्टित

१०२-१०३ इस करण मे एक पैर वृश्चिकचरण की स्थिति मे न्यस्त करते हैं तथा दो अलपल्लव हस्तो को (ना० शा० ९।६३) बाहु और मस्तक के बराबर अर्थात् कन्धो के सामने क्रमश निकुट्टित करते हुये रखा जाता है।

इसकी योजना विस्मय, आकाशगमन तथा वाञ्छा करने आदि की प्रमुखता वाले वाक्यार्थाभिनय मे की जाती है।

(४३) कटिभ्रान्त

१०३-१०४ इस करण में सूची चारी का (ना० शा० ११।३४) प्रयोग करते हुए वाम पाद को शीघ्रता से दक्षिण जानु तक उठा कर सामने (आगे) की ओर पटकते हैं और फिर इसी पाद को शीघ्रता से हटाते हुये दक्षिणपाद के पार्श्व में न्यस्त करते हैं। इसी समय त्रिक को गोल घुमाव दे कर कटि को रेचित किया जाता है। फिर भ्रमरी चारी (ना० शा० ११।४४) का प्रयोग कर दोनो हाथो को प्रयोग के अनुसार सचालित करतेहुए कटि के रेचन काल मे व्यावृत्त तथा परिवृत्त करने के बाद चतुरस्र करते हुए रखते हैं।

इसकी योजना गति परिक्रमण के मध्यवर्ती भागो या गतियो की पूर्ति के अवसर पर की जाती है।

(४४) लतावृश्चिक

१०४-१०५ इस करण के पद्यमार्ग का आशय यह है कि वृश्चिक चरण रखते हुये वाम हस्त लतामुद्रा (ना० शा० ९।१९०) मे न्यस्त करना चाहिए।

इसकी योजना आकाश से गिरने के अभिनय मे की जाती है।

(४५) छिन्न

१०५ १०६ इस करण मे दो अलपल्लव हस्तो (ना० शा० ९।९१) को क्रमश कटिप्रदेश पर न्यस्त करते हैं तथा पैर की एडियो को वैशाखस्थान मे (ना० शा० ११।६१) क्रमश ऊपर नीचे उठाते हुये रख कर कटि को बीच घुमाव देकर छिन्न कर देते हैं। इसमे वैशाखस्थान मे (ना० शा० ११।६१) साढे तीन ताल के अन्तर से पैरो को रखते हुये स्थित होना पडता है।

इसकी योजना अङ्ग भङ्ग या अगो को बचाने या तालभग होने मे की जाती है।

(४६) वृश्चिक-रेचित

१०६-१०७ इस करण मे दोनो वृश्चिक चरणो को घुमा कर पीछे ले जाते हैं तथा दो स्वस्तिक हस्तो (ना० शा० ९।१८७) को 'रेचित' करते हैं अर्थात इन्हें हसपक्ष मुद्रा मे शीघ्रता से ऊपर-नीचे घुमाव देते हुये रखते हैं और फिर अलग कर लेते हैं।

इसकी योजना आकाशयान के निदर्श के अभिनय मे रखी जाती है।

(४७) वृश्चिक

१०७-१०८ इस करण मे दोनो हाथो का बाहु और मस्तक प्रदेश पर झुका कर रखने का आशय है उन्हें करिहस्त (ना० शा० ९।१९९) स्थिति

मे रखना। इसमें बिच्छू की पुच्छ के समान पाद पीछे की ओर झुका हुआ तथा पीठ नमाते हुये रखते हैं। एक पैर की वृश्चिक दशा मे स्थिति रहने पर दूसरा पैर भी झुका रहना चाहिये।

वृश्चिककरण के प्रयोग म सदा दूर सन्नतपृष्ठ (अर्थात् पीठ का दूर तक झुकी हुई रखना) वाञ्छित होता है।

इसकी योजना आकाशयान या ऐरावत हाथी की आकाश मे गति मे की जाती है।

(४८) व्यंसित

१०८ १०९ इस करण म आलीढ स्थान (ना० शा० ११।६७) का प्रयोग करते हैं, तर्जनी को उद्वेष्टित करण द्वारा विप्रकीर्ण स्थिति मे चक्राकार कर एक हस्त नीचे घुमाव लेता है और दूसरा इसी प्रकार लेकर वक्ष स्थल पर न्यस्त किया जाता है। रेचित हस्तो मे एक की हथेली ऊपर और दूसरे की उलटी रखी जाती है और ये क्रमश ऊपर नीचे जाते समय कम्पित स्थिति मे रहते हैं।

इसकी योजना हनुमान जैसे महावीर के पराक्रम प्रदर्शन मे की जाती है।

(४९) पार्श्वनिकुट्टक

१०९,११० इस करण म हाथो को स्वस्तिक स्थिति म न्यस्त करते हैं जिसमें एक हाथ वक्ष के नीचे बाजू में नीचा मुख किये हुए और दूसरा ऊपर मुख रखते हुए न्यस्त करते हैं। पैर के तलभाग को निकुट्टित करते है अर्थात पार्श्वगत हस्त के साथ एक पाद को ऊपर उठा कर पटकते हैं और फिर इसी प्रकार दूसरे पार्श्वगत हस्त के साथ एक पाद को उठाकर पटकते हैं। यह क्रम दोनों पार्श्वों से दोहराया जाता है। (यहां निकुट्टन का लक्षण आचार्य कोहल प्रोक्त ही समझना चाहिए।)

इसकी योजना प्रकाश, सत्कार एव अभ्यास में की जाती है।

(५०) ललाट तिलक

११०-१११ इसमें वृश्चिकचरण को घुमा कर पीछे की ओर से लेते हुए ऊपर उठा कर ललाट तक इस प्रकार ले जाते है कि पैर के अंगूठे का वहाँ स्पर्श हो जाए। इसमें एक हस्त पताकमुद्रा (ना० शा० ९।१८) में तथा हस्त तक ऊपर उठे हुए पैर के अगूठे को धारण करते हुए रखा जाता है।

इसकी योजना विद्याधर (यक्ष) जैसे पात्रो की आकाशगति बतलाने में की जाती है।

(५१) क्रान्तक

१११–११२. इस करण मे अतिक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३०) मे स्थित हो कर कुञ्चित पाद को उठाकर आगे (सामने को) भूमि पर पटका जाता है। इसके साथ ही हस्तो को व्यावर्तित (ना० शा० ९।२१७) कर देह के भाग से निकाल कर तथा परिवर्तित कर आक्षिप्त करते हुए बाद मे कटकामुख मुद्रा मे वक्ष पर स्थापित करना चाहिए। इसी प्रकार दूसरी बाजू से भी इसी प्रकार पाद तथा हस्त की क्षिप्तता सञ्चालित कर हस्तो को वक्ष पर न्यस्त किया जाए।

इसकी योजना उद्धत परिक्रमण मे की जाती है।

(५२) कुञ्चित

११२–११३ इस करण मे एक पैर नत अर्थात् झुक कर पीछे की ओर मोडते हुए रखा जाता है, जानु भूमि का स्पर्श करती हुई तथा पिछली उठी हुई रखी जाती है। दूसरा पैर समपाद दशा मे (अर्थात् अग्रतलसञ्चर पाद की (ना० शा० १०।४८–४९) स्थिति मे) आगे बढ कर झुका हुआ रखा जाता है। दक्षिण हस्त अलपल्लव मुद्रा (ना० शा० ९।९३) मे ऊपर की ओर हथेली रखते हुए बायी कोख की ओर रखते हैं।

इसकी योजना उल्लास मे व्याप्त देवगण के अभिनय मे की जाती है।

(५३) चक्रमण्डल

११३–११४. इस करण मे अपविद्ध पाद करने का आशय है अड्डिता चारी (ना० शा० ११।२३) का प्रयोग करना। इसके साथ ही दोला हस्तो (ना० शा० ९।१४२) से चक्राकार घुमाव लेते हुए शरीर के मध्यभाग को नमाया जाता है।

इसकी योजना उद्धत परिक्रमण एव देवगण की परिक्रमा करने के अभिनय के अवसर पर की जाती है।

(५४) उरोमण्डल

११४–११५. इस करण के आरम्भ मे स्थितावर्ता चारी (ना० शा० ११।१५) मे स्वस्तिक चरणो को आगे बढा कर फिर अपविद्ध स्थिति से हटा कर स्थापित करते है। इसके बाद बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) मे स्थित होकर दोनो हाथ उरोमण्डल मुद्रा (ना० शा० ९।२०४) मे न्यस्त करते हैं।

इसकी योजना उद्धत गति मे परिक्रमा करने मे की जाती है।

(५५) आक्षिप्त

११५–११६ इस करण म आक्षिप्ताचारी (ना० शा० ११।३७) मे हाथ

पैरो को कुञ्चित स्थिति म न्यस्त करते हैं फिर एक पार्श्व को थोडा झुकाते हुए चतुरस्र हस्तो को वेग से झटके के साथ कटकामुख मुद्रा मे रखा जाता है।

इसकी योजना विदूषक की गति म की जाती है।

(५६) तलविलसित

११६-११७ इस करण म ऊपर की ओर उठाये गये पैर की उगलियाँ ऊपर की ओर तथा उसका तलवा सामने मुडा हुआ रखा जाता है। इसी क्रम को दूसरे पैर के द्वारा (भी) दोहराया जाए और इसी के साथ साथ दो पताक हस्तों (ना० शा० ९।१८) को एक दूसरे से सश्लिष्ट हो कर ऊपर नीचे सञ्चालित करते हुए एक दूसरे से मिलते एव अलग होते हुए रखे जाते हैं।

इस प्रकार पैर और हाथो के तलभाग का आकाश के विस्तीर्ण भाग म सुन्दरता के साथ मिलन करवाने के कारण इस करण को 'तलविलसित' कहा जाता है [पादतलस्य हस्ततलस्य च विकृष्टे देशे विलसित श्लेषण यत्र तत्तल विलसितम्-अ० भा०]

इसकी योजना पूर्वरङ्ग के समय सूत्रधार द्वारा उठाये गये पैरो की स्थिति मे की जाती है।

(५७) अर्गल

११७-११८ इस करण मे वाम पाद की कनिष्ठ अगुली के भार पर दाहिना पैर टिकाया जाता है जो शरीर को पीछे की ओर फैला कर पैर को ढाई ताल के अन्तर पर रख कर सम्पादित करते हैं। इसी समय हाथों को अलपल्लव मुद्रा मे (ना० शा० ९।२००) रखते हुए शरीर के भाग को नियन्त्रित करने के साथ साथ दोनो हाथ पैरो को भी इसी क्रम मे झुकाते हैं।

इसकी योजना अङ्गद सदृश पात्र के घूमने आदि की स्थिति मे करते हैं।

(५८) विक्षिप्त

११८-११९. इस करण मे दोनो पैरो को क्रमश विद्युद्भ्रान्ता चारी (ना० शा० ११।४०) तथा दण्डपाद चारी (ना० शा० ११।४४) मे न्यस्त करते हुए दोनो हाथो को चक्राकार घुमाव मे उद्वेष्टित अपवेष्टित तथा रेचित करते हुए सामने, पीछे तथा बगल मे झटके से फेंका जाता है। (आशय यह कि पाद, हस्त तथा जानु को क्षिप्त करने के कारण इस करण को 'विक्षिप्त' कहते हैं।)

इसकी योजना उद्धत परिक्रमण मे की जाती है।

(५९) आवर्त्त

११९-१२०. इस करण मे पैरों से चापगति चारी का (ना० शा०

११।२९) प्रयोग करते हुए दोनो हाथो को उद्वेष्टित तथा अपवेष्टित स्थिति मे सञ्चालित करते हैं फिर उन्हे दोला हस्तमुद्रा मे रखते हैं और पैरो से गोल घुमाव तेजी से लिया जाता है।

इसकी योजना भयत्रस्त दशा मे नायिका की नायक के समीप जाने (के अभिनय) के अवसर पर की जाती है।

(६०) दोलापाद

१२०–१२१. इस करण म ऊर्ध्वजानु चारी (ना० शा० ११।३२) के पश्चात् दोलापाद चारी (ना० शा० ११।३६) को प्रयुक्त करते हैं [अर्थात् कुञ्चित पाद को ऊपर फेंककर एक बाजू मे दूसरी बाजू की ओर झुलाया जाता है] और पैरो की गति के अनुसार दोनो दोलाहस्तो (ना० शा० ९।१४२) को सञ्चालित करते हैं।

(६१) विवृत्त

१२१–१२२. इस करण मे आक्षिप्ताचारी (ना० शा० ११।३७) मे वाम पाद को उछाल देकर हाथो को (देह की सीमा से) बाहर फैला कर चक्राकार गति मे व्यावृत्त तथा परिवृत्त करते हुए आक्षिप्त क्रम मे सञ्चालित करते हैं। फिर भ्रमरी चारी (ना० शा० ११।३७) द्वारा त्रिक का घुमाव देकर दोनों हाथो को रेचित अर्थात् हसपक्ष मुद्रा (ना० शा० ९।१९३) मे शीघ्रता से गोल घुमाव देते हुए सचालित करते हैं।

त्रिक को विवर्तित अर्थात् घुमाव देकर सचालित करने के कारण इस करण को 'विवृत्त' कहा जाता है। इसकी योजना उद्धतगति से परिक्रमण करने के अभिनय मे की जाती है।

(६२) विनिवृत्त

१२२–१२३ इस करण के आरम्भ में सूची चारी (ना० शा० ११।३४) मे पैरो को न्यस्त कर फिर बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) द्वारा एक पैर के पिछले भाग को दूसरे पैर के पीछे ले जाकर स्वस्तिक स्थिति मे न्यस्त करते है और एडी पर दक्षिण पाद को विद्ध करते हैं। फिर 'त्रिक' को घुमाव देते हुए पार्श्व का गोल घुमाव लगाते है और साथ-साथ दोनो हसपक्ष हस्तो (ना० शा० ९।१९३) को रेचित अर्थात् शीघ्रता से गोल घुमाव देते हुए सचालित करते हैं। इसकी योजना भी पूर्वकरण की स्थिति मे की जाती है।

(६३) पार्श्वक्रान्तम्

१२३–१२४ इस करण में पार्श्वक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३२) मे पैरो को न्यस्त कर कुचित पाद को ऊपर उछाला देकर पार्श्व के समीप न्यस्त करते हैं और फिर सामने की ओर एक चरण को पटका जाता है तथा

दोनों हाथों के पैरो के सचालन क्रम के अनुसार रखते हुए क्रमश आगे फैला कर रखते हैं। यहाँ 'प्रयोग' का अर्थ होता है गतिप्रचार या युद्धादि के अवसर पर पैर तथा हाथा का एक क्रम में सचालन करना।

इसकी योजना भीम सदृश उद्धत प्रकृति के रौद्ररस प्रधान पात्र की गति मे की जाती है।

(६४) निस्तम्भित

१२४–१२५ इस करण मे एक पैर को कुञ्चित कर दूसरे पैर के पीछे न्यस्त करते हैं, वक्ष को निर्भुग्न (ना० शा० १०।४–५) तथा पार्श्व को उन्नत स्थिति म रखते हुए कटकामुख मुद्रा (ना० शा० ९।६०) वाले हस्त की मध्यमा अगुली से ललाट पर तिलक करने का भाव सम्पन्न करते हैं।

कुछ विद्वानों के मत म कुञ्चित पाद रखने का आशय है वृश्चिक चरण का प्रयोग करना। इस करण का अन्य नाम 'निशुम्भित भी पाया जाता है।

इस करण मे पैर से पृथ्वी पर आघात करने का प्रयोग रखने से ऐसे करण की शिवजी के नृत्याभिनय मे योजना की जाती है।

(६५) विद्युद्भ्रान्त

१२५–१२६ इस करण मे विद्युद्भ्रान्ता चारी (ना० शा० ११।४०) मे स्थित होते हुए तजी से एक पैर पिछे ले जाकर इस प्रकार फैलाते हैं कि वह मस्तक को छूने लगता है तथा दूसरे पैर को समपाद स्थिति मे न्यस्त करते हुए उस पर शरीर का भार स्थापित करते हैं इसके साथ ही दोनों बहुओ को मण्डल (अर्थात् चक्राकार घुमाव देने) के पश्चात् आविद्ध करते हुए चतुरस्र स्थिति मे घुमाते हैं।

इस करण मे बिजली के समान ऊपर को ओर घुमाव लेने के तथा विद्युतभ्राता चारी के मूलत प्रयोग के कारण इस करण का सार्थक अभिधान है 'विद्युद्भ्रान्त'।

पात्रो के उद्धत परिक्रम तथा उद्धतगति मे इस करण की योजना की जाती है।

(६६) अतिक्रान्त

१२६–१२७ इस करण के आरम्भ मे अतिक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३०) का प्रयोग कर अन्त मे एक चरण को आगे की ओर फैलाते हैं तथा पैरो की गति के अनुसार हाथो का (सचालन मा) अनुगमन किया जाता है।

जहाँ अन्यथा निर्दिष्ट न हो ऐसे गति तथा परिक्रमण के सभी अवसरो (अभिनय के अवसर) पर इस करण की योजना की जाती है।

(६७) विवर्तिक

१२७-१२८ इस करण मे एक पैर और एक हाथ को आक्षिप्त स्थिति मे व्यस्त करने के साथ दूसरे हाथ को हसपक्ष मुद्रा मे 'रेचित' करते हुए (जोर से चक्कर लगाते हुए) रखते हैं तथा त्रिक को घुमाव देते हैं।

(६८) गजक्रीडितक

१२८-१२९ इस करण मे दक्षिण हस्त को करिहस्त मुद्रा (ना० शा० ९।१९१) तथा वाम हस्त को त्रिपताक मुद्रा (ना० शा० ९।२७) मे कानो के बराबर (समीप) लाकर 'अञ्चित' करते हैं, पैरो को दोलपाद चारी (ना० शा० ११।३६) मे न्यस्त करते है तथा पैरो के सचालन का क्रम हाथो द्वारा अनुधृत होता है।

इस करण का प्रयोग अपने नामानुसारी कार्यों एव क्रियाओ के अभिनयादि में किया जाता है।

(६९) तलसंस्फोटित

१२९-१३० इस करण मे अतिक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३०) अथवा दण्डपाद चारी (ना० शा० ११।४४) मे चरणो को न्यस्त कर फिर शीघ्रता से चरण उठाते हुए घुटन को क्षिप्त स्थिति मे आगे की ओर स्थापित करते हैं इसी समय दो पताक-हस्तो (ना० शा० ९।१८) को सश्लिष्ट कर शब्द निकालते हैं। यह शब्द तालानुसार अनेक बार किया जाता है तथा विषयानुरूप प्रयोगो मे इसकी योजना की जाती है।

(७०) गरुडप्लुतक

१३०-१३१ इस करण में वृश्चिक चरण को पीछे की ओर (मोड कर) फैलाते हैं अर्थात् उठे हुए पैर का घुटना मुडा हुआ रखा जाता है और दूसरे पैर की तिरछी एडी पर शरीर का भार सन्तुलित करते हुए दोनो हाथो को लतामुद्रा मे (ना० शा० ९।१९८) न्यस्त कर 'रेचित' करते हैं।

(७१) गण्डसूची

१३१-१३२ इस करण मे एक सूचीपाद (ना० शा० १०।५५) तथा दूसरा समपाद (ना० शा० १०।४३-४४) रखते हैं, एक पार्श्व को झुका हुआ रखने के साथ अञ्चित, अलपल्लव या सूचीमुख (ना० शा० ९।१९१) मुद्राओ में से एक मे हस्त को सचालित कर वक्ष पर न्यस्त करते हैं और

दूसरे अलपल्लव मुद्रा वाले हस्त को गण्ड (कपोल) प्रदेश का स्पर्श करते हुए रखा जाता है।

कुछ विद्वान् सूचीमुख हस्त या सूच्यास्य (ना० शा० ९।१६१, ६५) हस्त को कपोलप्रदेश अर्थात् ठुड्डी का स्पर्श करते हुए रखने के पक्ष मे हैं और अन्य विद्वान् गण्डप्रदेश का स्पर्श करते समय सूचीपाद मे चरण न्यस्त करने का निर्देश करते है।

कपोलों के अलङ्करण करने के अभिनय मे इस करण की योजना की जाती है।

(७२) परिवृत्त

१३२-१३३. इस करण मे दोनो हाथ ऊर्ध्वमण्डल मुद्रा (ना० शा० ९।२०३) मे चक्राकार घुमाये जाते हैं तथा सूचीपाद (ना० शा० १०।५५) को बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) मे मिश्रितक्रम मे दूसरे पाद की समीपवर्ति स्थिति (ना० शा० ११।४५) मे न्यस्त करते हैं। 'ऊरु' को परिवृत्त अर्थात् पीछे की ओर से घूमने वाले और त्रिक को भी भ्रमरी चारी मे (ना० शा० ११।४४) घूमते हुए रखते हैं।

(७३) पार्श्वजानु

१३३-१३४. इस करण मे एक समपाद चरण (ना० शा० १०।४३-४४) के पार्श्व मे दूसरे चरण को न्यस्त करते हैं, मुष्टि हस्त (ना० शा० ९।५४) को वक्ष पर तथा अर्धचन्द्र हस्त (ना० शा० ९।४२) को कटि पर न्यस्त करते हैं।

'पार्श्वजानु' शब्द से यही समझना चाहिए कि पार्श्व अर्थात् ऊरु का पिछला भाग उसी से सम्बद्ध जानु के साथ जहाँ रहता हो उस 'करण' का यह अन्वर्थ नाम है। इसकी योजना बाहुयुद्ध तथा युद्ध की दशा मे की जाती है।

(७४) गृध्रावलीनक

१३४-१३५. इस करण में पैर को पीछे की ओर अगूठे की भूमि से श्लिष्ट करते हुए अञ्चित चरण मे रखा जाता है, जानु को झुका कर पाद आगे-पीछे जाकर न्यस्त होते रहते हैं साथ ही दोनो लताहस्त तथा पार्श्व भी प्रसारित स्थिति में न्यस्त करते हैं।

इसकी योजना किसी बड़े पक्षी या गिद्ध आदि के युद्ध मे की जाती है।

(७५) सन्नत

-१३५-१३६ इस करण के आरम्भ मे हरिणप्लुता चारी (ना० शा० ११।४३) मे एक उछाल लेकर पैरो को स्वस्तिक स्थिति मे सामने न्यस्त करते हैं तथा इसी के साथ दोनो 'सन्नत' अर्थात् दोला हस्तो को रखा जाता है।

इसकी योजना अधम पात्रके समीप (या साथ-साथ) चलने या धीरे धीरे चलने के अभिनय मे की जाती है।

(७६) सूची

१३६-१३७. इस करण मे कुञ्चित पाद को (ना० शा० १०।५३) सूची चारी (ना० शा० ११।३४) की स्थिति के अनुसार उठाते हुए भूमि का स्पर्श न करते हुए न्यस्त करते हैं तथा उसी ओर का (एक) हाथ कटकामुख मुद्रा (ना० शा० ९।६०) मे वक्ष पर न्यस्त करते हैं और दूसरा हाथ अलपल्लव मुद्रा (ना० शा० ९।८८) मे मस्तक पर न्यस्त करते हैं। इसी समय तदनुरूप समपाद के पार्श्व को एक पैर का अगूठा स्पर्श करता है।

इसकी योजना विस्मय के अभिनय मे की जाती है।

(७७) अर्धसूची

१३७-१३८ इस करण मे सूची चारी (ना० शा० ११।३४) के अन्तिम अर्धभाग का प्रयोग किया जाता है। सूची चारी के एक भाग का प्रयोग होने से इस करण का नाम भी 'अर्धसूची' हो गया। यहाँ शिरोहस्त का अर्थ है मस्तक पर न्यस्त अलपल्लव हस्त।

(७८) सूचीविद्ध

१३८-१३९ इस करण मे (भी) सूची चारी (ना० शा० ११।३४) के अन्तिम भाग को प्रयोगानुसार कुञ्चित, दक्षिण पाद को अन्य पैर की एड़ी से विद्ध अर्थात् सटा हुआ रखते हैं तथा दक्षिण हस्त को अर्धचन्द्र मुद्रा (ना० शा० ९।५२) मे पक्षवञ्चितक स्थिति मे कटिप्रदेश पर न्यस्त कर वाम हस्त को कटकामुख मुद्रा मे (ना० शा० ९।६०) वक्ष पर न्यस्त किया जाता है।

चिन्ता के अभिनय मे इस करण की योजना की जाती है।

(७९) अपक्रान्त

१३९-१४० इस करण के आरम्भ मे अपक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३१) मे दोनों ऊरुओ को वलन क्रिया मे सचालित कर बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) द्वारा फिर दोनो को स्वस्तिक किया जाता है और दोनो हाथों को (अर्थात् दक्षिण हस्त दोला मुद्रा मे तथा वाम हस्त पताक मुद्रा मे) पैरो की स्थिति के अनुसार सचालित किया जाता है।

(८०) मयूरललित

१४०-१४१ इस करण मे वृश्चिक पाद रखते हुए दोनो रचित हस्ता को हंसपक्ष मुद्रा मे ओर से चक्कर लगाते हुए रखते हैं फिर पैर (ऊरु प्रदेश) सिकुड़ा कर भ्रमरी चारी (ना० शा० ११।४५) मे न्यस्त करते हैं। यह

क्रिया कलाप मयूर नृत्य का अनुकरण करनेवाला हो जाने से इस करण का 'मयूरललित' नामकरण हो गया है।

(८१) सर्पित

१४१–१४२ इस करण के आरम्भ में एक पाद को अञ्चित (ना० शा० १०।५१) करते हुए न्यस्त करे और फिर उसे दूसरे से 'अपसृत' अर्थात् अलग करते हैं, इसी के साथ मस्तक को 'परिवाहित' स्थिति (ना० शा० ८।२७) में नमाते हैं और तदनुसार दोनों हाथों को 'रेचित' किया जाता है फिर यही क्रम दूसरी ओर के पैर तथा हाथ आदि के द्वारा दोहराया जाता है। जिस ओर का हस्त पाद सञ्चालित होता है उसी ओर (बाजू) मस्तक भी रखा जाता है इसीलिये लक्षण में 'परिवाहित' स्थिति मस्तक की रखी गई है।

इस करण में मद्यावस्था में पैरों की एक दूसरे के पास आने की स्थिति रहती है अतएव इसकी 'सर्पित' सञ्ज्ञा अन्वर्थ है।

(८२) दण्डपाद

१४२–१४३. इस करण में नूपुरपाद चारी (ना० शा० ११।३५) के पश्चात् दण्डपाद चारी से (ना० शा० ११।४४) चरणों को फैला कर न्यस्त करते हैं तथा हाथों की 'आविद्ध' अर्थात् अपविद्ध मुद्रा (ना० शा० ९।२२०) में सञ्चालित करते हुए पैर के साथ सीधे न्यस्त करते हैं।

क्रोधावेश में घूमने की स्थिति में इस करण की योजना की जाती है।

(८३) हरिणप्लुत

१४३–१४४. इस करण के आरम्भ में अतिक्रान्ता चारी (ना० शा० ११।३०) एवं उसके पश्चात् हरिणप्लुता चारी (ना० शा० ११।४३) में पैरों को न्यस्त करते हुए तदनुसार हाथ भी दोला (ना० शा० ९।१४२) एवं कटकामुख (ना० शा० ९।६०) मुद्रा में न्यस्त हो कर पैरों की गति का अनुसरण करते हैं।

(८४) प्रेङ्खोलित

१४४–१४५. इस करण में कुञ्चित पाद को एक ओर से दूसरी ओर झुलाते हुए दोलपाद चारी (ना० शा० ११।३६) को प्रस्तुत कर फिर एक पैर का दूसरे से उछाल लेकर घुमाव देते हुए भ्रमरी चारी (ना० शा० ११।४५) को प्रदर्शित करते हैं तथा पार्श्व को विवर्तित स्थिति में न्यस्त रखते हैं।

(८५) नितम्ब

१४५–१४६ इस करण में ऊपर उठी हुई अगुली वाले दो पताक हस्तों

को व्यावर्तित करण द्वारा मस्तक के समीप तक ले जाते हैं और फिर पलट कर कन्धो के समानान्तर करते हुए वक्षप्रदेश से नीचे ले जाकर पताक करते हुए दक्षिण हस्त का पृष्ठ वक्ष से लगता हुआ और वाम हस्त उसी को देखते हुए सामने न्यस्त करते हैं और फिर देह की ओर अगुली करते हुए दोनो हाथो से 'रेचित' कर घणित दशा मे न्यस्त कर अन्त मे नितम्ब मुद्रा (ना० शा० ९।१९६) मे हाथो को न्यस्त करते हैं।

इस करण मे अगुलियों का अभिमुखीकरण तीन पात द्वारा सूचित किया गया है।

(८६) स्खलित

१४६-१४७. इस करण मे दोलपादचारी मे (ना० शा० ११।३१) चरण न्यस्त होते हैं तथा हाथ इनकी गति के अनुसार आते जाते हुए रखते हैं, फिर हंसपक्ष मुद्रा मे जोर से घुमाव देते हुए बाहुओ को रेचित करते हैं। यही क्रम दूसरी बाजू के पैर और हाथो से भी दोहराया जाता है।

(८७) करिहस्त

१४७-१४८. इस करण मे वाम हस्त कटकामुख मुद्रा (ना० शा० ९।६०) मे वक्ष पर न्यस्त करते हैं तथा दक्षिण हस्त त्रिपताक मुद्रा मे (ना० शा० ९।२७) कान के समीप। इसके साथ ही एक उद्वेष्टित पाद को शीघ्रता से अञ्चित करते हुए निकाला जाता है। यह अश करिहस्त नृत्तहस्त (ना० शा० ९।१९९) की सदृशता लिये हुए होने से इस करण का नाम 'करि-हस्त' रखा गया। यह अङ्गहारो मे आवश्यक रूप से न्यस्त किया जाता है।

(८८) प्रसर्पितक

१४८-१४९. इस करण मे एक हाथ को हसपक्ष मुद्रा मे शीघ्रता से घुमाव देकर 'रेचित' करते हैं और दूसरे को लता मुद्रा मे रखते हैं तथा उसी ओर दोनो पैरो को ले जाकर पृथ्वी पर रखते हुए घर्षण करते हुए मन्द गति मे आगे चलते हैं।

इसका प्रयोग आकाशगामी पात्रो की गति मे किया जाता है।

(८९) सिंह-विक्रीडित

१४९-१५० इस करण मे अलातचारी मे (ना० शा० ११।४१) द्रुत गति मे चरण को आगे रखते हुए इसी के अनुसार उसी ओर चपेट देते हुए हाथ को भी रखते हैं और फिर यही प्रक्रिया दूसरी ओर से भी दोहरायी जाती है।

इस करण मे चेष्टाओं की सिंहगति से समानता होने के कारण इसका अन्वर्थ नाम है। इसकी रौद्रगति मे योजना की जाती है।

(९०) सिंहाकर्षितक

१५०-१५१. इस करण मे वृश्चिक चरण को एक ओर रख कर उसे स्वस्तिक करते हैं तथा हाथो को पद्मकोश मुद्रा (ना० शा० ६।९२) मे न्यस्त कर ऊर्णनाभमुद्रा में (ना० शा० ६।१०) ले जाकर निकुञ्चित करते हुए ऊपर नीचे फैलाते हैं। फिर दूसरी बाजू से वृश्चिक चरण को पीछे की ओर रखते हुए इसी प्रक्रिया को दोहराते हैं और बाहुओ को निकुञ्चित कर पूर्व स्थिति के विपरीत दिशा मे ले जाते हैं।

सिंहसदृश चेष्टाओं के अभिनय मे इस करण की योजना करते हैं।

(९१) उद्वृत्त

१५१-१५२ इस करण के आरम्भ मे हाथ और पैरो को आक्षिप्त करते हैं जिससे सारे शरीर की आक्षिप्त स्थिति हो जाती है। इसके पश्चात् उद्वृत्ता चारी मे (ना० शा० ११।३६) स्थित होकर कुञ्चितपाद को आविद्धा चारी मे (ना० शा० ११।२८) स्वस्तिक स्थिति से लपेटते हुए चक्कर लगा कर ऊपर उठाते हैं और झटके से नीचे पटका जाता है, फिर एक चक्कर लगा कर दूसरे कुञ्चितपाद से भी यही क्रम दोहराते हैं।

(९२) उपसृतक

१५२-१५३ इस करण मे कुञ्चितपाद को ऊपर उठाकर आक्षिप्ता चारी (ना० शा० ११।३७) मे रखते हुए वाम हस्त को व्यावृत्त एवं परिवृत्त कर शरीर को लगाते हुए दक्षिण हस्त को अरालमुद्रा में (ना० शा० ६।४५) न्यस्त करते हैं।

इसकी योजना विनयपूर्वक निवेदन करने के अभिनय मे की जाती है।

(९३) तलसंघट्टित

१५३-१५४ इस करण मे कुञ्चितपाद को दोलपाद चारी की (ना० शा० ११।३६) स्थिति मे एक ओर से दूसरी ओर झुलाते हुए रखते हैं, दोनो हाथो को पताक मुद्रा मे (ना० शा० ६।१८) एक दूसरे के तलों को श्लिष्ट करते हुए रखे और वैष्णवस्थान (ना० शा० ११।५२) मे स्थित होकर दक्षिणहस्त कटि प्रदेश पर न्यस्त करते हुए वाम हस्त को हंसपक्ष मुद्रा मे द्रुतगति से घुमाव देते हुए 'रेचित' करते हैं।

[तलो के श्लिष्ट होने से आशय है ताली बजाना। रेचित करने पर दोनो हाथ अलग हो जाते हैं। यहाँ वैष्णवस्थान में स्थित रहने की दशा मे पैरो की दूरी दो ताल के अन्तर पर रखी जाती है।

अनुकम्पाप्रधान वाक्यार्थाभिनय मे इस करण की योजना करते हैं।

(९४) जनित

१५४ इस करण म जनिता चारी (ना० शा० ११।२५) मे स्थित होते हुए एक मुष्टिहस्त वक्ष पर तथा दूसरा लताहस्त झूलता हुआ रखते हुए पैर को अग्रतलसचर के लक्षण मे न्यस्त करते हैं।

क्रियारम्भ के अभिनय मे इस करण की योजना की जाती है।

(९५) अवहित्थ

१५४-१५५ इस करण म जनिता चारी मे (ना० शा० ११।२५) स्थित होकर हाथो को अराल तथा अलपल्लव मुद्रा मे ललाट एव वक्ष के समीप चक्राकार गति से घेरा लगाते हैं और फिर नीचे ऊपर करते हुए एक पार्श्व मे लाकर इन्ही अराल एव अलपल्लव हस्तो द्वारा उद्वेष्टित एव परिवर्तित प्रक्रिया करवायी जाकर इन्हें एक दूसरे के सामने रखते हुए वक्ष पर न्यस्त करत हैं।

शोकप्रधान वाक्यार्थाभिनय मे इसकी योजना की जाती है। दूसरे आचार्य अवहित्थ हस्तमुद्रा (ना० शा० ९।१४६) के द्वारा इस करण का सम्पादन उचित समझते हैं जिसम मस्तक से वक्ष तक लाये गये हस्तों की गति की प्रमुख स्थिति रहती हो और इसी कारण इसका 'अवहित्थ' नामकरण का भी औचित्य प्रतिपादित करत हैं। इनके मत मे चिन्ता एव दुर्बलता के भाव मे इस करण की योजना की जाती है।

(९६) निवेश

१५६-१५७ इस करण म मण्डलस्थान (ना० शा० ११।५५-६६) क लक्षणानुसार चार ताल के अन्तर से पैरो को स्थापित कर स्थित होते हैं तथा निर्भुग्न वक्ष (ना० शा० ९।२२६) रखते हुए दोनो हाथो को कटकामुख मुद्रा मे (ना० शा० ९।६०) वक्ष पर न्यस्त करते हैं।

हाथी और घोड जैसे वाहन पर सवारी करते के भाव मे इस करण की योजना की जाती है।

(९७) एलकाक्रीडित

१५७-१५८ इस करण मे एलकाक्रीडिता चारी (ना० शा० ११।२०)

(१०७) शकटास्य

१६७-१६८. इस करण मे शकटास्या चारी मे (ना० शा० ११।१६) पाद को अग्रतलसञ्चर स्थिति मे न्यस्त करते हैं, अङ्गों को स्थिर दशा मे (निपण्ण) रखते हुए एक हाथ को फैलाया जाता है। उर को उद्वाहित स्थिति मे रख कर दूसरे हाथ को कटकामुख मुद्रा मे वक्ष पर न्यस्त करते हैं।

इस शब्द की व्युत्पत्ति है— शकटस्य असन क्षेप ' अर्थात् शकट का स्थापन ही 'शकटास्य' करण होता है। भाणिका जैसे उपरूपक मे उपयुक्त बालक्रीडा के अवसर पर इस करण की अभिनय-प्रदर्शनार्थ योजना की जाती है।

(१०८) गङ्गावतरण

१६८-१६९ इस करण मे दोनो चरणों को उत्क्षेप तथा निक्षेप के पश्चात् उन्नत एव सन्नत करते हैं और उन्हें पीछे की ओर इस प्रकार उठाते हैं, कि उनके तलवे और उङ्गलियाँ ऊपर की ओर रहें, इसके साथ साथ दोनो त्रिपताक हस्तो को हथेलियों के बल पृथ्वी पर टिका कर शरीर (के बल) को सन्तुलित करते हैं और ग्रीवा को सन्नत मुद्रा मे (ना० शा० ८।१७०) झुका कर रखते हैं।

इसमे त्रिविक्रम की स्थिति मे पैरो को फैला कर नीचे उतरने के प्रयोग के द्वारा गङ्गादेवी के अवतरण जैसी स्थिति का भान करवाया जाता है। नामानुसार ही स्थिति के अनुरूप अभिनय उपस्थित होने पर इस करण की योजना करनी चाहिए।

१६९-१७०. बम्बई सस्करण मे पद्य १६९ तथा १७० के मध्य चार पद्य प्राप्त होते हैं जिन्हे वहाँ मूलपाठ मे भी सयुक्त किया गया है। बडौदा सस्करण में इनकी क्रम सख्या न देकर इन्हे इसी स्थान मे रखा गया है। ये पद्य नाट्यशास्त्र मे थोडे पाठान्तर के साथ अलग-अलग प्रसगों मे प्राप्त होते हैं तथा वही इनके अर्थ को भी प्राप्त किया जा सकता है। अभिनवगुप्त आचार्य ने इसी कारण इस स्थान पर इनकी व्याख्या नहीं की। पाठको के बोधार्थ उन्हे यहाँ भी सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है —

> यानि स्थानानि याश्चार्यो व्यायाम कथितानि तु।
> पादप्रचारस्तेषान्तु करणानामयं भवेत् ॥ क ॥
> ये चापि नृत्तहस्तास्तु गदिता नृत्तकर्मणि।
> तेषा समासतो योग करणेषु विभाव्यते ॥ ख ॥
> प्रायेण करणे कार्यो वामो वक्ष स्थित कर ।
> चरणश्चा (स्या) नुगश्चापि दक्षिणस्तु भवेत् कर. ॥ ग ॥

चार्यश्चैव तु या प्रोक्ता नृत्तहस्तास्तथैव च ।
सा मातृकेति विज्ञेया तद्भदात् करणानि तु ॥ घ ॥

[नृत्त (सम्बन्धी व्यायाम) के प्रसग मे यहा जिन स्थान एव चारियो का उल्लेख किया गया है ये नृत्त करणो मे होने वाले पादप्रचारो अथवा गति के उपयोगी होने के कारण प्रसङ्गवश यहा बतलाये गये हैं । (क)

और नृत्तकम मे जिन नृत्तहस्तो का विधान बतलाया गया उन्ह भी करणो मे अनेकविध रूप मे सहयोग करने या प्रयोग होने के कारण ही निर्दिष्ट किया गया है । (ख)

जहा अन्यथा निर्दिष्ट न हो तो वहाँ प्राय वाम हस्त को वक्ष पर न्यस्त करते हैं और दक्षिण हस्त को चरण की गति के अनुरूप क्रियाशील रखा जाता है । (ग)

इस प्रसङ्ग मे जिन चारियो एव नृत्तहस्ता का उल्लेख हुआ है उन्ह उत्पादक होने के कारण नृत्तकरणो की मातृका माना जाता है क्योकि इनके भदो (या विभागो) से ही नृत्तकरणो की रचना होती है । (घ)]

अङ्गहार—

(१) स्थिरहस्त

१७०-१७३ अङ्गहार के आरम्भ मे दोनो हाथो को ऊपर फला कर उत्क्षिप्त करने का आशय है लीन–करण (ना० शा० ४।६६) का सम्पादन करना फिर सम्पादनस्थान मे चरणो को न्यस्त करते हुए समनख–करण (ना० शा० ४।६५) को प्रस्तुत करते हैं । फिर व्यंसितकरण (ना० शा० ४।१०८) को प्रस्तुत कर अपमृत एव विप्रकीण हस्तो को ऊपर की ओर उठाते हुए आलीढ स्थान मे (ना० शा० ११।६७–६८) स्थित होत हैं और फिर परिवतन कर प्रत्यालीढ स्थान (ना० शा० ११।७०–७१) मे स्थित हो जाते हैं । इसके पश्चात् फिर क्रमश निकुट्टित (ना० शा० ४।६६), ऊरुद्वृत्त (ना० शा० ४।१५६) आक्षिप्त (ना० शा० ४।७५) स्वस्तिक (ना० शा० ४।११५), नितम्ब (ना० शा० ४।१४६) करिहस्त (ना० शा० ४।१४३) तथा अन्त में कटिच्छिन्न करण (ना० शा० ४।७२) को प्रस्तुत करते हैं । इस प्रकार इस अङ्गहार मे एकादश करण समूह का प्रयोग होता है ।

कुछ आचायगण (इन) अङ्गहारो मे अभिहित अङ्ग एव करणा का चारो दिशाओ मे प्रस्तुतीकरण करने का निर्देश करते है क्याकि मुनि ने स्वय परिवृत्तक-रेचित अङ्गहार के लक्षण प्रसङ्ग मे 'पराङमुखविधिमप्य एवमेव भवेत् पुन ' के द्वारा इसी तथ्य की ओर सकेत किया है ।

को प्रस्तुत कर क्रमश आक्षिप्त (ना० शा० ४।११६) उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) और अन्त मे करिहस्त (ना० शा० ४।१४८) और कटिच्छिन्न करणो (ना० शा० ४।७२) को प्रस्तुत करना चाहिए।

(९) विष्कम्भापसृत

१८९–१९१. इस अङ्गहार के आरम्भ मे कुट्टित करण को प्रस्तुत करने का आशय है निकुट्टक तथा अर्धनिकुट्टक करणो को प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् भुजङ्गत्रासित करण को (ना० शा० ४।८४) प्रस्तुत कर हस्तो को रेचित कर पताक मुद्रा मे (ना० शा० ९।१८) न्यस्त करे और फिर क्रमश आक्षिप्तक (ना० शा० ४।११६), उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) तथा कटिछिन्न करण (ना० शा० ४।७२) को प्रस्तुत करे। यहाँ विशेषता यह है कि कटिछिन्न करण मे पर्यायश एक लताहस्त रखा जाए।

(१०) मत्ताक्रीड

१९१–१९४. इस अङ्गहार के आरम्भ में त्रिक के वलन करने से भ्रमरक करण (ना० ४।९९) प्रस्तुत करने का सकेत है। फिर नूपुर करण को (ना० शा० ४।९७) प्रस्तुत कर कुञ्चित पाद करते हुए भुजङ्गत्रासित करण (ना० शा० ४।८४) का और सव्य अर्थात् दक्षिण अग्रप्रदेश से वैशाखरेचित करण (ना० शा० ४।९८) का प्रयोग किया जाए। यहाँ परिच्छिन्न शब्द से 'छिन्न करण को प्रस्तुत करना इष्ट है तथा बाह्यभ्रमरक का आशय है भ्रमरक करण को बायी ओर से प्रस्तुत करना। इसके उपरान्त व्यसित करण (ना० शा० ४।१०९) को प्रस्तुत करे और फिर क्रमश उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५), नितम्ब (ना० शा० ४।१४६), करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणो को प्रस्तुत किया जाए।

(११) स्वस्तिकरेचित

१९४–१९६ इस अङ्गहार के आरम्भ मे हाथ तथा पैरो को रेचित करने का आशय है वैशाखरेचित करण (ना० शा० ४।९८) को प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् वृश्चिककरण को प्रस्तुत करे और फिर एक बार वैशाखरेचित तथा वृश्चिककरणो को दोहरा दे और लताहस्तो के साथ निकुट्टककरण को और अन्त में दोनो पार्श्वो से कटि को छिन्न कर कटिच्छिन्न करण (ना० शा० ४।७२) को प्रस्तुत करे।

(१२) पार्श्वस्वस्तिक

१९६–१९९. इस अङ्गहार के आरम्भ मे दोनो पार्श्वों से स्वस्तिक करने का आशय है दिक्स्वस्तिक करण (ना० शा० ४।७७) का प्रयोग करना।

फिर एक ओर से निकुट्टक करते हुए अर्धनिकुट्टक करण (ना० शा० ४।७०) को और फिर दूसरी ओर से दिक्स्वस्तिक करण को प्रस्तुत कर अर्ध-निकुट्टक करण दोहराया जाए। हाथो को व्यावृत्त करने से अपविद्ध करण (ना० शा० ४।६८) का प्रयोग सूचित किया गया है। इसके बाद फिर क्रमश ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्त, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणो का प्रयोग करना चाहिए।

(१३) वृश्चिकापसृत

१९९-२०१ इस अङ्गहार के आरम्भ मे वृश्चिक करण के साथ लता हस्त के प्रयोग से लतावृश्चिक करण का (ना० शा० ४।१०५) प्रयोग सूचित किया गया है। हाथ को नासिका के अग्रभाग के समानान्तर ले जाकर घुकाते हुए निकुञ्चित करण (ना० शा० ४।८७) का तथा हाथ को उद्वेष्टित करते हुए अधमत्तल्लि करण (ना० शा० ४।८९) का प्रयोग किया जाए। इसके पश्चात् हाथों को उद्वेष्टित कर नितम्ब करण (ना० शा० ४।१४९) को प्रस्तुत करे और फिर क्रमश करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणो को प्रदर्शित करे।

कुछ आचार्य नितम्ब के स्थान पर भ्रमरक करण का औचित्य इस अङ्गहार मे स्वीकार करते हैं। उनके मत मे नितम्ब परिवर्तन शब्द का अर्थ होगा नितम्ब भ्रमण जिसे भ्रमरक करण मे किया जाता है।

(१४) भ्रमर

२०१-२०२ इस अङ्गहार के आरम्भ मे नूपुरपादिकाचारी (ना० शा० ११।३५) के प्रयोग द्वारा नूपुर करण (ना० शा० ४।९७) का प्रयोग इष्ट है। इसके उपरान्त आक्षिप्तक करण का प्रयोग करना चाहिए। 'कटिच्छिन्न' को बीच मे रखने से यहाँ परिच्छिन्न करण का (ना० शा० ४।१०९) भी प्रयोग इष्ट है फिर सूचीपाद (ना० शा० ४।१३९), नितम्ब (ना० शा० ४।१४९), करिहस्त (ना० शा० ४।१४८), उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) तथा कटिच्छिन्न करणो का क्रमश प्रयोग किया जाए।

(१५) मत्तस्खलितक

२०३-२०५ इस अङ्गहार के आरम्भ मे मत्तल्लि करण (ना० शा० ४।८८) का प्रयोग करते हैं, फिर दक्षिण हस्त के आवर्तन और कपोल पर निकुञ्चन के द्वारा गण्डसूची (ना० शा० ४।१३२) तथा लीन करण (ना० शा० ४।६६) का प्रयोग किया जाता है और फिर अपविद्ध (ना० शा० ४।६४) तथा तलसस्फोटित करण (ना० शा० ४।१३०) को क्षिप्रगति मे प्रस्तुत करते हुए अन्त मे करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करण को सम्पन्न करते हैं।

(१६) मदविलसित

२०५-२०७ इस अङ्गहार के आरम्भ में दोलाहस्तो के उल्लेख से मद-स्खलितक-करण (ना० शा० ४।१२६) का प्रयोग इष्ट है एव स्वस्तिक चरण के अपसरण द्वारा मत्तल्लिकरण (ना० शा० ४।८८), अञ्चित एव ललित हस्तो के सघटित्त करने (ताली बजाने) के द्वारा तलसघट्टित करण के प्रयोग का सकेत दिया गया है। इसके उपरान्त क्रमश निकुट्टक (ना० शा० ४।६६), ऊरुद्वृत्त (ना० शा० ४।१२६), करिहस्त एव कटिच्छिन्न करणो का प्रयोग करते हैं।

कुछ आचार्य आरम्भ के तीन करणों को तीन बार दोहराते हुए इस अङ्गहार मे तेरह करणो का प्रयोग तथा अन्य आचार्य इसी अङ्गहार के सात करणो के तीन बार प्रयाग को सम्पन्न करने वाले इस करण मे इक्कीस करणो के प्रयोग को बतलाते हैं।

(१७) गतिमण्डल

२०७-२०९ इस अङ्गहार के आरम्भ में मण्डलस्थान (ना० शा० ११।६५-६७) के उल्लेख से मण्डलस्वस्तिक-करण (ना० शा० ४।६९) तथा निवेश-करण (ना० शा० ४।१२६) के प्रयोग का सकेत दिया गया है और रेचित हस्त के द्वारा उन्मत करण (ना० शा० ४।७५) का इसी प्रकार उद्घटित्त चरण के प्रयोग से उद्घटित्तकरण का प्रयोग इष्ट है। इसके पश्चात् क्रमश इसमे मत्तल्लि, आक्षिप्त, उरोमण्डल तथा कटिच्छिन्न करणो का प्रयोग किया जाता है।

(१८) परिच्छिन्न

२०९-२११ इस अङ्गहार के आरम्भ मे प्रस्तुत समपाद स्थान से (ना० शा० ११।५९-६१) समनखकरण (ना० शा० ४।६२) का प्रयोग इष्ट है। परिच्छिन्न करण से छिन्न करण (ना० शा० ४।१०६) का तथा पैरो से आविद्धाचारी के (ना० शा० ११।३८) प्रदर्शन से सम्भ्रान्तकरण (ना० शा० ४।१६१) का प्रयोग सूचित किया गया है। बाह्यभ्रमरक के प्रदर्शन का आशय है भ्रमरक करण का (ना० शा० ४।९९) सम्पादन करना।

इसके पश्चात् वामपाद से सूचीचारी के द्वारा अपसूची करण (ना० शा० ४।१३८) का प्रयोग करना और फिर क्रमश अतिक्रान्त (ना० शा० ४।१२७) भुजङ्गत्रासित (ना० शा० ४।८५) तथा करिहस्त एव कटिच्छिन्न करणो को प्रयुक्त करना चाहिए।

(१९) परिवृत्तकरेचित

२११-२१५ इस अङ्गहार के आरम्भ मे हाथो को मस्तक पर स्वस्तिक

कर शिथिल-क्रम मे रखने से क्रमश नितम्ब (ना० शा० ४।१४६) तथा स्वस्तिक चेष्टा से स्वस्तिकरेचित करण (ना० शा० ४।६७) का प्रयोग सूचित किया गया है। इसके पश्चात् शरीर को भुकाने के क्रिया-कलाप से विक्षिप्ताक्षिप्त करण (ना० शा० ४।८१) का तथा शरीर को उन्नत स्थिति में न्यस्त कर हस्तो को रेचित एव लता चेष्टा मे सञ्चालित करने के द्वारा लतावृश्चिक करण (ना० शा० ४।१०५) का प्रयोग सूचित किया गया है। हस्तों के रेचित प्रयोग द्वारा उन्मत्त करण (ना० शा० ४।७४) का प्रयोग समझना चाहिए। इसके पश्चात् करिहस्त एव भुजङ्गत्रासित करण को प्रस्तुत किया जाता है और फिर आक्षिप्तक करण (ना० शा० ४।११६) को सम्पन्न किया जाता है। इसके पश्चात् पैरो की स्वस्तिक क्रिया करते हुए बद्धाचारी (ना० शा० ११।२१) के प्रयोग से नितम्ब करण (ना० शा० ४।१४६) का सम्पादन किया जाता है। अन्तिम दो करणो को छोड कर सभी करणो को फिर से उलटे घुमाव या चारो ओर मुँह फिरा कर दुहराना इष्ट है और इन उल्लिखित करणो के विधिवत् प्रस्तुत करने के पश्चात (ही) अन्त मे करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणो को प्रस्तुत करना चाहिए।

(२०) वैशाख रेचित

२१५-२१८. इस अङ्गहार के आरम्भ मे शरीर के साथ हाथो को रेचित एव अपविद्ध करने के द्वारा दोनो बाजुओ से वैशाखरेचित करण (ना० शा० ४।६८) का प्रयोग इष्ट है। फिर इसी क्रम को दुहराना चाहिए और नूपुर तथा भुजङ्गत्रासित करणो को क्रमश प्रयुक्त करना चाहिये। 'रेचित' से आशय है उन्मत्त करण (ना० शा० ४।७४) का प्रयोग करना। इसके पश्चात् मण्डलस्वस्तिक करण को प्रस्तुत करके बाहु और मस्तक को निकुञ्चित करते हुए निकुट्टित करण (ना० शा० ४।५६) को प्रस्तुत करना चाहिए। इसके पश्चात क्रमश ऊरूद्वृत्त, आक्षिप्तक, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणो को प्रस्तुत करना चाहिए।

(२१) परावृत्त

२१८-२२०. इस अङ्गहार के आरम्भ मे दाहिने बाजू से जनित-करण (ना० शा० ४।१५५) को प्रस्तुत कर एक पैर फैला कर शकटास्य करण (ना० शा० ४।१६८) को प्रस्तुत करते हैं। इसके पश्चात् अलात-करण (ना० शा० ४।७८) को प्रस्तुत कर त्रिक को घुमाव देते हुए भ्रमरक करण (ना० शा० ४।९८) प्रस्तुत किया जाता है। फिर वाम हस्त को अञ्चित

करते हुए कपोल पर कुट्टन करते हुए करिहस्त करण को प्रस्तुत करते हुए अन्त में कटिच्छिन्न करण को प्रस्तुत करते हैं।

(२२) अलातक

२२०-२२२. इस अङ्गहार के आरम्भ में स्वस्तिक-करण (ना० शा० ४।६८) को प्रस्तुत कर दोनों हाथों को व्यंसितकरण (ना० शा० ४।१०६) की प्रक्रिया में न्यस्त रखा जाता है। यहाँ 'व्यंसितौ करौ' शब्द को द्विवचन में प्रयुक्त करने का आशय है इस करण को दोहराया जाना। इसके पश्चात् क्रमशः अलातक (ना० शा० ४।७८), ऊर्ध्वजानु (ना० शा० ४।८६), निकुञ्चित (ना० शा० ४।८७), अर्धसूची (ना० शा० ४।१३८), विक्षिप्त (ना० शा० ४।११९), उद्वृत्त (ना० शा० ४।१५२), आक्षिप्तक (ना० शा० ४।११६) तथा अन्त में करिहस्त एवं कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत करना चाहिए।

(२३) पार्श्वच्छेद

२२२-२२४. इस अङ्गहार के आरम्भ में वक्ष पर हाथों को निकुट्टित करने के द्वारा वृश्चिक-कुट्टिक-करण (ना० शा० ४।१०३) का प्रयोग सूचित किया गया है। इसके उपरान्त ऊर्ध्वजानु करण (ना० शा० ४।८६) को कुञ्चित पाद रखते हुए प्रस्तुत करना चाहिए। फिर आक्षिप्तक (ना० शा० ४।११६) तथा स्वस्तिक करण (ना० शा० ४।७५) को प्रस्तुत कर त्रिक को घुमाव देते हैं। इसके पश्चात् हाथों को उरोमण्डल स्थिति में न्यस्त कर 'उरोमण्डल-करण (ना० शा० ४।११५) को प्रस्तुत करते हैं तथा फिर क्रमशः नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत करते हैं।

(२४) विद्युद्भ्रान्त

२२४-२२६. इस अङ्गहार के आरम्भ में वामचरण से सूचीचारी के प्रस्तुत करने का आशय है बायीं ओर से अर्धसूची-करण (ना० शा० ४।१३८) का तथा दाहिनी ओर से विद्युद्भ्रान्त करण (ना० शा० ४।१२६) का प्रयोग करना। फिर इन्हीं दोनों करणों की विपरीत दिशा से (अर्थात् दक्षिण चरण से अर्धसूची और वामचरण से विद्युद्भ्रान्त करण का) सम्पादन किया जाए और बाद में छिन्न अर्थात् परिच्छिन्नकरण (ना० शा० ४।१०६) को प्रस्तुत कर त्रिक को घुमाव देते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य के अनुसार परिच्छिन्न करण के बाद अतिक्रान्त करण का प्रयोग करना चाहिए। इसके पश्चात् लताहस्त के साथ लतावृश्चिक करण (ना० शा० ४।१०५) को प्रस्तुत कर अन्त में कटिच्छिन्न करण का प्रयोग किया जाए।

(२५) उद्वृत्तक

२२६-२२८ इस अङ्गहार के आरम्भ मे नूपुरपादिकाचारी (ना० शा० ११।३५) का प्रस्तुत करने का आशय है नूपुर करण (ना० शा० ४।६८) को प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् दक्षिण एव वाम हस्त को झुलाते हुए रखने के द्वारा भुजङ्गाञ्चित करण (ना० शा० ४।१०१) तथा पार्श्व मे करने (इत्यादि) से मुद्वृत्तलोनक करण (ना० शा० ४।१३२) का प्रयोग सूचित होता है। 'करौ सव्यवामौ' मे प्रयुक्त द्विवचन से इन दोनों को एक साथ प्रस्तुत करने की भी स्थिति सूचित की गयी है। इसके पश्चात् विक्षिप्त करण (ना० शा० ४।११६) को प्रस्तुत करते हुए इसी हस्तमुद्रा से सूचीकरण को सम्पादित कर त्रिक को परिवर्तित कर बद्धाचारी मे चरण को न्यस्त कर विनम्र करण (ना० शा० ४।१४५) को प्रस्तुत करें। फिर लता वृश्चिक-करण (ना० शा० ४।१०५) को प्रस्तुत कर अन्त मे कटिच्छिन्न करण का प्रयोग किया जाए।

(२६) आलीढ

२२८-२३० इस अङ्गहार के आरम्भ म आलीढ स्थान (ना० शा० ११।६७) मे स्थित होकर फिर व्यंसितकरण (ना० शा० ४।१०६) को प्रस्तुत करते है। फिर इसी स्थान म रखी जाने वाली हस्तमुद्रा वाले हाथो को बाहुओ के कोनो अर्थात् कन्धा पर निकुट्टित करते हुए निकुट्टित करण (ना० शा० ४।६६) को प्रस्तुत किया जाए। इसके उपरान्त वामचरण से नूपुर करण (ना० शा० ४।६८) और दक्षिण चरण से अलातकरण (ना० शा० ४।७८) को प्रस्तुत किया जाए। फिर दक्षिण भाग से आक्षिप्त करण (ना० शा० ४।११६) को प्रस्तुत कर इसी मे आगे दोना हाथो से उरोमण्डल करण (ना० शा० ४।१२५) को प्रस्तुत कर अन्त मे करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणो को प्रस्तुत किया जाए।

(२७) रेचित

२३०-२३२ इस अङ्गहार का आरम्भ रेचित हस्तो से होता है तथा इसमे रेचित प्रक्रिया वाले सभी करणो का समावेश किया जाता है जिसे अन्त मे कहे गये— रेचित करण कार्यम् द्वारा सूचित समझना चाहिए। 'कार्यम' पद से सभी रेचित प्रक्रिया वाले करणो को अङ्गो सहित व्यावहारिक बुद्धि से सयुक्त करते हुए प्रयोग मे विचित्रता उत्पन्न करना अभीष्ट है। अतएव अङ्गो के विचित्र प्रभेदो से मिश्रित स्वरूप वाला यह अङ्गहार माना जाता है। रेचित प्रक्रिया बडी उलझी हुई है फिर भी इसका क्रम इस प्रकार रहता

है। इसमें आरम्भ में स्वस्तिकरेचितकरण (ना० शा० ४।६७) को और फिर क्रमश: अर्धरेचित (ना० शा० ४।८०), आक्षिप्तरेचित (ना० शा० ४।८६), अर्धमत्तल्लि (ना० शा० ४।९८) रेचकनिकुट्टक (ना० शा० ४।९०), भुजङ्गत्रस्तरेचित (ना० शा० ४।९६), नूपुर (ना० शा० ४।९७), वैशाखरेचित (ना० शा० ४।९८), भुजङ्गाञ्चितक (ना० शा० ४।१०१), दण्डरेचित (ना० शा० ४।१०२), वृश्चिकरेचित (ना० शा० ४।१०७), व्यंसित (ना० शा० ४।१०९), निवृत्त (ना० शा० ४।१२२), विनिवृत्त (ना० शा० ४।११३), विवर्तितक (ना० शा० ४।१२८), गरुडप्लुत (ना० शा० ४।१३१), मयूरललित (ना० शा० ४।१४१), सर्पितक (ना० शा० ४।१४२) स्खलित (ना० शा० ४।१४७), प्रसर्पितक (ना० शा० ४।१४६), ललसपट्टित (ना० शा० ४।१५४), वृषभक्रीडित (ना० शा० ४।१६५) तथा लोलित (ना० शा० ४।१६६) करणो का प्रयोग होता है। यहाँ मूल मे 'पुनस्तेनैव योगेन' इत्यादि से पार्श्व तथा अङ्गो को आनत करने का आशय है एक करण के प्रयोग के बाद विचित्रता के लिए चक्रमण्डलकरण (ना० शा० ४।११४) को प्रस्तुत कर फिर दूसरे करणो को प्रस्तुत करना। करणो का विचित्रतासम्पन्न यह क्रम चक्रमण्डल करण से व्यवहित होते हुए चलना चाहिए। इस प्रकार निर्दिष्ट करणो का जब क्रमिक पूर्ण हो जाए तो अन्त मे उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) तथा कटिच्छिन्न करण को प्रस्तुत कर अङ्गहार को पूर्ण किया जाए।

(२८) आच्छुरित

२३२-२३४ इस अङ्गहार के आरम्भ मे नूपुर करण (ना० शा० ४।९७) को प्रस्तुत करते हैं। यहाँ त्रिक को घुमाव देने का आशय है भ्रमरक-करण (ना० शा० ४।९९) को प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् व्यंसित-करण (ना० शा० ४।१०९) को प्रस्तुत करते हुए त्रिक को विवर्तित कर नितम्ब-करण (ना० शा० ४।१४६) को प्रस्तुत करते हैं फिर वाम चरण से अलातक करण (ना० शा० ४।७८) को और इसी के साथ लगातार सूची करण (ना० शा० ४।१३७) को प्रस्तुत कर अन्त मे करिहस्त एव कटिच्छिन्न करण को प्रस्तुत किया जाता है।

(२९) आक्षिप्तरेचित

२३३-२३७ इस अङ्गहार में हस्त तथा चरण के स्वस्तिक प्रयोग के साथ रेचित होने वाले सभी करणों का प्रयोग ग्रहण किया गया है। तदनुसार स्वस्तिक पादो के रेचन से होने वाले स्वस्तिक-रेचित (ना० शा ४।६७)

करण से आरम्भ होकर क्रमशः पृष्ठस्वस्तिक (ना० शा० ४।७६), दिक्स्वस्तिक (ना० शा० ४।७७) कटीसम (ना० शा० ४।७९), घूर्णित (ना० शा० ४।९३), भ्रमर (ना० शा० ४।९९), वृश्चिकरेचित (ना० शा० ४।१०७), पार्श्वनिकुट्टक (ना० शा० ४।११०), उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५), सन्नत (ना० शा० ४।१३६), सिंहाकर्षित (ना० शा० ४।१५१) तथा नागापसर्पित करणों (ना० शा० ४।१६७) को सम्पन्न करते हैं। इसमें वक्षःस्वस्तिक (ना० शा० ४।७४) करण को रेचन क्रिया से रहित होने के कारण मुनि ने समाविष्ट नहीं किया परन्तु कुछ आचार्य परिवर्तन क्रम से इस करण में भी रेचन प्रक्रिया मानते हैं और वक्षःस्वस्तिक को भी इस करण क्रम मे रखने का समर्थन करते हैं।

इसी प्रकार रेचित हस्त पादो के उत्क्षेपण को बतलाकर हस्त पादो की उत्क्षेपण क्रिया वाले सभी करणो का समावेश (भी) यहाँ सूचित किया गया है। तदनुसार उत्क्षेपण क्रिया वाले इन करणो का क्रमशः प्रयोग करना चाहिये। वे हैं—दण्डपक्ष (ना० शा० ४।९५), ललाटतिलक, (ना० शा० ४।१११), तलविलसित (ना० शा० ४।११७), निसुम्भित (ना० शा० ४।१२५), विद्युद्भ्रान्त (ना० शा० ४।१२६), गजक्रीडित (ना० शा० ४।१२९), नितम्ब (ना० शा० ४।१४६), विष्णुक्रान्त (ना० शा० ४।१६१), उद्वृत्त (ना० शा० ४।१५१), आक्षिप्त (ना० शा० ४।११६) तथा उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) और फिर अन्त में पुनः नितम्ब (ना० शा० ४।१४६), करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणो को प्रस्तुत कर (इस) अङ्गहार को पूर्ण करना चाहिए।

(३०) सम्भ्रान्त

२३७-२४०. इस अङ्गहार के आरम्भ मे विक्षिप्त करण (ना० शा० ४।११९) को प्रस्तुत कर हस्त एव पादो को मुख के अनुसार संचालित करते हुए रखने का आशय है अञ्चित (ना० शा० ४।८३), गण्डसूची (ना० शा० ४।१३२) तथा गंगावतरण (ना० शा० ४।१६९) करणो का क्रमशः सम्पादन करना। इसी प्रकार वाम हस्त से सूची के प्रयोग द्वारा अर्धसूची करण (ना० शा० ४।१३८) का तथा विक्षेप से दण्डसूची करण (ना० शा० ४।१४३) का संकेत समझना चाहिए। दक्षिण हस्त को वक्ष पर न्यस्त रखने से चतुर करण (ना० शा० ४।३९) तथा त्रिक के घुमाव के भ्रमरक करण (ना० शा० ४।९९) का प्रयोग सूचित किया है। इसके उपरान्त क्रमशः नुपूर (ना० शा० ४।९७) आक्षिप्तक (ना० शा० ४।११६), अर्धस्वस्तिक

(ना० शा० ४।८३), नितम्ब (ना० शा० ४।१४६), करिहस्त, उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५) तथा अन्त में कटिच्छिन्न करण को प्रस्तुत किया जाता है।

(३१) अपसर्पित

२४०–२४२. इस अङ्गहार के आरम्भ में अपक्रान्त क्रम के प्रदर्शित करने का आशय है अपक्रान्त करण (ना० शा० ४।१४०) का प्रयोग करना। इसके पश्चात् हाथों को वक्ष पर न्यस्त करते हुए *व्यंसित करण* (ना० शा० ४।१०६) को तथा हाथों को उद्वेष्टित प्रक्रिया में सञ्चालित करते हुऐ करिहस्त करण (ना० शा० ४।१४८) को प्रस्तुत करना चाहिए। यहाँ इसके बाद क्रमशः अर्धसूची (ना० शा० ४।१३८), विक्षिप्त (ना० शा० ४।११६) एवं कटिच्छिन्न करण (ना० शा० ४।७६) को प्रस्तुत करना चाहिए। यहाँ उद्वृत्त का अर्थ है उद्‌वृत्त करण (ना० शा० ४।१५६) को प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् अन्त में क्रमशः आक्षिप्त (ना० शा० ४।१३८), करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रस्तुत किया जाता है।

(३२) अर्धनिकुट्टक

२४२–२४४. इस अङ्गहार के आरम्भ में *नुपूरपादचारी* (*ना० शा०*) मे चरणों को न्यस्त कर नुपूर-करण (ना० शा० ४।९७) को तथा हस्तपाद को आक्षिप्त करते हुए विवृत्त करण (ना० शा० ४।१२२) को प्रस्तुत करना चाहिए। इसके पश्चात् चरणों की गति के अनुसार त्रिक को घुमाव देते हुए भ्रमरीचारी को प्रस्तुत किया जाए तथा हस्त एवं पादो को निकुट्टित प्रक्रिया मे संचालित करते हुए निकुट्टक (ना० शा० ४।६९) तथा अर्धनिकुट्टक (ना० शा० ४।७०) करणों को प्रस्तुत करते हुए अन्त मे उरोमण्डल (ना० शा० ४।११५), करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणो को प्रस्तुत किया जाए।

इस प्रकार विभिन्न करणों से अङ्गहार निष्पन्न होते हैं जिसे बतलाया जा चुका है। इन प्रत्येक करणो के सम्पन्न करने में जो समय लगेगा उसका मिलाकर जो प्रमाणानुसार समय होगा वही एक अङ्गहार मे लगने वाला समय माना जाएगा।

ये अङ्गहार छः, बारह या चौबीस करणो से निष्पन्न होनेवाले होते हैं। इनमें सन्धिकाल के आधार पर मात्रा, ताल तथा कला के प्रमाणानुसार एक

या दो करणो को प्रविष्ट करवाने का प्रयोग रखा जाए जो सोलह मात्रा तक के प्रमाण का हो सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्व अभिहित कुछ अङ्गहार सोलह करणो वाले होने से बडे आकार वाले हैं। इसकी चतुरस्र ताल रखी जाती है। इनकी सख्या सोलह है। इनमे किसी एक के न्यून होने पर किसी अन्य से ताल क्रिया लेते हुए ताल प्रमाण की पूर्ति की जाती है।

इस अङ्गहारो मे अपविद्ध, उद्घटित, विष्कम्भ, विष्कम्भापसृत, स्वस्तिक-रेचित वृश्चिकापसृत, मत्तस्खलित, मत्तमण्डल, परिवृत्तकरेचित, परावृत्त, अलातक, उद्वृत्तक, रेचित, आक्षिप्तरेचित, सम्भ्रान्त तथा अर्धनिकुट्टक त्र्यस्र ताल वाले होते हैं। ये सोलह हैं। इसी प्रकार अवशिष्ट सोलह अङ्गहार चतुरस्रताल वाले होंगे जो मिलकर बत्तीस हो जाएंगे।

इसी प्रकार स्थूल दो विभागो (चतुरस्र तथा त्र्यस्र) एव अवान्तर सोलह विभागो मे विभक्त इन अङ्गहारो का पूर्वरङ्ग बहिर्यवनिकागत उत्थापना से प्ररोचना पर्यन्त अङ्गो मे प्रयोग होने के कारण भी बत्तीस प्रकार हो जाते हैं। यह कुछ आचार्यो का मत है। अन्य आचार्यों का मत है कि चार नर्तकियो के प्रत्येक के प्रयोगो से चार प्रकार बनकर फिर पिण्डीबन्ध, रेचक, न्यास तथा अपन्यास प्रकारो से युक्त होने पर (अन्त मे) बत्तीस प्रकार बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे आचार्यों का मत है कि अङ्ग तथा वस्तु से निबद्ध गीतो की वस्तु तीन प्रकार की होती है। अर्धमानक के नौ, आसारित के चार एव पाणिका का एक प्रकार है। इस प्रकार ब्रह्मगीति की विचित्रता बत्तीस प्रकार से सुशोभित होती है तथा उन्ही के प्रयोगो को अपने स्वरूप मे रखने वाले होने के कारण अङ्गहारा की सख्या भी बत्तीस ही मानी गयी है।

रेचक

करणो तथा अङ्गहारो मे अगरूप मे रेचको के प्रयोग को बतलाया जा चुका है पर नृत्त तथा नृत्य के अनेक प्रयोगों मे भी इनकी योजना रखी जाती है। इसके अतिरिक्त सुकुमारगति तथा वाद्यगत प्रधानता रखने वाले प्रयोग भी 'रेचक' से युक्त रहते हैं। इस कारणो से 'रेचकों' का स्वतन्त्र महत्त्व भी है। रेचन या रेचित–प्रक्रिया अङ्गो के पृथक् पृथक् व्यवस्थित स्वरूप मे वलन को (चक्राकार घुमाव) कहा जाता है। अतएव इसकी वैशाखमण्डलस्थान या वैशाखरेचितकरण और चारी से भिन्नता स्पष्ट है, यद्यपि इन करणों, मण्डलो तथा चारियो म भी अङ्गरूप में इनका प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी नही समझ लेना चाहिए कि करण, अङ्गहार एव रेचको का केवल पूर्वरङ्ग के अङ्गो मे ही प्रयोग होता है किन्तु ये अन्यत्र किये जाने-

वाले नृत्यादि प्रयोग में भी उपयोगी होते हैं। इसके अतिरिक्त देवगण के प्रीत्यर्थ भी अङ्गहार, करण एवं रेचकों का प्रयोग किया जाता है।

इनके रेचक होने का कारण मुनि ने स्वयं ही निर्दशित कर दिया है। इनके चार प्रकार ये हैं —(१) पादरेचक, (२) कटिरेचक, (३) हस्त-रेचक तथा (४) ग्रीवा रेचक।

पाद-रेचक—इसमें विविध प्रकम्पित या स्खलित गति में पैरों को अलग-अलग एक के पास दूसरे को एक बाजू से दूसरी बाजू में सचालित करना होता है।

कटि-रेचक—इसमे त्रिक को ऊपर उठाना, घुमाव देना, पीछे हटाना (अपसर्पण) तथा चक्राकार गति मे सचालित करना होता है।

कर-रेचक—इसमे हाथों का ऊपर उठाना, फेंकना (परिक्षेप), आगे की ओर करना, फैलाना तथा गोल घुमाव मे सचालित करना होता है।

ग्रीवा-रेचक—इसमे ग्रीवा को ऊपर की ओर उठाना, ताडना, नीचे झुकाना, एक बाजू मे झुकाना तथा गोल-घुमाव मे सचालित करना होता है।

२५२–२५४ मुनि ने पुराकथा के साथ यहाँ पिण्डीबन्ध के अवतरण को निर्दशित किया है। पिण्डीबन्ध नृत्य की एक आकृति विशेष है जिसमे करण तथा अङ्गहार विनियोजित होते हैं। अभिनवगुप्तपाद ने आकार सादृश्य को पिण्डीबन्ध कहा है। उनका मत है कि इस आकारगत वैशिष्ट्य को ही ध्यान म रख कर प्रयोगानुसार इसमे स्वरूप रखे गये हैं।

इस प्रकार ये पिण्डीबन्ध आधार, अङ्ग, प्रयाग तथा साधनगत विभिन्नता के कारण अनेकप्रकार के हो सकते हैं। आधार से आशय है स्थानगत विभेद। यह विभेद पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल आदि लोकों के कारण सात प्रकार का होता है। इसी तरह दो हाथ, दो पैर, दो नेत्र तथा एक मस्तक इस प्रकार अङ्गगत सात विभेद हैं। एक या एकाधिक प्रयोक्ता होने से प्रयोक्तागत विभेद हो जाते हैं जो सम एवं विषम प्रयोग भेद से युक्त होकर चार प्रकार के हो जाते हैं। ये चार विभेद करणों तथा अङ्गहारों से सम्पादित होकर अनन्त भेद धारण कर लेते हैं। इस प्रकार अनन्तभेद बनने पर भी प्रधान देवगण के नाम पर होनेवाले पिण्डीबन्धों का ही भरतमुनि ने उल्लेख किया है।

२५५–२६१, इन पिण्डीबन्धों के द्वारा देवगण का परितोष भी होता है तथा इनके मध्य इन्हीं देवताओं के आयुध, वाहन, कर्म तथा भावों का अङ्गों द्वारा अभिनय भी प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ तलपुष्पपुट-करण के

कर्म से भगवती का, निस्तम्भित करण से भगवान शिव का, निकुट्टक करण के प्रयोग से उनके त्रिशूलाकृति शस्त्र का, गरुडप्लुतक से तार्क्ष्यगति का तथा गगावतरण करण से धाराविण्डी का, नागापसर्पित करण से भोगिपिण्डी तथा स्थिरहस्त अङ्गहार से वैसे आकारवाले त्रिशूल, शिवलिङ्ग आदि विभिन्न पिण्डीबन्धों का अभिनय किया जा सकता है तथा रेचित अङ्गहारों के प्रयोग से सभी कथित आधारों के अनन्त प्रकारों का अभिनय होता है। नन्दिकेश्वर ने कहा भी है।

> रेचिताख्योऽङ्गहारो यो द्विधा तेन हरोऽयत ।
> तुष्यन्ति देवतास्तेन ताण्डवे त नियोजयेत् ।।

[रेचित नामक जो दो अगहार (रेचित तथा आक्षिप्तरेचित) हैं उनके प्रयोग से देवगण प्रसन्न होते हैं अतएव ताण्डव मे इनकी योजना की जाए।] और इस प्रकार यह तथ्य सक्षेप मे आगमोक्तसिद्धान्त के सरक्षण हेतु यहाँ भी सकेतित किया गया है।

२६१–२६२ भगवान महेश्वर द्वारा रेचक, अगहार तथा पिण्डीबन्धो की सृष्टि कर उन्हे तण्डु को प्रदान करने का आशय है करणो का प्रयोग तथा स्वरूप दिखलाना। नृत्य के इस आरम्भिक उपकरण के प्राप्त हो जाने पर तण्डु ने गीत तथा वाद्ययन्त्र के सम्मिश्रण या सहकार से ताण्डव नृत्य प्रयोग का निर्माण किया अतएव इस करणाश्रित प्रयोग का तण्डु के नाम पर ताण्डव नामकरण भी हो गया।

इस प्रयोग मे नृत्त (या नृत्य) के साथ गीत एव वाद्य मिल कर चलते हैं इसी कारण वैयाकरणो ने इसकी 'तण्डोरय ताण्डव' व्युत्पत्ति की।

भाण्ड शब्द का अर्थ है वाद्ययन्त्र। इसकी व्युत्पत्ति है—'भणति शब्द करोतीति भाण्डम्'। अर्थात् जो शब्द करता हो ऐसा अवनद्ध वाद्ययन्त्र भाण्ड कहलाता है।

२६३–२६४ आत्रेय आदि मुनियों ने यहाँ भरत मुनि के समक्ष आवश्यक प्रश्न उपस्थापित किया है कि नृत्त नाट्य से भिन्न है या अभिन्न। यदि भिन्न है तो इसके पृथक् प्रयोजन कौन होंगे ? या यह प्रयोजन–विहीन है। ये दोनो भिन्न नहीं है क्योकि अगविक्षेप रूप नृत्त एव गतिगत साम्य दोनो मे विद्यमान है। अभिनय-प्रयोग (नाट्य) में गाये गये गीत वाक्यों के अर्थों की अभिव्यक्ति की जाती है एव रस से सयुक्त भावों का अविकल दर्शन होता है

किन्तु नृत्त केवल आंगिक हस्तचलन मात्र होता है। अतएव इसकी वास्तविक प्रकृति क्या हो सकती है। क्योंकि वार्तिककर ने कहा भी है —

'वाच्यानुगतेऽभिनये प्रतिपाद्येऽर्थे च गात्र वक्षेपे ।
उभयोरपि हि समाने को भेदो नृत्तनाट्ययोगानयो ॥'

[अभिनय मे वाणी का अनुसरण करते हुए अर्थ को अभिव्यक्ति करने मे गात्र विक्षेप होता है तथा नृत्त मे भी अगसञ्चालन किया जाता है अतएव इतनी दोनो में जब समानता है तो फिर नृत्त एव नाट्य मे भेद क्या होगा ?]

इस प्रश्न का सार यह है कि नाट्यकला मे अभिनय की महत्त्वपूर्ण स्थिति निश्चित है तो फिर उसी के साथ नृत्त प्रयोग की विशेष आवश्यकता क्यो होगी ? और यदि नृत्त प्रयोग केवल अगसचालन मात्र है तो यहाँ इसकी सगति कैसे बनेगी ? क्योकि यह अर्थों का भावक होता है, प्रापक नहीं।

२६५–२६८ भरत मुनि ने इसके उत्तर मे बतलाया कि शोभाधायक होने के कारण नृत्त प्रयोगयोग्य है। यद्यपि इसमें अर्थ की अपेक्षा नही होती किन्तु जब यह प्रवृत्त होता है तो अपने आंगिक विक्षेपों एव विलासपूर्ण चेष्टाओ के समृद्ध प्रयोग के द्वारा विचित्रता एव सौन्दर्य की विशिष्ट उद्भावना करता है। यह उद्भावना गेयपदो या भावादि के वाचिक कथात्मक अभिनय से सम्पन्न नाट्य की अपेक्षा विलक्षण है जिसमे गीत के पदो के अर्थों की व्यञ्जना अपेक्षित नही होती। इसी कारण नृत्त की पृथक् प्रवृत्ति मानी जाती है।

इसके अतिरिक्त नृत्त मे रञ्जकता एव लोकप्रियता भी होती है और प्राय समाज भी इसम सहजभाव से रुचि लेता है तथा इसे देखने को लालायित रहता है। अतएव विशिष्ट सामाजिक उत्सवों आदि के अवसर पर इसका स्वतन्त्र प्रयोग होने से नाट्य के समान नृत्त भी विनोद या मनोरञ्जन का उपपादक होकर प्रवृत्त हुआ है यह स्पष्ट हो जाता है।

२६९–२७१ 'देव' शब्द यहाँ विशेष अर्थ के सकेतार्थ प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है वे भगवान् शिव जिसके द्वारा तण्डु को गति प्रयोग का आश्रय लेकर निष्ठा से नृत्त में प्रवृत्त का उपदेश दिया गया। गीत का अर्थ है काव्य। क्योंकि अगविक्षेपात्मक नृत्त में काव्य या गीत के अभिनय का आधार लेकर प्रवृत्त होने पर प्रयोग और सुन्दर बन पड़ेगा। आचार्य कोहल ने कहा है कि—

'नाट्योक्त्याभिनयेनेद वत्स योजय ताण्डवम्'।

['अर्थात् भगवान् शिव ने तण्डु को नाट्यगत वर्णादि कथन के अभिनय के साथ ताण्डव की योजना करने का आदेश दिया।']

इस ताण्डव का संयोजन देवताओ की स्तुति के प्रसग मे होना है पर नृत्त के सुकुमार प्रयोगो को लेकर शृगाररस की भी इसमे अवतारणा की जा सकती है। ऐसे प्रभूत नृत्तात्मक प्रबन्ध है जिनमे अभिनय या नाट्यात्मकता नही होती परन्तु इनमे सुकुमार, मसृण एव उद्धत नृत्त का प्रयोग सम्भव है। शृङ्गाररस से पूर्णत अथवा अशत उद्भूत होने से मसृण नृत्त का प्रयोग होता है। यद्यपि रस की स्थिति नाट्य के बिना सम्भव नही मानी गयी है तथापि काव्य से अभिनय की निष्पत्ति होने से रस की स्थिति सम्भव होगी। मसृण नृत्त इसी कारण शृङ्गाररस से पूर्ण है क्योकि इसमे जो अभिनयात्मक नाट्यप्रयोग होते हैं वे रसो के अश हैं। शुद्ध नृत्त मे गीत की सयोजना भी की जाती है तथा ऐसा प्रयोग रागकाव्य कहलाता है जिसमें सुन्दरता से कथा का निर्वाह रहता है। यही अभिनेय नाट्यप्रयोग 'काव्य' (कहलाता) है। जैसा कि आचार्य कोहल ने बतलाया भी है —

> 'लयान्तरप्रयोगेण रागैश्चापि प्रयोजितम्।
> नानारस सुनिर्वाहारस काव्यमिति स्मृतम् ॥'

[अर्थात जिसके अन्तर्गत गीत के साथ लय एव ताल का प्रयोग होता हो तथा जिसमे रसों का निर्वाह करते हुए कथा का निवेश करते हुए प्रयोग होता हो तो उसे 'रागकाव्य' समझना चाहिए।] 'राग' गीत्यात्मक होने से स्वर का आधार ग्रहण करता है पर काव्य जब इसी राग का आधार ग्रहण करेगा तो वही 'रागकाव्य' कहलाएगा।

इस प्रकार नृत्त का शुद्ध स्वरूप है रेचक एव अङ्गहारो से निर्मित होना एव पुन गीत एव अभिनय के प्रति उन्मुख होना। इसकेउपरान्त गान क्रिया एव वाद्यादि का अनुसरण करने वाला भी 'नृत्त' होगा। इस प्रकार भगवान् शिवजी के द्वारा उपदिष्ट इस 'नृत्त' का जो पर्याप्त विकास एवं स्वरूप विस्तार हुआ वही 'ताण्डव' है जिसे पूर्व मे निदर्शित किया जा चुका है।

२७२. *अङ्गहारो का प्रयोग पूर्वरङ्ग मे होता है तथा पिण्डीबन्ध एव* रेचको से युक्त अङ्गहार होते हैं यह पूर्व मे बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त अङ्गहारो के अगभूत करण एव नृत्त का भी इसी क्रम मे स्वरूपादि निदर्शित किया गया। अब यहाँ प्रकृत विचार यही उपस्थित होता है कि इन अङ्गहारो का कैसे प्रयोग हो। हम यह बतला आये हैं कि इसका प्रयोग पूर्व-रङ्ग के अवसर पर होता है तथा यही ताण्डवनृत्त की भी योजना की जाती है। अङ्गहारो से युक्त इसी ताण्डवनृत्त का जब प्रयोग होता है तो उसम वर्ध-

मानक अवश्य रहता है। इस वर्धमानक के ज्ञान के बिना ताण्डव का प्रयोग सम्भव नहीं होता, इसलिए सर्वप्रथम वर्धमानक का स्वरूप बतलाना उचित है। इसके बाद ही गतिविधि बतलायी जा सकती है।

वर्धमानक में कलाओं की वृद्धि का उल्लेख मुनि ने किया है। तदनुसार सत्रह कलाओं का कनिष्ठ, तैंतीस कलाओं का मध्यम एवं पैंसठ कलाओं का ज्येष्ठ वर्धमानक समझना चाहिए। इन कलाओं की संख्यावृद्धि से लय में वृद्धि होती है और कला एवं अक्षरों की वृद्धि के अनुसार नर्तकियों की संख्यावृद्धि भी की जाती है। उदाहरणार्थ प्रथम आसारित में एक नर्तकी प्रयोग प्रस्तुत करती है तो द्वितीय में दो नर्तकियाँ और आगे भी इसी क्रम से वृद्धि होती जाती है।

२७३-२७४. कुतुप का अर्थ है चारों प्रकार के वाद्य यन्त्र के एवं उनके वादक। इनका विशेषतः न्यास अर्थात् यथायोग्य स्वर, ताल, लय तथा कला आदि में सन्निवेश ही 'कुतुपविन्यास' कहलाएगा। यह प्रत्याहार, अवतरण आदि से लेकर आसारित तक चलता है। जब यह सुनियोजित एवं पूर्ण हो जाता है तभी प्रयोक्तागण के द्वारा आसारित एवं नृत्त का सम्पादन सम्भव होता है।

२७४-२७५. आसारित के पश्चात् उपोहन विधि सम्पादित की जाती है। कनिष्ठा-सारित में पाँच कलाओं के प्रमाणवाला शुष्काक्षर प्रयोग 'उपोहन' कहलाता है। यह उपोहन तन्त्री पर गान के साथ सम्पन्न होता है। यहाँ गान से आशय है जो बाँसुरी एवं वीणा पर बजायी जा सकती हो ऐसी धुन। इस उपोहन क्रिया की समाप्ति पर नर्तकी का प्रवेश होता है तथा इस प्रवेश के साथ (ही) भाण्डवाद्य का वादन (आरम्भ) किया जाता है।

२७५-२७६ वाद्यों पर जिन विशुद्ध करण एवं जातियों के प्रयोग का निर्देश यहाँ किया गया है उनका ना० शा० ३४।१३६-१३८ पर विशद निरूपण किया गया है। यहाँ वाद्यों के अनुसार चलने वाली तलानुसार गति से चारी के प्रयोग का संकेत दिया गया है। वैशाखस्थानक का अर्थ है वैशाख-रेचित करण का प्रयोग करना, पुष्पाञ्जलि लेकर प्रविष्ट नर्तकी के द्वारा प्रवेश के समय तलपुष्पपुट करण का प्रयोग करना चाहिए।

२७७-२७८. यह नर्तकी रंगपीठ पर चारों ओर घूमते हुए पुष्पों को बिखेरे एवं देवगण को प्रणाम करे। इसके पश्चात् आङ्गिक चेष्टाओं के द्वारा सम्पादित अभिनय को प्रस्तुत किया जाए। यह प्रयोग भक्ति प्रदर्शन के लिये किया जाता है। यहाँ अभिनय पद से आशय है आसारित का पदार्थ वाक्यार्थ

विषयक वह भावप्रदर्शन जो स्वय के अभिमुखीनयन हेतु सम्पन्न होता है। यह अभिनय सामाजिको के रञ्जनार्थ प्रस्तुत नहीं किया जाता।

२७८–२७९. अङ्गहारो के प्रयोग के अवसर पर भाण्डवाद्यो का प्रयोग अर्थात वादन करने से आशय है केवल अङ्गहारो के प्रयोग के समय वाद्यवादन सुन्दर होना चाहिए क्योंकि अङ्गहार अभिनयशून्य होते हैं। ऐसी दशा मे नृत्त की प्रमुखता रहती है और तदनुसार रहने वाले वाद्यवादन को विशेष सावधानी से रखना आवश्यक हो जाता है।

२७९–२८० वाद्यो का एव इनके वादन विधान का नाट्यशास्त्र के ३१ वें अध्याय मे विस्तार से निरूपण किया गया है। तदनुसार सम का अर्थ है वाद्ययन्त्र मे प्रयुक्त अक्षर, अग, ताल, लय, यति, पाणि, ग्रह तथा न्यास नामक आठ प्रकारो से काल एव देश की समता रखना। इसी योग के कारण होनेवाली वाद्यगत हृद्यता 'रक्त' कहलाती है, जो माधुरी आदि त्रिविध मार्जनाओ के योग से होती है। वर्ण तथा पाणि का विस्पष्ट विभाजन 'विभक्त' कहलाता है। वादन के समय ककारादि वर्णों की स्पष्टता को 'स्फुट' कहते हैं जिसमे नृत्त के (अगहार तथा करणादि के) अगो का सुस्पष्ट अनुसरण या अनुहरण होता है। मृदङ्गवादन के समय इन सभी की अपेक्षा होती है। इनका सलक्षण विवेचन ना० शा० के ३३ वें अध्याय मे विस्तारपूर्वक प्राप्त है।

२८०–२८२ यहां 'पृथक्' शब्द से प्रत्येक नर्तकी का क्रमिक प्रवेश सकेतित किया गया है अर्थात् क्रमश प्रविष्ट होकर नर्तकियां आसारित प्रयोग को सम्पन्न करें। आसारित के कनिष्ठ आदि चार प्रकारो का सख्या के अनुसार चार नर्तकियो द्वारा भिन्न क्रम मे प्रयोग रहना चाहिए। यह प्रयोग जब पृथक या भिन्न क्रम मे वाद्यानुसारी किया जाता है तो 'पर्यस्तक' कहलाता है। इसमे पूर्वप्रविष्ट नर्तकी दूसरी नर्तकी के आने पर हट जाती है तथा इस प्रकार क्रमश पृथक्-पृथक् चारो नर्तकियां अपना नृत्त प्रयोग प्रस्तुत करती है। पर्यस्तक मे अभिनयशून्य स्थिति होती है किन्तु पिण्डीबन्ध मे वस्तु या भाव का अभिनय आ जाता है तथा पिण्डीबन्ध के पश्चात् नर्तकियो को मञ्च से निष्क्रमण करना आवश्यक होता है।

२८३–२८५ 'चित्र' का अर्थ है अनेक प्रकार से एव विचित्रता लिये हुए। 'ओघ' का लक्षण है—'ओघो विलम्बित-लये मुख्ये एको द्रुतो लय।' (ना० शा० अभि० भा० vol iv पृष्ठ ४२१) अर्थात् विलम्बित लय के मुख्य रूप में रहते हुये जिसमें एक वार द्रुत लय मे वाद्यवादन का सम्पादन होता हो उसे 'ओघ' समझना चाहिये। यह नदी के वेग की तरह सभी भाण्ड-

वाद्यों पर होता है एवं यह वाद्यवादन किसी एक करण पर आश्रित नहीं होता तथा उपरिपाणि प्रहत होता है। ओघ की अन्य संज्ञा 'चतुष्क' है। भूय पद से यह भी संकेतित किया गया है कि यहाँ उपवहन का प्रयोग कनिष्ठासारित से अधिक प्रमाणवाला रहने से षट्कला प्रमाण वाला रखा जाता है तथा प्रसङ्गवश अधिक लय एवं गति भी रहती है।

२८६–२८७ इसके उपरान्त तृतीय एवं चतुर्थ आसारित का प्रयोग करते हैं जिसमें पूर्ववत् नर्तकी प्रवेश कर पूर्ववर्णित विधि से नृत्तप्रयोग सम्पन्न करती है। इस समय भाण्डवाद्यवादन तथा गीत के साथ साथ पद पद पर आसारित (नृत्तप्रयोग) होता है। गीत की वस्तु का क्रमश: प्रथम पाद एक बार, दूसरे का दो बार, तीसरे का तीन बार एवं चौथे का चार बार गान करते हैं। अतएव इसका गीत के चार पाद या खण्ड भी अर्थ लिया जा सकता है। ये हैं—मुख, प्रतिमुख, शरीर तथा संहरण। इनका आश्रय लेकर वर्धमानक में आसारित का चार बार प्रयोग या आवर्तन करते हैं। यहाँ वस्तु का अर्थ है अङ्ग।

२८९. पिण्डीबन्ध के प्रकार या भेदों का क्रमिकता लिये हुये आसारित में प्रयोग किया जाता है यह बतला चुके हैं। जिनमें सर्वप्रथम भेद सामान्य-प्रकार का होने के कारण इसका 'पिण्डी' नाम रखा गया है। यह विशेषता हीन एवं एकजुट होकर प्रयोग करने योग्य होता है क्योंकि इसमें नर्तकियाँ सम्मिलित नृत्त सम्पन्न करती हैं, ये जब एक दूसरे का हाथ ग्रहण करें नृत्त करती हैं तो (यही) शृङ्खलिका का प्रकार बन जाता है एक दूसरे की भुजाओं को लतावत् जकड़ कर नृत्त करने पर लताबन्ध नामक प्रकार तथा अलग बिखर कर या हट कर नृत्त प्रस्तुत करने पर भेद्यक नामक चतुर्थ प्रकार बन जाता है। भावप्रकाशन में शारदातनय ने यही पिण्डीबन्धों का स्वरूप माना है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी इस नृत्त को सामूहिक मान कर इस प्रयोग को सजातीय एवं विजातीय स्थिति में विभक्त किया है। इनके मत में एक नाल में आबद्ध कमल सदृश स्वरूप वाला सजातीय तथा हंस के द्वारा मुख में पकड़े गये सनाल कमल सदृश नृत्त विजातीय है, तीसरा प्रकार जाल के समान विचित्रता (या बुनावट) लिये हुये होने से सजातीय तथा फिर इसी स्थिति से बिखर जाना या हटना विजातीय होकर चतुर्थ प्रकार बनाता है।

२९०–२९१ इस पिण्डीबन्ध को आधार भेद से आसारित में निष्पन्न करते हैं। तदनुसार कनिष्ठ आसारित में पिण्डीबन्ध का, इसी में लय भेद से शृङ्खला का, मध्यम आसारित में लताबन्ध का तथा ज्येष्ठ आसारित में भेद्यक का प्रयोग किया जाता है।

२९२-२९३ यह एक तो वाद्यन्त्र के प्रयोग के आधार पर और दूसरे भद्रासन अर्थात् पैरो से ताल देने की स्थिति के आधार पर निष्पन्न होता है। अतएव यह विधिवत् प्रशिक्षण तथा सुदीर्घ अभ्यास के बिना प्रस्तुत नहीं किया जाना चाहिये।

अतएव गीत, अङ्ग, वाद्य, नर्तकी एव पिण्डीबन्ध आदि के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जायगा कि नाट्य, नृत्य एव नृत्त प्रयोगाश्रित एव आश्रित से है और व्यवस्थित शिक्षण एव अभ्यास होने पर ही उत्तमता से प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

२९४-२९७. यहाँ प्रधानतया गीतकों का विधान एव गीतकाश्रित छन्दकों की भी विधि निर्दिशित को गयी है। गीतक में विद्यमान वस्तु तथा अङ्गों का जिसमे स्वेच्छापूर्वक एक या दो के नियम को न देखते हुये यदि प्रयोग किया जाए तो वे छन्दक कहलाते हैं। ये नृत्त तालात्मक स्वरूप वाले होते हैं। गीत के खण्ड को वस्तु एव उसके स्वरूप अशो को अङ्ग कहते हैं। वस्तु निबद्ध गीतक के तीन प्रकार माने जाते हैं—(१) मद्रक, (२) परान्तक तथा (३) प्रकरी। अङ्गकृत या अङ्गनिबद्ध गीतक हैं—उल्लोप्यक, रोविन्दक, ओवेणक तथा उत्तर।

अब हम इनकी प्रयोगगत अर्थात् नृत्त एव वाद्यन्त्रों में योजना का विधान बतलाते हैं।

प्रथम वस्तु आदि से गीतक के प्रयोग मे उपोहन करना 'क्षेप' कहलाता है तथा द्वितीय वस्तु से गीतक के प्रयोग म प्रत्युपोहन करना 'प्रतिक्षेप' होता है। प्रथम वस्तु मे आक्षिप्तिका एव उपोहन का प्रयोग करते हैं तदनन्तर नर्तकी का प्रवेश होता है और फिर द्वितीय वस्तु मे प्रत्युपोहन विधि सम्पन्न की जाती है। नर्तकी के अवतरण के समय सभी वाद्यन्त्रो से वादन रहना चाहिये।

२९७-२९८ यहाँ आसारित मे होनेवाले नृत्त, अभिनय एव वादन की पूर्वकथित विधि को सम्पन्न करते है। तदनुसार जैसे आसारित में नियमत नर्तकियो की सख्या-वृद्धि का क्रम रहता है और इसमे एक नर्तकी का अभिनय प्रयोग रखते हैं। यहां नृत्त के साथ भाण्ड आदि वाद्यन्त्रों का वादन एव गीतक के प्रयोग मे वस्तु की प्रथम द्वितीय सख्या के अनुसार नर्तकियो की सख्यावृद्धि का क्रम रखा जाता है। वस्तु निबद्ध गीतो की यही विधि मानी गयी है।

२९८-३००. अङ्गों से निबद्ध होने वाले छन्दक गीतो मे गीतक के अनुरूप प्रयोग-विधान इष्ट होता है तथा नृत्त, अभिनय एव वाद्यवादन की यही शैली अभिमत है।

३००-३०१. गुरु शब्द से ,दो मात्रा के बराबर काल तथा लघु या अल्प शब्द से एक मात्रिक काल का ग्रहण होता है परन्तु अर्धमात्रा का काल भी अल्प शब्द से ले लिया जाता है। 'मुख' से यहाँ आशय है छन्दक के आरम्भ मे किये जाने वाले उपोहन का वस्तु से सम्बद्ध गान। उपोहन मे स्थायी स्वर के आधार पर आगे के स्वरो का स्थापन करते हैं। यहाँ मुख वस्तु से एव पोहन को गान से सम्बद्ध माना जा सकता है।

३०१-३०२. जब मागधी, अर्धमागधी आदि गीतकों के प्रथम-द्वितीय पादभागो के अशो को दोहराया जाए तो उसके आरम्भिक अश को अभिनय से एव अवशिष्ट अङ्ग को नृत्त से व्यक्त या प्रदर्शित किया जाता है। आवर्तन किये जाने वाले शेष अङ्ग शुद्ध नृत्त के साथ प्रयोग में आते हैं अत केवल वस्तु या अङ्ग आदि की समाप्ति पर ही नृत्त नही होता किन्तु मध्यवर्ती अङ्गो के समय भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

३०२-३०३. गीतक के प्रयोग मे जब उनके अश दोहराए जाएँ तो उसके साथ त्रिपाणि और त्रिविध लय के साथ वाद्यवादन रहना इष्ट है। तीन प्रकार के पाणि ताल म प्रयुक्त होते हैं। इसके नाम हैं—सम, अर्धपाणि तथा उपरिपाणि। सगीत एव नृत्त के साथ चलने वाला ताल समपाणि, बाद मे रखा गया अर्धपाणि या अवपाणि और पूर्व मे प्रयुक्त उपरिपाणि कहलाता है। इसका विस्तार से विवेचन तालाध्याय (ना० शा० अध्या० ३३) में किया गया है। इसी प्रकार छन्द, अक्षर तथा पदों की समता 'लय' कहलाती है जिसके कला एव कालान्तरभेद से द्रुत, मध्य तथा विलम्बित भेद होते हैं। यही यति मार्ग आदि का भी बोधक होता है।

प्रथम आवर्त मे काव्य या गीत के अर्थानुसारी अभिनय के अनुसार अङ्गों को द्रुत आदि लय का उचित अनुसरण करते हुये रखा जाए। यहाँ कुछ आचार्यों का मत है कि त्रिपाणि एव लय समन्वित वाद्यवादन के अनुसार ही गीत की लय रखी जानी चाहिये।

३०४-३०७. ये साढे तीन पद्य प्रक्षिप्त है। सप्त गीतो मे से यहाँ आसारित, गीतक तथा छन्दक का ही विचार करते हुये उनका विधान क्रम बतलाया गया है।

३०८ इस पद्य को दूसरे प्रकार से भी व्याख्या की जा सकती है। छन्दक आदि गीतों के साथ सम्पन्न होने वाले लयानुसारी जिस नृत्तप्रयोग का पूर्व मे वर्णन हुआ है वह देवस्तुति का आश्रय लेकर प्रवृत्त होने वाला होता है। किन्तु जो अब बतलाया जा रहा है वह सुकुमार प्रयोग है। अर्थात् इसके पूर्व आसारित आदि के साथ किया जाने वाला नृत्त प्रयोग 'उद्धत' था। अब

'मसृण या सुकुमार बतलाते हैं। यह प्रयोग शृंगाररस से उत्पन्न होता है तथा शृङ्गाररससे समन्वित भी। सुकुमार काव्य के आश्रय पर सुकुमार गीत एवं तदन्तर्गत नृत्त प्रयोग का भी विधान रहता है।

३१०. जब गीत क्रिया के विस्तार करने वाले स्थायी आदि वर्णों की—जो गीत के आलंकारिक अंश हैं—निवृत्ति अर्थात् समीपतर स्थिति हो तो ऐसी अवस्था मे नृत्त का प्रयोग करना चाहिये। अङ्ग, वस्तु तथा वर्ण के परिवर्तन आदि के साथ वाद्यगत वैचित्र्य की उद्भावना करते हुये यहाँ नृत्तप्रयोग सम्पन्न करना हुए है। अंग वस्तु का आशय यह है कि जहाँ गीत के अङ्ग की अर्थात पाद की निवृत्ति हो तो ऐसी दशा मे नृत्तप्रयोग सम्पन्न किया जाए। अङ्ग-वस्तु के भिन्न क्रम के अवधारण में भी नृत्त प्रयोग करना चाहिये।

३११–३१२ नायक एवं नायिका की प्रणयाश्रित स्थितियों मे जैसे आशा बँधाने वाले दूती के वचन, दम्पति के कामजन्य पारस्परिक प्रणयारोप तथा प्रहर्ष के अनुरूप उल्लासपूर्ण अन्य आन्तरिक प्रवृत्तियो के अवसर पर 'नृत्त' का प्रयोग करना चाहिये। इसी प्रकार गीयमान काव्य मे कान्ता का सामीप्य, वसन्त ऋतु तथा चन्द्रोदय आदि का अनुकूल समय हो तो ऐसे प्रसंग पर भी 'नृत्त' का प्रयोग किया जाए।

३१३. 'अङ्ग' शब्द का यहाँ आशय है गीत का आधारभूत पद्यखण्ड या नाटकीय कथा का एक अंश। इन अवस्थाओ मे नृत्त प्रयोग नहीं रखा जाता है।

३१४ नायिका के समीप प्रिय के न रहनेसे उनकी दशा विरहोत्कण्ठिता या वासकसज्जा की सूचित की गयी है। सखीजन से वार्तालाप का आशय है नायिका का अपने वियुक्त या विदूर प्रियतम से मिलन हेतु अभिलाषा या संकल्प की भावना मे सखी के साथ स्थित रहना। ऐसी परिस्थितियो मे भी 'नृत्त' की योजना नहीं की जाती है।

३१६. प्रिय के असन्निहित रहने पर भी नायिका को हर्षोपलब्धि सम्भव है। जैसे मिलन की सम्भावना होना, प्रिय के प्रवास से लौटने के समाचार मिलना, या शुभशकुन दिखलाई देना। यहाँ भी 'अंग' शब्द से गीत का अंश तथा नाटकीय कथावस्तु का एक अंश प्रसंगानुसार समझना चाहिये।

३१७ यहाँ 'अङ्ग' का अर्थ है छन्दक गीत का अंशविशेष। इस अंश में जब देवस्तुति विषयक आख्यान रहता हो तो नृत्त प्रयोग किया जाना चाहिये। इसका कारण यह भी है कि यह महेश्वर प्रयुक्त (प्रोक्त भी) ताण्डव नृत्त के

अन्तर्गत होता है, अतएव इसमें उद्धृत नृत्त को विद्युद्भ्रान्त, गरुडप्लुत जैसे करणों से सम्पन्न अङ्गहारों की प्रमुखता लिये हुये प्रस्तुत करना चाहिये।

३१८. इसी उद्धत के समानान्तर देवी पार्वती के द्वारा ललित अंगहारों से सम्पन्न नृत्त की सर्जना की गयी है। अतएव जिन प्रसंगों में प्रणय या शृंगारमय कोमल प्रसंग उपस्थित होते हों वहाँ तलपुष्पपुट, लीन तथा नितम्ब जैसे करणों से सम्पन्न अंगहारों की प्रमुखता लिये हुये ललित नृत्त प्रस्तुत करना चाहिये।

३१९-३२०. चतुष्पदा ध्रुवा आदि शुष्क गीत कहलाते हैं। जिनके गीत रूप में प्रस्तुत करते समय होनेवाले वाद्यवादन का विधान बतलाया जा रहा है। चतुष्पाद ध्रुवा गान के अवसर पर पाद के अन्तिम अक्षर के आने पर ताल सूचनार्थ भाण्ड वाद्य पर पहली थाप लगा कर वादन आरम्भ करना चाहिये। यहाँ 'ग्रह' का अर्थ है भाण्डवाद्य पर ताल देना अर्थात् नियमानुसार थाप देकर वाद्यवादन आरम्भ करना।

३२१. समपादा ध्रुवा का अर्थ है चतुष्पदा-ध्रुवा जिसमें समसंख्याक अक्षरों वाले चार पाद का छन्द रहता है। उसके एक पाद के गान की समाप्ति के समय प्रदेशिनी उंगली से भाण्डवाद्य पर थाप मारते हुये वाद्यवादन प्रारम्भ करना चाहिये।

३२२. जिस ध्रुवा का गान हो रहा हो उसके एक पाद की वाद्यवादन के साथ फिर से आवृत्ति (परिवर्त) की जाती है। फिर जब वही गीत अभिनय प्रयोग के साथ दोहराया जाए तो दूसरी बार होने वाले गान में गीत के अन्तिम पाद के गान होने के समय ताल या थाप देकर नियमानुसार वाद्यवादन आरम्भ करना चाहिये।

३२३. एक वस्तु या समग्र ध्रुवा के स्थायी आदि विशेष अंगों के निवृत्त होने का यहाँ अर्थ है परावर्तन या उनकी आवृत्ति करना। 'निवृत्ति' का अर्थ समाप्ति है। 'वर्ण' से आशय है वर्णवृत्त। इनकी समाप्ति पर जब फिर से दोहराने के लिये इन्हीं का आरम्भ हो या उपोहन-क्रिया होती हो तभी भाण्ड वाद्य का वादन रखना चाहिये।

पंचम अध्याय

१. पूर्व अध्याय के साथ पञ्चम अध्याय की सगति को सम्पन्न करने हेतु पुराकल्प के द्वारा कथन प्रारम्भ करते हैं—'भरतस्य' इत्यादि। पूर्व में चतुर्थ अध्याय में 'नृत्त' का विवरण करणादि के साथ बतलाया जा चुका था जिसे 'महाफल' कहा गया जो कि नाट्यविषयक प्रश्न के अन्तर्गत उसी के क्रम या सन्तान के हेतु के रूप में कहा गया। इसका प्रयोजन है नृत्त और नाट्य का विभेद से ज्ञान करना क्योंकि नृत्त से अनुपक्त ही नाट्य हृदयावर्जक होता है अत प्रश्नकर्त्ता शिष्यो ने भी यह सब जान कर प्रसन्न होते हुये ही प्रश्न किया।

२-४. कारिका मे प्रयुक्त 'महातेजा' पद गुरु की आचार्य प्रशस्ति तथा अध्यापन मे अपेक्षित गभीर ज्ञान की क्षमता को सकेतित करते हुये है। यह आदरपूर्वक आमन्त्रण है जो गुरु को तत्त्वकथन के प्रोत्साहनार्थ भी है।

५ नाटकादि मे पूर्वरंग आवश्यक है जिसका प्रयोग ठीक रूप में होने की शिक्षाहेतु यहाँ जिज्ञासा की गयी।

६-७ यहाँ 'गदत' इत्यादि पद से यहाँ प्रसगवश शाब्दिक निरूपण तो कर रहा हूँ और आश्रावणा आदि का स्वरूपादि का निरूपण गेयाधिकार प्रकरण में (अध्याय २९ से ३३ तक) में पुन विस्तार से होगा। यद्यपि अभी दूर है पर अर्थवश उसे यहाँ भी थोडा बतलाना अपेक्षित है। 'पाद-भागा' इत्यादि से पूर्वरंग की व्याख्या करते हैं। यहाँ 'यवनिका' के अन्दर बहिर्गीत को ही पूर्वरग समझना चाहिये जो गीतकोत्थापनादि ध्रुवारूप हो। विशिष्ट गीतो में स्थित जो जो चच्चत्पुट तथा चाचपुट ताल है तथा उनमें जो गीतकाल का सोलहवाँ हिस्सा है उससे मात्रा का निर्माण होता है तथा मात्रा से वस्तु का और वस्तु से गीयमान का। द्विकल एव चतुष्कल तालो के सग से मात्रा का भाग बनता है। अक्षरो के अनुसार द्विकल एव चतुष्कल सभी गीत वर्धमानक आदि गेय से सग्रहीत हो जाते हैं। कला शब्द से द्विकल आदि सप्तविध ताल कलाएँ कही जाती हैं। अत गीत, ताल, वाद्य, नृत्त एव नाट्य के समन्वित प्रयोग को पूर्वरंग समझना चाहिये।

९-१० पूर्वरंग मे आरम्भ आदि होते हैं जिन्हें पूर्वरंग के सम्बन्धी के रूप में समझना चाहिये।

११–१५. रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के भाग के मध्य ही यवनिका संयुक्त करते हैं क्योंकि इसी के अन्दर नट तथा वादक गण प्रत्याहारादि अंगों का प्रयोग करेंगे। इसके अतिरिक्त यवनिका को हटा कर बाद में मद्रक या वर्धमानक में से कोई गीत का प्रयोग किया जाता है जिसे 'गीतानां मद्रकादीनाम्' से बतलाया है। अन्य आचार्य 'वर्धमानमथापीह' के 'अथापि' के स्थान पर 'अतोऽपि' पाठ मान कर कहते हैं कि मद्रक तथा वर्धमानक ये दोनों ही गीत यहाँ किये जा सकते हैं। किन्तु ऐसी बात 'एतान्यङ्गानि कार्याणि' जैसे अङ्ग पदार्थ के निरूपण के विपरीत हो जाता है क्योंकि निर्देश किसी एक अंग का ही होता है दो का नहीं। अन्य कुछ दोनों को एक ही अंग बतलाकर 'अथापि' के 'अपि' शब्द से किसी एक अङ्ग को भी लेने का आशय निकालते हैं।

१६. इस प्रकार पूर्वरंग के अङ्गों का चयन कर 'एतानि' इत्यादि से क्रम पूर्वक उद्देश कथन संकेतित है यह दिखलाते हैं। तथा 'एतेषाम्' इत्यादि से उद्देश के अनुसारी लक्षण का उपक्रम मुनि ने बतलाया है।

१७. उसी क्रम से 'कुतपस्य' इत्यादि से लक्षण कह रहे हैं। नेपथ्यगृह के द्वारों के मध्यवर्ती प्रदेश में पूर्वाभिमुख मृदंग वादक तथा उसी के बाजू में बाँयी ओर पणव वादक को, रंगपीठ की दक्षिण दिशा में उत्तराभिमुख गायक को तथा इसी के सामने उत्तरदिशा में दक्षिणाभिमुखी गायिकाओं को गायक के बाँयी ओर वीणा वादक तथा उसी की बाजू में बाँसुरी वादक को बिठाया जाता है। यही एक स्थान में बिठलाया 'कुतपन्यास' है। इस प्रकार अवतरण पर्यन्त एक ही अंग माना गया है। अवतरण को कुछ आचार्य गायकादि निवेशन अर्थ न मानकर गायकादि के स्थान स्वरादि निवेशन को लेते हैं। यहाँ षड्जादि स्वरों का परिग्रह अवतरण है जहाँ जाति, साधारण स्वर, ग्राम आदि सात अंगों वाले शुद्ध सप्तक से शुद्ध सप्तकगीति प्रयोज्य होती है।

१८. परिगीत—मनोरञ्जक गीत का बिम्ब शारीर स्वर है क्योंकि यही मूल होता है। उस स्वर के अनुसन्धानार्थ जो आलाप है वही आरम्भ कहलाता है। इसके पश्चात् मान रूप ताल को प्रमुखता वाले आतोद्य का अनुसन्धान करना जहाँ गायक गाता हो तो वह **'आश्रावणा'** होगी।

१९–२२. वक्त्रपाणि का अर्थ है वक्त्र अर्थात् आरंभ में हाथ की उँगलियों का व्यापार संचालन करना। इसमें दक्षिणादि वृत्तियों का विभागों का अनुसन्धान रहता है। वृत्तियों के विभागपूर्वक शुष्कप्रयोग के लिये वीणा के तारों

का परिचालन 'परिघट्टना' है। इस प्रकार ये सभी परिवर्तन पर्यन्त ये अग हैं जिनका विवेचन अधो टिप्पणियो म है। (वहीं द्रष्टव्य भी)

२४ 'नान्दी' जो आवश्यक वग है तथा जिसमे प्रार्थना भी होती है तथा अभ्यर्थना भी। जब-जब भी नाट्य प्रयोग होगा नान्दी अवश्य होगी क्योंकि यह नित्यविधि है। अन्य पाठ्य उत्थापन आदि को प्रयोग के अनुसार अन्यथा उपपन्न किया जा सकता है किन्तु नान्दी नहीं। नान्दी का भारती वृत्ति के अगो के निरूपण (अध्याय—२२ मे) के प्रसग मे प्ररोचना के रूप मे भी होता है जो जयाभ्युदयिनी होती है।

२५. यहाँ शुष्कावकृष्टा का ही विधान कहा है तथा मुनि ने इसी का लक्षण भी दिया है। यह शुष्कावकृष्टा जर्जर या विघ्ननाशक देवता की यशोदर्शिका है इस कारण इसका प्रयोग करने के उपरान्त ही नाट्याभिनय प्रस्तुत होता है।

२६-२९. रगद्वार, चारी, महाचारी, त्रिगत तथा प्ररोचना का क्रमिक विवरण यहाँ किया गया है। (द्र०—टिप्पणी भी।)

३१-४० अब इसी तथ्य को पुराकल्प या इतिहास को 'चित्र' इत्यादि दस श्लोको में कहा जा रहा है।

४१-४२. इसका प्रयोग सतरूप मे अर्थात् ध्रुवाओ मे करना अभीष्ट है इसी तथ्य को—'धातुभि' इत्यादि से बतलाते हैं। चित्रा नामक वीणा जो अगुलि से सारित होती है उसके साथ-साथ अवनद्ध या भाण्डवाद्य को अन्वित करते हुये प्रयुक्त किया जावे तथा बडी कुशलता या सावधानी के साथ ही यह किया जावे।

४३. इसकी जो पूर्वकाल मे निर्गीत-सज्ञा रखी गयी या उसका कारण बतलाने के लिये कहते हैं—'निर्गीत' इत्यादि से। पद का अर्थ है अर्थ—के प्रत्यायक तथा झण्टु आदि वर्ण मात्र होते हैं। सार्थक एव गीयमान पदो से भिन्न हो वे ही बहिर्गीत या निर्गीत हैं यही समझना चाहिये।

४४-५३. निर्गीत सप्तरूप ध्रुवा से युक्त होते हैं। बहिर्यवनिका के उत्थापनादि अग होते हैं—उनके कारण को आगे—'आश्रावणायाम्' इत्यादि से अगली आठ कारिकाओ मे दिखलाया है। इस प्रकार सभी को बतलाकर उपसंहार मे कहते हैं—'आश्रावणादि' इत्यादि से।

५४. उसी की प्रशसा मे भी दिखलाते हैं—'देवस्तुष्यति'—इत्यादि से। इसमें हेतु है देवताओ की पूजा अत यह प्रेक्षाकर्ता, सूत्रधार या प्रयोक्ता पात्रो का कर्तव्य है कि इसे सम्पादन करें।

५७-५९. यहाँ नाम्य के उपरञ्जक तत्वों में जो गीत को कहा गया उनमें ध्रुवागान महत्वशाली है, ज्येष्ठ है तथा इसके प्रकृति भूत गान्धर्व को जानना चाहिये परन्तु इसे विस्तार से आगे शास्त्रीय विधान तथा तालाध्याय में दिखलाया जा रहा है अत यहाँ पूर्वरंग के प्रकृति प्रसग में उत्थापनादि के लक्षण ही दिये जा रहे हैं विषय की दृष्टि से।

६०-६३. 'आदौ द्वे' इत्यादि से उत्थापना ध्रुवा के स्वरूप को कहते हैं। यह ध्रुवा विश्लोका जाति के अन्तर्गत होती है जिसका ना० शा ३२। १४६ पर लक्षण है। चतुरस्र ताल में उसकी योजना की जाए इसे—'शम्या च' इत्यादि से मुनि ने बतलाया।

६४-६६. यहाँ चार सन्निपात कहने से चारों पादों का परिवर्त दिखलाया है। तृतीय कहने का अर्थ है अन्त्य कला से रहित तीन पादों का तन्त्री गान में समन्वित प्रयोग कर उसमें अन्तिम तृतीय कला से आरम्भ कर चतुर्थ पाद की समाप्ति तक पुष्कर (मृदग भेद) वाद्य के प्रयोग के साथ मध्यलय में गान चलता है। इसी समय सूत्रधार का प्रवेश होता है। यहाँ सूत्रधार पद के साहचर्य से दोनों पारिपार्श्वकों का भी ग्रहण समझना चाहिये अर्थात् वे सूत्रधार के साथ ही प्रवेश करें।

६७-६९. सूत्रधार एव पारिपार्श्वकों की इतिकर्तव्यता को दिखलाते हैं—'पुष्पांजलि' इत्यादि से। इनमें सर्वप्रथम सूत्रधार पुष्पाञ्जलि अर्पण करेगा, शेष दो में से एक भृङ्गार पात्र को धारण करता है और दूसरा जर्जर को। शुद्धि के लिये जिसमें जल भरा हो ऐसा पात्र 'भृङ्गार' या झारी तथा विघ्नों की शान्ति के लिये वशादि निर्मित जर्जर है। दोनों पार्श्वों में स्थित रहने के कारण ये पारिपार्श्विक हैं जिनके मध्य में सूत्रधार रहता है इस प्रकार ये तीनों ही पाँच पैर आगे बढ़ाते हैं।

७२ जिस कार्य के लिये पाँच पैर आगे बढ़ाते हैं उस पुष्पाञ्जलि की विधि कहते है—'सूचीमित्यादि' से।

७५. यहाँ यही बात है कि ३६ कलाओं के मध्यवर्ती समय में सूत्रधार के प्रवेश, पाँच पैर आगे चलना, पुष्पाञ्जलि अर्पण और अभिवादन का तीन बार होना—यह कार्य रहता है। इनमें पञ्चपदी जितनी कलाओं म हो जाए उससे बची हुई कलाओं में करण तथा नृत्तहस्तों का अवलबन कर वह तीन अभिवादन करे।

७६. द्वितीय परिवर्त के तीन कर्म को दिखला कर द्रुतलय में सम्पन्न तृतीय परिवर्त के कर्म को दिखलाते हैं—'ततः परम्' इत्यादि से।

८०-८१. यहाँ 'आदूय' पद से भृङ्गार धारी पात्र के भ्रमण के समय मौनभाव की स्थिति होती है। शौच को दिखलाते है 'प्रयत्न' इत्यादि से। यहाँ तृतीय कर्म है।

८२. इसी तीसरे कर्म को दिखलाते हुये बतलाया कि पैरों के चतुर्थ परिवर्त के अन्तिम सन्निपात के समय ही जर्जर को ग्रहण करते हैं।

८३. चतुर्थ परिवर्त में दो कर्म दिखलाये गये है जर्जर ग्रहण तथा आठ कला मे जप्य कार्य सम्पन्न करना। यह विघ्नो के उच्छेद हेतु होता है। 'अत्र विघ्नविनाश' (३।७८) इत्यादि चार श्लोको का उच्चारण किया जाता है।

८४-८६ पञ्चपदी मे अपेक्षित काल जो जर्जर ग्रहण से लेकर होगा वह है चौबीस कला का समय जो कुतप गमन पर्यन्त क्रिया मे रहेगा। 'षोडश' का अर्थ है दो कलाओ के हिसाब से एक पतन होना।

८७-८८ त्र्यस्र—इत्यादि। यह प्रसंग के कारण कहा गया है द्वादश पात इत्यादि बात। उत्थापनं कार्यम्—इत्यादि। यहाँ नाट्याभिनय के प्रयोग के उत्थापन का ध्रुवाभिनयरूपता से अधिक उचित अर्थ द्वारा आक्षेप है तथा 'यत्तु काव्येन' इत्यादि से ध्रुवागान मे परिवर्तों की अदृष्टफलार्थ इतिकर्तव्यता नही पर कवि के द्वारा चार अपेक्षा वाली ध्रुवा का उपयोग हो ऐसा वृद्ध आचार्यों का परामर्श या मत है।

१०४-१०५ यहाँ 'तत्र' पद का अर्थ है अपकृष्टा ध्रुवा गान के होने पर जिसमे मध्य स्वर की योजना रहती है जिसका मध्यमांश नान्दीपाठ मे प्राप्त है। इसी का उपजीवन कर काश्यपाचार्य ने कहा कि 'पूर्वरङ्गे षाडव' (पूर्वरंग मे षाडव स्वर को योजित किया जाता है)। यहाँ 'अपि' से चतुरस्र पूर्वरंग म चतुष्पदा अष्ट या षोडशपदा नान्दी को तथा त्र्यस्र पूर्वरंग में त्रिपदा और षट्पदा नान्दी को रखा जाए यह भी सूचित होता है। अब 'नमोस्तु' इत्यादि से 'देवता इति' तक नान्दी पाठ है उदाहरणार्थ।

११०-१११ यहाँ प्रयुक्त 'पद' शब्द से प्रसगवश 'वाक्य' का ग्रहण समझना चाहिये। 'एव' अर्थात् चतुर्थकार के प्रवेश में यही विधि होगी। नान्दी के बाद 'शुष्कावकृष्टा ध्रुवा अग की पूर्ति करने के लिये है—'ततः' इत्यादि से उसे भी यहाँ दिखलाया है। सूत्रधार द्वारा जर्जरस्तुति के पाठ में 'जयति' पद के अर्थ को दिखलाने के लिये 'नान्दी' को उसी से लगी हुई रखी गयी है।

प्रकार के पूर्वरंग में लागू होगा। इसलिये यदि इन अंगों का अतिशय प्रयोग या प्रसंग रखा जाएगा तो वह प्रयोक्ता तथा प्रक्षक दोनों को ही प्रभावित करेगा। इस प्रसंग में अभिनवभारती में पूर्ववर्णित अंगो को अवधानहेतु एक बार एकत्र कर दिखलाया। यथा—उत्थापन परिवर्तन, अवकृष्टाध्रुवा गीत नान्दीपाठ शुष्कावकृष्ट जर्जरश्लोकध्रुवा रङ्गद्वार अडितता आर्या पाठ ध्रुवा रौद्रश्लोकपाठ नक्कुटक त्रिगत तथा प्ररोचना। त्र्यस्र म भी ये ही सोलह अंग होंगे तथा नान्दी पाठों के मध्य म नृत्त। इस प्रकार इनके अधिक प्रयोग से रस तथा भाव के अभिनय म स्पष्टता की स्थिति नहीं आती है और आरम्भ म ही प्रक्षकों को पूर्वरंग मे ही खिन्नता हो तो आगे किये जाने वाले नाट्यप्रयोग पर अच्छा प्रभाव नहीं होगा या प्रयोग रञ्जक नहीं रहेगा। अतः लोक एवं शास्त्रानुसारी लक्षणों के आधार पर परम्परानुगामी पाठ्यप्रयोग उचित होता है। इस प्रकार त्र्यस्र या चतुरस्र मण्डप पर किये गये शुद्ध या चित्र म से किसी भी रूप को प्रस्तुत कर सूत्रधार अपने सभी दल के साथ रंग से निष्क्रमण करता है।

१६१-१६९ देवपार्थिव इत्यादि से लेकर प्रस्तावना सत तक का अंश अतिरिक्त होने स अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या नहीं की। स्थापक पद की व्याख्या है स्थापयति समस्त रूपकवृत्तमिति **'स्थापक'** अर्थात् रूपक के इतिवृत्त का जो समापन करता है। सूत्रधार के सौमनस्य विस्मय अद्भुत दृष्टि अदीर्घसूत्रता या क्षिप्रकारिता एवं रक्षा इत्यादि सूत्रधार गुण स्थापक मे ही होते हैं।

१७०-१७१ अर्थानुगा अर्थात् अर्थ की अनुसारी प्रावेशिकी नामक ध्रुवा को तथा उत्थापनी ध्रुवा के प्रकार को जो अर्थानुकूल हो—प्रयोग किया जाए। यह प्रावेशिकी मध्यलय से युक्त होती है। इसके बाद चारी को किया जाए।

१७२-१७६ सुवाक्य इत्यादि। वह फिर से प्ररोचना के द्वारा जय एवं आशी के क्रम से सामाजिको को प्रसन्न करने वाले श्लोक को देवता तथा दिशा के उद्देश्य से पाठ करे तथा इसके पश्चात् कवि के नाम की उद्घोषणा करे। इसमें वह कवि के गुणों का भी ऐसा वर्णन कर सकता है जिससे कवि की प्रसिद्धि और आदरणीयता स्थापित हो। इसके बाद वह रूपक विशेष का प्रख्यापन करे जिसमें प्रस्तुत रूपक के अर्थ की उपक्षेप करने वाली प्रस्तावना की जाए। इससे आरम्भ से ही दर्शकों को सक्षेप मे सत्कार होकर वे नाटकीय वृत्त की जानकारी पा जाएँ। प्रस्तावक के द्वारा उस बात की सूचना

भी मिल जाए कि प्रस्तोतव्य रूपक दिव्य या मानवीय चरित्रों वाला है। यहाँ ऐसी स्थितियों के लिये भिन्न भिन्न आश्रय या रूप भी वह ग्रहण करे इस प्रकार यहाँ प्रस्तावक को रूपकीय इतिवृत्त के अनुरूप ही अपने को प्रस्तुत करना चाहिये जिससे सामाजिको को कथावस्तु के ग्रहण मे अनकूलता हो।

१७७-१७९. अब पूर्वरंग का फलकथन करते हैं—**'य इमम्'** इत्यादि से। यथाविधि प्रयोग करने से 'अभ्युदय' होता है। यहाँ शुभ का अर्थ है दृष्ट अभ्युदय की प्राप्ति। यहाँ प्रयुक्त अपचय पद दृष्ट प्रत्यक्ष प्रत्यवाय बोधक तथा तिर्यक् योनि पद अदृष्ट परोक्ष प्रत्यवाय बोधक समझना चाहिये।

१८०-१८१. जिस प्रकार की भी प्रवृत्तिविशेष मे नियत रूपक नायक होता है वैसी ही प्रवृत्ति के उपयुक्त वेषभूषा, भाषा, आचार तथा अभिनय का अनुगमन करने वाले सूत्रधारादि स्थापक पर्यन्त पात्रो को त्र्यस्र या चतुरस्र भेद के पूर्वरंग को प्रस्तुत करना चाहिये।



षष्ठ अध्याय

१ पूर्वरङ्ग के विधान के पश्चात् नाट्यप्रयोग के प्रमुखत. लक्ष्य तत्वो के सिंहावलोकनन्याय से पुन प्रश्न स्थापन करने से अध्याय सगति होगी। यहाँ मुनियों ने प्रथम अध्याय मे उत्थापित प्रश्नो के बाद पुन पाँच प्रश्न पूछे हैं जिनका समाधान अगले अध्यायो मे किया गया। आचार्य अभिनवगुप्तपाद इन्हे पूर्व मे पूछे गये प्रश्नो का ही विस्तार भी माना है।

२. पाठ्यम् (?।१७) इत्यादि मे नाट्य के अगो तथा अभिनय के अन्त-वर्ती रस की प्रधानता के कारण यहाँ रस के विषय मे पुन प्रश्न पूछा जा रहा है क्योकि तभी 'एतदाख्यातुमर्हसि' कथन सगत होगा तथा इसी से यह भी प्रतीत होता है कि इससे पूर्व अब रस के विषय मे कुछ भी नही बतलाया गया था अत अब इसे पूरी तरह से बतलाने की कृपा करें।

४ मुनिजन के प्रश्नो के उत्तर मे भरतमुनि ने पुन रस तथा भावो का विकल्प अर्थात् विशेष रूप से निश्चयात्मक विवरण को बतलाने वाले (रस-भावविकल्पन) वाक्य कहे।

५. 'यथाक्रमम' का अर्थ है सग्रह, कारिका आदि के क्रम से सब का प्रति-पादन करते हुये।

६ यहाँ शक्य पद सामान्याभिप्राय से माध्यस्थ दिखलाने के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस विषय को प्रतिपद रूप मे निरूपित करना सभव नहीं है केवल लक्षण ही सरलता से कर देता है। अत रसभावादि के प्रतिपद निरूपण के स्थान पर लक्षण तथा उसके अग उद्देश एव परीक्षा को किया जा रहा है। इसका कारण है 'बहुत्वात्' अनन्त होने से।

७ अर्थ अर्थात् प्रतिपाद्य विषय के 'तत्त्वत' अर्थात विकार के कारण अङ्ग अर्थात् जो नाट्य के मुख्य अङ्ग के भी अङ्गभूत विषय हैं उन सभी अवा-न्तर अङ्गो का।

१० 'रसा भावा' इत्यादि से सग्रह दिखलाते हैं। यहाँ अभिनय पद से आंगिक आदि तीनो अभिनय का ग्रहण समझना चाहिये [आहार्य को छोड कर] जो गीत तथा वाद्य से मिलकर पञ्चाग हो जाते हैं।

१५ **'संग्रह'** इत्यादि। उद्देश का ही विस्तार होना 'विभाग' है यह शास्त्रप्रवृत्ति का अलग अङ्ग न होकर उद्देश के ही अन्तर्गत होता है तथा

भरतमुनि तथा इनके व्याख्याकार अभिनवगुप्तपाद दोनों ही इस तथ्य से सहमत हैं। दर्शनशास्त्र की अनेक शाखाओं में इसी मान्यता को एक परम्परा के साथ लिया जाता है।

१७- यह पद्य कुछ प्रतियों में नहीं रखा गया है। आठ रसों की मान्यता ब्रह्मा से सम्बन्ध रखती है जिनसे भरत को नाट्य का आगम हुआ। इसी कारण इस पर अभिनवभारती भी नहीं मिलती है।

१९-२२ अब 'निर्वेद-ग्लानि' इत्यादि से सचारी भावों को बतलाते हैं। यहाँ ये ही व्यभिचारी भाव हैं इस तथ्य को तैंतीस की सख्या के नियमार्थ भी दिया गया है।

२३. सात्विक भाव व्यभिचारीभावत्व तथा अभिनयोपयोगित्व दोनों धर्मों से युक्त होते हैं। इसी कारण इन्हें सञ्चारी भावों के पश्चात् दिखलाते हैं—'स्तम्भ' इत्यादि से। ये अभिनय के धर्म तो हैं किन्तु अभिनय से भिन्नता भी रखते हैं।

२४ अब तृतीय सग्रहभूत नाट्यांग के रूप में अभिनय को उसके चार प्रकारों के साथ दिखलाते हैं—'आङ्गिक' इत्यादि से। यहाँ कारिका में 'चत्वार' पद से आहार्य अभिनय की साक्षात्कार बुद्धि के उपयोग में अन्तरगता को (उपयोगिता को) सूचित किया गया है। इसी कारण रस तथा भाव के बाद अभिनय का क्रमिक रूप में विवरण दिया गया।

२५. लौकिक धर्म एव तन्मूलक उपयोगी सामाजिक धर्म का अभिनय अनुगमन करते है इसी कारण इनके बाद ही 'धर्मी' का कथन करते हैं—'लोकधर्मी' इत्यादि से।

२५-२६ रूपकों की उपकारक होने से तथा अभिनय के बिना अभिनेतव्य के सम्भव न होने के कारण वृत्तियों का भी यहाँ लोकधर्मी आदि के बाद विवरण है। यहाँ चार सख्या इनके आधिक्य के निराकरणार्थ दी गयी है।

२६-२७ ये वृत्तियाँ देशों के आधार पर रहने के कारण वृत्ति के बाद प्रवृत्तियाँ दिखलाई गई।

२७. अभिनय की परिणति सिद्धि में होने से दोनों सिद्धियों को बतलाया गया 'दैविकी' इत्यादि से।

२८. यहाँ पाठ्य एव गान में ही स्वरों का अन्तर्भाव रहने पर भी उनके महत्व को देखते हुये पृथक् उल्लेख किया गया। इनमें केवल स्वरों से भी नाट्य का उपरञ्जन या शोभा होती है जो अन्तरालाप है उसी के ग्रहणार्थ स्वरों का पृथक् ग्रहण यहाँ है।

२८-२९. लक्षणो से समन्वित वाद्यो के चार ही वर्णभेद होते हैं इससे अधिक नही।

३०-३१. गीत के आधारभूत निश्चित पद समूह को 'ध्रुवा' कहते हैं उसमे योग अर्थात् सम्बन्ध से युक्त होने के कारण एव उसकी प्रधानता से युक्त गान का साधारणगान से पार्थक्य स्वत हो जाता है।

३१. 'मण्डप' भी त्रिविध है जिसे द्वितीय अध्याय मे विस्तार से दिखलाया जा चुका है तथा जिसका पात्रो के गमनागमन तथा वादकों के उपवेशन आदि के लिये आधारभूत उपयोगिता होती है।

३२ इस प्रकार उद्देशकथन के बाद अब रसादि की क्रमश. लक्षण मीमासा आरम्भ करते हैं—'एवमेष' इत्यादि से। इसमे सूत्ररूप मे रस का स्वरूप दिखलाते हैं—'तत्रेति' इत्यादि से।

रसनिष्पत्ति सूत्र कहते हैं—तत्रेति से। इसकी अभिनवभारती के साथ सार्थक व्याख्या दी जा चुकी है (अत टिप्पणियाँ छोटी हैं)।

४४-४६ यहा वर्ण और अधिकारी देवता आगमानुसारी हैं, इनकी उत्पत्ति का विवरण भी युक्तिसगत है जैसा कि पादटिप्पणियो से स्पष्ट है।

५८. यहाँ 'जिह्म दृष्टि निरीक्षण' इत्यादि (का ५८) पद की व्याख्या है वक्र कही जाने वाली भाव भरी दृष्टि से जिसमे निरीक्षण किया जाता है ऐसे [जिह्मदृष्टि का लक्षण ना० शा० ८।३१ पर दिया गया है।]

७४-७५ वीभत्सरस मे गन्ध, रस, स्पर्श एव शब्दगत विकारो से जो घृणा का भाव या उससे हटने की क्रियाएँ हैं उनके द्वारा।

७८-८३. रसो के वचन, वेष एव क्रियागत विकार से साख्यदर्शन के आधार पर त्रिगुणगत विभेदो को ध्यान मे रख कर प्रत्येक रस की त्रिविधता बन जाती है। इस प्रकार कारणीभूत विभावो के तीन विकारो से कार्य मे भी त्रिविधता आती है इसी तथ्य को मुनि ने यहाँ दिखलाया है। केवल अद्भुत रस के दो ही प्रभेद होते हैं।

८४-८८. यहाँ मूल की कारिकासख्या शान्तरस के विवरण मे केवल उद्धरणो की सुविधा से लगाई है क्योकि शान्तरस की कारिकाएँ नाट्यशास्त्र की मूलप्रतियो मे कही नहीं भी है तथा जहाँ हैं भी वहाँ भी इन्हे मूलानुगत सख्या से पृथक् रखा गया है। अतएव इन्हें यहाँ औचित्यवश ही हमने सख्या लगा कर ही सम्पादित किया है।

सप्तम अध्याय

(भावाध्याय)

१. जब षष्ठ अध्याय के अन्त मे भावों के लक्षण निरूपण की सूचना दी जा चुकी थी तो फिर यहां उनका यह कथन उनमे प्रधानत स्थायी एव सञ्चारीभावगत भेदो के साथ लक्षण दिखलाने के लिये हुआ है जिसकी यहाँ प्रतिज्ञा भी की गयी है। इसके अतिरिक्त रसाध्याय मे नाट्य के अङ्गो के बीच मे उद्देश्य सकीर्तन के रूप मे भावो का उल्लेख था और वहां रस-निरूपण के प्रसग मे ही भावो की चर्चा रखी गयी थी परन्तु यहां प्रधानत स्थायी, सचारी आदि भावो के ही लक्षण बतलाना अभीष्ट है तथा यही अध्याय-समाप्ति भी है। इसी कारण मुनि ने विषय का आरम्भ करते हुये कहा है—**'विभावै'** इत्यादि से।

२-४ प्रथम कारिका मे यद्यपि प्रकरण से चित्तवृत्ति के उद्भव का हेतु जो विषय है उसे विभाव' कहा गया तथापि विभाव के विषय मे पुन स्पष्टी-करणार्थ प्रश्न करते हैं—**'विभाव'** इत्यादि गद्यभाग से। इसी का उत्तर भी मुनि ने विभाव्यन्ते' इत्यादि गद्यभाग से दिया है। जिन स्थायी एव व्यभि-चारियो से सम्बद्ध वागादि अभिनय है उन स्थायी एव व्यभिचारियो को वागादि अभिनयो के साथ जिनसे विभावित या विशिष्ट रूप मे जाने जानेवाले जो हैं उन्हे विभाव समझना चाहिये। क्योकि अभिनय से अनेक कारणीभूत रहते है जैसे हर्ष से हास की उत्पत्ति, घाम, धुआ, रोग आदि क कारण आखो से अश्रु प्रवाह का बहना' यहां केवल बाष्पपद के प्रयोग मात्र से कुछ नही प्रतीत होता है तो वह 'विभाव' शब्द से शीघ्र निश्चित होकर प्रतीत हो सकता है।

५. **वागङ्गाभिनयेन**—इसमे जो 'ग' पाठ है उसकी पारम्परिक व्याख्या के आधार पर योजना होगी—वाणी अङ्ग तथा सत्व के अभिनयो से अर्थात् त्रिविध अभिनय प्रभेदो के कारण जिस अर्थ की अनुभावना या प्रतीति कर-वायी जाती है ऐसा वाणी, अङ्ग तथा उपाङ्गो के द्वारा प्रस्तुत वह वाचिकादि अभिनय का रूप 'अनुभाव' होता है। 'वागङ्गोपाङ्गसयुक्त' 'ग' सम्मत पाठ लिया गया है जो यहाँ सगत है।

८. विभावादि से उपचित **'स्थायी'** ही रसत्व प्राप्त करता है परन्तु जब वह सयुक्त या व्यवस्थित रूप मे योगप्राप्त नही करे तो स्वतन्त्र या पृथक्

भाव की दशा में 'स्थायी' है। यह उसकी संयोग के पूर्व की स्थिति या लिङ्ग भी हो सकता है। अतः अनुपचित स्थायी ही स्थायी है इसलिये प्रत्येक स्थायी का पृथक् पृथक् विवरण भी अपेक्षित होगा जिसे क्रमशः अब मुनि देते हैं। (स्थायी का विवरण मूल तथा वहीं टिप्पणी में द्रष्टव्य)

२८-३० सञ्चारीभावों का विवरण आरम्भ करते हुए मुनि क्रमशः उनके लक्षण के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम 'निर्वेद' का स्वरूप देते हैं—'तत्र निर्वेद' इत्यादि से। अतः जो दारिद्र्य, व्याधि आदि कारणों से उत्पन्न होने वाला और रुदित निश्वसित आदि दशा का कारण होने वाला ऐसा मनोविकार जो दुःखरूपी विशेषभाव है वह 'निर्वेद' है। चिरकाल तक विद्यमान भ्रान्ति के हान तथा उपादानकी गणना के बाद जो तत्वज्ञान होकर भ्रमनिवारण हो जाता है तो व्यक्ति स्वयं या जो 'धिक् मैं व्यर्थ ही भ्रमित रहा' जैसा बोध 'निर्वेद' को उत्पन्न करता है। जैसे—वृथा दुग्धोऽनड्वान् इत्यादि पद्य (ना० शा० भाग १, पृ० ३५३ टिप्पणी पर) है।

'सम्प्रधारणादि' पद से यह भी समझना चाहिये कि यद्यपि सम्प्रधारण वितर्क या अन्य भाव के रूप में होता है फिर भी वह अनुभावों के रूप में ही है संचारी के रूप में नहीं। 'निर्वेदवान् पुरुष' में मतुप् प्रत्यय से यह भी दिखलाया गया है कि ये निर्वेद आदि घटादि की तरह 'इद' रूप में अवभासित नहीं होते किन्तु 'अहं निर्विण्ण' इत्यादि के रूप में आश्रय पारतन्त्र्येण ही अवभासित होते हैं। इसलिये 'निर्वेद' यह आन्तर विकार है। यह 'निर्वेद' स्वयं पुरुषार्थ सिद्धि के लिये उत्साह रति आदि के समान अत्यन्त अनुरञ्जन के लिये अथवा हास, विस्मय आदि के समान अन्य मुखप्रेक्षित रहने के कारण संचारी है।

३१-३२ 'ग्लानि' के विवरण में प्रयुक्त क्षान्त तथा विरिक्त पद में भाव में क्तप्रत्यय हुआ है। क्षामवाक्य में वाक्य की क्षीणता स्वर के नीचे रहने से होगी। मन्द भाव से पैरों को उठाने तथा उसी के साथ साथ विपरीत दशा में इन्हें नीचे रखने के कार्य से। क्षान्त इत्यादि में निमित्त सप्तमी है। यहाँ कारिकारूप मुहुर्मुहु पद से मुनि ने यह भी दिखलाया कि सजातीय तथा विजातीय चित्तवृत्ति के प्रवाहमात्र संचारियों के रहने पर कभी कभी किसी एक की चिर स्थिति नहीं होती या कभी थोड़ी हो भी सकती है।

३३-३५ 'शङ्का' के विवरण में 'चौर्यग्रहण' पद अनुचित कार्यों का उपलक्षण है। अतः इसी के समान जो अनुचित कार्य हैं उनके मध्य में किसी एक के करने या वैसे कार्य के करने वाले को न आने की आशङ्का रहने से 'शङ्का'

हो जाती है। इसी को आगे नृपापराधादि प्रदर्शन से विस्तारपूर्वक कहा भी गया है। **'स्त्रीनीचानाम्'** इति। यहाँ यद्यपि उत्तम स्वभाव तथा प्रकृति वाली स्त्री से किसी अकार्य की स्थिति नहीं होती और अधम प्रकृति की स्त्री का 'नीच' पद से सग्रह हो भी जाता है परन्तु फिर भी यहाँ जो 'स्त्रीपद' दिया गया है उससे यह समझना चाहिये कि जो अपाप भी है किन्तु जो किसी अपराध मे लगा दी जाए तो ऐसी स्त्रियो के चित्त मे 'शङ्का' होती ही है क्योकि स्त्री का स्वभाव भीरु या डरपोक रहता है। अत जो अन्यगतत्वेन 'शङ्का' है जैसी वेणीसहार नाटक मे दुर्योधन की भानुमती के प्रति थी तो यह भी इससे गृहीत हो जाती है। यहाँ केवल प्रतिनायकभूत दुर्योधन का ऐसा कार्य अनौचित्य' होकर आया है जो वर्णनानौचित्य जैसा कार्य बन गया है। **आकारसंवरणमपीति**—यहाँ प्रयुक्त 'अपि' शब्द से जो 'अवहित्य' मे बाहुल्येन दिखलाई देते हो वे कार्य यहाँ भी रखे जा सकते हैं। केचित् पद से यह भी दिखलाया गया है कि वस्तुत यह शङ्का का अनुभाव नहीं अवहित्थ भाव का भी है। आकारसवरण शङ्का को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है ऐसी आशङ्का के उत्तर मे तच्च' इत्यादि से कहा गया। उपाधि का अर्थ होगा आकार सवरण का उपाय जैसे अपने कथन को बन्द कर देना तथा अति"/, बातचीत करने लगना आदि। इगित अर्थात् अङ्गों के और उपाङ्गों के ऐसे स्पन्दनमय कार्य जो दबाये न जा सकते हो।

द्विविधेति—यहाँ आत्मपद से स्वात्मगतता अपराध तथा पर शब्द से परगत अपराध समझना चाहिये। इनमें परगत अपराध के सम्भाव्यमान न रहने पर जो 'शङ्का' है वह 'परोत्थ है।

इतना रहने पर भी परत्र चौर्यादि की आशङ्का क्यो होगी ऐसी आशङ्का को दिखलाने के लिये **'इङ्गितचेष्टाभिः'** से कहते हैं। वह जब दूसरे के अपराध किये जाने पर देखना या चेष्टा करता है (और अपने अप्रगल्भ या भीरु स्वभाव के कारण जब स्वय भी अपराध युक्त हो जाए) तो (भी) वहाँ चौर्यादि अपराध विषयक शङ्का हो जाती है। पार्श्वादि को शङ्का की दशा मे देखना जिसे बगले झाकना कहा जाता है वह कौए की तरह आशङ्कित होकर करना चाहिये।

३६-३७ गुणनाशन्—येन वचनेन गुणो नाश्येत अर्थात् जिस कथन से गुण को समाप्त करते हुये विद्वेष आदि से कहते हुये रहा जाता हो। जैसे किसी सात्विक ब्राह्मण को तप से निरत देखकर ढोंगी बतलाना आदि।

३८-४६ 'करण' पद का यहाँ अर्थ होगा चेष्टा अत जहाँ पञ्चविध चेष्टाएँ हैं वही 'मद' का अभिनय भी समझना चाहिये। यहीं सूत्र मे भाव शब्द

से दिखलाया गया है। ये पाँच चेष्टाएँ **'कश्चिन्मत्त'** इत्यादि कारिका से कहते हैं। प्रकृति के भेद से उत्तमपात्र को तरुण मद तथा मध्यमपात्र को मध्यम मद ही हो ऐसा नियम नहीं है अतः सभी को तरुणमद, मध्यम तथा नीच पात्र को मध्यममद तथा नीचपात्र को उत्कृष्ट या गहरा मद भी हो जाता है। यहाँ यही बात कवि तथा भट के उपदेशार्थ **'रङ्गे पिबतः'** इत्यादि से बतलाया है। प्रसङ्गवश इसी प्रकार के अन्य रूप को भी **'अभ्युदयसुखैः'** इत्यादि से दिखलाते हैं। अभ्युदय के वाच्य या शब्द द्वारा बतलाने वाले वाक्य के द्वारा अर्थात् प्रीति या सुखप्रद कथन से।

५०-५१. यहाँ कारिका में प्रयुक्त ऐश्वर्यभ्रंश पद से तात्कालिक दशा और 'दारिद्र्य' से कुलक्रमागत की स्थिति समझना चाहिये यही इनमें विशेष या भेदक है। इस विवरण से संकेत मिलता है कि चिन्ता के पूर्व तथा उत्तर कक्ष में अर्थात् पहिले और अन्त में वितर्क होता ही है।

५२-५३. मोह में होने वाले 'दैवोपघात' पद का अर्थ है अग्नि तथा जल का उपद्रव होना। 'तत्प्रतीकारशून्यस्य' पद से मोह की पूर्वावस्था किंकर्तव्यता मूढता को मोह शब्द से दिखलाया गया है। इसकी स्थिति 'सर्वेन्द्रियसम्मोह' इत्यादि से इस प्रकार दिखलायी गयी है जिससे आन्तरिक संवेदना की मोह में समाप्ति नहीं होती है तथा इसी से मोह चित्तवृत्ति रूप भाव होता है यह भी संकेतित हो जाता है।

५४-५५. 'सुखदुःखकृतानां' पद की सुखदुःखयोः कृत निष्पत्तिर्यत. तेषाम् व्याख्या है। इस प्रकार स्मृति सभी विषयों में व्यापक रहती है यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ 'जघन्य' पद का अर्थ है रात्रि का पश्चिम या चरमभाग।

५६-५७ कारिकास्थ 'विज्ञान' पद का अर्थ है विवेक ज्ञान, शौच या तपः सेवादि का आचरण रूप अधिक अर्थ अर्थात् जो इष्ट मनोरथ से अधिक हो ऐसे अर्थ का लाभ हो जाना। यहाँ कुछ की तो विषयता है जिससे ईप्सित लाभ होकर 'धृति' होती है और किन्ही की करणता है जैसे क्रीडा के विनोद से दुःखित होकर 'धृति' पाता है। किसी की उभयरूपता (विषयता और करणता दोनों) होती है जैसे प्राप्त विषयादि का उपभोग पाकर अप्राप्त के विषय में अनुशोचन हो तो ऐसे विभावों से 'धृति' होगी। उपहृत पद का अर्थ है जीर्णादि रूप को प्राप्त तथा विनष्ट अर्थात् ध्वस्त होना।

५८-५९. अकार्य-करण शब्द से उसका ज्ञान कहा गया है। 'जो किया न जाना या ऐसा मैंने कर डाला' इस प्रकार की विशेष समझ का आना। इसी

कारण स्त्री तथा बालकआदि के सम्मुख किसी अपूर्व पुरुष के आने पर लज्जा देखी जाती है, बिना किसी अकार्य के किये जाने पर भी। 'मैंने पूर्व तथा पर का विचार नहीं रखा इसी बात को लोग समझ रहे हैं' ऐसी बात होने पर भूमि लेखन आदि होते हैं। 'शुचिभि' का अर्थ है उचित कार्य करने वालों के द्वारा। क्योंकि अकार्य करने वालों के बीच किसी को भी अपने अकार्य की बुद्धि नहीं आती है। परन्तु जब इसका बाद में मन में 'विवेक' जागृत होता है तो पश्चात्ताप का भाव उदित होता है और वह फिर पिछले दोष के न हटने के कारण सन्तप्त करता ही है।

६० कारिकास्थ 'वधताडनम्' से पाप रूप तथा सहसा करने के अयोग्य जो भी कार्य हो उन अनुचित कार्य का इसी से संकेत मिल जाता है। इसी से यह भी कि विमर्श के बिना शीघ्रता से जो कार्य किया जाता है वही 'चापल्य' है।

६१-६२ पुत्रादिगत हर्षकारणत्व को बतलाकर मुनि ने यह दिखलाया कि अन्यगत सजातीय भाव भी भाव का कारण हो जाता है। जैसे रामगत निर्वेद चिन्ता आदि लक्ष्मण के निर्वेद चिन्तादि की उत्पत्ति में कारण होते हैं। अप्राप्य का अर्थ है असम्भवनीय की प्राप्ति। हृदय जहाँ जिस वस्तु को सारभूत मान ले तो उसकी प्राप्ति से हर्ष उत्पन्न हो ही जाता है। जैसे सुवर्ण प्राप्ति के लिये दूर देशों में भ्रमण करने वाले को अनन्त मूल्यवान् सुवर्ण तथा रत्न का लाभ होना। यहाँ मनोरथ के हृदय के द्वारा ग्रहण करने से उसकी आङ्गिक व्यापारों से विभिन्नता दिखलाई गयी है।

६३-६५ प्रयोगगत योग्यता के कारण आविष्टहृदयवालों में ही 'आवेग' रहने के कारण प्रतिविभाव तथा अनुभावों के भेदों से होने वाले प्रयोग वैचित्र्य को लक्षण में विस्तार से मुनि ने दिखलाया है। 'उत्पातकृत' के स्वरूप में अतिक्रान्ता और अपक्रान्ता चारी के द्वारा अपसर्पण किया जाना चाहिये। उद्भ्रमण जहाँ सीमा को लङ्घन कर भ्रमण हो। अप्रिय श्रवण में किसी सामान्य-जनक आवेग हो तो वहाँ शोक के अनुभावों को एक के बाद एक शीघ्रगति में रखने चाहिये तथा बाद में 'शोक' को रखा जाए और धीरप्रकृति के जन में प्रथम शोक तथा बाद में अनुभावों को रखे—यह श्री शङ्कुक का मत है। परन्तु ऐसा मानना समीचीन नहीं क्योंकि यदि ऐसा मान भी लें तो आवेग स्थायीभाव हो जाएगा और शोक व्यभिचारीभाव बन जाएगा। अत यदि अधीर प्रकृति को प्रथम क्षण में शोक उत्पन्न ही हो गया हो तो वह द्वितीय क्षण में आवेग से अभिभूत होगा या बढ़ा दिया जाएगा। परन्तु धीरप्रकृति

को आवेग होकर भी धैर्य से दबता हुआ अपनी उचित दशा में आच्छादित सा रहता है न कि वह उत्पन्न ही नहीं होता। जैसा कि यहीं आगे स्वयं मुनि ने ही 'स्थैर्येणोत्तममध्यानाम् (ना० शा० ७।६३) से कहा भी है। इसके अतिरिक्त *सचारीभावो के साहचर्य से रहित स्थायीभाव की कोई भी स्थिति* नही है। इसी प्रकार स्थायोभाव की भित्ति से बन्ध्य या रहित सचारीभाव *की भी विचित्राभरी स्थितियाँ नही रहेगी। यहाँ 'अपसर्पणै' पद मे प्रयुक्त* बहुवचन इस क्रिया की अनेक स्थितियो के सूचनार्थ रखी गयी है जिनमे पलायन आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त अग्नि तथा कुञ्जर आदि के उपद्रव के समय रहने वाले 'आवेग' मे यह 'अपसर्पण' अनेक बार होगा। अप्रियनिवेदन से जो आवेग होगा उसमे विषाद आदि अनुभाव होगे यह बात कहने पर एक सचारी की दूसरे के बीच मे यह स्थिति रहेगी यह बात भी इसी से दिख जाती है। इसे हमने आरम्भ मे ही दर्शाया भी है।

६६ कार्य के विषय मे प्रवृत्ति न होना (अप्रतिपत्ति) इससे विवेकाभाव ही जडता है यह स्पष्ट है। प्रश्न के करने पर भी उत्तर में कुछ न कहना यह स्थिति सामान्यरूप मे मित्रो के कथन मे प्रवृत्ति न होना ही है। यह मोह के पूर्व में या बाद मे भी हो सकती है यह भी लक्षण से स्पष्ट है।

६७-६८ जो पुरुष अपने जीवन के पूर्व भाग मे विद्यादि से हीन होते हैं ऐसे नीच प्रकृति के पुरुषो को विद्यादि की बाद मे प्राप्ति हो जाने पर उनमे 'गर्व' हो ही जाएगा। ऐसी स्थिति मे दृष्टि तथा अङ्गों की *विविध विकारों से युक्त गति होगी। यह इनमें धारावाहिकरूप में रखी* जाएगी परन्तु यही भाव उत्तमपुरुषो मे बिजली की तरह क्षणमात्र के लिये आएगा।

६९-७० मूल लक्षण मे दिये गये विवरण से आये हुये पदो मे कार्य पद का अर्थ है उपायो के द्वारा किये या चलने वाले उद्यम का अनिस्तरण अर्थात् फल की सम्पत्ति से रहित होना ऐसी जो दैवव्यापत्ति अर्थात् भाग्य की विषमता उससे 'विषाद' होता है। ऐसा कहने से ये ही सूचित होता है कि दैव के दोष से उत्पन्न जो फल की सम्पत्ति का क्षीण होना वह उत्तम उपायो के रहने पर भी हो सकती है। कुछ आचार्य इस भाव के क्रोध की दशा मे न रहने की बात करते हैं परन्तु वह ठीक नही। क्योकि रौद्रप्रकृति के व्यक्ति में भी 'विषाद' मिलता है। जैसे रामाभ्युदय में—

> एतत्तु क्षतिमातनोति मनसो यद्वज्रधाराङ्किते।
> क्रौर्यच्छात्रणय प्लवङ्गनखरैः प्राप्त प्रहस्तोरसि॥

यहाँ जो मानस क्षति है वही दौर्मनस्य भाव है और यही विषाद का अनुभाव है। ये पशुवृत्ति वानर जो सदा भागने की वृत्ति रखने वाले हैं उनकी कार्य भाव की इच्छा अनुचित है। किन्तु उनका जो प्रणय या अभीष्ट है वह समग्र अभिलषित पदार्थ की परिपूर्णता मे है परन्तु यह भाग्य की प्रतिकूलता के कारण उत्तम उद्यम या उपायो के करने पर भी उनसे फल की सम्पत्ति या प्राप्ति को नही करवा सकता। इस प्रकार अनुभाव के द्वारा यह बात स्पष्ट दिखती है तथा इस रूप मे विद्यमान विषाद का क्रोध व्यभिचारित्व किसी भी युक्ति या आगम या अनुभव से विरुद्ध पड़ेगा।

७० उत्सुक का भाव 'औत्सुक्य' है। इसमे 'वियोग' पद के ग्रहण से इसकी विप्रलम्भ शृङ्गार मे प्रमुखता की सूचना मिलती है। लक्षण मे 'स्मरण' पद से स्मृति से यह उद्दीप्त होता है तथा इसमें शयनाभिलाष बिना निद्रा के भी हो सकता है। यह बात पृथक् से बतलाने के लिये दोनो को अलग अलग दिखलाया है।

७१-७२. लक्षण मे प्रयुक्त 'दौर्बल्य' पद का अर्थ है व्याधि आदि के कारण शक्ति का क्षीण होना तथा क्लम अर्थात् स्वेद से होने वाला स्राव।

७३-७४. देवगण से लेकर पिशाच तक ग्रहो से जो अधिष्ठान के लिये स्मरण किया जाता है अथवा जो सत्वहीन है वह पुरुष इन देवादि का ध्यान या भय रख कर अपस्मार से ग्रसित हो जाता है। किसी अशुचि स्थिति मे शरीर के हो जाने पर इन ग्रहो का चिरकाल तक अवस्थान हो जाता है। वात, पित्त तथा श्लेष्म धातुओ के वैषम्य तथा बुद्धिस्थान मे जम जाने पर 'अपस्मार' जो मानते हैं उनका आशय बुद्धितत्व के विकृत हो जाने से है।

७५-७७- लक्षण मे सुप्त के लिये 'निद्रासमुत्थ' पद देने का आशय यही है कि जो प्रगाढ स्थिति है वही 'सुप्त' है जो विषयो से उपरमण की स्थिति है। जब कोई स्वप्न दशा मे किसी का अनुस्मरण करता है तो ऐसा प्रलाप सुनकर बाहर लोक मे उसकी किसी स्मृति का अनुमान लगाया जाता है।

७७. निद्रा के अपनी नियत मर्यादा के वश या आहार के परिणाम आदि से या इनके बिना भी निद्रा का छेद हो जाने से 'निद्राच्छेद' को पृथक् रूप मे 'विबोध' मे दिखलाया गया। यह स्वप्न की परिसमाप्ति रूप होता है। शब्द, स्पर्श आदि विबोधगत ही होते हैं ऐसा **श्री घण्टुक** का मत है परन्तु ये शब्दादि बाह्य मानना उचित है।

७७-७९ प्रतिकार की इच्छा रूप यह 'अमर्ष' क्रोध से भिन्न है। इसमे ध्यान बिना किसी लक्ष के अवस्थान है जो चिन्ता से यहाँ भिन्नता भी रखता

है। 'उत्साह सम्पन्न' पद से यह सूचित होता है कि उत्साहहीन या प्राकृत जन मे यह नहीं होता। लक्षण में उत्साह तथा अध्यवसाय पद से इनके अनुभावो को समझना चाहिये।

८० 'अवहित्थ' पद का निरुक्त है—'न बहिस्थ चित्त येन इति।' यह पृषोदरादित्वात् सिद्ध होता है। अन्य व्याख्या है—'आक्रियते बहि प्रकाश्यते चित्तवृत्ति यैस्तेषाम भ्रूविकाराणाम् आच्छादनकारि यत् चित्तवृत्तिरूपम् तद् 'अवहित्थम' अर्थात् बाहर व्यक्त होने वाले भ्रूविकारो के आच्छादन से जिस चित्तवृत्ति का प्रकट होना लक्षित हो वह 'अवहित्थ' है। जो आच्छादनकारि चित्तवृत्तिरूप है। प्रगल्भ पुरुष अपने आकार का सवरण समझता है इसी कारण उससे एक 'धाष्टर्य' और लगाया गया है। लज्जायुक्त अप्रगल्भ इन कार्य को नही कर सकता या जानता इसलिये इसके सभी विभावादि मे 'धाष्टर्य' ही अनुगत रहता है यह समझना चाहिए।

८१. अकार्य का चौर्य कर्म उपलक्षण है क्योंकि यही अनेक अकार्यों का कारण बनता है तथा इसी कारण जब राजादि के द्वारा मनुष्य को पकड़ा जाता है तो उस अपराधी के प्रति उग्रता तथा निर्दयभाव उनका रहता है। यही बात राजा के प्रति अपराध करने वाले तथा असत्प्रलाप या मिथ्यादोषवादी के प्रति भी होती है।

८२ अपूर्व प्रतिभान रूप 'मति' होती है। अनेक शास्त्रो का अर्थ (आशय) या प्रयोजन है विवेक का लाभ होना उससे यह उद्धत होती है। इसलिये शिष्य को उपदेश देने वाले भाव से या प्रयोजन से जो क्षेपादि देह विकार होते हैं उन्ही अनुभावो मे 'मति' का अभिनय दिखलाया गया है।

८३. ज्वर की सभी व्याधियो मे प्रधानता रहने के कारण 'ग्रहण' किया गया। मदनविकार मे भी ज्वर की सम्भावना रहती ही है। व्याधि के रहने पर उस समय जो किसी आतुर की चित्तवृत्ति होगी वही यहाँ व्याधिशब्द से अभीष्ट है क्योंकि व्याधि की दशा मे आतुर का चित्त अपने स्वाभाविक रूप मे स्थित नहीं रहता है।

८४–८५. इष्टजन से वियोग की दशा मे (विप्रलम्भ शृङ्गार की स्थिति मे) उत्तम पक्ष को भी पुरुरवा की तरह 'उन्माद' होता है। उत्तमपात्र न होने की दशा म यह विभवनाश से भी होता है। अतएव इसमे प्रकृति के औचित्य के आधार पर विभावादि को विभागपूर्वक रखना होता है। कुछ टीकाकार इसमे 'चित्तविकार' पद की व्याख्या 'चिरा विकरोतीति विकार' करते हैं। परन्तु यहाँ भट्टतोत—चित्त का जो विकार अर्थात् विकीर्णता या

बिखराव है जो किसी एक के निश्चय न होने से एक स्थान पर स्थित न रहना है जो 'उन्माद' रूप है। जैसे विक्रमोर्वशीय मे प्रिया को न देखने पर तथा अन्य कुछ न प्राप्त रहने पर नायक का शीघ्र उन्माद युक्त हो जाना। यही बात कविकुलचक्रवर्ती कालिदास ने प्रतिबोधित भी की—'तिष्ठेत् कोपवशात्' (वि० व०) इत्यादि से। अनिमित्तता का अर्थ है किसी प्रसिद्ध कारण का न रहना। व्याधि के अन्तर्गत उन्माद भी एक है किन्तु विप्रलम्भ आदि मे विचित्र चेष्टाओ आदि से प्रयोग मे सुन्दरता लाने के कारण इसे व्याधि से पृथक् रूप मे रखा गया। इसी प्रकार अपस्मार मे भी समझना चाहिये। क्योंकि यह बीभत्स, भयानक आदि मे इसी प्रकार विचित्रता उत्पन्न कर देता है।

८६-९०. अब व्याधि के शरीर मे अधिक गहराई से जम जाने के कारण ऐसी चित्तवृत्ति बने कि अब इससे निपटना अशक्य है तो यही चित्तवृत्ति अभिनय म, 'मरण' है अर्थात् प्राणो का त्याग करना। इसलिये म्रियमाण दशा की चित्तवृत्ति ही यहाँ भरत ने मरण रूप सचारी माना है मृतावस्था को नही। क्योंकि उसमे किन्ही अनुभावों की स्थिति नही होती। यही इन्द्रियो से वर्जित अभिनय रहने के कारण 'सर्वेन्द्रियसम्मोह' भी कहा गया है।

९१ 'भैरव' का अर्थ है जो भीरुजन को त्रास देता हो ऐसा। शीघ्र ही विधूननकारी चमत्कार करने वाला 'त्रास' भय से पूर्वापर विचार के कारण भिन्न है यह बात 'अक्षिनिमेषै' पद तथा उसमे प्रयुक्त बहुवचन के द्वारा सकेतित की गयी है।

९२ 'वितर्क' के लक्षणगत रूप मे 'सन्देह' सदा उभयावलम्बी ज्ञान होता है जिसे सशय भी कहते हैं। विमर्श का अर्थ है विशेष प्रतीति की आकाक्षा रूप इच्छा की स्थिति रहना। कुछ विद्वान् धर्मी मे सन्देह तथा धर्म मे विमर्श इस प्रकार स्थित भ्रान्ति ज्ञान को 'विप्रत्यय' कहते हैं। इसमें 'विहृत या' चली गयी जैसी बुद्धि से कार्यकलापो का परित्याग तथा प्राप्ति दोनो विवक्षित रहती हैं (किसी मन्त्र या मन्त्रो (गुप्त सलाह) को ग्रहण करने के कारण इसकी अवहित्थ से समान स्थिति रहती है)। विचारणा का अर्थ है पूर्व पर का विचार। नय अर्थात् षाड्गुण्य का प्रयोग हो जिसकी व्यास्था है ऐसा, क्योंकि अन्य पक्ष में रहने वाले बल की सम्भावना के ज्ञान से ही सभी नीति प्रयोग होते हैं। आचार्य चाणक्य ने 'दैवमचिन्त्य पुरुषकारस्तु चिन्त्य' कहकर तर्कपूर्वक सभी नीति व्यवहार को करने की बात कही है। जैसा कि आचार्य भट्टतौत ने भी कहा—

'सम्भावनाप्रमाणो हि तीक्ष्णप्रज्ञोऽपि यद् वदेत् ।'

अर्थात् तीक्ष्णबुद्धि चतुर जन भी सम्भावना या तर्क करके ही कहते हैं। इत्यादि।

त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणो भावा इति। सचारी भाव तैंतीस ही होते जैसे— दम्भ का अवहित्थ मे, उद्वेग का निर्वेद मे, क्षुत् तृष्णा का ग्लानि म अन्तर्भाव हो जाता है। कुछ आचार्य कहते हैं कि चित्तवृत्तियो की गिनती करने मे कौन सक्षम है और गणना तार्किक गुणन के द्वारा या साख्य दर्शन के द्वारा सख्या प्रत्यय की सरणि से सभी का सग्रह भी हो तो उसकी सीमा क्या होगी। इसके अतिरिक्त यदि कवि तथा अभिनेता के शिक्षार्थ इतने सचारी का निरूपण हो तो फिर अन्य भावो को भी दिखलाना उचित है इसके उत्तर म यही कहा जा सकता है कि सामान्याभिनयाध्याय में मुनि ने पुरुष तथा स्त्रियो के भाव चेष्टाओं तथा अलङ्कारो का विवरण दे ही दिया है जो सचारी से भिन्न है। यहाँ विभाव, अनुभाव के अतिरिक्त सचारी का मात्र निरूपण हुआ है। इसी कारण ग्लानि में क्षुततृष्णा जैसी दशा का विभावत्वेन प्रसिद्ध होने से लक्षण में उल्लेख हुआ है। प्रत्येक भाव का कवि तथा अभिनेता के उपयोगी लक्षण देना अधिक उपयुक्त भी नही है केवल शास्त्र की दृष्टि से ही भावो का विवरण उपयुक्त है। कुछ आचार्य कहते हैं कि मुख्यरूप से तैंतीस भावो का यदि ज्ञान रहेगा तो अनुभावो का बोध सरलता से हो सकता है। आचार्यों का मत है कि इन्हीं सचारी के प्रयोग से सौन्दर्य की वृष्टि होती है तथा ये ही स्थायी की चर्वणाभूमि को प्रस्तुत करते हैं जिससे आगे चलकर स्थायी रसत्व प्राप्त कर सके।



परिशिष्ट २

पद्यार्धानुक्रमणिका

द

ध

न

आधार एवं सन्दर्भ ग्रन्थसूची

अपराजित पृच्छा ।

अभिनयदर्पण । नन्दिकेश्वर । कलकत्ता ।

अभिनवभारती । अभिनवगुप्तप्रणीत नाट्यशास्त्र व्याख्या भाग १ से ४ बड़ौदा ।

अर्थशास्त्र । कौटिल्य । चौखम्बा, वाराणसी ।

काव्यादर्श । दण्डी । चौखम्बा, वाराणसी ।

काव्यप्रकाश । मम्मट । चौखम्बा, वाराणसी ।

काव्यालङ्कारसूत्र । भामह । चौखम्बा, वाराणसी ।

काव्यालङ्कारसूत्र । रुद्रट । निर्णयसागर, बम्बई ।

काव्यालङ्कारसूत्र । वामन । चौखम्बा, वाराणसी ।

काव्येन्दुप्रकाश । कामराजदीक्षित । चौखम्बा, वाराणसी ।

दशरूपक । धनिक तथा धनञ्जय । चौखम्बा, वाराणसी ।

नाटकलक्षणरत्नकोश । सागरनन्दी । चौखम्बा, वाराणसी ।

नाटकचन्द्रिका । रूपगोस्वामी । चौखम्बा, वाराणसी ।

नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । काव्यमाला, वाराणसी तथा बड़ौदा संस्करण ।

नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । मनोमोहनघोषकृत अंग्रेजी भाषानुवाद ।

नाट्यशास्त्र संग्रह । मद्रास ।

नारदीयशिक्षा ।

पाणिनीय शिक्षा । चौखम्बा, वाराणसी ।

भरतकोष । स० रामकृष्णकवि । पूना ।

भरतार्णव । नन्दिकेश्वर । मद्रास ।

भरतभाष्य । नान्यदेव । खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय ।

भावप्रकाशन । शारदातनय । बड़ौदा ।

भारतीय नाट्यशास्त्र । गोदावरी केतकर (मराठी)

मानसारशिल्पशास्त्र । डॉ० पी० के० आचार्य ।

रसगङ्गाधर । पण्डितराज जगन्नाथ । चौखम्बा, वाराणसी ।

रसार्णवसुधाकर । सिंहभूपाल । सं० डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी

राजतरङ्गिणी । कल्हण, जोनराज तथा श्रीवर ।

शार्ङ्गधर-पद्धति । शार्ङ्गधर ।

शृङ्गारप्रकाश । भोज । ज्योस्यार सम्पादित खण्ड १-३ ।

सरस्वतीकण्ठाभरण । भोज । कलकत्ता ।

साहित्यदर्पण । विश्वनाथ कविराज । चौखम्बा, वाराणसी ।

सङ्गीतमकरन्द । नारद । बड़ौदा ।

सङ्गीतरत्नाकर । शार्ङ्गदेव । अड्यार (खण्ड १-४)

समराङ्गणसूत्रधार । भोज । बड़ौदा ।

कालिदास अकादमी जर्नल । उज्जैन का रंगमंच अंक १ ।

अंग्रेजी सन्दर्भ ग्रन्थ

Ancient Indian Theatre D R Mankad
Bharata's Natya and Costume Dr G S Gurye
Bibliography of Sanskrit Drama Schuler
Classical Sanskrit Literature A B Keith
Classical Indian Dance in Literature and the Arts Dr Kapila Vatsyayana
Comparative Æsthetics Vol I Dr Kanti Chandra Pandeya
Contribution to the History of the Hindu Drama Dr Manomohan Ghosha
Dictionary of Hindu Architecture P K Acharya
Drama and Dramatics of Non European Race William Ridgeway
Drama in Sanskrit Literature R V Jahagirdar
History of Indian Literature Vol I II, III A M Winternitz
History of Sanskrit Literature Dr S N Dasgupta and Dr S K De
History of Sanskrit Poetics Dr S K De
History of Sanskrit Poetics Dr P V Kene
Indian Theatre C B Gupta
Laws and Practice of Sanskrit Drama Dr S N Shastri,
Number of Rasas V Raghavan
Shringar Prakash of Bhaja V Raghawan
Sanskrit Drama A B Keith
Select Speciemen of the Hindu Theatre (I-III Vols) H H Wilson
Types of Sanskrit Drama Dr D R Mankad
The Tāndava Lakshanam V V Narayanswami Naidu

हिन्दी सन्दर्भ ग्रन्थ

संस्कृत साहित्य में शब्दालकार—डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी।
नाट्यवार्ता—(अनामिका-कलकत्ता) का नाट्यशास्त्रविशेषांक।



नाट्यशास्त्र-प्रथमभाग शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१२	परम्रा	परम्परा
३	१०	प्ररम्भ किया	प्रारम्भ किया
३	१९	प्रमाणिकता प्रदान	प्रामाणिकता प्रदान
९	४	यमधूम्रायणौ तया ॥ २७ ॥	यमधूम्रायणौ तथा
१६	१	सर्वोपकरणानि वै ।	सर्वोपकरणानि वै ।
१९	१	देवराज ने इन्द्र अभिनय में	देवराज इन्द्र ने अभिनय में
१९	७	गृहीत्वां ध्वजमुत्तमम् ।	गृहीत्वा ध्वजमुत्तमम् ।
२१	१०	ततवेक्षितुमर्हसि ॥८१॥	तदवेक्षितुमर्हसि ॥ ८१ ॥
२२	६	विनियुक्तस्तु चन्द्रमा ।	विनियुक्तस्तु चन्द्रमाः ।
३४	४	सर्वे भावास्तु मानुषा	सर्वे भावास्तु मानुषा ।
३७	१०	अणू रजश्च लिक्षा	अणू रजश्च वालश्च लिक्षा
४३	८	शखदुन्दुभिनर्घोषै	शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषै
४३	२४	पाषण्ड का बुरा कार्य नहीं	पाखण्ड शब्द का बुरा अर्थ नहीं
४७	७	पहिले ब्राह्मणस्तम्भ नीचे	पहिले ब्राह्मणस्तम्भ के नीचे
४८	२१	कर्तृनापि तथा सर्वान्	कर्तृनपि तथा सर्वान्
५१	८	येऽङ्कद्रोषविवर्जिता ।	येऽङ्कदोषविवर्जिता ।
५३	४	नानाकुट्टिमविन्यस्तै	नानाकुट्टिमविन्यस्तै
५३	१३	की स्थित सभव नहीं ।	स्थिति संभव नहीं ।
५६	१२	चतुरस्रेऽपि कारयेत् ।	चतुरस्रेऽपि कारयेत् ।
६०	७	त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभि ॥१०८॥	त्र्यस्रस्यापि प्रयोक्तृभि ॥१०८॥
६०	२०	यह सभी शिल्पियों	यह सभी शिल्पियों
६३	१३	स्व महेन्द्रप्रहरण	स्वं महेन्द्रप्रहरण
६३	१४	गोब्राह्मणशिवश्चै	गोब्राह्मणशिवश्चैव
६४	२०	दिनके अन्तमें आने नाले घोर	दिनके अन्तमें आने वाले घोर
६८	९	पितन् पिशाचानुरगान्	पितॄन् पिशाचानुरगान्
७८	२	पृथ्वी के नीचले भाग	पृथ्वी के निचले भाग
७५	२५	पुण्यमालापुरस्कृतम् ।	पुण्यमालापुरस्कृतम् ।
७७	१४	अतएव आपको अपने जन्म तथा और गुणों के	अतएव आपको अपने जन्म तथा गुणों के
८०	१६	रंगमञ्च की विधिवत् पूजना न की जाने	रंगमञ्च की विधिवत् पूजा न की जाने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८२	१	जो मनुष्य को चित्त के उद्वेग के	जो मनुष्य चित्त के उद्वेग के
८७	१३	नामत कर्मंतरतया।	नामत कर्मंतस्तथा।
९१	४	गृध्रावलौनिक चैव	गृध्रावलीनक चैव
९१	१७	चैवेत्युक्तमष्ठधिक शतम्।	चैवेत्युक्तमष्टाधिक शतम्।
९१	२१	अभिनय के मध्य वचन वाले	अभिनय के मध्य वचनें वाले
९४	२२	बलित मुद्रा रखी जाए	वलित मुद्रा में रखी जाए
९५	१०	शरीर अपनी स्वमाविक अवस्था में	शरीर अपनी स्वभाविक अवस्था में
९५	२०	तो स्वस्तिरेचित	तो स्वस्तिकरेचित
९५	२२	पाङमुखोर्ध्वतलौ समौ ॥६८॥	प्राङ्मुखोर्ध्वंतलौ समौ ॥६८॥
९६	७	'निकुट्टित' हथा पैरों को	'निकुट्टित' तथा पैरों को
९७	२	कोख को 'तन' मुद्रा में	कोख को नत मुद्रा में
९७	१६	इने 'स्वस्तिक' करण जाने॥	इसे 'स्वस्तिक' करण जाने
९७	२६	नल्यकोविदै –क	नाट्यकोविदै –क
९८	६	करे तो 'आलात' करण	करे तो 'आलात' करण
९८	१०	चेष्टा में रखे हो तो	चेष्टा में रखी हो तो
९९	१६	(ताल नादि आदि के)	(ताल वाद्य आदि के)
१०१	१७	कोख की ओर मोह ले तो	कोख की ओर मोड़ ले तो
१०३	८	पीछे की ओर घुमाया रखा जाए	पीछे की ओर घुमा हुआ रखा जाए
१०४	२	तो उस करण को 'वृश्चिक' कहते हैं।	तो उस करण को 'वृश्चिक' कहते हैं।
१०५	६	झूलती हुई भुजाओं से युक्त रखे	झूलती हुई भुजाओं से युक्त रखें
१०५	२५	'अर्गल' करण जानों ॥ ११७–११८	'अर्गल' करण जानों ॥११७–११८॥
१०६	२३	हाथों के रेचित मुद्रा में रखे	हाथों को रेचित मुद्रा में रखे
१०८	९	दोनों हाथों (दाये–वायें) क्रमश	दोनों हाथों (दाए-बाँए) को क्रमश
१०९	१९	ज्ञेयमर्धसूचिति नामत	ज्ञेयमर्धसूचीति नामत
११०	१३	आञ्चितापसृतौ पादौ	अञ्चितापसृतौ पादौ
१११	१६	नाट्यप्रयोग के अनुसारं चारी ओर घुमा दे	नाट्यप्रयोग के अनुसार चारों ओर घुमा दे
११२	१६	गिर 'ऊद्वृत्त' चारी में	फिर 'उद्वृत्त' चारी में

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११३	४०	तदवहिर्स्थकम् ।	तदवहित्थकम् ।
११६	१५	कुर्यात्तथैव निकुट्टकम् ॥१७२॥	कुर्यात्तथैव च निकुट्टकम् ॥१७२॥
११७	९	कटिच्छिन्नं ततैव च ॥१७४॥	कटिच्छिन्नं तथैव च ॥१७४
११७	१९	ऊरूद्वृत्तं तथाचित—	ऊरूद्वृत्तं तथाचित—
११९	९	पादेन च निकुट्टिकम् ॥१८५॥	पादेन च निकुट्टितम् ॥१८५॥
११९	१२	विष्कम्भे परिकीर्तिम् ।	विष्कम्भे परिकीर्तितम् ।
११९	२३	कर्तव्यः स कटिच्छोदोम० ।	कर्तव्य स कटिच्छेदो ग० ।
१२३	९	तलसंस्कोटसंयुतम् ॥१०४॥	तलसस्फोटसयुतम् ॥२०४
१२५	१९	रेचिनं मण्डलञ्चैव	रेचित मण्डलञ्चैव
१२६	८	यण्डदेशो निकुट्टयेत् ॥२१९॥	गण्डदेशे निकुट्टयेत् ॥२१९
१३४	७	पद्मपिण्डी स्वयंभुव ॥२५६॥	पद्मपिण्डी स्वयंभुवः ॥२५६॥
१३८	१९	गत्या वाद्यानुसारिण्यां	गत्या वाद्यानुसारिण्या
१३९	१३	अङ्गहारप्रयीगे च	अङ्गहारप्रयोगे च
१५२	१०	संगतीरत्नाकर ने चित्र, वार्तिक ··	संगीतरत्नाकर ने चित्र वार्तिक
१५३	१३	ताल०) पदभाग का विशेप विवरण	ताल०) पादभाग का विशेप विवरण
१५४	८	नृत्तपादवकृतानि तु ॥१२॥	नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥१२॥
१५८	१०	यस्मादुस्त्थापयन्त्यत्र	यस्मादुत्थापयन्यत्र
१५८	११	रङ्गेऽस्मिस्तमादुत्थापनं स्मृतम् ॥ २२ ॥	रङ्गेऽस्मिँस्तस्मादुत्थापनं स्मृतम् ॥ २२ ॥
१६२	५	मात्सर्यादिस्वराक्षसाः ॥३३॥	मात्सर्यादिस्वराक्षसाः ॥३३॥
१६३	१०	देवा कर्मानुकीर्तनम्	देवा कर्मानुकीर्तनात् ।
१६५	२३	अवसर पर परमोपयोगी हो ऐसी वीणा	अवसर पर संगति में परमोपयोगी हो ऐसी वीणा
१७२	१५	स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठत ॥७६॥	स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः ॥७६॥
१७६	१५	वाह्येनानुगतेन च ॥ ८९ ॥	वाद्येनानुगतेन च ॥ ८९ ॥
१७८	१४	बायाँ हाथ स्त्रीपाद्	बायाँ पैर स्त्रीपाद्
१८०	१६	सूत्रधार पठेत्तत्र	सूत्रधारः पठेत्तत्र
१८२	५	सम्यगुत्ताभिर्वाग्भिमदौ पारिपार्श्विकौ ॥११०॥	सम्यगुत्ताभिर्वाग्भिस्तौ पारिपार्श्विकौ ॥ ११० ॥
१८४	८	आद्यमन्तं चतुर्थपञ्चमं च ··	आद्यमन्त्यं चतुर्थञ्च पञ्चमञ्च ··
१९८	१३	चतुरस्रा ध्रुवा तत्र द्रुतलया-न्विता ॥ १२६ ॥	चतुरस्रा ध्रुवा तत्र तथा द्रुतलया-न्विता ॥ १२६ ॥

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८६	१८	इस ध्रुवा का प्रत्येक पाद एकादशाक्षर का	इस ध्रुवा का प्रत्येक पाद त्रिष्टुप् छन्द में एकादशाक्षर का
१८७	१२	पादैर्द्रुतलयान्वितै ।	पादैर्द्रुतलयान्वितै ।
१८८	७	तत्रपि वामवेधस्तु	यत्रापि वामवेधस्तु
१९२	१८	लगता है तथा यह शब्दा क्रिया क	लगता है तथा यह सशब्दा क्रिया के
१९८	९	सूत्रधारगुणाकृति ।	सूत्रधारगुणाकृति ।
२१२	४	प्रस्तान्पञ्चभिधस्त्व म ॥१॥	प्रस्तान् पञ्चाभिधस्त्व न ॥१॥
२१२	८	नाट्यं नाट्यविचक्षणै ।	नाट्ये नाट्यविचक्षणै ।
२१२	२	कारिका चैव निरुक्त चैव	कारिकाश्चैव निरुक्त चैव
२१३	८	रसाभावविकल्पनम् ॥ ४ ॥	रसभावविकल्पनम् ॥ ४ ॥
२२३	९	आहार्यं स त्विकस्था ।	अहार्यं सात्त्विकस्तथा ।
२२६	२४	आन्तरिक भावों के सभिव्यजक स्वेद	आन्तरिक भावों के अभिव्यञ्जक स्वेद
२२४	१५	तथा मात्वि अभिन्य का विवरण	तथा सात्विक अभिनय का विवरण
२४	२३	नाट्यधर्मी का लक्षण ना० शा० अध्य ११४ मं	नाट्यधर्मी का लक्षण ना० शा० अध्या० ११४ म
२२६	८	इस व्युपत्ति के अनुसार	इस व्युत्पत्ति के अनुसार
२२८	७	तावद्वादावभिव्याख्याम ।	तावद्वादावभिव्याप्याख्याम ।
२२९	५	स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तै	स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ
२३७	१६	ननु प्रमद्वादिभि कारणै	ननु प्रमदादिभि कारणै
२४०	१	वैधुर्याभावे कत म	वैधुर्याभावे कथ न
२४६	२३	परब्रह्मास्वोदसविधेन भोगेन पर	परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन पर
२४८	११	भट्टलोल्लट पक्षानभ्युपगमादेव नाभ्युपगत	भट्टलोल्लटपक्षानभ्युपगमादेव नाभ्युपगत
२४८	२१	(रसा ?) स्मन प्रतीतयो	(रसा ?) स्मान प्रतीतयो
५५४	२२	यथ —अजवि हरिणा	यथा —अजवि हरिणो
२६४	२१	एतद्गुणप्रधानभावाकृत एव च	एतद्गुणप्रधानभावकृत एव च
२६५	१०	तया परमुपहत्वमीष्ट वियोगसन्तप्त	तया परमुपहसत्वभीष्ट वियोग सन्तप्त
२६५	१२	नयाकान्त किञ्चि	तयाक्रान्त किञ्चि
२६६	१९	कर्तव्यान्तरविषये स्योरुसाहादेरखण्डनात् ।	कर्तव्यान्तरविषयस्योत्साहादेरखण्डनात् ।

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६६	२१	यथाह पातञ्जले	यथाह पतञ्जलि
२७०	१८	स्थायिविल्ण एव रस ।	स्थायिविलक्षण एव रस ।
२७१	१०	तेन स्थायिप्रतितीरनुमिति रूपा	तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा
२७२	१३	पूर्णमविष्यद्रसास्वादाङ्कुरी भावेनानुमान	पूर्णभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावना-नुमान
२७४	२२	नन्नेव रसोऽप्रमेय स्यात् ?	नन्वेव रसोऽप्रमेय स्यात् ?
२७७	१५	वाङमयरूपी महार्णवा को	वाङमयरूपी महार्णव को
२७९	३	वात्समात्तमिरयार्पितानु भावर्गस्तु	आत्समात्मि यार्पितानुभाव वर्गस्तु
२८२	१	भिर्द्ग्यैर्ज्ञनौपधिमिश्र पाड्वाद्यो	भिद्गयैर्ज्ञनौषधिमिश्र पाड्वाद्यो
२८२	२०	कपायभ्यो मिश्रेभ्यश्च विल्त्रण	कषायभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षण
२८४	१	कल्प्यऽज्ञनजनितो मन्तव्य ।	कल्पव्यज्ञनजनितो मन्तव्य ।
२८६	९	भक्त भक्तिविदो जना ॥३३॥	भक्त भक्तविदो जना ॥३३॥
२८६	१०	स्थायिभावास्तथा सुधा ।	स्थायिभावोस्तथा सुधा ।
२८९	२०	तथा अनुकरण रस है' इस)	का अनुकरण रस है' इस)
२८९	२१	क्या रसों म भावों की	क्या रसों से भावों की
२९३	५	रससवितमूलक काव्य के द्वारा	रससम्विम्मूलक काव्य के द्वारा
२९३	८	में दिभावादि की प्रतीति	में विभावादि की प्रतीति
२९४	३	(इति) अतएव अव इन रसों की	(वृत्ति) अतएव अव इन रसों की
२९६	८	हास्य प्रथमदैवन ।	हास्य प्रमथदैवत ।
२९६	२३	शिव के कीड़ा करने वाले गणों	शिव के साथ क्रीडा करने वाले गणों
३००	१०	रस्र हुये हैं	रखे गये हैं
३००	२२	यथा अपने उज्ज्वल	तथा अपने उज्ज्वल
३०१	५	सुधार कहलाता है।	शृङ्गार कहलाता है।
३०१	१९	फलाप्राप्ति की अवस्था तक रहने	फलप्राप्ति की अवस्था तक रहने
३०२	२७	परन्तु भोग अभाव में प्रियवल के प्रति	परन्तु भोग के अभाव में प्रियजन के प्रति

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०५	२१	आदि इष्टजन से नायक नायिका की उत्तम-प्रकृति···	आदि इष्टजन ये नायक नायिका की उत्तम-प्रकृति···
३०७	२९	इसी बात को मूचित करने के मूल में 'अन्त्य' पद का···	इसी बात को सूचित करने के लिये मूल में 'अन्त्य' पद का···
३१०	९	भरतमुनि ने भी 'यहामा-भिनवेशित्व (ना० शा० २४।२०७)	भरतमुनि ने भी 'यत्नामा-भिनिवेशित्व (ना० शा० २४।२०७)
३१३	६	एक दूसरे से पार्थक्य रहते हैं।	एक दूसरे से पार्थक्य रखते हैं।
३१३	२६	के चकार का सांकेतिक अर्थ है।	के चकार का सांकेतिक अर्थ है।
३१४	५	योग्य होते हैं अतएव रतिरूप ही 'पुरुष' है।	भोग्य होते हैं अतएव रतिरूप ही 'पुरुष' है।
३१७	१	विकृतवेप अलंकार ढिठाई,	विकृतवेप अलंकार ढिठाई
३१७	१८	विदूषक हास्यजनक वेप के द्वारा हास्यात्मक (को) ही प्रदर्शित···	विदूषक हास्य जनक अपने वेप के द्वारा हास्य (को) ही प्रदर्शित···
३२०	१०	अधमानामहसितं	अधमानामपहसितं
३२३	२८	एवसारमसमुत्थश्च···द्विविध-श्चिप्रकृतिकः षड्भेदो···	एवमात्मसमुत्थश्च···द्विविध-स्त्रिप्रकृतिकः षड्भेदो···
३२५	४	मुँह का उत्तर जाना	मुँह का उतर जाना
३२५	२२	विभवनाश आदि होने पर भी उत्तम प्रकृति···	ये विभवनाश आदि होने पर भी उत्तमप्रकृति······
३२६	२	इससें निर्वेद, ग्लानि चिन्ता···	इसमें निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता···
३२७	१४	मोह का अर्थ जड़ता है। रस से अन्य	मोह का अर्थ जड़ता है। इससे अन्य···
३२७	२१	यहाँ भी आत्कशब्दका प्रयोग (मूल में)···	यहाँ भी आत्मशब्द का प्रयोग (मूलमें)··
३२९	२	तथा उद्धत प्रकृति के मनुष्यों से···	तथा उद्धत प्रकृति के मनुष्यों से···.

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३१	८	इसी कारण ताडनादप्रस्त पुरुष में	इसी कारण ताडनादिग्रस्त पुरुष में
३३२	११	इत्यादि से अपना प्रस्तुत करता है कि	इत्यादि से अपना मत प्रस्तुत करता है कि
३३५	१२	व्यापार का औचित्य सूचित होता है। इसीलिये प्रसङ्ग में अनुमित के आधार पर	व्यापार का औचित्य सूचित होता है। इसीलिये प्रसङ्ग में अनुमिति के आधार पर
३३५	२१	कार्य को 'उपकर्मक्रियात्मक के द्वारा क्रोधावेश मे आकर उपकर्म अर्थात्	कार्य को 'उपकर्मक्रियात्मक' के द्वारा क्रोधावेश में आकर उपकर्म अर्थात्
३३९	२३	प्रथम आर्या मे दिये गये गुरु तथा नृत्य इत्यादि	प्रथम आर्या में दिये गये गुरु तथा नृप इत्यादि
३४०	७	मुँह का उत्तर जाना तथा स्वरभेद	मुँह का उतर जाना तथा स्वर-भेद
"	१९	भीत एवास्मि भर्तुः (र० ३।७)	भीत एवास्मि भर्तुः (र० ३।७)
३४१	३	एतत्स्वभावज स्यात् सत्व सामुत्थ तथैव	एतत्स्वभावज स्यात् सत्वसमुत्थ तथैव
३४२	२५	यहाँ 'नृ य' पद से भय के स्वाभाविक	यहाँ 'नित्य' पद से भय के स्वाभाविक
३४३	१२	सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणन नेत्रन निष्ठीवनो	सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणनोल्लेखन निष्ठीवनी
३४३	१९	अत्यन्त अप्रिय (अग्राह्य) होती है,	अत्यन्त अप्रिय (अग्राह्य) होती है,
३४४	८	प्रतिपादक भिन्न आर्याएँ है	प्रतिपादक भिन्न आर्याएँ है
३४५	३	कुलाभिगमनसम्भा विमान मायन्द्र	कुलाभिगमन सभाविमान मायन्द्र
३४६	२६	२ एभिरस्तर्थविशेषे	२ एभिरत्वर्थविशेषै
३४८	७	तथा शोधकृतभेद से तीन प्रकार का	तथा शोककृत भेद से तीन प्रकार का
३४९	३	बीभत्स रस क्षोभज, शुद्ध तथा उद्वेगी	बीभत्सरस क्षोभण, शुद्ध तथा उद्वेगी
३४९	४	मूल तथा कीडे आदि सडी वस्तुओं के	मल तथा कीडे आदि सडी वस्तुओं के

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४९	५	वस्तु वे देखने से 'क्षोभण' ॥ ७८-८२ ॥	वस्तु के देखने से 'क्षोभण' ॥ ७८-८२ ॥
३४९	१३	बीभत्सों को क्षोभज अर्थात् अशुद्ध समझना	बीभत्सों को क्षोभण अर्थात् अशुद्ध समझना
३५०	२२	कारणरूप से प्रतीति नहीं होत।	कारणरूप से प्रतीत नहीं होते।
३५५	१९	स्थायीभाव रूप म स्थित निश्चित नहीं	स्थायीभाव रूप में स्थिति निश्चित नहीं
३५६	१०	एक दूसरे मत के अनुसार पानरस के आस्वाद	एक दूसरे मत के अनुसार पानक-रस के आस्वाद
३५९	१७	इत्यप्रार्थितलभ्यसर्व वने दुष्प्राथिनि यत्	इत्यप्रार्थितलभ्य सर्व वने दुष्प्रार्थिनि यत्
३६५	८	मनीषिगण के लिये लक्षणों में युक्त नवरसों का	मनीषिगण के लिये लक्षणों से युक्त 'नवरसों' का
३६५	१९	उज्ज्वल सूत्र के समान इन भावों के बीच	उज्ज्वलसूत्र के समान इन भावों के बीच
३६५	२३	समानरूप से प्रतीति आन्तरिक अवस्था के भेद से	समानरूप से प्रतीत आन्तरिक अवस्था के भेद से
३६९	१९	'वागङ्ग' इत्यदि से	'वागङ्ग' इत्यादि से
३७१	१५	दिखलाई है जिस सग्रह करने के लिये	दिखलाई है जिसे सग्रह करने के लिये
३७२	२८	आस्वादन वे योग चित्तवृत्ति विशप	आस्वादन के योग्य चित्तवृत्ति विशेष
३८०	२	श्लतुमाल्यानुलेपनाभरण	ऋतुमाल्यानुलेपनाभरण
३८०	५	यह ऋतु माल्य, चन्द्रलेपन	यह ऋतुमाल्य चन्दन लेपन
३८१	२	भार्यामौ र्यादिभिर्विभावै	भाग्यमौर्यादिभिर्विभावै
३८१	१८	नदिभिर्विभावै समु	नादिभिर्विभावै समु
३८४	२३	गुरुनन क प्रति होनवाले उसको विनयच्छन्न	गुरुजन के प्रति होनेवाले क्रोध में उसको विनयच्छन्न—
३८८	२३	परिकीर्तनादिभिर्विभवै समु	परिकीर्तनादिभिर्विभावै समु
३९०	१५	वि अभि इत्येतानुपसर्गौ	वि अभि इत्यतावुपसर्गौ
३९०	२२	सग्रहाभिहितास्त्रयस्त्रिंश द्व्यभिचारि	सङ्ग्रहाभिहितास्त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारि

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३९५	१९	प्रथम (आत्वसमुत्था शङ्का)	प्रथम (आत्मसमुत्था शङ्का)
३९६	२२	स च त्रिविध' पञ्चविध भावश्च।	
३९९	१५	गमनैस्तथाभिनय प्रयो-क्तव्यः	गमनैस्तथाभिनयः प्रयोक्तव्य·
४००	८	अहारवजितानां	आहारवर्जितानां
४०४	१	आत्रार्यं भवत —	अत्रार्ये भवतः—
४०४	७	कम्पेश्चत्वेपैश्चाभिनेतव्या ॥	कम्पैश्चेपैश्चाभिनेतव्या ॥
४०४	२१	' समुद्भवा घृति सद्भि	ममुद्भवा धृति' सद्भिः
४०५	२४	पश्चात्तापेन व्रीडित इति	पश्चात्तापेन युतो व्रीडित इति
४०६	११	नाम रागद्वेषमात्सर्या-मर्षेर्ष्या ··	नाम रागद्वेषमात्सर्यामर्षेर्ष्या
४०६	१२	तस्याश्च पाक्यारुष्य	तस्याश्च वाक्पारुष्य ··
४०६	१८	आत्रार्या भवति	अत्रार्या भवति
४०८	१६	सर्वाङ्गमपिङ्गनप्रधावन ··	सर्वाङ्गमपिण्डनप्रधावन···
४०९	१२	सुकाने, धुएँ को झाड़ने,···	झुकाने, धुएँ को झाड़ने,···
४१२	७	येत्सहान्वेषणोपायचिन्ति-नोत्साह ··	येत् सहायान्वेषणोपायचिन्तनो-त्साह ··
४१२	१०	कार्य के समाप्त म होने	कार्य के समाप्त न होने
४१२	१२	चित्त में मलिन होने	चित्त के मलिन होने
४१३	१	सम्पत्ति ले राजा के द्वारा चति पहुँचाने···	सम्पत्ति के राजा के द्वारा क्षति पहुँचाने ··
४१४	१६	दौर्बल्यात्वलमाच्छ्मा ··	दौर्बल्यात् बलमाच्छ्मा···
४१५	७	नि श्वसितोत्कम्पितधाव-पतनस्वेद	निश्वसितोत्कम्पितधावन पतन-स्वेद···
४१६	१३	सम्मोहनोत्स्वप्नायिता-द्विभिरनुभावै ··	सम्मोहनोत्स्वप्नायितादिभिरनु-भावै··
४१६	१५	सुप्त भाव निद्रा से उत्पन्न होता है। (निद्राभि-भव) यह इन्द्रियों के द्वारा अपने	सुप्त भाव गहरी निद्रा से उत्पन्न होता है (निद्राभिभव)। इन्द्रियों के द्वारा अपने
४१६	१८	आदि विभावों में 'सुप्त' उत्पन्न होता है।	आदि विभावों से 'सुप्त' उत्पन्न होता है।
४१९	१९	सम्भूतभवहित्थं मयात्म-कम्।	सम्भूतमवहित्थं भयात्मकम्।

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२०	७	निर्भर्त्सनादिभिरभावै रभिनयेत् ।	निर्भर्त्सनादिभिरनुभावैरभिनयेता
४२१	११	तस्य ज्वरादयो विशेषा । ज्वरन्तु द्विविध'	तस्या ज्वरादयो विशेषा' । ज्वरस्तु द्विविध'
४२१	१३	निकुञ्चनाभिलापरोमाञ्च	निकुञ्चनाभिलापरोमाञ्च
४२२	२७	और यह शरीर दोनों के कारण	और यह शरीर होने के कारण
४२३	६	गाली देने (उत्कृष्ट) तथा (बेसिर पैर की बातें)	गाली देने (उत्कृष्ट) तथा (बेसिर पैर की बातें)
४२३	९	टुने हुए सरावले	टूटे हुए सरावले
४२५	१९	प्रख्यात नायक ने वध का निषेध ही भरत	प्रख्यात नायक क वध का निषेध ही भरत
४२६	१९	गले की ढल जाना	गले का ढल जाना
४२८	१२	विचार विमर्श आदि मे उत्पन्न	विचार विमर्श आदि से उत्पन्न
४३०	१६	न इमे	त इमे
४३०	१७	स्तम्भ स्वदोऽथ	स्तम्भ स्वेदोऽथ
४३१	८	आदि में 'स्वेद' उत्पन्न	आदि से 'स्वेद' उत्पन्न
४३१	२३	क्लेश (क्लम) तथा घास (ताप) से	क्लेश (क्लम) तथा घाम (ताप) से
४३२	१	स्वरभेदोऽभिनेतव्यौ	स्वरभेदोऽभिनेतव्यो
४३४	१७	विस्ययश्च वितर्कश्च	विस्मयश्च वितर्कश्च
४३५	५	ग्लानस्त्वमेव च	ग्लान्यस्त्वमेव च
४३८	९	(या विभिन्न रसों का प्रदर्शन) विराम उत्पन्न करती	(या विचित्रता रसों का प्रदर्शन) विराग उत्पन्न नहीं करती
४३९	१२	जा ठीक तरह से समझता है वह अतिशय	जो इसी तरह इन्हें ठीक तरह से समझता है वह अतिशय